



सप्तदशोऽध्यायः ।

| विषयाः   | पृष्ठ | पङ्क्तौ |
|--|-------|---------|
| क्रियन्तःशिरसीयोऽध्यायः ...                      | ६८४   | २       |
| शिरोरोगनिदानम् ...                               | ६८६   | १       |
| शिरोरोगाणां निर्देशः ..                          | ६८७   | १       |
| वातजशिरोरोगस्य निदान-लक्षणे                      | ६८७   | ७       |
| पित्तजशिरोरोगस्य निदान-लक्षणे                    | ६८८   | ५       |
| कफजशिरोरोगस्य निदान-लक्षणे                       | ६८९   | ३       |
| त्रिदोषजशिरोरोगस्य लक्षणम्                       | ६८९   | ७       |
| क्रिमिजशिरोरोगस्य निदान-लक्षणे                   | ६९२   | १       |
| वातजहृद्रोगस्य निदान-लक्षणे                      | ६९३   | १       |
| पित्तजहृद्रोगस्य निदान-लक्षणे                    | ६९३   | ५       |
| कफजहृद्रोगस्य निदान-लक्षणे                       | ६९३   | ९       |
| त्रिदोषजहृद्रोगस्य निदान-लक्षणे                  | ६९४   | १       |
| क्रिमिजहृद्रोगस्य निदान-लक्षणे                   | ६९४   | ३       |
| वातादीनां वृद्धिक्षयकृतो विकल्पः                 | ६९५   | ३       |
| प्रवृद्ध-क्षीण-समदोषस्य सामान्य-<br>लक्षणाणि ... | ७०२   | ११      |
| रसक्षयलक्षणम् ...                                | ७०५   | ३       |
| रक्तक्षयलक्षणम् ...                              | ७०५   | ५       |
| मांसक्षयलक्षणम् ...                              | ७०५   | ६       |
| मैदःक्षयलक्षणम् ...                              | ७०५   | ७       |
| अस्थिक्षयलक्षणम् ...                             | ७०६   | १       |
| मज्जक्षयलक्षणम् ...                              | ७०६   | ३       |
| शुक्रक्षयलक्षणम् ...                             | ७०६   | ५       |
| पुरीषक्षयलक्षणम् ...                             | ७०६   | ७       |
| सूत्रक्षयलक्षणम् ...                             | ७०६   | ९       |
| मलक्षयलक्षणम् ...                                | ७०६   | ११      |
| ओजःक्षयलक्षणम् ...                               | ७०७   | १       |
| ओजसो लक्षणम् ...                                 | ७०७   | ३       |
| ओजस उत्पत्तिक्रमः ...                            | ७०८   | १       |
| क्षयाणां सामान्यहेतवः ...                        | ७१०   | १       |

विषयाः पृष्ठे पङ्क्तौ

|  |     |    |
|--|-----|----|
| मधुमेहनिदानम् ...                              | ७१० | ५  |
| माधुमेहिकपिडकानां निर्देशः                     | ७११ | ५  |
| तेषां लक्षणानि ...                             | ७१२ | १  |
| अन्तर्विद्रधिनिदानम् ...                       | ७१३ | १  |
| विद्रधेर्निरुक्तिः ...                         | ७१४ | १  |
| पक्वविद्रधिलक्षणम् ...                         | ७१४ | ७  |
| विदीर्णविद्रधीनां साध्यासाध्य-<br>लक्षणानि ... | ७१५ | १  |
| अन्तर्विद्रधिलक्षणम् ...                       | ७१५ | ३  |
| पिडकोपद्रवसंग्रहः ...                          | ७२१ | १  |
| द्रोषाणां त्रिविधगतिनिर्देशः ...               | ७२१ | ३  |
| द्रोषाणां चयप्रकोपप्रशमकालाः                   | ७२२ | ५  |
| प्राकृतवेकृतद्रोषाणां कार्याणि                 | ७२५ | १  |
| अध्यायार्थोपसंहारः ...                         | ७२६ | १५ |

अष्टादशोऽध्यायः ।

|                                   |     |    |
|-----------------------------------|-----|----|
| त्रिशोथीयोऽध्यायः ...             | ७२८ | २  |
| त्रिविधशोथानां निर्देशः ...       | ७२८ | ४  |
| आगन्तुशोथानां निदानम् ...         | ७२८ | ५  |
| तेषां प्रशमोपायाः ...             | ७२९ | २  |
| द्रोषजशोथानां सामान्यहेतुः        | ७३० | १  |
| वातजशोथनिदानम् ...                | ७३१ | १  |
| पित्तजशोथनिदानम् ...              | ७३१ | ८  |
| कफजशोथनिदानम् ...                 | ७३२ | १  |
| द्वित्रिदोषजशोथविवरणम् ...        | ७३२ | ६  |
| वातजशोथलक्षणम् ...                | ७३३ | २  |
| पित्तजशोथलक्षणम् ...              | ७३३ | ६  |
| कफजशोथलक्षणम् ...                 | ७३३ | १० |
| द्वित्रिदोषजशोथलक्षणम् ...        | ७३४ | १  |
| शोथानां कृच्छ्रसाध्यत्वादिलक्षणम् | ७३४ | ३  |
| शोथोपद्रवसंग्रहः ...              | ७३४ | ७  |





सप्तदशोऽध्यायः ।

| विषयाः  | पृष्ठ | पङ्क्तौ |
|---|-------|---------|
| क्रियन्तःशिरसीयोऽध्यायः ...                       | ६८४   | २       |
| शिरोरोगनिदानम् ...                                | ६८६   | १       |
| शिरोरोगाणां निर्देशः ...                          | ६८७   | १       |
| वातजशिरोरोगस्य निदान-लक्षणे                       | ६८७   | ७       |
| पित्तजशिरोरोगस्य निदान-लक्षणे                     | ६८८   | ९       |
| कफजशिरोरोगस्य निदान-लक्षणे                        | ६८९   | ३       |
| त्रिदोषजशिरोरोगस्य लक्षणम्                        | ६८९   | ७       |
| क्रिमिजशिरोरोगस्य निदान-लक्षणे                    | ६९२   | १       |
| वातजहृद्दोगस्य निदान-लक्षणे                       | ६९३   | १       |
| पित्तजहृद्दोगस्य निदान-लक्षणे                     | ६९३   | ५       |
| कफजहृद्दोगस्य निदान-लक्षणे                        | ६९३   | ९       |
| त्रिदोषजहृद्दोगस्य निदान-लक्षणे                   | ६९४   | १       |
| क्रिमिजहृद्दोगस्य निदान-लक्षणे                    | ६९४   | ३       |
| वातादीनां वृद्धिक्षयकृतो विकल्पः                  | ६९५   | ३       |
| प्रवृद्ध-क्षीण-रसमदोषस्य सामान्य-<br>लक्षणाणि ... | ७०२   | ११      |
| रसक्षयलक्षणम् ...                                 | ७०५   | ३       |
| रक्तक्षयलक्षणम् ...                               | ७०५   | ५       |
| मांसक्षयलक्षणम् ...                               | ७०५   | ६       |
| मेदःक्षयलक्षणम् ...                               | ७०५   | ७       |
| अस्थिक्षयलक्षणम् ...                              | ७०६   | १       |
| मज्जक्षयलक्षणम् ...                               | ७०६   | ३       |
| शुक्रक्षयलक्षणम् ...                              | ७०६   | ५       |
| पुरीषक्षयलक्षणम् ...                              | ७०६   | ७       |
| सूत्रक्षयलक्षणम् ...                              | ७०६   | ९       |
| मलक्षयलक्षणम् ...                                 | ७०६   | ११      |
| ओजःक्षयलक्षणम् ...                                | ७०७   | १       |
| ओजसो लक्षणम् ...                                  | ७०७   | ३       |
| ओजस उत्पत्तिक्रमः ...                             | ७०८   | १       |
| क्षयाणां सामान्यहेतवः ...                         | ७१०   | १       |

विषयाः

पृष्ठे पङ्क्तौ

|  |     |    |
|--|-----|----|
| मधुमेहनिदानम् ...                                | ७१० | ५  |
| मधुमेहिकपिडकानां निर्देशः                        | ७११ | ५  |
| तेषां लक्षणानि ...                               | ७१२ | १  |
| अन्तर्विद्रधिनिदानम् ...                         | ७१३ | १  |
| विद्रधेर्निरुक्तिः                               | ७१४ | १  |
| पफ्रविद्रधिलक्षणम् ...                           | ७१४ | ७  |
| विर्दार्णविद्रधीनां साध्यासाध्य-<br>लक्षणानि ... | ७१५ | १  |
| अन्तर्विद्रधिलक्षणम् ...                         | ७१५ | ३  |
| पिट्टकोपद्रवसंग्रहः ...                          | ७२१ | ३  |
| दोषाणां त्रिविधगतिनिर्देशः ...                   | ७२१ | ६  |
| दोषाणां चयप्रकोपप्रशमकालाः                       | ७२२ | ५  |
| प्राकृत्येकतदोषाणां कार्य्याणि                   | ७२५ | ५  |
| अध्यायार्थोपसंहारः ...                           | ७२६ | १२ |

अष्टादशोऽध्यायः ।

|                                   |     |    |
|-----------------------------------|-----|----|
| त्रिशोथीयोऽध्यायः ...             | ७२८ | २  |
| त्रिविधशोथानां निर्देशः ...       | ७२८ | ४  |
| आगन्तुशोथानां निदानम् ...         | ७२८ | ५  |
| तेषां प्रथमोपायाः ...             | ७२९ | १  |
| दोषजशोथानां सामान्यहेतुः          | ७३० | १  |
| वातजशोथनिदानम् ...                | ७३१ | १  |
| पित्तजशोथनिदानम् ...              | ७३१ | ८  |
| कफजशोथनिदानम् ...                 | ७३२ | १  |
| द्वित्रिदोषजशोथविवरणम् ...        | ७३२ | ६  |
| वातजमाथलक्षणम् ...                | ७३३ | २  |
| पित्तजमाथलक्षणम् ...              | ७३३ | ६  |
| कफजमाथलक्षणम् ...                 | ७३३ | १० |
| द्वित्रिदोषजमाथलक्षणम् ...        | ७३४ | १  |
| शोथानां कृच्छ्रसाध्यत्वादिलक्षणम् | ७३४ | ३  |
| शोथोपद्रवसंग्रहः ...              | ७३४ | ७  |

| विषयाः                              | पृष्ठे | पङ्क्तौ |
|-------------------------------------|--------|---------|
| उत्सेधसामान्यादुपजिह्वादि-          |        |         |
| कतिपयरोगाणां सामान्य-               |        |         |
| लक्षणानि                            | ७३५    | १       |
| रोहिणीरोगस्य निदानपूर्वकं           |        |         |
| लक्षणम्                             | ७४१    | १       |
| व्याधीनां साध्यासाध्यत्वभेदेन       |        |         |
| द्वैविध्यं, मृदुदारुणत्वादि-        |        |         |
| भेदेन चतुर्विधत्वञ्च                | ७४३    | १       |
| तेषां रुजावर्णादिभेदेनासंख्येयत्वम् | ७४४    | ३       |
| विकाराणां नामनिर्देशाशक्तौ          |        |         |
| कर्तव्यता                           | ७४४    | ३       |
| दोषाणां प्राकृतकर्माणि              | ७४६    | १       |
| तेषां क्षयवृद्धिज्ञानार्थं सामान्य- |        |         |
| लक्षणानि                            | ७४७    | १       |
| अध्यायार्थोपसंहारः                  | ७४९    | १       |

### एकोनविंशोऽध्यायः ।

|                                 |     |    |
|---------------------------------|-----|----|
| अष्टोदरीयोऽध्यायः               | ७५२ | २  |
| अष्टचत्वारिंशद् रोगाधि-         |     |    |
| करणानां निर्देशः                | ७५२ | ४  |
| उदरादिरोगाणां संख्यानिर्देशः    | ७५३ | ११ |
| निजव्याधीनां दोषसम्बन्धनिर्देशः | ७५८ | ६  |
| निजागन्तुविकारविवृतिः           | ७६० | २  |
| अध्यायार्थोपसंहारः              | ७६२ | १  |

### विंशोऽध्यायः ।

|                               |     |   |
|-------------------------------|-----|---|
| महारोगाध्यायः                 | ७६३ | २ |
| चतुर्विधरोगाणां प्रकृतिभेदो-  |     |   |
| ऽधिष्ठानभेदश्च                | ७६४ | १ |
| प्रकृत्यादिभेदेन व्याधीनाम्   |     |   |
| असंख्येयत्वम्                 | ७६४ | १ |
| निजागन्तु-विकाराणां कारणानि   | ७६५ | ३ |
| निजागन्तु-विकारयोः प्रेरकहतुः | ७६६ | ४ |

| विषयाः                           | पृष्ठे | पङ्क्तां |
|----------------------------------|--------|----------|
| निजागन्तु-रोगयोर्भेदकलक्षणम्     | ७६७    | १        |
| दोषाणां स्थानविभागनिर्देशः       | ७६७    | ४        |
| शरीरचर-कुपिताकुपितदोषाणां        |        |          |
| कर्माणि                          | ७६९    | ३        |
| अर्शतिसंख्यवातविकाराणां निर्देशः | ७७०    | ५        |
| वायोरात्मरूपाणि                  | ७७४    | ३        |
| वायोः कर्माणि                    | ७७४    | ५        |
| वायोश्चित्सासूत्रम्              | ७७६    | १        |
| चत्वारिंशत्संख्यपित्तविकाराणां   |        |          |
| निर्देशः                         | ७७७    | ३        |
| पित्तस्यात्मरूपाणि               | ७७८    | ६        |
| पित्तस्य कर्माणि                 | ७७९    | १        |
| पित्तस्य चिकित्सासूत्रम्         | ७७९    | ७        |
| विंशतिसंख्यश्लेष्मविकाराणां      |        |          |
| निर्देशः                         | ७८०    | ३        |
| श्लेष्मण आत्मरूपाणि              | ७८१    | ६        |
| श्लेष्मणाश्चित्सासूत्रम्         | ७८१    | १३       |
| चिकित्साक्रमः                    | ७८२    | ८        |
| अध्यायार्थोपसंहारः               | ७८३    | ५        |

### एकविंशोऽध्यायः ।

|                                  |     |    |
|----------------------------------|-----|----|
| अष्टौनिन्दितीयोऽध्यायः           | ७८५ | २  |
| अष्टनिन्दितपुरुषाणां निर्देशः    | ७८५ | ४  |
| एषु अतिस्थूलतृणशयोर्विशेष-       |     |    |
| निन्दितत्वम्                     | ७८६ | १  |
| अतिस्थूलस्याष्टौ दोषाः           | ७८६ | २  |
| अतिस्थौल्यस्य निदानम्            | ७८६ | ४  |
| तस्याष्टदोषजन्मप्रकारः           | ७८६ | ८  |
| मेदस्विनस्तीक्ष्णाग्नित्वे हेतुः | ७८७ | ५  |
| अतिस्थूलस्य लक्षणम्              | ७८८ | ३  |
| अतिकाश्यस्य निदानम्              | ७८८ | ७  |
| अतिकृशस्य दोषाः                  | ७८८ | ११ |

| विषयाः  | पृष्ठे | पङ्क्तौ |
|---|--------|---------|
| अतिकृशस्य लक्षणम् ..                              | ७८९    | २       |
| अनयोश्चिकित्सासूत्रम् ..                          | ७८९    | ५       |
| स्थौल्यकार्ययोः स्थौल्यस्य निन्दितत्वम् ..        | ७८९    | ७       |
| प्रशस्तपुरुषस्य लक्षणम्                           | ७९०    | १       |
| अतिस्थौल्यस्य चिकित्साविधिः                       | ७९१    | १       |
| अतिकाशस्य चिकित्साविधिः                           | ७९३    | ३       |
| प्रशस्तपुष्टिकराणां निर्देशः ...                  | ७९४    | १       |
| निद्राया हेतुः ...                                | ७९४    | ३       |
| निद्राया गुणाः ...                                | ७९७    | १       |
| अविधिसेवितनिद्राया दोषाः .                        | ७९७    | ३       |
| दिवा निद्रायोग्यानां निर्देशः .                   | ७९८    | १       |
| ग्रीष्मे दिवा निद्राविधिः ...                     | ७९९    | ३       |
| दिवा निद्रानर्हणां निर्देशः ...                   | ७९९    | ७       |
| अविधिसेवितदिवा निद्राया दोषाः                     | ८००    | १       |
| रात्रि जागरण-दिवा स्वपनासीन-प्रचलायितानां गुणाः . | ८००    | ९       |
| विहारेषु निद्रायाः प्राधान्यम् ..                 | ८०१    | १       |
| निद्रानाशस्य चिकित्सा ...                         | ८०१    | ३       |
| निद्रानाशस्य हेतवः ...                            | ८०२    | ३       |
| कारणभेदेन निद्राया भेदः ...                       | ८०३    | ३       |
| अध्यायार्थोपसंहारः ...                            | ८०५    | १       |

### द्वाविंशोऽध्यायः ।

|                                      |     |   |
|--------------------------------------|-----|---|
| लङ्घनवृंहणीयोऽध्यायः ...             | ८०७ | २ |
| लङ्घन-वृंहणादीनां लक्षणानि           | ८०८ | ३ |
| लङ्घन-वृंहणादिद्रव्याणां विवरणम्     | ८०९ | १ |
| लङ्घनभेदाः ...                       | ८११ | १ |
| अधिक-मध्याल्पदोषभेदेन लङ्घन-भेदः ... | ८११ | ३ |
| वृंहणमांसानां निर्देशः ..            | ८१३ | ३ |
| वृंहणीयानां निर्देशः ...             | ८१३ | ५ |

| विषयाः   | पृष्ठे | पङ्क्तौ |
|--|--------|---------|
| सामान्यवृंहणानां निर्देशः ...                          | ८१४    | १       |
| रुक्षणद्रव्यानां स्वरूपकथनम् .                         | ८१४    | ३       |
| स्वरूपतः स्तम्भनानां निर्देशः ..                       | ८१४    | ९       |
| स्तम्भनीयानां निर्देशः ...                             | ८१५    | १       |
| लङ्घनप्रभृतीनां पण्णां कृताकृताति-कृतानां लक्षणानि ... | ८१५    | ३       |
| अध्यायार्थोपसंहारः ...                                 | ८१८    | १       |

### त्रयोविंशोऽध्यायः ।

|                                  |     |   |
|----------------------------------|-----|---|
| सन्तर्पणीयोऽध्यायः ...           | ८१९ | २ |
| सन्तर्पणद्रव्याणां निर्देशः ..   | ८१९ | ४ |
| सन्तर्पणोत्थरोगाणां निर्देशः ... | ८१९ | ९ |
| तेषां चिकित्साविधिः ...          | ८२० | ३ |
| अपतर्पणजरोगाणां निर्देशः ...     | ८२३ | ९ |
| तेषां चिकित्साविधिः ...          | ८२४ | १ |
| अध्यायार्थोपसंहारः ...           | ८२६ | ३ |

### चतुर्विंशोऽध्यायः ।

|  |     |   |
|--|-----|---|
| विधिशोणितयोऽध्यायः ...                                   | ८२७ | २ |
| विशुद्धशोणितस्य गुणाः ...                                | ८२७ | ६ |
| शोणितदुष्टहेतवः ...                                      | ८२८ | १ |
| दुष्टशोणितजरोगाणां निर्देशः ..                           | ८३० | १ |
| अनुक्तरक्तजरोगाणां निर्देशः .                            | ८३१ | ३ |
| रक्तजरोगाणां चिकित्सासूत्रम्                             | ८३१ | ५ |
| दोषभेदेन दुष्टरक्तानां लक्षणानि                          | ८३२ | ३ |
| विशुद्धशोणितस्य लक्षणम् ...                              | ८३२ | ७ |
| अपनीतरक्तस्य पथ्यानि ...                                 | ८४१ | १ |
| विशुद्धरक्तपुरुषस्य लक्षणम् ..                           | ८४२ | १ |
| मद-मूर्च्छा-सन्न्यासानां निदान-पूर्विका सम्प्राप्तिः ... | ८४२ | ३ |
| वातादिजमदरोगाणां लक्षणानि                                | ८४४ | १ |
| वातजमूर्च्छालक्षणम् ...                                  | ८४५ | १ |

| विषयाः                                 | पृष्ठे पङ्क्तौ | विषयाः                                | पृष्ठे पङ्क्तौ |
|--|----------------|---------------------------------------|----------------|
| पित्तजमूर्च्छालक्षणम्                  | ८४५ ५          | द्रव्यस्य चेतनाचेतनभेदेन द्वे विध्यं. |                |
| कफजमूर्च्छालक्षणम्                     | ८४६ १          | गुणाः, कर्माणि च                      | ९२० ४          |
| सन्निपातजमूर्च्छालक्षणम्               | ८४६ ५          | द्रव्याणां कर्मवीर्याधिकरणकालो-       |                |
| सन्नपासस्य मूर्च्छादिभ्यो भेदक-        |                | पायफललक्षणम्                          | ९२७ १          |
| लक्षणम्                                | ८४६ ७          | गुणां त्रिपट्टिविधरसविकल्पः           | ९२८ १          |
| सन्म्यासस्य सम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणम् | ८४७ १          | रसादिज्ञानफलम्                        | ९३३ १          |
| तस्य चिकित्साविधिः                     | ८४७ ५          | रसानुरसलक्षणम्                        | ९३३ ३          |
| मदमूर्च्छयोश्चिकित्साविधिः             | ८४९ ३          | परत्वाददशगुणानां निर्देशः             | ९३४ १          |
| अध्यायार्थोपसंहारः                     | ८५० ३          | तेषां लक्षणानि                        | ९३४ ५          |
|  |                | रसानामादिकारणम्                       | ९४३ १          |

## पञ्चविंशोऽध्यायः ।

|                                       |       |                                    |        |
|---------------------------------------|-------|------------------------------------|--------|
| यजःपुरुषीयोऽध्यायः                    | ८५१ २ | भूतानां तारतम्यात् रसानां षड्-     |        |
| रोग-पुरुषयोर्हृत्पत्तौ मुनीनां वादः   | ८५२ ३ | विभागाः                            | ९४३ ५  |
| विवदमानान् मुनीन् प्रति पुनर्व्वसो-   |       | रसानां भूतविशेषकृतधर्मान्तर-       |        |
| रूपदेशः                               | ८७२ ५ | निर्देशः                           | ९४७ १  |
| रोगपुरुषयोरभिवृद्धिकारणानि            | ८७७ ४ | मधुररसस्य गुणकर्मणां               | ९४८ २  |
| हिताहिताहारस्य संक्षिप्तलक्षणम्       | ८७९ १ | तस्यातियुक्तस्य दोषाः              | ९४९ ३  |
| आहारविधिविशेषाणां व्याख्यानम्         | ८८१ १ | अम्लरसस्य गुणकर्मणां               | ९४९ १० |
| विंशतिविधगुणनिर्देशः                  | ८८२ १ | तस्यातियुक्तस्य दोषाः              | ९५० ५  |
| हिततमद्रव्याणां निर्देशः              | ८८३ ४ | लवणरसस्य गुणकर्मणां                | ९५१ ३  |
| अहिततमद्रव्याणां निर्देशः             | ८८५ ५ | तस्यातियुक्तस्य दोषाः              | ९५१ ८  |
| कर्मणामौषधानाञ्च सानुबन्धद्रव्यादीणां |       | कटुरसस्य गुणकर्मणां                | ९५२ ६  |
| निर्देशः                              | ८८७ २ | तस्यातियुक्तस्य दोषाः              | ९५३ ३  |
| पथ्यापथ्यलक्षणम्                      | ९०० ५ | तिक्तरसस्य गुणकर्मणां              | ९५४ १  |
| आसवयोनयः                              | ९०२ १ | तस्यातियुक्तस्य दोषाः              | ९५४ ६  |
| चतुरशीतिप्रकारासवानां निर्देशः        | ९०२ ५ | कषायरसस्य गुणकर्मणां               | ९५५ १  |
| अध्यायार्थोपसंहारः                    | ९०६ १ | तस्यातियुक्तस्य दोषाः              | ९५५ ४  |
|                                       |       | रसानामुपयोगविधिः                   | ९५६ १  |
|                                       |       | रसद्वारेण द्रव्याणां वीर्यनिर्देशः | ९५६ ६  |
|                                       |       | विपाकलक्षणम्                       | ९६४ १  |
|                                       |       | वीर्याणां नामानि संख्या च          | ९७१ १  |
|                                       |       | प्रभावस्य लक्षणम्                  | ९७३ १  |
|                                       |       | तस्योदाहरणम्                       | ९७३ ३  |

## षड्विंशोऽध्यायः ।

|                            |       |  |  |
|----------------------------|-------|--|--|
| आत्रेय-भद्रकाप्यीयोऽध्यायः | ९०७ २ |  |  |
| रसानां संख्याविषयको वादः   | ९०८ ५ |  |  |
| तत्र पुनर्व्वसोरभिप्रायः   | ९१२ ५ |  |  |

| विषयः                            | पृष्ठे पङ्क्तौ | विषयः                          | पृष्ठे पङ्क्तौ |
|----------------------------------|----------------|--------------------------------|----------------|
| षड्रसानां विज्ञानोपायाः ...      | ९७७ १          | उपवासादिक्रिष्टानामनुपानविधिः  | ११०० ३         |
| निर्देशः विरुद्धाहाराणां ...     | ९८२ ३          | रोगभेदेनानुपानविधिः ...        | ११०० ५         |
| विरुद्धाहारज्वराणां निर्देशः ... | ९८८ १          | अनुपानकर्म्मणि                 | ११०० ९         |
| तेषां चिकित्सासूत्रम्            | ९८८ ९          | उदकानुपानायोग्यानां निर्देशः   | ११०१ ७         |
| अध्यायार्थोपसंहारः ...           | ९८९ ६          | अनुक्तद्रव्याणां नामादिनिर्णये |                |

सप्तविंशोऽध्यायः ।

|   |        |
|---|--------|
| अन्नपानविधिरध्यायः ...                        | ९९२ २  |
| विविधविहितान्नपानानां गुणाः                   | ९९२ ४  |
| द्रव्याणां गुणकर्म्मभिरुपदेशः ...             | ९९५ १  |
| वर्गाणां संग्रहः ...                          | ९९८ १  |
| शूकधान्यवर्गः ...                             | ९९८ ६  |
| शमीधान्यवर्गः ...                             | १००५ १ |
| मांसवर्गः ...                                 | १००९ १ |
| वारिशयवर्गः ...                               | १०२३ ३ |
| शाकवर्गः ...                                  | १०२७ १ |
| फलवर्गः ...                                   | १०३५ १ |
| हरितवर्गः ...                                 | १०४३ ५ |
| मद्यवर्गः ...                                 | १०४७ १ |
| अम्बुवर्गः ...                                | १०५२ ४ |
| गोरसवर्गः ...                                 | १०६१ १ |
| इक्षुविकारको वर्गः ...                        | १०७१ १ |
| कृतान्नवर्गः ...                              | १०७७ १ |
| आहारयोगी वर्गः ...                            | १०८९ १ |
| शूकधान्यादीनामवस्थाभेदेन गुण-<br>निर्देशः ... | १०९६ १ |
| वर्जनीयमांसानां निर्देशः ...                  | १०९७ १ |
| मांसगुणाः ...                                 | १०९७ ३ |
| वर्जनीयशाक-फल-हरितानां<br>निर्देशः ...        | १०९८ ३ |
| सामान्यतोऽनुपानविधिः ...                      | १०९९ १ |
| दोषभेदेनानुपानविधिः ...                       | ११०० १ |

|   |        |
|---|--------|
| उपदेशः ...  | ११०३ ३ |
| अनुक्तान्नपानगुणज्ञानकारणानि                                    | ११०४ १ |
| घरलक्षणम् ...   | ११०४ ३ |
| प्राणिनां गुरुलघुत्वे हेतुः ...                                 | ११०४ ४ |
| अवयवानामुत्तरोत्तरगुरुत्वनिर्देशः                               | ११०५ १ |
| स्वभावतो गुरुलघुद्रव्याणां निर्देशः                             | ११०५ ५ |
| धातु-क्रिया-लिङ्ग-प्रमाण-संस्कार-<br>मात्राणां परीक्षाप्रयोजनम् | ११०६ १ |
| हितभोजने उपदेशः ...   | ११०९ ३ |
| हितभोजनस्य फलम् ...   | १११० १ |
| अन्नप्रशंसा ...   | १११२ २ |
| अध्यायार्थोपसंहारः ...  | १११३ १ |

अष्टाविंशोऽध्यायः ।

|  |        |
|--|--------|
| विविधाशितर्पातीयोऽध्यायः ...               | १११४ २ |
| विविधाशितपीतस्य पचनव्यापारः                |        |
| कर्म्मणि च ...                             | १११४ ४ |
| घ्रात्याहारनिर्देशः ...                    | १११६ १ |
| आहारस्य द्विविधफलनिर्देशः ...              | १११६ १ |
| किट्टपोष्याणि ...                          | १११६ ३ |
| रसपोष्याणि ...                             | १११७ २ |
| प्रसादाख्यधातुभ्यो मलानां विशेषः           | ११२२ ३ |
| अपररोगप्रकृतीनां निर्देशः ...              | ११२४ ४ |
| व्याध्यासहव्याधिसहशरीराणां<br>निर्देशः ... | ११२६ ३ |
| व्याधीनां मृदुदारुणत्वादौ हेतुः            | ११२७ १ |
| रसरक्तादिदोषज्वराणां निर्देशः              | ११२८ १ |

| विषयाः                              | पृष्ठे | पङ्क्तौ | विषयाः                             | पृष्ठे                               | पङ्क्तौ |      |   |
|-------------------------------------|--------|---------|------------------------------------|--------------------------------------|---------|------|---|
| इन्द्रियगतदोषजरोगाणां निर्देशः      | ११३०   | १       | आयुर्वेदान्तर्गतवकथनम्             | ११५६                                 | ५       |      |   |
| रसास्वादिगतदोषजरोगाणां              |        |         | आयुषः पर्यायः                      | ११५७                                 | १       |      |   |
| निर्देशः                            | ...    | ११३०    | ३                                  | आयुर्वेदलक्षणम्                      | ११५७    | २    |   |
| रसादिजविकाराणां चिकित्सा-           |        |         | सुखासुखायुपो लक्षणम्               | ११५८                                 | ३       |      |   |
| विधिः                               | ...    | ११३१    | १                                  | हिताहितायुपो लक्षणम्                 | ११५८    | ७    |   |
| दोषाणां शास्त्राभ्यः कोष्ठागमनहेतुः | ११३२   | १       | प्रमाणाप्रमाणत आयुपो लक्षणम्       | ११५९                                 | ७       |      |   |
| अखिलव्याधीनां संक्षिप्त-            |        |         | आयुर्वेदस्य प्रयोजनम्              | ११६०                                 | ६       |      |   |
| चिकित्सासूत्रम्                     | ...    | ११३३    | १                                  | आयुर्वेदस्य नित्यत्वम्               | ११६१    | १    |   |
| परीक्षकलक्षणम्                      | ...    | ११३३    | ५                                  | आयुर्वेदस्य अपटङ्गनिर्देशः           | ११७०    | १    |   |
| प्राज्ञाज्ञयोर्विशेषः               | ...    | ११३४    | ३                                  | यैर्यदर्थमायुर्वेदोऽध्येतव्य-        |         |      |   |
| स्वस्थानुरहितानि                    | ...    | ११३५    | १                                  | स्तन्निर्देशः                        | ...     | ११७१ | १ |
| अध्यायार्थोपसंहारः                  | ...    | ११३६    | १                                  | भिषक्परीक्षारीतिः                    | ...     | ११७४ | ३ |
| <b>एकोनत्रिंशोऽध्यायः ।</b>         |        |         | आयुर्वेदस्य पर्यायः                | ...                                  | ११७४    | ६    |   |
| दशप्राणायतनीयोऽध्यायः               | ...    | ११३७    | २                                  | तन्त्रार्थलक्षणम्                    | ...     | ११७४ | ७ |
| द्विविधभिषजो निर्देशः               | ...    | ११३८    | १                                  | तन्त्रस्याष्टसंख्यस्थानानां निर्देशः | ११७५    | ३    |   |
| प्राणाभिसरभिषजो लक्षणम्             | ...    | ११३९    | १                                  | अध्यायसंख्या                         | ...     | ११७६ | ४ |
| रोगाभिसरभिषजो लक्षणम्               | ...    | ११४२    | ६                                  | श्लोकस्थानस्याध्यायानां संग्रहः      | ११७७    | १    |   |
| रोगाभिसरभिषग्वर्जने उपदेशः          | ११४५   | २       | निदानस्थानस्याध्यायानां संग्रहः    | ११७९                                 | १       |      |   |
| प्रशंसनीयभिषजो लक्षणम्              | ११४५   | ८       | विमानस्थानस्याध्यायानां संग्रहः    | ११७९                                 | ४       |      |   |
| अध्यायार्थोपसंहारः                  | ...    | ११४६    | १                                  | शारीरस्थानस्याध्यायानां संग्रहः      | ११७९    | ८    |   |
| <b>त्रिंशोऽध्यायः ।</b>             |        |         | इन्द्रियस्थानस्याध्यायानां संग्रहः | ११७९                                 | १३      |      |   |
| अर्थे दशमहामूलीयोऽध्यायः            | ११४७   | २       | चिकित्सितस्थानस्याध्यायानां        |                                      |         |      |   |
| हृदयशब्दस्य पर्यायः                 | ...    | ११४७    | ५                                  | संग्रहः                              | ...     | ११८० | ५ |
| तस्यावयवेषु प्राधान्यम्             | ...    | ११४७    | ६                                  | कल्पस्थानस्याध्यायानां निर्देशः      | ११८१    | ४    |   |
| ओजोवहसिराणां स्थाननिर्देशः          | ११५१   | १       | सिद्धिस्थानस्याध्यायानां संग्रहः   | ११८१                                 | ९       |      |   |
| ओजसो लक्षणम्                        | ...    | ११५१    | ३                                  | प्रश्न-प्रश्नार्थयोर्लक्षणम्         | ...     | ११८२ | १ |
| धमनी-स्रोतः-सिराशब्दानां            |        |         | तन्त्रादीनां निरुक्तिः             | ...                                  | ११८२    | ३    |   |
| निरुक्तिः                           | ...    | ११५२    | ४                                  | छद्मचारिभिषजां कार्यं तान् प्रति     |         |      |   |
| प्राणवर्द्धनादीनामुक्त्युत्तमोपायाः | ११५३   | ७       | शास्त्रविदां कर्तव्यञ्च            | ...                                  | ११८३    | ३    |   |
| आयुर्वेदविदो लक्षणम्                | ...    | ११५४    | ४                                  | अध्यायार्थोपसंहारः                   | ...     | ११८७ | ५ |

## षोडशोऽध्यायः ।

अथातश्चिकित्साप्राभृतीयमध्यायं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

चिकित्साप्राभृतो विद्वाञ्छास्त्रवान् कर्ममतपरः ।

नरं विरेचयति यं स योगात् सुखमश्नुते ॥

यं वैद्यमानी त्वबुधो विरेचयति मानवम् ।

सोऽतियोगादयोगाच्च मानवो दुःखमश्नुते ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—अथवं संशोधने कृतेऽसम्यक्कृते च यद्यत् स्यात् तत् तद्वत् चिकित्साप्राभृतीयमध्यायमारभते—अथात इत्यादि । चिकित्सा प्राभृत-मुपढौकनं यस्य स चिकित्साप्राभृतो वैद्य इति कश्चिदाह । प्राभृतं प्रकर्षेण भृतिः प्रभृतिः । प्रभरणं सम्भाराणाम् । चिकित्सायां प्रभरणेन वर्त्तते यः स चिकित्साप्राभृतो वैद्यः । तमधिकृत्य कृतोऽध्यायः । तम् । शेषं सर्वं पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—चिकित्साप्राभृत इत्यादि । प्रभृतिः सम्भाराणां प्रकर्षेण भृतिर्भरणमायोजनं प्रभृतिः, तथा वर्त्तते यः स प्राभृतः । चिकित्सायां प्राभृतो यः स चिकित्साप्राभृतः । एवं विद्वान् ज्ञानवान् तथा शास्त्रवान् आयुर्वेदे विद्वानपि शास्त्रान्तराध्ययनवान् । तथा कम्मसु चिकित्साक्रियासु तत्परः कुशलः । यं नरं विरेचयति वमनविरेचनाभ्यां दोषान् देहान्निःसारयति स नरो वमनविरेचनयोः सम्यग्योगात् सुखमश्नुते । इतरवैद्यकृतसंशोधने दोषमाह—यं वैद्यमानीत्यादि । यस्तु खल्वबुधो न पण्डितः किन्तु वैद्यमानी आत्मानं वैदं मन्तुं शीलं यस्य सः । वैद्यमान्यपण्डितो वैद्यो यं नरं विरेचयति वामयति वा स मानवो वमनविरेचनयोरतियोगादयोगाच्च दुःखमश्नुते ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—पूर्वाध्यायोक्तवमनविरेचनयोर्विस्तरेण सम्यग्योगादिलक्षणं तथा तत्प्रवृत्ति-विषयपुरुषाद्यभिधातुं चिकित्साप्राभृतीयोऽभिधीयते ।—चिकित्सा प्रभृतरूपा सदा यत्नेन आतुरोपढौकनीयत्वेन यस्य विद्यते स चिकित्साप्राभृतीयः । योगात् सम्यग्योगात्, सुखमारोग्यम् । विरेचयतीत्यत्र वामयतीत्यपि बोद्धव्यं विरेचनशब्दस्य वमनेऽपि प्रवृत्तेः । सोऽतियोगादित्यादि । इःखं विकारः, यद्वक्तं—“विकारो दुःखमेव तु ।” ननु वमनादौ कस्मान्मिथ्यायोगो नोच्यते ?



दौर्बल्यं लाघवं ग्लानिव्याधीनामल्पता रुचिः ।

हृद्गर्णशुद्धिः क्षुत् तृष्णा काले वेगप्रवर्त्तनम् ॥

बुद्धीन्द्रियमनःशुद्धिर्मारुतस्यानुलोमता ।

सम्यग्विरिक्तलिङ्गानि कायाग्नेश्वानुवर्द्धनम् ॥ ३ ॥

ष्ठीवनं हृदयाशुद्धिरुत्क्लेशः श्लेष्मपित्तयोः ।

आध्मानमरुचिरश्लक्ष्णिरदौर्बल्यमलाघवम् ॥

**गङ्गाधरः**—ननु स योगात् सुखमश्नुते इति यदुक्तं तत् सम्यग्योगः कथं विज्ञायत इति ? अतो विरेचनस्य सम्यग्योगलक्षणान्याह—दौर्बल्यमित्यादि । विरेचनकृत दौर्बल्यम् न तु व्याध्यादिकृतम् । लाघवञ्च शरीरस्य । ग्लानिश्चाहर्षः शरीरस्य । व्याधीनां तेषां तेषामल्पता । एवं रुचिश्चाहारे भवति । हृच्छुद्धिर्मनोबुद्धिस्थानवक्षसः शुद्धिरजाड्यम् । वर्णशुद्धिवेणुप्रसन्नता । काले क्षुधा तृष्णा मलमूत्रयोः प्रवर्त्तनञ्च । बुद्धीन्द्रियमनसां शुद्धिः । बुद्धेर्देशानामिन्द्रियाणां मनसश्च शुद्धिर्मेलापहतिः । मारुतस्यानुलोमताऽधोगतिशीलता । कायाग्नेश्च जाठराग्नेरनुक्रमेण वर्द्धनम् । सम्यग्विरिक्तस्य लिङ्गानि भवन्ति ॥ ३ ॥

**गङ्गाधरः**—विरेचनस्यायोगलक्षणान्याह—ष्ठीवनमित्यादि । ष्ठीवनं मुखेन स्वल्पोद्विरणम् । हृदयस्याशुद्धिर्जाड्यम् । उत्क्लेश उपस्थितवमनत्वमिव यावता यस्य वस्तुन उचितो योगः स योगः, तस्य स्वल्पो वा योगः सर्वथा वाऽयोगोऽयोग उच्यते, तस्यैवातिमात्रयोगो विकारकरोऽतियोगः ; अनुचितसम्बन्धेन तु वस्तुनो मिथ्यायोगः, तेनेहाप्युत्कृष्टश्लेष्मादिधर्मप्रयुक्ते पुरुषे विरेचनं सर्वथाऽयौगिकमेव, तच्च प्रयुक्तं प्रतीपगमनेनैव याति, विरेचने मिथ्यायोगोऽयमयोगः, एवं वमनादिष्वपि ज्ञेयम् ; एवम्भूतस्य मिथ्यायोगस्य अयोगेनैव ग्रहणात्, उक्तं हि—“प्रातिलोभ्येन दोषाणां हरणात् ते ह्यकृत्स्नशः । अयोगसंज्ञे कृच्छ्रेण यदागच्छति चाल्पशः” ॥ इति । इदं विरेचनौषधस्य वमनोपयुज्यमानस्य हीनमात्रत्वातिमात्रत्वाभ्यां विना यदव्याधिकरणत्वं तन्मिथ्यायोगादेव परं स्यात् ; यदुक्तं तिस्त्रैषणीये—“मिथ्यायोगो राशिवर्जेष्वहारविधिविशेषायतनेषूपदेक्ष्यते” इति । सत्यं, भेषजस्य मिथ्यायोगोऽयं, वमनस्य तु दोषहरणरूपस्यायोग इति, एवञ्च विरेचनादावपि ज्ञेयम् । यद्यप्यत्रापि मिथ्यायोगः कथञ्चित् पार्यते कल्पयितुं, तथापि प्रयोजनशून्यत्वादाचार्येण पृथङ् न कृतः, शब्दादिषु तु मिथ्यायोगिनां सम्बन्धमात्रस्यापि परिहारार्थं पृथक् कृत इति ॥ ११२ ॥

**चक्रपाणिः**—दौर्बल्यमित्यादि विरेचनस्य सम्यग्युक्तायुक्तातियुक्तस्य लक्षणानि ; अदौर्बल्यं

जङ्घोरुसदनं तन्द्रा स्तैमित्यं पीनसागमः ।  
 लक्षणान्यविरिक्तानां मारुतस्य च निग्रहः ॥ ४ ॥  
 विट्पित्तकफवातानामागतानां यथाक्रमम् ।  
 परं स्रवति यद्रक्तं मेदोमांसोदकोपमम् ॥  
 निःश्लेष्मपित्तमुदकं शोणितं कृष्णमेव वा ।  
 तृष्यतो मारुतार्तस्य सोऽतियोगः प्रमुह्यतः ॥ ५ ॥  
 वमनेऽतिकृते लिङ्गान्येतान्येव भवन्ति हि ।  
 ऊर्ध्वगा वातरोगाश्च वाग्ग्रहश्चाधिको भवेत् ॥ ६ ॥  
 चिकित्साप्राभृतं तस्मादुपेयाच्छरणं नरः ।  
 युञ्ज्याद् य एनमत्यन्तमायुषा च सुखेन च ॥ ७ ॥

श्लेष्मपित्तयोरेव । आध्मानश्चारुचिश्च छर्दिश्च तथा विरेचनकृतदौर्बल्यं न भवति । अलाघवं शरीरस्य । जङ्घयोर्बुर्वोश्च सदनमवसादः । तन्द्रा निद्रावत् क्लान्तिः । स्तैमित्यमार्द्रवसनावगुण्ठितत्वमिव देहस्य । पीनसस्य प्रतिश्यायस्य आगमः । मारुतस्य निग्रहो नानुलोमता । एतान्यसम्यग्विरिक्तानां लक्षणानि भवन्ति ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—अथ विरेचनस्यातियोगलक्षणान्याह—विट्पित्तेत्यादि । अधोभागे खलु विरेचने यस्य विडादीनां यथाक्रममागतानां परं रक्तं स्रवति । तत् रक्तं मेदोमांसोदकोपमं निःश्लेष्मपित्तं केवलमुदकं कृष्णं शोणितमेव वा स्रवति । तस्य तृष्यतो मारुतार्तस्य मारुतलिङ्गान्वितस्य प्रमुह्यतश्च स विरेचनस्यातियोगो भवति ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—अथ वमनातियोगलक्षणान्याह—वमनेऽतीत्यादि । वमनेऽतिशयेन कृते सत्येतान्येव कफपित्तानिलानां यथाक्रममागतानां परं रक्तं स्रवतीत्यादीनि लिङ्गानि भवन्ति । अधिकश्च लिङ्गं वातरोगा ऊर्ध्वगा भवन्ति । वाग्ग्रहश्च भवतीति । तस्मात् संशोधने कर्तव्ये बुद्धिमान् नरश्चिकित्सा-  
 स्थौल्यानपगमः । यथाक्रममिति पठन् क्रमेणैवेति दर्शयति, यदुक्तं—“प्राप्तिश्च विट्पित्त-  
 कफानिलानां सम्यग्विरिक्तस्य भवेत् क्रमेण ।” आगतानां परसूद्धमिति योजना ॥ ३—५ ॥

चक्रपाणिः—अतियोगलक्षणं वमनेऽतिदिशति—वमन इत्यादि । वमनातियोगे विट्पित्तकफ-

अविपाकोऽरुचिः स्थौल्यं पाण्डुता गौरवं क्लमः ।

पिडकाकोठकण्डूनां सम्भवोऽरतिरेव च ॥

आलस्यश्रमदौर्बल्यं दोग्धमवसादकः ।

श्लेष्मपित्तसमुत्क्लेशो निद्रानाशोऽतिनिद्रता ॥

क्लैव्यं तन्द्रिरबुद्धित्वमशस्तस्वप्नदर्शनम् ।

बलवर्णप्रणाशश्च तृप्यतो वृंहणैरपि ॥

बहुदोषस्य लिङ्गानि तस्मै संशोधनं हितम् ।

ऊर्ध्वञ्चैवानुलोमश्च यथादोषं यथाबलम् ॥ ८ ॥

एवं विशुद्धकोष्ठस्य कायाग्निरपि वर्द्धते ।

व्याधयश्चोपशाम्यन्ति प्रकृतिश्चानुवर्त्तते ॥

प्राभृतं विद्वांसं शास्त्रवन्तं कर्मतत्परं वैद्यं शरणं रक्षितृत्वेनोपेयात् । तादृश-  
वैद्यस्य शरणागतत्वे शुभमाह—युञ्ज्रादित्यादि । यश्चिकित्साप्राभृतो वैद्य एनं  
संशोधकामं सम्पग्वमनविरेचनाभ्यामत्यर्थमायुषा सुखेन च युञ्ज्रात् ।  
तस्मान्नाबुधं वैद्यमानिनं वैद्यं संशोधनकामः शरणमुपेयादिति ॥ ६।७ ॥

गङ्गाधरः—यस्य संशोधनं कर्त्तव्यं तदाह—अविपाक इत्यादि । क्लमो-  
ऽनायासतः श्रम इव । श्रम इति स्वल्पायासेनातिश्रान्त इव भवति । अवसादको  
मनोऽवसन्नता । निद्रानाशो वातदोषेण । अतिनिद्रता कफदोषवृद्ध्या ।  
क्लैव्यं स्त्रीष्वसामर्थ्यम् । अबुद्धित्वं पूर्ववद्बुद्धिस्फूर्तिहानिः । एतानि बहु-  
दोषस्य नरस्य लिङ्गानि भवन्ति । संशोधनन्तु तस्मै नराय हितम् । तस्मै  
किं संशोधनं हितमिति ? अत आह—ऊर्ध्वञ्चैवेत्यादि । अविपाकादुत्क-  
लक्षणस्य यथादोषं यथाबलञ्चोर्ध्वञ्चानुलोमश्च संशोधनं हितमिति ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—ईदृशसंशोधनफलमाह—एवमित्यादि । एवमुक्तप्रकारेण संशुद्ध-  
वातानामिति न योजनीयं, येन वमनप्रयोगे कफपित्तानिलागमरूपः क्रमो भवेत् ; यदुक्तं—  
“क्रमात् कफः पित्तमथानिलश्च यस्यैति सम्पग्वमितः स इष्टः” इति ॥ ६।७ ॥

चक्रपाणिः—संशोधनविषयबहुदोषलक्षणमाह—अविपाक इत्यादि । क्लम इत्यनायासकृतः  
श्रमः, श्रमस्तिवह स्वल्पेनायासेन ज्ञेयः, अवसादको मनोऽवसादः, निद्रानाशो वातप्रधानेन दोषेण,  
अतिनिद्रता श्लेष्मप्रधानेन ।

इन्द्रियाणि मनोबुद्धिर्वर्णाश्चास्य प्रसीदति ।  
 बलं पुष्टिरपत्यञ्च वृषता चास्य जायते ॥  
 जरां कृच्छ्रेण लभते चिरं जीवत्यनामयः ।  
 तस्मात् संशोधनं काले युक्तियुक्तं पिबेन्नरः ॥  
 दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः ।  
 जिताः संशोधनैर्ये तु न तेषां पुनरुद्भवः ॥  
 दोषाणाञ्च द्रुमाणाञ्च मूलेऽनुपहते सति ।  
 रोगाणां प्रसराणाञ्च गतानामागतिर्ध्रुवा ॥ ६ ॥

कोष्ठस्य नरस्य कायाग्निर्वर्द्धतेऽपि व्याधयश्चोपशाम्यन्ति प्रकृतिश्चानुवर्त्तते ।  
 यो गर्भादियादृशप्रकृतिः सानुवर्त्तते । इन्द्रियादिकश्चास्य प्रसन्नं भवति ।  
 बलादिकश्चास्य जायते । जरां बलिपलितान्वयावस्थां कृच्छ्रेण चिरेण लभते  
 चायम् । चिरञ्च कालमनामयो जीवति । तस्मादित्यादि ।—तस्मात् कायाग्नि-  
 वर्द्धनादिरुलकत्वात् संशोधनं वमनविरेचनं काष्ठे दोषोपचयकाले संशोधनाह-  
 काले च युक्तियुक्तं युक्त्या यदुपयुक्तं भवति तत् तु नरः पिबेत् ।

ननु कस्मात् संशोधनं पिबेत्, न संशमनमिति ? अत आह—दोषा  
 इत्यादि । लङ्घनपाचनैः संशमनैर्जिता दोषाः कदाचित् पुनः कुप्यन्ति । ये तु  
 दोषाः संशोधनैर्जितास्तेषां दोषाणां पुनरुद्भवो न भवतीति । कस्मादेवं स्यादिति ?  
 अत आह—दोषाणाञ्चेत्यादि । दोषाणाञ्च द्रुमाणाञ्च मूलेऽनुपहते सति ।  
 सति हि मूले रोगाणां प्रसराणाञ्च गतानामपि ध्रुवा पुनरागतिः स्यात् । तथा च  
 लङ्घनपाचनैः संशमनैर्दोषाणां मूलानुच्छेदाद्रोगजयेऽपि कदाचित् तदोषकोपः  
 स्यात् । यथा द्रुमाणां मूले त्वच्छिन्ने सति सति हि मूले प्रसराणामङ्गराणां

समूलदोषापहारकत्वेन संशोधनस्य, लङ्घनपाचनयोस्तु दोषापहरत्वे सत्यपि न संशोधनवर-  
 दोषहन्तृत्वमित्याह—दोषा इत्यादि । कदाचिदित्यल्पहेतुप्राप्त्या, न तेषां पुनरुद्भव-  
 इति बलवद्दोषकारणत्वं विनेति मन्तव्यम् । उक्तेऽर्थे दृष्टान्तमाह—दोषाणामित्यादि । लङ्घन-  
 पाचनाभ्यां रोगकारणीभूतदोषप्रकोपहरणमात्रे कृते रोगो यो निवृत्तः, स मूलभूताशयव्यवस्थित  
 दोषानुच्छेदाद् यत्किञ्चिदनुगुणकालादिप्राप्त्या पुनः कुपितदोषेण भवतीति भावः ॥ ८१९ ॥

भेषजक्षयिते पथ्यमाहारैश्चैव वृंहणम् ।  
 घृतमांसरसदीर-हृद्ययूषोपसंहितैः ॥  
 अभ्यङ्गोत्सादनैः स्नानैर्निरुहैः सानुवासनैः ।  
 तथा स लभते शर्म युज्यते चायुषा चिरम् ॥ १० ॥  
 अतियोगानुबन्धानां सर्पिष्पानं प्रशस्यते ।  
 तैलं मधुरकैः सिद्धमथवाप्यनुवासनम् ॥  
 यस्य त्वयोगस्तं स्निग्धं पुनः संशोधयेन्नरम् ।  
 मात्राकालबलापेक्षी स्मरन् पूर्वमनुक्रमम् ॥ ११ ॥

पुनरागतिर्ध्रुवा भवति । भेषजक्षयिते खलु संशोधनौषधैः क्षयो मूलोच्छेदो जातो यस्य तस्मिन् भेषजक्षयिते दोषे सति स संशुद्धः पुमान् पथ्यं तथाहारैश्च घृतादुत्पसंहितैर्घृतादियुक्तैर्वृंहणमभ्यङ्गादिभिश्च वृंहणं लभते । तथा शर्म सुखं लभते । चिरश्चायुषा युज्यते । यथा माणां मूले च्छिन्ने प्रसराः पुनर्नागच्छन्ति ॥ ९।१० ॥

गङ्गाधरः—ननु प्रमादेन वैद्यमानिना त्वबुधेन कृते संशोधनेऽतियोगे निवृत्ते यद्यनुबन्धो वर्तते तदा किं कर्तव्यमिति ? अत आह—अतियोगेत्यादि । येषामतियोगकृतलक्षणानुबन्धो वर्तते तेषां तत्तद्ग्रापत्प्रशमनौषधस्य सर्पिष्पानम् । अथवा मधुरकैर्जीर्वनीयैर्दशभिः सिद्धं कल्कैः साधितं तैलमनुवासनं प्रशस्यते । अथ यस्य विरेकायोगः स्यात् तं जनं पुनः स्नेहेन स्निग्धं स्वेदेन च स्विन्नं पूर्वं यादृशमौषधं यन्मात्रं दत्तं तेन न सम्यक् युक्तमभूत् । तत् सर्वमनुक्रमं स्मरन् मात्राकालबलान्यपेक्ष्य पुनः संशोधयेदिति ॥ ११ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति शोधनेन यथा दोषक्षयः तथा भ्रातृक्षयोऽपि स्यात्, तेन प्रतिकारमाह—भेषज इत्यादि । आहारैरेवेत्येवावधारणे, तेन, भेषज्यैः वृंहणं निषेधयति, भेषजस्य वीर्य-प्रधानस्य तदा दुःसहत्वात् । अनुवासनैरित्यत्र चकारो बोद्धव्यः, तेन अभ्यङ्गादिभिश्च वृंहणं पथ्यम् ॥ १० ॥

चक्रपाणिः—अतियोगादिचिकित्सामाह—अतियोगेत्यादि । स्मरन् पूर्वमनुक्रममित्यनेन, यः

स्नेहने स्वेदने शुद्धौ रोगाः संसर्जने च ये ।

जायन्तेऽमार्गविहिते तेषां सिद्धिषु साधनम् ॥ १२ ॥

जायन्ते हेतुवैषम्याद्विषमा देहधातवः ।

हेतुसाम्यात् समास्तेषां स्वभावोपरमः सदा ॥ १३ ॥

प्रवृत्तिहेतुर्भावानां न निरोधेऽस्ति कारणम् ।

केचित् तत्रापि मन्यन्ते हेतुं हेतोरवर्तनम् ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—अथ स्नेहादौ क्रियमाणे यदि समयोगाभावादयोगादितो रोगा अन्ये भवन्ति तत्र किं कर्त्तव्यमिति ? अत आह स्नेहन इत्यादि । स्नेहनादौ तथा शुद्धौ तथा सम्यग्योगे पेयादिसंसर्जने चामार्गविहिते यथावन्माग-विधानाभावेऽयोगातियोगादौ सति ये रोगा जायन्ते, तेषां साधनं सिद्धिषु सिद्धिस्थाने वक्ष्यत इति शेषः ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः नन्वेवं चेत् कुतो देहधातूनां वैषम्यं भवति, कुतो वा साम्यं, तयोश्च साम्यवैषम्ययोरनुवृत्तिः कुतः स्यात्, कुतो वा निवृत्तिः ? इत्याशङ्कया-माह जायन्त इत्यादि । देहधातवो देहस्य धारका ये भावास्ते । हेतुवैषम्यात् तेषामुत्पत्तौ स्थितौ च हेतूनां वैषम्याद्बुद्धिहान्यन्यतरस्माद्विषमा जायन्ते । तथा देहधातूनां ये हेतवस्तेषां साम्यात् वृद्धिहासव्यतिरेकावस्थायामवस्थानात् ते देह-धातवः समा जायन्ते । तयोर्देहधातुसाम्यवैषम्ययोः सदैवाविरतं स्वभावोपरमः । स्वभावस्य स्वस्य धर्मस्य स्वस्य रूपस्य चोपरमो नाशो भवति । तत्र भावानां स्वस्वधर्माणां स्वस्वरूपाणाञ्च सदैवाविरतप्रवृत्तौ हेतुरस्ति । सदैवाविरतनिरोधे पूर्वमयोगे हेतुभूतः, तं परिहरान्नति शिक्षयति । अमार्गविहितेऽविधिविहिते, साधनमित्यत्र वक्ष्यत इति शेषः ॥ ११-१२ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति यदेतत् सिद्धौ वक्ष्यमाणं, तदनुपप्लेण च सर्वभेषजानामेव क्षणभङ्ग-भावे पक्षेऽपि रोगशमकत्वं प्रतिपादयितुं प्रकरणमारभते—जायन्त इत्यादि । तेषामिति विष-माणां धातूनां समानाञ्च, स्वभावाद् विनाशकारिणां निरपेक्षादुपरमो विनाशः स्वभापोपरमः, सदेत्यविलम्बेन, तेनोत्पन्नमात्र एव विनश्यतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

चक्रपाणिः—अत्रैवार्थे उपपत्तिमाह—प्रवृत्तौत्यादि । प्रवृत्तिहेतुत्पत्तिहेतुर्भावानामस्ति, निरोधे विनाशे हेतुर्भावानां कारणं नास्ति, यस्मात् सर्व एव भावाः प्रदीपाच्चिर्वदुत्पत्तौ कारणोपेक्षिणः, विनाशे तु द्वितीयक्षणाविद्यमानत्वलक्षणे सहजसिद्धत्वे न हेत्वन्तरमपेक्षन्ते, यतः न स्वाभाविक-

एवमुक्तवार्थ\*माचार्य्यमग्निवेशोऽभ्यभाषत ।

स्वभावोपरमे कर्म चिकित्साप्राभृतस्य किम् ॥

भेषजैर्विषमान् धातून् कान् समीकुरुते भिषक् ।

का वा चिकित्सा भगवन् किमर्थं वा प्रयुज्यते ॥ १५ ॥

विनाशे कारणं नास्ति । इत्यकारणं प्रतिक्षणं भङ्गः स्यादिति । तत्र केचिन्महर्षयो भावानां स्वभावोपरमेऽविरतनिरोधे हेतोरवर्त्तनं हेतुर्नास्तीति य एव हेतोरस-  
ञ्ज्ञावस्तमेव भावानां सदा स्वभावोपरमे हेतुं मन्यन्ते ॥ १३।१४ ॥

गङ्गाधरः—एवमित्यादि । इत्येवमर्थमुक्त्वा वदन्तमाचार्य्यमात्रेयपुन-  
र्व्वसुमभि लक्ष्मीकृत्याग्निवेशोऽभाषत । तत्रोक्तवेति त्वाप्रत्ययः परापरयोगे ।  
यथा—तत् सर्व्वं सृष्ट्वानुप्राविशदिति, नदीं गत्वा पर्व्वतोऽयमिति, न तु  
पूर्व्वकाले । क्रिययोरेककर्त्तृकयोराचार्य्यकर्त्तृकक्रियान्तराभावात्, भिन्न-  
कर्त्तृकयोरेककर्त्तृकयोर्वा । यथा यत्र क्रियाद्वयं पूर्व्वपरकालस्थं तत्र त्वा  
स्यादिति ; तदा भवतु पूर्व्वकाले । “एककर्त्तृकयोः पूर्व्वकाले” इति सूत्रे  
व्यर्थमेककर्त्तृकयोरिति पदमुपात्तं पाणिनिना । भिन्नकर्त्तृकयोः क्रिययोः  
परापरयोगाभावान्न स्यात् त्वा इति । अग्निवेशो यदभाषत तदाह—  
स्वभावेत्यादि । भो भगवन् भावानां सदैव स्वभावोपरमे सति चिकित्सा-  
प्राभृतस्य वैद्यस्य किं कर्म ? सदैव स्वभावोपरमे विपमा धातवो न क्षणमाप-  
वर्त्तन्ते । तदा कान् विषमान् धातून् भिषक् भेषजैः समीकुरुते ? सदैव च  
धातूनां वैषम्यस्वभावोपरमे चिकित्सा वा का स्यात् ? वैषम्यसमीकरणं

रूपे हेत्वन्तरापेक्षा स्यात्, न हुत्पन्नः खड्गः स्वाभाविके लौहमयत्वं कारणान्तरमपेक्षते ;  
तदेवं सर्व्वथा भावानामेव स्वाभाविके नाशे, देहधातूनामपि नाशः स्वाभाविक एवेति भावः ।  
व्याधिप्रशमने च चिकित्सापेक्षकं पक्षान्तरमाह— केचिदित्यादि । तत्रापि विनाशोऽपि हेतु  
कारणं, हेतोरवर्त्तनमिति उत्पादकहेतोरभावं मन्यन्त इति योजना ; एवमपि हेतुपरम्परायाः  
क्षणिकत्वेन तत्कार्याणामपि स्वभावादेव नित्यसन्निहितसहेतुविनाशहेतूनां न विनाशहेतु-  
चिकित्सापेक्षेति भावः ॥ १४ ॥

चक्रपाणिः—एवमुत्थितायां शङ्कायां गुरुं पृच्छति एवमित्यादि ।—किमित्याक्षेपे, कर्म  
साध्यं, स्वभावोपरमे सति न किमपि साध्यं पश्यामीति भावः । कान् समीकुरुते, विषमाणाम्  
अस्थिरत्वेन साध्यं तत्र कर्त्तुं न पार्य्यते इत्याशयः ; का वा चिकित्सेति रोगप्रशमं प्रत्यकारणत्वेन

\* एवमुक्तार्थमिति चक्रपाणिसम्मतः पाठः ।

तच्छिष्यवचनं श्रुत्वा व्याजहार पुनर्व्वसुः ।

श्रूयतामत्र यां सौम्य युक्तिर्दृष्टा महर्षिभिः ॥ १६ ॥

न नाशकारणाभावाद् भावानां नाशकारणम् ।

ज्ञायते नित्यगस्येव कालस्यात्ययकारणम् ॥

शीघ्रगत्वाद् यथाभूतस्तथा भावो विपद्यते ।

निरोधे कारणं तस्य नास्ति नैवान्यथाक्रिया ॥ १७ ॥

हि चिकित्सोच्यते । यदि स एव वैषम्योपरमः सदा भवति तदा किमथ चिकित्साकर्म भिषजा प्रयुज्यते ? इत्यग्निवेशोऽभाषत ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—तत्रोत्तरमाह शिष्यस्याग्निवेशस्य तद्वचनं श्रुत्वा पुनर्व्वसुरात्रेथो व्याजहार । किं व्याजहार ? तदाह—श्रूयतामित्यादि । अत्र भावानां सदा स्वभावोपरमे महर्षिभिर्या युक्तिर्या बुद्धिर्दृष्टा सा श्रूयतां सौम्याग्निवेशेति ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः कीदृशी सा युक्तिरिति ? अत आह—न नाशेत्यादि । भावानां सदा स्वभावस्योपरमो यो नाशस्तस्य कारणं न ज्ञायते नोपलभ्यते । कस्मात् ? नाशकारणाभावात् । यथा नित्यगस्य कालस्य सदात्ययोऽनवरतमतीतत्वं ज्ञायते, तस्यात्ययस्य कारणं न ज्ञायते शीघ्रगत्वात् । भावानां स्वभावो हि शीघ्रगः । यथा कालस्वभावोऽपि चक्रवद् भ्रमणात्मकः स च शीघ्रगः । तस्मान्नाशकारणाभावो न नाशकारणं सम्भवति । तर्हि कथं भावानां स्वभावोपरमः सदा स्यादिति ? अत आह—यथाभूत इत्यादि । यो भावो यदा यथाभूतो वर्त्तते तथात्वेनोत्तरावस्थामारभ्य पूर्वावस्थानतो विपद्यते । तत्र पूर्वावस्थाया निरोधे तस्य कारणं नास्ति । न च तन्निरोधेऽन्यथाक्रिया पूर्व्वभावाद्वन्यथाक्रियोत्तरावस्थायामस्ति । यथा हेतुवैषम्याद्धातवो वातादयो विषमा भवन्ति । विषमा एवोत्तरावस्थां तत्पूर्वावस्थिकविषमरूपेणैवारभ्य

चिकित्सा नास्तीत्यर्थः ; किमर्थं वा प्रयुज्यत इति यन्निवृत्त्यर्थं चिकित्सा प्रयुज्यते तद्वानु-  
वैषम्यं स्वभावान्निवृत्तमिति चिकित्साप्रयोजनं नास्ति ॥ १५ ॥

चक्रपाणिः—पूर्व्वोक्तहेतुविनाशं दृष्टान्तेन हेतुमन्तमाह—न नाशेत्यादि । भावानां नाश-  
कारणं न ज्ञायते, तद् किमभावादेव, यथा—शश-विपाणं, तद् वाऽज्ञानयोग्यत्वात् पृथिव्यां  
निखातमूलकीलकादिवत् सद्यपि न ज्ञायते, इत्याह—नाशकारणाभावात् इति, नाज्ञानयोग्यत्वेन,  
किं तद्वैषम्यादेवेत्यर्थः ; अत्र दृष्टान्तमाह—नित्यगस्येत्यादि । निमेषादिरूपत्वेन नित्यगस्य,



पूर्वावस्थविषमस्वभावनाशमुपयन्ति । न तु विषमस्वभावनाशं प्राप्योत्तरावस्थां साम्यस्वभावेनारभन्ते । तस्मात् प्रवृत्तौ खलु भावानममुत्पत्तौ कारणमस्ति न तु निरोधे । वक्ष्यते च स्वयं खुड्डीकागर्भावक्रान्तिशारीरे—आत्मजश्चायं गर्भ इत्यारभ्य “गर्भाशयमनुप्रविश्य शुक्रशोणिताभ्यां संयोगमेत्य गर्भत्वेन जनयत्यात्मात्मानमात्मसंज्ञो हि गभः । तस्य पुनरात्मनो जन्मानादित्वान्नोपपद्यते । तस्मादजात एवायमजातं गर्भं जनयति । अजातो ह्यजातेन जनितः । स चैव गर्भः कालान्तरेण बालयुवस्थविरभावान् प्राप्नोति ; स यस्यां यस्यामवस्थायां वर्त्तते तस्यां तस्यां जातो भवति । या त्वस्य पुरस्कृतावस्था तस्यां जनिष्यमाणः । तस्मात् स एव जातश्चाजातश्च युगवद् भवति । तस्मिंश्च एतदुभयं सम्भवति जातत्वञ्चैव जनिष्यमाणत्वञ्च । स च जातो जन्यते । स चैवानागतेष्ववस्थान्तरेष्वजातो जनयत्यात्मनात्मानम् । सतो ह्यवस्थान्तर-गमनमात्रमेव जन्म चोच्यते । तत्र तत्र वयसि तस्यां तस्यामवस्थायाम् । यथा सतामेव शुक्रशोणितबीजानां प्राक् संयोगादगर्भत्वं न भवति । तच्च संयोगाद् भवति । यथा सतस्तस्यैव पुरुषस्य प्रागपत्यात् पितृत्वं न भवति तच्चापत्याद्भवति । तथा सतस्तस्यैव गर्भस्य तस्यां तस्यामवस्थायां जातत्वमजातत्वं चोच्यते” इति । अथ—शीघ्रगत्वाद् यथा भूतस्तथा भावो विपद्यते इति । भावः किं प्राणी चाप्राणी, चोच्यते ? तेषाञ्च शीघ्रगत्वे किं कारणमिति ? तत्रोच्यते केनचिन्महर्षिणा—प्राणी चाप्राणी च सर्व्वो भावः क्षणिकः शीघ्रगः । पाञ्चभौतिकत्वेऽपि सर्व्वेषां दिक्कालोपादानकत्वाच्चक्रवद्भ्रमणस्वभावेन कालेऽविरतं भ्रामितत्वादिति वादमाश्रित्य वादिवचनमक्षपादगौतमेनोक्तम् “स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद्व्यक्तीनाम्” इति । व्याख्यातञ्चैतद्वात्स्यायनेन—“स्फटिकस्याभेदेनावस्थितस्योपधानभेदान्नानात्वाभिमानः । कस्मात् ? स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः । स्फटिकेऽप्यन्या व्यक्तय उत्पद्यन्ते अन्या निरुद्ध्यन्ते इति, कथम् ? क्षणिकत्वाद्व्यक्तीनाम् । क्षणश्चाल्पीयान् कालः । क्षणस्थितिकाः क्षणिकाः । कुतः पुनर्गम्यते क्षणिका व्यक्तय इति ? उपचयापचय-प्रबन्धदर्शनाच्छरीरादिषु । पक्तिनिवृत्तस्याहाररसस्य शरीररुधिरादिभावेनोपचयोऽपचयश्च प्रबन्धेन प्रवर्त्तते । उपचयाद्व्यक्तीनामुत्पादोऽपचयान्निरोधः । एवञ्च सत्यवयवपरिणामभेदेन वृद्धिः शरीरस्य कालान्तरेण गृह्यत इति । एवं मन्यते—नित्यगः कालो यथा विनश्वरत्वे न हेत्वन्तरं विनाशोऽपेक्षते, तथा सर्व्व एव भावाः, यद्धि मस्य हेत्वन्तरापेक्षं, न तस्य तदवश्यगभावि, यथा—पदस्य रागः ; हेत्वन्तरापेक्षी चेद

सोऽयमुपचयापचयप्रबन्धो व्यक्तिमात्रे वेदितव्य इति” । तत्रोवाच गौतमः—  
 “नियमहेत्वभावाद् यथादर्शनमभ्यनुज्ञा ।” व्याख्यातश्च तद्वात्स्यायनेन—“पदा-  
 र्थानां सर्वासु व्यक्तिषूपचयापचयप्रबन्धः शरीरवदिति नायं नियमः । कस्मात् ?  
 हेत्वभावात् । नात्र प्रत्यक्षमनुमानं वा प्रतिपादकमस्तीति । तस्माद् यथा-  
 दर्शनमभ्यनुज्ञा । यत्र यत्रोपचयापचयप्रबन्धो दृश्यते, तत्र तत्र व्यक्तीनाम्  
 अपरापरोत्पत्तिरूपचयापचयप्रबन्धदर्शनेनाभ्यनुज्ञायते ; यथा शरीरादिषु । यत्र  
 यत्र न दृश्यते, तत्र तत्र प्रत्याख्यायते ; यथा ग्रावप्रभृतिषु । स्फटिकेऽप्युप-  
 चयापचयप्रबन्धो न दृश्यते । तस्मादयुक्तं स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तिरिति ।  
 यथा चार्कस्य कटुकिस्रा सर्वद्रव्याणां कटुकिमानमापादयेत् तादृगेतदिति ।” तत्र  
 चोवाचापरः कश्चित् “यश्चाशेषनिरोधेनापूर्वार्त्पादं निरन्वयं द्रव्यसन्ताने  
 क्षणिकानां मन्यते ।” क्षणिकानां भावानां द्रव्यसन्ताने द्रव्यस्योपचयापचय-  
 प्रबन्धे खलु निःशेषेण निरोधेनापचयेनापूर्वस्योपचयस्योत्पत्तिस्तत्र पूर्वभावा-  
 न्वयो नास्तीति मनवानः कश्चनोवाच—“नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ।”  
 नियमहेत्वभावाद्यथादर्शनमभ्यनुज्ञा । न सर्वत्रैव प्राण्यप्राणिष्वभ्यनुजानीहि ।  
 कस्मात् ? उत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः । प्राणिषु शरीरवत् उत्पत्तिकारणं  
 तावदुपलभ्यते । अप्राणिष्वपि यथावयवोपचयो बल्मीकादीनाम् । विनाश-  
 कारणञ्चोपलभ्यते यथा घटादीनामवयवविभागः । यस्य त्वपचितावयवं  
 निरुध्यते, स्वरूपमनुपचितावयवञ्च स्वरूपमुत्पद्यते तस्याशेषनिरोधे निरन्वये  
 त्वपूर्वार्त्पादे च न कारणमुभयत्राप्युपलभ्यते इति । तत्र सिद्धान्तमुवाचाक्ष-  
 पादगौतमः—“क्षीरविनाशे कारणानुपलब्धिवद् दध्युत्पत्तिवच्च तदुपपत्तिः ।”  
 यथानुपलभ्यमानं क्षीरविनाशकारणं दध्युत्पत्तिकारणञ्चाभ्यनुज्ञायते, तथा  
 स्फटिकेऽप्यपरापरासु व्यक्तिषु विनाशकारणमुत्पत्तिकारणञ्चाभ्यनुज्ञेयमिति ।

तत्राह वादिवचनम्—“लिङ्गतो ग्रहणान्नानुपलब्धिः ।” क्षीरविनाश-  
 लिङ्गं दध्युत्पत्तिः । ततः क्षीरविनाशकारणं गृह्यते । तथा शरीरावस्थान्तरोत्-  
 पत्तिः पूर्वावस्थाया लिङ्गम् । ततः पूर्वावस्थाया विनाशकारणं गृह्यते ।  
 ततो विनाशकारणस्य नानुपलब्धिरिति । तत्रोवाच पुनर्व्वसुः—विनाश-  
 कारणाभावात् भावानां नाशकारणम् । न जायते यथाभूतस्तथा भावो विपद्यते ॥  
 इति । न हि क्षीरविनाशे कारणानुपलब्धिवद् दध्युत्पत्तिवच्च तदुपपत्तिर्भवति ।

विनाशः स्यात्, नावश्यम्भावी स्यात् ; एतद्विपर्य्ययाच्चानपेक्षत्वं विनाशस्य सिद्धम् । सम्प्रति  
 अहेतुको विनाश उत्पत्त्यन्तरमेव स्यात्, पश्चात् स्थिरत्वेन संस्काराधानमपि भावेषु न पार्य्यते

क्षीरदध्नोः प्रकृतिविकृतिभावाद् यथाभूतो भाव उत्तरावस्थायां तथा भावः पूर्ववस्थायां विपद्यत इति । अत्र दृष्टान्तभावात् क्षीरदध्नोः पूर्वानुरूपेण उत्तररूपोत्पत्तौ पूर्वभावो हि हेतुः, न पूर्वभावविनाशः । ततो विक्रियमाणं क्षीरमेव दध्युत्पत्तौ हेतुः, न क्षीरविनाश इति । अतः क्षीरविनाशलङ्घनं न दध्युत्पत्तिः । भवतु वा दध्युत्पत्तिः क्षीरविनाशलङ्घनम् । तेन लिङ्गेन क्षीरविनाश एव गृह्यते न तु क्षीरविनाशकारणं गृह्यते । तस्माद्विनाशकारणानुपलब्धिरिति पुनर्व्वेसुः । अथैवं चेत् तदा न सर्व्वभावाणां क्षणिकत्वम् । स्फटिकादिषु द्रव्येषूपचयापचयाभावादपरापरोत्पत्तौ व्यक्तीनां न लिङ्गमुपचयापचयप्रबन्धोऽस्ति । तस्माद्यथादर्शनमभ्यनुज्ञा । इति वात्स्यायनव्याख्यानम् । तत्र कश्चित् परिहारमाह—“न पयसः परिणामो गुणान्तरप्रादुर्भावात् ।” पयसः परिणामो दध्नि, न विनाशः । इत्येक आहुः । परिणामश्च अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्व्वधर्म्मनिवृत्तौ धर्म्मन्तरोत्पत्तिरिति । गुणान्तरप्रादुर्भाव इत्यपर आहुः । गुणान्तरप्रादुर्भावश्च सतो द्रव्यस्य पूर्व्वगुणनिवृत्तौ गुणान्तरोत्पत्तिरिति । स खल्वेकपक्षीभाव इव ।

अत्र तु प्रतिषेधः—“व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पूर्व्वद्रव्यनिवृत्तेरनुमानात् ।” सन्मूर्च्छनलक्षणादवयवव्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरे दध्नुत्पत्तौ गृह्यमाणे पूर्व्वं पयोद्रव्यमवयवविभागेभ्यो निवृत्तमित्यनुमीयते । यथा मृदवयवानां व्यूहान्तराद् व्यूहान्तरस्थाल्यामुत्पन्नायां पूर्व्वं मृत्पिण्डद्रव्यं मृदवयवविभागेभ्यो निवर्त्तत इति । मृद्व्वावयवाऽन्वयः । पयोदध्नोर्नाशेपनिरोधे निरन्वयो द्रव्यान्तरोत्पादो घटते इति ।

अथाभ्यनुज्ञाय च निष्कारणं क्षीरविनाशं दध्युत्पादश्च प्रतिषेद्धमुच्यते—“कचिद्विनाशकारणानुपलब्धेः कचिच्चोपलब्धेरनेकान्तः ।” क्षीरदधिवत् निष्कारणौ विनाशोत्पादौ स्फटिकादिव्यक्तीनामिति नायमेकान्तः । कस्मात् ? हेतुभावात् । नात्र हेतुरस्ति । अकारणौ विनाशोत्पादौ स्फटिकादिव्यक्तीनां न पुनर्विनाशकारणाभावात् । कुम्भस्य विनाश उत्पत्तिकारणाभावादुत्पत्तिः । एवं स्फटिकव्यक्तीनां विनाशोत्पत्तिकारणाभावाद्विनाशोत्पत्त्यभावः प्रतिक्षणमिति । निरधिष्ठानश्च दृष्टान्तवचनं—गृह्यमाणयोर्विनाशोत्पादयोः स्फटिकादिषु स्यादयमाश्रयवान् दृष्टान्तः । क्षीरविनाशकारणानुपलब्धिवद् दध्युत्पत्तिवच्चेति तु न गृह्यते । तस्मान्निरधिष्ठानोऽयं दृष्टान्तः । इति । अभ्यनुज्ञाय च स्फटिकस्य कर्तुं मित्याह—यथा भूत इति । यादृश उत्पन्नः, तथेति तादृश एव । पूर्व्वसाधितमहेतुविनाशित्वं

अनुत्पादविनाशौ योऽत्र साधकस्तस्याभ्यनुष्ठानादप्रतिषेधः । कुम्भवन्न निष्कारणौ विनाशोत्पादौ स्फटिकादिव्यक्तीनामित्यभ्यनुष्ठेयोऽयं दृष्टान्तः प्रतिषेद्धमशक्यत्वात् । क्षीरदधिवत् तु निष्कारणौ विनाशोत्पादाविति शक्योऽयं दृष्टान्तः प्रतिषेद्धः कारणतो विनाशोत्पत्तिदर्शनात् । क्षीरदध्नोर्विनाशोत्पत्तौ पश्यता तत्कारणमनुमेयम् । कार्यलिङ्गं हि कारणमित्यक्षपादगौतमः । अत्रोवाच भगवानात्रेयः पुनर्व्वसुः— “जायन्ते हेतुवैषम्याद्विषमा देहधातवः । हेतुसाम्यात् समास्तेषां स्वभावोपरमः सदा ॥” इति । प्राणिनां देहधातवो वातपित्तकफरसरुधिरादयो हेतुवैषम्यात् कालबुद्धीन्द्रियार्थानामतियोगायोगमिथ्यायोगाद्विषमा जायन्ते इति । समानानां तेषां कालादीनामतियोगादितः समानां धातूनामुपचयोऽपचयोऽसमानां वैषम्येण । तेषाञ्चैवासमानहेतूनाम् अतियोगादितोऽपचयोऽसमानधातूनां वैषम्येणोपचयः समानामिति । एवं हेतुसाम्याद्देहधातवः समा जायन्ते इति । तेषामेव कालादीनां हेतूनां समयोगात् समानां धातूनामुपचयः । विशेषाणामुपचयो भवति साम्येनैव । तत्र विषमाणामुपचयापचययोः समानाश्चोपचयापचययोस्तत्तद्विषमोपयुक्ताहाराचारादिभिर्जातरसेन मलेन च मेलनाद्देहरसादिमलादीनामुपचयापचयौ यद्भवतस्तत्र पूर्वावस्थायां यथाभूतो देहधातुः समो वा विषमो वा तथाभावेनैवोत्तरावस्थायां तं तं धातुमारभ्याकारणं विपद्यते । उत्तरावस्थाप्रवृत्तौ तु तत्तदाहाराचारादिरसमलसंयोगः कारणमिति । निरन्तरमाहारादिजनितरसमलानुवृत्तेर्निरन्तरमेव तेषां धातूनां समानां विषमाणां वा स्वभावोपरमः स्यात् । तत्रान्यथाक्रियापूर्वावस्थायां यथाभूतः । ततोऽन्यथाक्रियोत्तरावस्थायां नैवास्ति शीघ्रगत्वाद्भावानाम् । सर्व्वो हि भावो लोके कालानुप्रविष्टः प्राणी । तत्र नवद्रव्यात्मकश्चेतनः । अप्राणी तु आत्ममनोवर्ज्जसप्तद्रव्यात्मकः । तस्मादविरतभ्रमणस्वभावकालान्वयाच्छीघ्रगत्वस्वभावः । यथासावात्मा बीजधर्मा मानुषशुक्रार्त्तवसंयोगं मानुषगर्भाशयगतमुपेत्य प्रथमादिषु कललादिरूपावस्थान्तरं प्रतिक्षणं प्राप्तः सर्व्वसम्पूर्णाङ्गः कालेन मनुष्यविग्रहेण प्रसूतो जायते, गवादिशुक्रार्त्तवसंयोगं गवादिगर्भाशयगतमुपेत्य तथैव गवादिविग्रहेण जायते । जातश्च शिशुरूपेणाहारादिरसपोषणमवाप्य रस-

तथा शीघ्रगत्वहेतुसाधितमसत्कार्यत्वमुपसंहरति— निरोध इत्यादि । अन्यथाक्रिया अन्यथाकरणं संस्काराधानमिति यावत् ॥ १६।१७ ॥

रक्तादिधातुपुष्टिं प्रत्यग्रस्वभावां प्रतिक्षणं प्राप्तो यौवनपर्यन्तं प्रतिक्षणमुत्तराव-  
स्थारम्भपूर्व्वावस्थानाशाभ्यामवस्थान्तरमुपेत्य वृद्धिमुपैति । स्थैर्यस्वभावात् तु  
धातूनां मध्यावस्थायां तथाविधाहारादिरसपोषणे स्थिरभावेण वर्तते । प्रति-  
क्षणमुत्तरावस्थारम्भपूर्व्वावस्थानाशाभ्यामवस्थान्तरश्चोपैति । तथा ततः परं  
ह्रासस्वभावाद्धातूनां वार्द्धक्ये तथाविधाहारादिजनितरसपोषणेऽपि प्रतिक्षण-  
मुत्तरावस्थारम्भपूर्व्वावस्थानाशाभ्यां क्रमेणावस्थान्तरमुपेत्य ह्रासमुपैतीति ।  
शैशवादिक्रमेण परिणामे कारणं शरीरारम्भकः कालः । इत्येवं पूर्व्वपूर्व्वव्यूह  
उत्तरोत्तरव्यूहमारभ्य नश्यति, मनुष्यभावश्च न जहाति । गवादिभावश्च  
न प्राप्नोति । तस्मात् क्षणभङ्गे व्यूहान्तराद्रव्यान्तरोत्पत्तिः, न तज्जातीय-  
भिन्नद्रव्यान्तरोत्पत्तिः । पूर्व्वद्रव्यनिवृत्तिरपि पूर्व्वव्यूहनिवृत्तिर्न तज्जात्यारम्भक-  
पूर्व्वद्रव्यनिवृत्तिः । उत्तरमपि तज्जातिदर्शनात् । यथा गर्भाशयगतं जीवाधि-  
ष्ठितं शुक्रार्तवं कललादिक्रमेण प्रतिक्षणमुत्तरावस्थारम्भपूर्व्वावस्थानाशाभ्यां  
सर्व्वसम्पूर्णाङ्गो वह्निर्निःसृतो जायते मनुष्यादिः शिशुः, तथा क्षीरविनाश-  
कारणानुपलब्धिवद्ध्युत्पत्तिवच्च भावानां पूर्व्वपूर्व्वावस्थानाशकारणानुपलब्धिरुत्त-  
रोत्तरावस्थागमनमुत्पत्तिः प्रतिक्षणम् । क्षीरं हि कालेन परिणमत् खलूत्तरो-  
त्तरावस्थामारभ्याकारणं विनश्यति । तत्कारणमुपलब्धभावान्नस्त्येव । एवं  
प्रतिक्षणमुत्तरोत्तरावस्थारम्भपूर्व्वपूर्व्वावस्थानाशाभ्यां सर्व्वभावेण काले दधि  
जायते । ततो जातस्य शिशोः शैशवादिवाद्धक्यावस्थान्तरावस्थान्तरगमनं  
जन्म यथा प्रतिक्षणमुत्तरोत्तरावस्थारम्भपूर्व्वपूर्व्वावस्थानाशाभ्यां भवति । तथा  
जातस्य दध्नोऽपि प्रतिक्षणमुत्तरोत्तरावस्थारम्भपूर्व्वपूर्व्वावस्थानाशाभ्यां मधुरा-  
म्लात्यम्लादिस्वरूपेण तरुणमध्यपुराणत्वावस्थान्तरमापद्यते दधित्वश्च न  
जहाति । तत्र पूर्व्वव्यूहस्य कार्य्यमुत्तरव्यूहो लिङ्गं न तु पूर्व्वव्यूहनाशस्य कार्य्य-  
मुत्तरव्यूहः । अतो न पूर्व्वव्यूहनाशस्य लिङ्गं दधि । तस्मात् तन्नाशकारणं न  
ज्ञायत इत्यतो नास्ति । एवमजीवेषु सर्व्वेषु स्फटिकादिषूपचयापचयकारणं  
कालादि । तत्तदारम्भकश्च बाह्यश्च । यदा पर्व्वते सजीवे स्फटिकादिकं  
जायते तदा तत्तत्पर्व्वतादुत्पचयापचये तस्य तस्याहारादिपोषणेन जाते प्रति-  
क्षणमेव तथैवोत्तरावस्थारम्भपूर्व्वपूर्व्वावस्थानाशौ भवतः कालेन परिणामात् ।  
पर्व्वतादानीते स्फटिके निज्जीवे त्वाहारवत्पोषणकारणाभावान्नोपचयः  
बाह्यकालादिभ्यस्त्वपचयो वा भवति । कालेनैव वाय्वग्निजलादिभिरवस्था-  
न्तरप्राप्तं दृश्यमानश्च लोके स्फटिकादिकमुच्यते । नूतनमिदं मध्यममिदं

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः ।

सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्विषजां मतम् ॥ १८ ॥

पुराणमिदमिति । वल्मीकादीनामवयवोपचयकारणमाहाररसबद्धलम्बीककीटो-  
द्धृतमृदप्यस्ति । तद्वद्बल्मीकोपचयेऽपि तदुद्धृतमृदा मेलनेन पूर्ववल्मीकमृद्वृद्धिं  
प्राप्योत्तरावस्थामारभ्य पूर्वावस्थिकरूपेण नश्यतीति । तत्र कारणं नास्तुप-  
लब्धभावात् । घटादीनां विनाशकारणमवयवविभागो न परावस्थारम्भक-  
पूर्वावस्थाव्यवहारात् कारणमिति । एवञ्च प्राण्यप्राणिनां सर्वेषामुत्तरावस्था-  
रम्भ-पूर्वावस्थानिष्कारण-विनाशयोः नियमहेत्वभावादयथादर्शनमभ्यनुज्ञावचनं  
नाद्रियते । शरीरवत् सर्वासु व्यक्तिषु कालकृतावस्थान्तरदर्शनात् । प्राण्य-  
प्राणिषु सर्वत्रैव प्रतिक्षणमवस्थान्तरदर्शनादेव च प्रतिक्षणमुत्तरोत्तरव्यूहारम्भा-  
कारणपूर्वपूर्वव्यवहाराप्रवन्धः । कचिद्विनाशकारणानुपलब्धेः कचिदुपलब्धेः  
नानेकान्तः । इति ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—इत्येवं भावानां स्वभावोपरमे प्रवृत्तिहेतुं निरोधे कारणाभावस्य  
युक्तिमुक्त्वा स्वभावोपरमे कर्म चिकित्साप्राप्तस्य किमिति ? प्रश्नोत्तरमाह—  
याभिरित्यादि । विषमधातूनां प्रतिक्षणं विषमा धातव उत्तरावस्थां विषमधातुका-  
मारभ्य नश्यन्ति । इत्येवं विषमधातुप्रवन्धे शरीरे याभिः क्रियाभिस्ते विषमा  
धातवः समा जायन्ते सा क्रिया विकाराणां विषमधातूनां चिकित्सा । तदेव  
चिकित्साक्रिया विषजां कर्म मतम् । एतेन भेषजैर्विषमान् धातून् कान्  
समीकुरुते विषगित्यस्याप्युत्तरमुक्तं भवति । विकारणामिति वचनेन प्रतिक्षणं

चक्रपाणिः—एतेन विषमे धातौ साम्यं संस्कार आधीयतामित्येवंरूपापि चिकित्सा निरस्ता  
मन्तव्या, एवं व्यवस्थिते पूर्वोक्षितं चिकित्सितं समादधति याभिरित्यादि ।—“सा चिकित्सा”  
इत्यनेन “का वा चिकित्सा” इत्याक्षेपः परिहृतः । “कर्म तद्” इत्यनेन प्रथमोद्दिष्ट आक्षेपः  
परिहृतः । “इत्यर्थं क्रियते क्रिया” इत्यनेन “किमर्थं वा” इत्याक्षेपः परिहृतः । “कान् समी-  
कुरुते” इत्याक्षेपस्तु, “समैस्तु हेतुभिर्यस्माद्” इत्यादिना परिहृतः । विषमेषु धातुषु याभिः  
क्रियाभिः-समा धातवो जयन्ते सा चिकित्सा ; एवं मन्यते—यद्यपि धातुवैषम्यं विनश्वरम्,  
तथापि विनश्यदपि तद्भातुवैषम्यं स्वकार्यं विषममेव धातुमारभते, एवं सोऽप्यपरं विषममिति  
न धातुवैषम्यसन्ताननिवृत्तिर्धातुसाम्यजनकत्वहेतुं विना ; यदा तु धातुसाम्यहेतुरप्युक्तो भवति,  
तदा तेन सहितं वैषम्यसन्ततिरहितमपि कारणं सममेव धातुसन्तानमारभते, यथा मुद्गरप्रहार-  
सहितो घटपरमाणुसन्तानो विसदृशं कपालसन्तानमारभते ॥ १८ ॥

कथं शरीरे धातूनां वैषम्यं न भवेदिति ।

समानाश्चानुबन्धः स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया ॥ १६ ॥

त्यागाद्विषमहेतूनां समानाश्चोपसेवनात् ।

विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातवः समाः ॥

समैस्तु हेतुभिर्यस्माद् धातून् संजनयेत् समान् ।

चिकित्साप्राभृतस्तस्माद् दाता देहसुखायुषाम् ॥ २० ॥

धर्मस्यार्थस्य कामस्य नृलोकस्योभयस्य च ।

दाता सम्पद्यते वैद्यो दानाद् देहसुखायुषाम् ॥ २१ ॥

वैषम्येणारब्धोत्तरावस्थाप्रबन्धानां विकाराणां सा चिकित्सेत्युक्तेः । का वा चिकित्सेत्यस्याप्युत्तरं सा चिकित्सेति वचनम् । किमर्थं वा प्रयुज्यते इति प्रश्नस्योत्तरमाह—कथमित्यादि । विषमधातूत्तरप्रबन्धो वैषम्यं कथमपि धातूनां शरीरे न भवेदित्यर्थं समीकृतेषु च धातुषूत्तरप्रबन्धः समानामेव स्यान्न तु विषमाणामिति चार्थं चिकित्साक्रिया क्रियते ॥ १८।१९ ॥

गङ्गाधरः—ननु याभिः क्रियाभिरिति काभिरिति ? अत आह त्यागा-दित्यादि । विषमहेतूनां कालबुद्धीन्द्रियार्थानामतियोगायोगमिध्यायोगयुक्तानां त्यागात् । समानां समययोगयुक्तानां तेषामेव कालबुद्धीन्द्रियार्थानामुपसेवनात् विषमा धातवो न जायन्ते न चानुबध्नन्ति समाश्च जायन्ते । अथैवमाचरणं सर्व्व एव किं स्वयं स्वयं कर्तुमहेतीति ? अत आह—समैरित्यादि । यस्माच्चिकित्साप्राभृतो वैद्यः समैः समययोगयुक्तैस्तु हेतुभिर्धातून् समान् संजनयेत् तस्माद्देहसुखानामायुषाश्च दाता भवति न त्वुद्यो वैद्यमानी ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—देहसुखायुषां दानाद्यच्च फलं लभते तदाह—धर्मस्येत्यादि ।

चक्रपाणिः—एवं व्यवस्थिते, “कथं शरीरे” इत्यादिग्रन्थो व्याख्येयः ; वैषम्यं न भवेत् नोत्पदेतेत्यर्थः । समानाश्चानुबन्ध इति सन्तत्योत्पादः । विषमा नानुबध्नन्ति इति हेत्वभावात् विषमसन्तानस्योत्पादो न भवति । समानाश्चोपसेवनादिति समहेतूनां सेवनात् ॥ १९।२० ॥

चक्रपाणिः—देहसुखायुषां दानात् धर्मादीनां दाता भवति, देहसम्पत्तिसाध्यत्वाद् धर्मा-दीनामपीति भावः ॥ २१ ॥

इति कल्पनाचतुष्कः ।

तत्र श्लोकाः ।

चिकित्साप्राभृतगुणो दोषो यश्चेतराश्रयः ।  
 योगायोगातियोगानां लक्षणं सिद्धिसंश्रयम् ॥  
 बहुदोषस्य लिङ्गानि संशोधनगुणाश्च ये ।  
 चिकित्सासूत्रमात्रश्च सिद्धिव्यापत्तिसंश्रयम् ॥  
 या च युक्तिश्चिकित्साया यञ्चार्थं कुरुते भिषक् ।  
 चिकित्साप्राभृताध्याये तत् सर्व्वमवदन्मुनिः ॥ २२ ॥  
 इति कल्पनाचतुष्कः ।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते श्लोकस्थाने  
 चिकित्साप्राभृतीयो नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

वैद्यो नृलोकस्य नरस्य जनस्य देहसुखायुषां दानात् धर्मस्याथस्य कामस्य दाता सम्पद्यते । तस्मादुभयस्य च सुखायुषाश्च धर्मादित्रिवर्गस्य च दाता सम्पद्यते । न केवलं सुखायुषाम् । धर्मादयो हि सुखायुषामायत्ताः । इति ॥ २१ ॥

अध्यायार्थमाह—तत्र श्लोका इत्यादि । चिकित्साप्राभृतो विद्वानित्यादिना चिकित्साप्राभृतस्य वैद्यस्य गुणः । इतराश्रयो वैद्यमान्यबुधवैद्याश्रयो दोषश्च यं वैद्यमानीत्यादिनोक्तः । दौर्बल्यमित्यादिना सम्यग्योगादिलक्षणमुक्तम् । अविपाक-इत्यादिना बहुदोषस्य लक्षणमुक्तम् । एवं विशुद्धकोष्ठस्येत्यादिना संशोधनगुणा उक्ताः । अतियोगानुबन्धानामित्यादिना शुद्धिव्यापत्तिसंश्रयं चिकित्सासूत्रमात्रमुक्तम् । जायन्ते इत्यादिना या च युक्तिरित्यादुक्तम् ॥२२॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि । पूर्व्ववद्व्याख्येयम् । इति कल्पनाचतुष्कः । स्नेहस्वेदोपकल्पनीयचिकित्साप्राभृतीयैश्चतुर्भिः कल्पनाध्यायैर्निष्पन्नः कल्पनाचतुष्कः ।

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजकृते चरकजल्पकल्पतरौ सूत्रस्थानीय-  
 षोडशाध्यायचिकित्साप्राभृतीयस्य जल्पाख्या षोडशी शाखा ॥१६॥

चक्रपाणिः—संग्रहे सिद्धिसंश्रयञ्च व्यापत्तिसंश्रयञ्च सिद्धिव्यापत्तिसंश्रयम् ; तत्र सिद्धिसंश्रयं सिद्धिसंस्थानसंश्रयेण, व्यापत्तिसंश्रयम् “अतियोगानुबद्धानाम्” इत्यादनोक्तम् ॥२२॥

इति चरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्वेददीपिकायां सूत्रस्थान-

व्याख्यायां चिकित्साप्राभृतीयो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥



## सप्तदशोऽध्यायः ।

अथातः कियन्तःशिरसीयमध्यायं व्याख्यास्यामः.

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

कियन्तः शिरसि प्रोक्ता रोगा हृदि च देहिनाम् ।

कति वाप्यनिलादीनां रोगा मानविकल्पजाः ॥

क्षयाः कति समाख्याताः पिङ्गकाः कतिधानघ ।

गतिः कतिविधा प्रोक्ता दोषाणां दोषसूदन ॥ २ ॥

हुताश्वेशस्य वचस्तच्छ्रुत्वा गुरुरब्रवीत् ।

पृष्ठवानसि यत् सौम्य तन्मे शृणु सविस्तरात् ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—अथ भेषजस्वस्थनिर्देशकल्पनाचतुष्कचतुष्टयैः संक्षेपेण रोग-  
निदानभेषजचिकित्सा अभिहिताः । अधुना विस्तारवचनेन सूत्ररूपेण रोगानभि-  
धातुं रोगचतुष्के वक्तव्ये तत्राप्यङ्गानां मर्मणां सप्तोत्तरशते शिरोहृदययोः  
प्राधान्यात् तद्वतरोगानभिधातुं प्रथमं कियन्तःशिरसीयमध्यायमारभते । अथात  
इत्यादि । “कियन्तः शिरसि प्रोक्ता रोगा” इति वाक्यस्याध्यायादिस्थस्यैकदेशं  
कियन्तःशिरसीतिपदमधिकृत्य कृतोऽध्यायः कियन्तःशिरसीयः, तं तथा ।  
सर्व्वमन्यत् पूर्व्वद्व्याख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—कियन्त इत्यादि—प्रोक्ताः प्रवचनेनोपदिष्टा इति । तेन संख्यया  
वातादिजत्वादिना च ज्ञातुमेते प्रश्ना अग्निवेशेन कृताः ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—हुताशेत्यादि ।—गुरुरात्रेयः पुनर्व्वसुहुं ताश्वेशस्य तद्वचः श्रुत्वा-  
ऽब्रवीत् । हे सौम्याग्निवेश ! त्वं यत् पृष्ठवानसि तन्मे सविस्तराच्छृणु ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—पूर्व्वचतुष्कचतुष्टयेन भेषजमभिहितम्, सम्प्रति तद्विषयरोगाभिधानार्थं रोग-  
चतुष्कोऽभिधातव्यः ; चिकित्सा च विधेयत्वेनैव प्रधानमतः प्रथममुक्ता, किञ्च दर्शितश्चायं  
प्रथमाध्याय एव सम्बन्धः ; एवञ्चाङ्गेषु मर्मसु च प्रधानभूतशिरोहृदयरोगाभिधायकत्वेन  
कियन्तःशिरसीयोऽभिधीयते ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—क्षयस्थानवृद्धयो दोषमानं, तस्य विकल्पो दोषान्तरसम्बन्धासम्बन्धकृतो भेदः ।

दृष्टाः पञ्च शिरोरोगाः पञ्चैव हृदयामयाः ।

व्याधीनां द्वाधिका षष्टिर्दोषमानविकल्पजा ॥

दशाष्टौ च क्षयाः सप्त पिडका माधुमेहिकाः ।

दोषाणां त्रिविधा चोक्ता गतिर्वक्ष्यामि विस्तरम् ॥ ४ ॥

**गङ्गाधरः** तत्र प्रथमप्रश्नः कियन्तः शिरसि प्रोक्ता रोगा इति तस्योत्तरमाह—  
दृष्टाः पञ्च शिरोरोगा इति । हृदि च देहिनां कियन्तो रोगाः प्रोक्ताः इति प्रश्न-  
स्योत्तरं पञ्चैव हृदयामया इति । कति वाप्यनिलादीनां रोगा मानविकल्पजा  
इति प्रश्नस्योत्तरम्—व्याधीनां द्वाधिका षष्टिर्दोषमानविकल्पजा इति । सर्वेषामेव  
व्याधीनां ज्वररक्तपित्तादीनां दोषमानविकल्पजा द्वाधिका षष्टिर्दोषभिर्भेदाः ।  
तत्रापि ज्वरादीनां दृढदोषजानां स्वस्वाधिकारे निर्दिष्टसंख्यासु कल्पनीयाः ।  
तेन पञ्चविधशिरोरोगा अपि पञ्चविंशतिविधाः कल्पनीयाः । एवं हृदयामयादयः  
सर्वे बोध्याः । क्षयाः कति समाख्याताः ? इत्यस्योत्तरं—दशाष्टौ च क्षया  
इति । अष्टादश क्षयाः । एते च पञ्चविंशतिविधा कल्पनीयाः । पिडकाः  
कतिधानव इत्यस्योत्तरं—सप्त पिडका माधुमेहिका इति प्राधान्यात् अन्या-  
श्चासङ्गकत्वेन कतिचिच्च वक्ष्यन्ते । गतिः कतिविधा चोक्ता इत्यस्योत्तरमाह—  
दोषाणां त्रिविधा चोक्ता गतिः । तांश्च सर्वान् विस्तरं प्रकारभेदेन निदानादि-  
वचनेन च वक्ष्यामीति ॥ ४ ॥

माधुमेहिका इत्यत्र माधुमेहशब्दः सामान्येन प्रमेहवचनः, यतोऽत्रैव सामान्येन ब्रुवते—“विना  
प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः” इति ; अन्यथा हि “विना माधुमेहम्” इति कृतं स्यात्, तथा  
चिकित्सिते वक्ष्यति सामान्येनैव, यत् “प्रमेहिणो याः पिडका यथोक्ताः, रोगाधिकारे  
पृथगेव सप्त” इत्यादि, तथा माधुमेहपिडकानां चिकित्सितोपदेशाच्च सर्वमेहभवत्वं पिडकानां,  
माधुमेहभवत्वेन हि माधुमेहस्यैवाऽसाध्यत्वात् न तद्वपिडकानामुपक्रमणीयत्वमस्ति, किञ्च,  
प्रदेशान्तरेऽपि माधुमेहशब्देनार्थं सर्वप्रमेहानुक्तवान्, यथा—“गुल्मी च माधुमेही च राजयक्ष्मी  
च यो नरः । अचिकित्स्या भवन्त्येते बलमांसपरिक्षये ॥” इति । अत्रापि यदि वातिको माधुमेहः  
अभिप्रेतः स्यात्, तदा तस्य स्वरूपत एवासाध्यत्वेन ‘बलमांसपरिक्षये सति’ इति विशेषणमनर्थकं  
स्यात् ; सुश्रुतेनापि च सामान्येन प्रमेह एवैताः पिडका दर्शिताः, यदुक्तं—“तद्वच्च वसामेदोभ्या-  
मभिपन्नस्य शरीरस्य दोषैश्चानुगतधातोः प्रमेहिणः पिडका जायन्ते” इत्यादि ; सर्व एव प्रमेहा  
यस्माद् देहं माधुरोक्त्य जायन्ते तस्मान्माधुमेहा इत्युच्यन्ते, वचनं हि—“पट्पदपिपीलिकाभि-  
सरणम्” इति, तथा च वाभट्टः, “माधुरं यच्च सर्वेषु प्रायो मधिविव मेहति । सर्वं हि माधु-  
मेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः ॥” विस्तरत इति शृण्वित्यनेन सम्बध्यते ॥ २—४ ॥

सन्धारणाद् दिवास्वप्नाद् रात्रौ जागरणान्मदात् ।  
 उच्चैर्भाष्यादवश्यायात् प्राग्वातादतिमैथुनात् ॥  
 गन्धादसात्स्यादाघ्राताद् रजोधूमानिलातपात् ।  
 गुर्वम्लहरितादानादतिशीताम्बुसेवनात् ॥  
 शिरोभितापाद् दुष्टामाद् रोदनाद् वाष्पनिग्रहात् ।  
 मेघागमान्मनस्तापाद् देशकालविपर्ययात् ॥  
 वातादयः प्रकुप्यन्ति शिरस्यस्त्रञ्च दुष्यति ।  
 ततः शिरसि जायन्ते रोगा विविधलक्षणाः ॥  
 प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च ।  
 यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—अथ विस्तरेण शिरोरोगमाह—सन्धारणादित्यादि । अविधाय्याणां मूत्रादिवेगानां सन्धारणात् । मदान्मदकरद्रव्यातिसेवनेन मत्तभावात् । हरितमाद्रकमरिचधन्याकादि । गुर्वम्लहरितानामत्यादानात् । शीताम्बुनश्च अतिसेवनात् । शिरोऽभितापाच्छिरसोऽभिहननात् । दुष्टामात् दुष्टामाजीर्णात् । उष्णामादिति पाठे उष्णाच्चाभाजीर्णाच्च । देशकालविपर्ययात् देशस्य पूर्वस्थिते-  
 विपर्ययात् । तथा कालस्य ऋतोर्विपर्ययात् । तेन कालातियोगमिथ्या-  
 योगयोः शिरोरोगहेतुत्वं व्यावृत्तमिति । तथातिमैथुनादित्यनेन मैथुनायोग-  
 मिथ्यायोगयोर्व्यावृत्तिः कृता । गुर्वम्लहरितानाञ्चात्यादानाच्चानादान-  
 मिथ्यादानयोश्च व्यावृत्तिः । एभ्यो व्यस्तसमस्तेभ्यो हेतुभ्यो वातादयः पृथक्  
 समस्ताश्च शिरसि प्रकुप्यन्ति । असं रक्तञ्च एभ्यो हेतुभ्यो दुष्यति शिरस्येवेति ।  
 सर्वस्मिन्नेव शिरोरोगे रक्तदोषश्च वर्तते एव । ततो वातादिभ्यः सह दुष्ट-  
 रक्तभ्यः शिरसि विविधलक्षणा वक्ष्यमाणा अर्द्धावभेदकादयो रोगा जायन्ते ।  
 ननु किमिदं शिरः कर्णभ्रूय ऊर्ध्वम् अथ मुखकर्णाक्षिश्रोत्रसहितं सर्व्वम् ? यदि  
 सर्व्वं तदा मुखादिरोगाश्च शिरोरोगा भवन्तीति ; अत आह—प्राणा इत्यादि ।

चक्रपाणिः—सन्धारणादिति वेगसन्धारणात्, हरितमाद्रकादि, अतीति पूर्व्वेण परेण च  
 शीताम्बुसेवनादित्यनेन सम्बध्यते ; दुष्टामात् किंवा उष्णामादिति पाठः, तत्रोष्णाच्चाभाच्च  
 इत्यर्थः । देशकालविपर्य्यादित्यत्र देशविपर्य्यय उपसर्गगृहीतत्वं देशस्य ; अरुञ्च प्रदुष्यतीत्य-

अर्द्धाविभेदको वा स्यात् सर्व्व वा रुज्यते शिरः ।  
 प्रतिश्यामुखनासाक्षि-कर्णरोगशिरोभ्रमाः ॥  
 अर्दितं शिरसः कम्पो गलमन्याहनुग्रहः ।  
 विविधाश्चापरे रोगा वातादिकृमिसम्भवाः ॥ ६ ॥  
 पृथग्दृष्टास्तु ये पञ्च संग्रहे परमर्षिभिः ।  
 शिरोगदांस्ताञ्छृणु मे यथास्वैर्हेतुलक्षणैः ॥ ७ ॥  
 उच्चैर्भाष्यातिभाष्येभ्यस्तीक्ष्णाघ्राणात् \* प्रजागरात् ।  
 शीतमास्तसंस्पर्शाद् व्यायामाद् † वेगनिग्रहात् ॥  
 उपवासाद्भीघाताद् विरेकवमनादति ।  
 वाष्पशोकभयत्रासाद् भारमार्गातिकर्षणात् ॥

यत्र प्राणाः श्रिताः प्रतिष्ठिताः । हृदयादिषु स्वस्थानेषु स्थितिः प्राणानां  
 यदायत्ता । सव्वन्द्रियाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि यत्र श्रितानि स्वस्थाधिष्ठान-  
 वर्तीनि यत्र श्रितानि । यदङ्गानां मध्ये उत्तममङ्गं तदङ्गं शिर इत्यभिधीयते ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—तेन किं पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानवज्जमुत्तमाङ्गं शिर उच्यते ?  
 इत्यत आह—अर्द्धाविभेदको वेत्यादि । वाशब्देन अनन्तवातादीनामनुक्तानां  
 ग्रहणम् । क्रिमिसम्भवा इत्यन्तैर्ये रोगास्ते सर्व्वे शिरोरोगाः । तेभ्यः पृथग्  
 ये पञ्च शिरोगदाः परमर्षिभिर्दृष्टास्तान् स्वैर्हेतुलक्षणैर्मैत्र्युणु ॥ ५—७ ॥

गङ्गाधरः—उच्चैर्भाष्येत्यादि । तीक्ष्णानामाघ्राणात् वक्ष्यमाणेन वमनादती-  
 त्यतिशब्देन सह तीक्ष्णाघ्राणादीनामन्वयः । एभ्य उच्चैर्भाष्यादिभ्यो हेतुभ्यो

भिदधानः सर्व्वशिरोरोगे रक्तडुष्टिं दर्शयति । प्राणा इत्यादिनाङ्गेषु शिरःप्राधान्यं दर्शयन् प्रकृत-  
 शिरोरोगाणामेवात्यहितत्वं दर्शयति ; तेन नोत्सृजं शिरःप्राधान्याभिधानं ; श्रिता इव श्रिताः  
 शिर-उपघाते उपघातात् ; उपरिष्टादङ्गमुत्तमाङ्गम् ॥ ५ ॥

चक्रपाणिः—प्रकृतान् शिरोरोगानाह—अर्द्धेत्यादिना क्रिमिसम्भवा इत्यन्तेन । एतच्च  
 “जायन्ते रोगा विविधलक्षणान्” इत्यस्य विवरणम् ॥ ६ ॥

चक्रपाणिः—शिरोगतत्वेन नासादिरोगेषु प्राप्तेष्वपि तान् विहायैवाष्टोदरीये प्रोक्तांस्तानेव  
 शिरःशूललक्षणान् रोगान् प्रपञ्चेन वक्तुमाह—पृथगित्यादि । संग्रहेऽष्टोदरीये, तेन

शिरोगता वै धमनीर्वायुराविश्य कुप्यति ।  
 ततः शूलं महत् तस्य वातात् समुपजायते ॥  
 निस्तुदेते भृशं शङ्खौ घाटा सम्भिद्यते तथा ।  
 भ्रुवोर्मध्यं ललाटञ्च तपतीवातिवेदनम् ॥  
 बध्येते स्वनतः श्रोत्रं निष्कृष्येते इवाक्षिणी ।  
 घूर्णतीव शिरः सर्वं सन्धिभ्य इव मुच्यते ॥  
 स्फुरत्यतिसिराजालं स्तभ्यते च शिरोधरा ।  
 स्निग्धोष्णमुपशेते च शिरोरोगेऽनिलात्मके ॥ ८ ॥  
 कट्फलवणञ्चार-मद्यक्रोधातपानलैः ।  
 पित्तं शिरसि संदुष्टं शिरोरोगाय कल्पते ॥

वायुः शिरोगता धमनीराविश्य कुप्यति । ततः शिरोगतधमनीप्रविष्टात् कुपिताद्  
 वातात् तस्य जनस्य शिरसि महच्छूलं समुपजायते । तच्छूलं यथा—निस्तुदेते  
 इत्यादि वातजशिरःशूललक्षणम् । शङ्खौ द्वौ भृशं निःशेषतस्तुदेते सूचीभिरिव  
 व्यथेते । तथा घाटा सम्भिद्यते सम्यग्भिन्नवत् पीड्यते । भ्रुवोर्मध्यं  
 ललाटञ्चातिवेदनं यथा स्यात् तथा तपतीव तापयुक्तमतिवेदनायुक्तञ्च भवति ।  
 द्वे श्रोत्रे बध्येते । स्वनतः सततशब्देन सम्बध्येते । निष्कृष्येते इवाक्षिणी ।  
 द्वे चक्षुषी स्थानान्निगते इव भवतः । सर्वं शिरः कण्ठादूर्ध्वं सर्वं घूर्णतीव ।  
 तथा सर्वं शिरः सन्धिवन्धनान्मुच्यत इव श्लथीभवति । शिरसि यावत्यः  
 सिरास्तावत्सिराजालमतिस्फुरति स्पन्दतेऽतिशयेन । शिरोधरा ग्रीवा स्तभ्यते  
 स्तब्धा भवति । स्निग्धोष्णमुपशेते वातहरत्वादिति । एतल्लक्षणमनिलात्मके  
 शिरोरोगे भवति ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—अथ पित्तजशिरःशूलमाह—कट्फलेत्यादि । स्पष्टम् । दह्यत इत्यादि ।

नारुं चिकादयोऽत्र प्रकरणे शिरोरोगशब्देनोच्यन्ते, शिरोरोगशब्दस्य शूल एव रुजाकरे वृत्तत्वात् ;  
 तीक्ष्णपानं तीक्ष्णमद्यपानं, किंवा तीक्ष्णं मदिरादि ; बध्येत इव बध्येत इत्यर्थः पीडायुक्त-  
 स्वेन ॥ ७—८ ॥

दह्यते तुद्यते तेन शिरः शीतं सुषूयते ।

दहेते चक्षुषी तृष्णा भ्रमः स्वेदश्च जायते ॥ ६ ॥

आस्यासुखैः स्वप्नसुखैर्गुरुस्निग्धातिभोजनैः ।

श्लेष्मा शिरसि संदुष्टः शिरोरोगाय कल्पते ॥

शिरो मन्दरुजं तेन सुप्तस्तिमितभारिकम् ।

भवत्युत्पद्यते तन्द्रीरालस्यमरुचिस्तथा ॥ १० ॥

वाताच्छूलं भ्रमः कम्पः पित्ताद् दाहो मदस्तृषा ।

कफाद् गुरुत्वं तन्द्रा च शिरोरोगे त्रिदोषजे ॥ ११ ॥

दह्यते तुद्यते च शिरः । तेन दाहतोदेन शिरः शीतं सुषूयते काङ्क्षति ।  
सूपसर्गेण सूयतेरिच्छार्थः । चक्षुषी दहेते । भ्रमो घूणेन चक्रस्थित-  
स्येव ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—कफजशिरःशूलमाह—आस्यासुखैरित्यादि । आस्यासुखादयः  
कफजशिरःशूलकारिकस्य हेतवः । तल्लक्षणमाह—शिर इत्यादि । तेन शिरसि  
दुष्टकफेन मन्दरुजं शिरो भवति । सुप्तश्च भवति । स्तिमितश्च भारिकश्च  
भारान्वितं शिरो भवति । उत्पद्यते तन्द्रीश्चालस्यञ्चेति ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—त्रिदोषजशिरःशूललक्षणमाह—वातादित्यादि । वातजादिशिरो-  
रोगाणां सर्व्वलक्षणव्यावृत्त्यर्थं लक्षणमिदमुक्तम् । हेतुश्च नोक्तः सर्व्वहेतूनामनुमत-  
त्वार्थमिति । ननु पित्तजशिरःशूले भ्रम उक्तः । कथमत्र वाताद्भ्रम उच्यते ?  
अथोच्यते—भ्रमस्तु रजःपित्तानिलाद्भवति । तत्र पित्तज इह वातज इति ।  
मदो मत्तता । उक्तानां वातादिजानां पृथग्लक्षणेषु मदस्यानुक्तेः त्रिदोषजे-  
ऽस्मिन्नर्द्धावभेदकान्तवातसूर्यावर्त्तानामन्तर्भावः । उक्तं हि सुश्रुते शिरो-  
रोगविज्ञानीयेऽध्याये—‘‘शिरो रुजति मर्त्यानां वातपित्तकफैस्त्रिभिः । सन्नि-  
पातेन रक्तेन क्षयेण क्रिमिभिस्तथा ॥ सूर्यावर्त्तान्तवातार्द्धावभेदकशङ्कैः ।  
एकादशप्रकारस्य लक्षणं संप्रवक्ष्यते ॥ यस्यानिमित्तं शिरसो रुजश्च भवन्ति  
तीव्रा निशि चातिमात्रम् । बन्धोपतापैश्च भवेद्विशेषः शिरोऽभितापः स

चक्रपाणिः—शीतं सुषूयते शीतमिच्छन्ति । स्वप्नसुखमनुचितदिवास्वप्नेन ज्ञेयं, सुप्तमिव  
सुप्तं प्रबोधरहितत्वेन, भाराक्रान्तमिव भारिकम् ॥ ९—११ ॥

समीरणेन (१) ॥ यस्योष्णमङ्गारचितं यथैव भवेच्छिरो धूमवती च नासा । शीतेन रात्रौ च भवेद्विशेषः शिरोऽभितापः स तु पित्तकोपात् (२) ॥ शिरो गलं यस्य कफोपदिग्धं गुरु प्रतिष्ठ्वमथो हिमश्च । शूनाक्षिकूटं वदनश्च यस्य शिरोऽभितापः स कफप्रकोपात् (३) ॥ शिरोऽभितापे त्रितयप्रवृत्ते सर्वाणि लिङ्गानि समुद्भवन्ति (४) ॥ रक्तात्मकः पित्तसमानलिङ्गः स्पर्शासहत्वं शिरसो भवेच्च (५) ॥ वसावलासक्षतसम्भवानां शिरोगतानामिह संक्षेपेण । क्षयप्रवृत्तः शिरसोऽभितापः कष्टो भवेदुग्ररुजोऽतिमात्रम् ॥ संस्वेदन-च्छर्दनधूमनस्यैरसृग्विमोक्षैश्च विवृद्धिमेति (६) ॥ निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रं संभक्ष्यमाणं स्फुरतीव चान्तः । घ्राणाच्च गच्छेत् सलिलं सरक्तं शिरोऽभितापः क्रिमिभिः स घोरः (७) ॥ यस्योदयं या प्रतिमन्दमन्दमक्षि-भ्रुवं रुक् समुपैति गाढम् । विवर्द्धते चांशुमता सहैव सूर्यापवृत्तो विनि-वर्तते च ॥ शीतेन शान्तिं लभते कदाचिदुष्णेन जन्तुः सुखमाप्नुयाच्च । तं भास्करावत्तेमुदाहरन्ति सर्वात्मकं कष्टतमं विकारम् (८) ॥ दोषास्तु दुष्टास्त्रय एव मन्यां संपीड्य घाटां सरुजां सुतीव्राम् । कुर्वन्ति साक्षिभ्रुव-शङ्खदेशे स्थितिं करोत्याशु विशेषतस्तु ॥ गण्डस्य पाश्वे तु करोति कम्पं हनुग्रहं लोचनजांश्च रोगान् । अनन्तवातं तमुदाहरन्ति दोषत्रयोत्थं शिरसो विकारम् (९) ॥ यस्योत्तमाङ्गार्द्धमतीव जन्तोः संभेदतोदभ्रमशूलयुक्तम् । पक्षादशहादथ वाप्यकस्मात् तस्यार्द्धभेदं त्रितयाद्वयवसेत् (१०) ॥ शङ्खाश्रितो वायुरुदीर्णवेगः कृतानुमात्राः कफपित्तरक्तैः । रुजः सुतीव्राः प्रतनोति मूर्द्धि त्रिदोषवश्चापि हि शङ्खयोस्तु ॥ सुकष्टमेनं खलु शङ्खकारण्यं महर्षयो वेदविदः पुराणाः । व्याधि वदन्त्युद्धतमृत्युकल्पं भिषक्सहस्रैरपि दुर्निवारम् (११) ॥ इति ।

निमिस्तु राजा विदेह उवाच—“हिमशीतात्मकौ नित्यं सहितौ कफ-मारुतौ । कुर्वन्ते वेदनां तीव्रां दिनात् पूर्वार्द्धे एव च ॥ आदित्यतेजसा युक्ते विनिवृत्ते तु भास्करे । स्रोतसां विवृतत्वाच्च ततः श्लेष्माग्निगच्छति ॥ उत्थितो मातरिश्वा च स्वमार्गं प्रतिपद्यते । तस्मान्मध्यन्दिनादूर्द्ध्वं वेदनात्र प्रशाम्यति ॥” इति । सूर्यावर्त्तस्य यद्वातश्लैष्मिकत्वमुक्तं तद्वातमध्यकफोत्-कटपित्तालपसन्निपातजत्वेन व्याख्यातम् । तदसाध । यतो विदेहेनैवोक्तं—  
“—सूर्यापवृत्तविपर्ययस्य । तत्र वातानुगं वित्तं चिरं शिरसि तिष्ठति । मध्याह्ने तेजसाऽर्कस्य तद्वृद्धं शिरसो रुजाम् ॥ करोति पैत्तिकीं घोरां संशाम्यति

दिनक्षये । अस्तं गते प्रभाहीने सूर्य्यं वायुनिर्वर्त्तते ॥ पित्तं शान्तिमवाप्नोति  
ततः शाम्यति वेदना । एवं पित्तानिलकृतः सूर्य्यावर्त्तविपर्य्ययः ॥” इति ।  
सूर्य्यावर्त्ततद्विपर्य्यययोस्तुल्यचिकित्साभिधानात् पित्तोत्कटमध्यवायुस्वल्पकफ-  
रूपसन्निपातकृतः सूर्य्यावर्त्तविपर्य्यय इति व्याख्यातम् । सन्निपातहरत्वेन  
तुल्यचिकित्सा तु दोषबलावल दृष्ट्वैव कार्य्येति । अनन्तवातश्च सव्वरेव  
महर्षिभिस्त्रिदोषजः पठितः । अर्द्धभेदस्तु विदेहेन पठितः—“शिरसोऽन्यतरे  
पार्श्वे कुपितो मारुतो यदा । ऊर्ध्वपक्षा रुध्यते जन्तोस्तोदस्फुटनदालनैः ॥  
शूलावदारणैर्गोदमद्धं तदवरुध्यते । नयनश्चावदीर्य्येत सोऽर्द्धभेदः कफा-  
निलात् ॥ द्रवहात् त्राहात् सपश्चाहात् पक्षान्मासाच्च देहिनाम् ॥” इति यत्  
कफानिलजः पठ्यते तदपि मध्यकफवातप्राधान्ये पित्ताल्पतया सान्निपातिक-  
त्वेनैवाभिप्रेतम् । यच्चाप्यन्यत्र पठितम्—“रुक्षाशनात्यध्यशन प्राग्वातावश्य-  
मथूनैः । वेगसन्धारणायास-व्यायामैः कुपितोऽनिलः ॥ केवलः सकफो वापि  
गृहीत्वा शिरसो बली । मन्याभ्रशङ्खकर्णाक्षि-ललाटाद्धेऽतिवेदनाम् ॥ शस्त्रारणि-  
निभां कुर्यात् तीव्रां सोऽर्द्धावभेदकः । नयनं वाथवा श्रोत्रमतिवृद्धो  
विनाशयेत् ॥” इति यद्वातकफजलनोक्तं तदपि वातोत्कटमध्यकफाल्प-  
पित्तजत्वेन सान्निपातिकत्वख्यापकमिति । शङ्खकस्तु विदेहेन पठितः—  
“चीयते तु यदा पित्तं शङ्खयोरनिले रितम् । निरुणद्धि ततो मर्मं परि-  
शोषितमुष्मणा ॥ ततः शङ्खो विभज्येते दहेत्येते इव वह्निना । सूचीभिरिव  
तुदेत्येते निकृत्येते इवारया ॥ शङ्खको नाम शिरसि व्याधिरेष सुदारुणः ।  
तृष्णामूर्च्छाज्वरकरस्त्रिरात्रात् परमन्तकृत् ॥ कुशलेन हुपक्रान्तस्त्रिरात्रादेव  
जीवति ॥” इति वातपित्तजत्वेन यत् पठितं तदपि पित्तप्रधानमध्यवायुस्वल्प-  
कफजत्वेन सान्निपातिकत्वख्यापनार्थम् । यतोऽभिहितम् “योऽधिकस्तेन  
निर्देशः क्रियते रसदोषयोः” इति । अन्यत्राप्युक्तम्—“पित्तरक्तानिलां दुष्टाः  
शङ्खदेशे विमूर्च्छिताः । तीव्ररुग्दाहरागं हि शोथं कुर्वन्ति दारुणम् ॥ स  
शिरो विषवद्वेगी निरुध्याशु गलं तथा । त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति शङ्खको नाम  
नामतः ॥ त्राहाज्जीवति भैषज्यं प्रत्याख्याय समाचरेत् ॥” इति च यदुक्तं  
तदपि शोथादिलिङ्गेन कफानुबन्धः सूचितः । सव्वत्रैव यद्रक्तसम्बन्धो  
विदेहादिभिरुक्तः स चरकवचनात् तत्रापि व्याख्येय इति सर्व्वतत्राविरोधः ।  
सुश्रुतेन रक्तज-क्षयजौ यौ शिरोरोगावुक्तौ तौ पुनश्चरकेण सर्व्वत्र शिरोरोगे  
रक्तदुष्ट्याः सञ्जावात् प्रबलरक्तजस्यापि पित्तलिङ्गक्रियाभ्यां तुल्यत्वात् पैत्तिक-



तिलक्षीरगुडाजीर्ण-पूतिसङ्कीर्णभोजनात् ।  
 क्लेदोऽसृक्कफमांसानां दोषलस्योपजायते ॥  
 ततः शिरसि संक्लेदात् क्रिमयः पापकर्मणः ।  
 जनयन्ति शिरोरोगं जाता बीभत्सलक्षणम् ॥  
 छेदव्यधनरुक्कण्डू-शोफदौर्गन्ध्यदुःखितम् ।  
 क्रिमिरोगातुरं विद्यात् क्रिमीणां लक्षणेन च \* ॥ १२ ॥

शिरोरोगे, क्षतजस्य वातिकपैत्तिकशिरोरोगेऽन्तर्भावः कृतः । विदेहे ह्युक्तम्—  
 “शून्यं भ्रमति तुदेत शिरो विभ्रान्तनेत्रता । मूर्च्छा चाङ्गावसादश्च शिरो-  
 रोगे क्षयात्मके ॥” इति । चक्षुष्येणाप्युक्तम्—“स्त्रीप्रसङ्गादभीघातादथ वा  
 देहकर्षणात् । क्षिप्रं संजायते कृच्छ्रः शिरोरोगः क्षयात्मकः ॥ वातपित्तात्मकं  
 लिङ्गं व्यामिश्रं तत्र लक्षयेत् ॥” इति । पृथग्वातजपित्तजशिरोरोगलिङ्गं  
 व्यामिश्रं तत्र लक्षयेदिति न पृथगुक्तः । क्षयात्मकः शिरोरोग इति न न्यूनल-  
 मिति सर्वत्र दोषनिर्देशे बोध्यम् ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—अथ क्रिमिजशिरोरोगमाह—तिलेत्यादि । संकीर्णभोजनादिति—  
 बहुद्रव्याणि मेलयित्वैकविधत्वेन निष्पन्नस्य भोजनात् । दोषलस्य बहुसञ्चित-  
 दोषवतः पुंसः । कफरक्तमांसानि क्लियन्ति । पापकर्मणोऽधर्मवतस्तस्य ।  
 ततस्तस्माद्रक्तकफमांससंक्लेदाच्चिरसि जाताः क्रिमयः बीभत्सलक्षणं घ्राणादि-  
 रन्ध्रेण पूयादिप्रवृत्तिलक्षणं शिरोरोगं जनयन्ति । पापकर्मण इत्यनेन शिरसि  
 क्रिमिरोगोऽतिदुःखदो भवत्यधर्मत एवेति सूचितम् । रूपमाह—छेदश्छेदन-  
 वत् पीडा शिरसि भवति । व्यधनं विद्धवत् पीडा । रुक् सामान्यतो वेदना ।  
 क्रिमीणां लक्षणेन क्रिमिरोगोक्तलक्षणेन । इति पञ्च शिरोरोगा विस्तरेण  
 व्याख्याताः ॥ १२ ॥

चक्रपाणिः—सङ्कीर्णभोजनं विरुद्धाहारः, दोषलस्य बहुदोषस्य । पापकर्मण इत्यनेनाधर्मवत  
 एवायमतिदुःखक्रिमिरोगो भवतीति दर्शयति—बीभत्सलक्षणमिति । घ्राणादिभ्यः पूयादि-  
 प्रवृत्तिः ॥ १२ ॥

शोकोपवासव्यायाम-रुजशुष्काल्पभोजनैः ।  
 वायुराविश्य हृदयं जनयत्युत्तमां रुजम् ॥  
 वेपथुर्वेष्टनं स्तम्भः प्रमोहः शून्यता भ्रमः \* ।  
 हृदि वातातुरे रूपं जीर्णे चात्यर्थवेदना ॥ १३ ॥  
 उष्णाम्ललवणक्षार-कटुकाजीर्णभोजनैः ।  
 मद्यक्रोधातपैश्चाशु हृदि पित्तं प्रकुप्यति ॥  
 हृद्वाहस्तिकता वक्त्रे पित्ताम्लोद्विगणं क्लमः ।  
 तृष्णा मूर्च्छा भ्रमः स्वेदः पित्तहृद्रोगलक्षणम् ॥ १४ ॥  
 अत्यादानं गुरुस्तिग्धमचिन्तनमचेष्टनम् ।  
 निद्रासुखञ्चाप्यधिकं कफहृद्रोगकारणम् ॥  
 हृदयं कफहृद्रोगे सुप्तं स्तिमितभारिकम् ।  
 तन्द्रारुचिपरीतस्य भवत्यश्मावृतं यथा ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—अथ पञ्चैव हृदयामया इति यदुद्दिष्टं तस्य विस्तरं प्रवक्ति—  
 शोकेत्यादि । शोकेत्यादिनाद्धृष्ट्योकेन वातहृद्रोगनिदानम् । वायुरित्यादिना  
 सम्प्राप्तिः । आविश्य हृदयं हृदयं गत्वा रसं दूषयित्वा । वेपथुरित्यादिना  
 त्वेकश्लोकेन वातहृद्रोगलिङ्गम् । वेष्टनमुद्वेष्टनवत् वक्षोदवदविका । (१) ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—उष्णाम्लेत्यादि । उष्णाम्लेत्यादिना पित्तहृद्रोगस्य निदानम् ।  
 प्रकुप्यतीत्यनन्तरं तत आविश्य हृदयं जनयत्युत्तमां रुजामित्यनुवर्त्ये  
 व्याख्येयम् । हृद्वाहेत्यादिना पित्तहृद्रोगलिङ्गम् । (२) ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—अत्यादानमित्यादि । अत्यादानमित्यादिना कफहृद्रोगनिदानम् ।  
 अत्यादानमतिमात्रया भोजनम् । अचिन्तनमल्पचिन्तनं वा । कफहृद्रोग-  
 कारणमित्यतोऽनन्तरं कफ आविश्य हृदयं जनयत्युत्तमां रुजमित्यनुवर्त्ये  
 व्याख्यातव्यम् । हृदयमित्यादिना कफहृद्रोगलिङ्गम् । स्तिमितभारिकमिति

चक्रपाणिः—शोकोपवासेत्यादि हृद्रोगलक्षणं, वेष्टनमुद्वेष्टनमिव, दरो दरदरिका, अचिन्तनं

हेतुलक्षणसंसर्गादुच्यते सान्निपातिकः ।  
 हृद्रोगः कष्टदः कष्ट-साध्य उक्तो महर्षिभिः ॥  
 त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते ।  
 तिलक्ष्मीरगुडादीनि ग्रन्थिस्तस्योपजायते ॥  
 मम्मैकदेशे संक्लेदं रसश्चास्योपगच्छति ।  
 संक्लेदात् क्रिमयश्चास्य भवन्त्युपहतात्मनः ।  
 मम्मैकदेशे ते जाता सर्पन्तो भक्षयन्ति च ॥  
 तुद्यमानं स हृदयं सूचीभिरिव मन्यते ।  
 छिद्यमानं यथा शस्त्रैर्जातिकण्डूं महारुजम् ।  
 हृद्रोगं क्रिमिजं विद्यादेनं वैद्यः सुदारुणम् ॥ \*

आर्द्रवसनावगुण्ठनवद्भारेणाक्रान्तम् । अश्मावृतं प्रस्तरशिलाक्रान्त-  
 मिव । ( ३ ) ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—हेतुलक्षणेत्यादि । हेतुलक्षणेत्यादिना सान्निपातिकहृद्रोगस्य  
 निदानादीनि अतिदिष्टानि ( ४ ) । क्रिमिहृद्रोगं वक्तुं तन्निदानमाह—  
 त्रिदोषेत्यादि । आदिशब्देनाजीर्णपूतिसंयोगविरुद्धभोजनादीनां ग्रहणम् ।  
 ग्रन्थिरित्यादिना क्रिमिहृद्रोगस्य सम्प्राप्तिः । मम्मैकदेशे हृदयैकदेशे । ग्रन्थिः  
 ग्रन्थिवदपकरसकृत उपजायते । रसश्च रसमयश्च रसग्रन्थिरस्य पुंसः  
 संक्लेदमुपगच्छति । अस्योपहतात्मनः । दुष्टस्वभावेनाप्रतिकर्तुं मनसोऽस्य  
 नष्टस्वभावस्य रसमयग्रन्थेः संक्लेदात् कफस्थाने मम्मैकदेशे हृदयैकदेशे क्रिमयो  
 भवन्ति । मम्मैकदेशे जातास्तु ते क्रिमयो हृदयं सर्पन्तो भक्षयन्ति च ।  
 तत्क्रिमिहृद्रोगलक्षणमाह—तुद्यमानमित्यादि । स इति उक्तरूपेण हृदयैक-  
 देशजप्रसपेतक्रिमिभक्षितहृदयः पुसान् सूचीभिरिव तुद्यमानं हृदयं मन्यते ।  
 शस्त्रैश्च छिद्यमानं यथा तथा हृदयं मन्यते । विद्वानात्मवानातुरः प्राज्ञः ।

स्वल्पचिन्तनम्, अश्मावृतमश्माक्रान्तं, ग्रन्थिरिव ग्रन्थिः, स च रसदोषकृतः ; मम्मैकदेशे  
 हृदयैकदेशे ; द्वितीयं मम्मैतिपदं कर्मन्तापञ्चम् ॥ १३—१६ ॥

हृद्रोगं क्रिमिजन्तुत्वैल्लिङ्गैर्बुद्ध्वा सुदारुणम् ।

त्वरेत जेतुं तं विद्वान् विकारं शीघ्रकारिणम् ॥ १६ ॥

द्रुःखल्वणैकोल्वणैः षट् स्युर्हीनमध्याधिकैश्च षट् ।

समैश्चैको विकारास्ते सन्निपातास्त्रयोदश ॥ १७ ॥

शीघ्रकारिणं शीघ्रमरणकारकम् । सुश्रुतेऽप्युक्तम्—“वेगाघातोष्णरुक्षान्न-  
रतिमात्रोपसेवितैः । विरुद्धाध्यक्षनाजीर्णैरसात्म्यैश्चापि भोजनैः ॥ दूषयित्वा  
रसं दोषा विगुणा हृदयं गताः । कुर्वन्ति हृदये बाधां हृद्रोगं  
तं प्रचक्षते ॥ चतुर्विधः स दोषैश्च पञ्चमः क्रिमिभिस्तथा । पृथग् लिङ्गं  
प्रवक्ष्यामि चिकित्सितमनन्तरम् ॥ आयम्यते मारुतजे हृदयं तुद्यते तथा ।  
निम्नैर्ध्यते दीव्यते च स्फोट्यते पाच्यतेऽपि च ( १ ) ॥ तृष्णाषा-  
चोषदाहाः स्युः पैत्तिके हृदयकृमः । धूमायनश्च मूर्च्छा च स्वेदः शोषो  
मुखस्य च ( २ ) ॥ गौरवं कफसंज्ञावोऽरुचिः स्तम्भोऽग्निमार्दवम् । माधुर्यमपि  
चास्यस्य बलासावतते हृदि ( ३ ) ॥ उत्क्लेशः घृवनं तोदः शूलो हृत्सासक-  
स्तमः । अरुचिः श्यावनेत्रत्वं शोषश्च क्रिमिजं भवेत् ( ४ ) ॥ भ्रमकृमौ सादशोषौ  
ज्ञेयास्तेषामुपद्रवाः । क्रिमिजे क्रिमिजातीनां श्लैष्मिकाणाञ्च ये मताः” ( ५ ) ॥  
इति । अत्र त्रिदोषजहृद्रोगस्यानुक्तैर्वातादित्रिविधहृद्रोगहंतुलक्षणोऽभिप्रेतः ।  
इति पञ्चविधहृद्रोगस्य विस्तराभिधानं पुनश्च चिकित्सिते करिष्यते ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—अथ “व्याधीनां द्वाधिका षष्टिर्दोषमानविकल्पजा” इत्येतद्विस्तरे-  
णाभिधीयते—द्रुःखल्वणेत्यादि । यथा वृद्धैरित्यादिवक्ष्यमाणवचनात् वृद्धानां  
वातपित्तकफानां संसर्गतः सन्निपाता विकारास्त्रयोदश भवन्ति । तत्र  
द्रुःखल्वणैस्त्रयो विकारा एकोल्वणैर्वृद्धैर्दोषैस्त्रयः सन्निपाता इति ते षट्  
सन्निपाताः स्युः । तद्व्यथा—वातपित्तोल्बणः सन्निपातो वातकफोल्बणः पित्त-  
कफोल्बणश्चेति त्रयो वृद्धद्विदोषोल्बणाः सन्निपाताः ( ३ ) । वृद्धैक-  
दोषोल्बणाश्च सन्निपातास्त्रयो वृद्धवातोल्बणो वृद्धपित्तोल्बणो वृद्धकफोल्बणः  
सन्निपात इति षट् सन्निपाताः ( ६ ) । हीनमध्याधिकैश्च वृद्धैर्दोषैः षट्  
सन्निपाताः स्युः । तद्व्यथा—वृद्धवातवृद्धतरपित्तवृद्धतमकफ इत्येवं संसर्गेण

चक्रपाणिः—“कति चाप्यनिलादीनाम्” इत्याहुः उक्तस्योत्तरं—द्रुःखल्वणैरित्यादि । हीन-  
मध्याधिकैरिति वृद्धवृद्धतरवृद्धतमेः । संसर्गे नवेति छेदः, असौव विवरणं “षट् तेभ्यः” इत्यादि ;

संसर्गेण नवैते षड्भेदवृद्ध्या समैस्त्रयः । \*

पृथक् त्रयश्च तैर्वृद्धैर्व्याधयः पञ्चविंशतिः ।

यथा वृद्धैस्तथा क्षीणैर्दोषैः स्युः पञ्चविंशतिः ॥ १८ ॥

वृद्धिक्षयकृतश्चान्यो विकल्प उपदिश्यते ।

एकः सन्निपातः । वृद्धवातवृद्धतरकफवृद्धतमपित्तज इत्येवं द्वितीयः । वृद्ध-  
पित्तवृद्धतरकफवृद्धतमवातज इत्येवं तृतीयः । वृद्धपित्तवृद्धतरवातवृद्धतम-  
कफज इत्येवं चतुर्थः । वृद्धकफवृद्धतरपित्तवृद्धतमवातज इत्येवं पञ्चमः ।  
वृद्धकफवृद्धतरवातवृद्धतमपित्तज इत्येवं षष्ठः । इति षट् सन्निपाताः स्युः । (६)  
इति द्वादश सन्निपाताः (१२) । वृद्धैः समैस्त्रिभिर्दोषैश्च सन्निपात एक  
इति त्रयोदश ते सन्निपाताः स्युरिति । (१३) ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—अथ द्विदोषभेदानाह—संसर्गेण नवैते षड्भेदवृद्ध्या समैस्त्रय  
इति । वृद्धानां वातपित्तकफानामन्यतमाभ्यां द्वाभ्यां संसर्गेण जाता विकारा  
नव भवन्ति । एते द्वन्द्वा एकैकदोषवृद्ध्या षट् । समैर्वृद्धैर्द्वैर्द्वैस्त्रयः । इति  
नवधा । वृद्धवाताधिकवृद्धपित्तज इत्येवं वातपित्तज एकः (१) । वृद्ध-  
पित्ताधिकवृद्धवातज इति द्वितीयो वातपित्तजः (२) । वृद्धवाताधिकवृद्ध-  
कफज इत्येवं वातकफज एकः । वृद्धकफाधिकवृद्धवातज इत्येवं द्वितीयो  
वातकफजः (२) । वृद्धपित्ताधिकवृद्धकफज इत्येवं पित्तकफज एकः । वृद्ध-  
कफाधिकवृद्धपित्तज इत्येवं द्वितीयः पित्तकफजः (२) । इत्येवमेकैकवृद्ध्या  
षड् द्वन्द्वाः (६) । समैर्वृद्धैर्द्वैर्द्वैर्दोषैस्त्रयः । यथा—वृद्धसमवातपित्तजः ।  
वृद्धसमवातकफजः । वृद्धसमपित्तकफजः । इति त्रयः । इत्येवं नव संसर्गजा  
विकाराः (९) । पृथक् त्रयश्च तैर्वृद्धैर्व्याधयः पञ्चविंशतिरिति । वृद्धैस्तै-  
र्वातपित्तकफैर्दोषैः पृथक् जाता रोगास्त्रयः । वृद्धवातजो वृद्धपित्तजो वृद्ध-  
कफज इति त्रयः । इत्येवं वृद्धैर्दोषैर्जाता व्याधयः पञ्चविंशतिर्ज्वरादयो  
भवन्ति । स्वस्वाधिकारे सङ्ख्या भेदाः कल्पनीया एव । न तु ततोऽधिक-  
प्रकृतिसमवेतदोषजाः इति (२५) । इति वृद्धावस्थायां दोषाणां पञ्चविंशति-  
भेदवृद्धिनावस्थायाश्च पञ्चविंशतिभेदानाह—यथा वृद्धैरित्यादि । वृद्धैः  
समैस्त्रय इति वृद्धैः समैः । वृद्धिक्षयकृत इत्यस्य विवरणं वृद्धिरेकस्येत्यादि ; अत्र च यद्यपि  
समतापि वृद्धिक्षयविकल्पे पठ्यते, तथापि समतायां स्वातन्त्र्येण विकाराकर्तृत्वात् वृद्धिक्षयकृत

\* “संसर्गे नव षट् तेभ्यश्चैकवृद्ध्या समैस्त्रयः” इति चक्रवृत्तपाठः ।

वृद्धिरेकस्य समता चैकस्यैकस्य संचयः ।

द्वन्द्ववृद्धिः क्षयश्चैकस्यैकवृद्धिर्द्वयोः क्षयः ॥ १६ ॥

दोषैर्यथा पञ्चविंशतिव्याधयो भवन्ति तथा क्षीणैर्दोषैः स्वमानतः क्षयावस्थैः दोषैर्जाताः व्याधयः पञ्चविंशतिः स्युः । क्षीणैर्दोषैस्त्रिभिर्दोषैस्त्रयः सन्निपाता रोगाः । क्षीणैरेकोऽवर्णैस्त्रिभिर्दोषैर्जातास्त्रयः सन्निपाता रोगाः । इति षट् स्युः । एवं क्षीणैर्दोषैर्दोषैर्जाताः षट् सन्निपाता रोगाः । इति क्षीणदोषजा द्वादश सन्निपाताः स्युः । एवं क्षीणदोषैः समैर्जात एकः सन्निपात इति त्रयोदश क्षीणदोषजाः सन्निपाताः । क्षीणदोषजाश्च नव द्वन्द्वजाः । एकैकक्षीणदोषद्वयं षट् । समैः क्षीणदोषैस्त्रयः इति नव । एवं क्षीणैर्दोषैः पृथग्जातास्त्रयो रोगा इति क्षीणदोषैर्जाताः पञ्चविंशतिः भवन्ति । एवं क्षीणदोषजा न ज्वरादयो व्याधयो यावन्तो वक्ष्यन्ते वृद्धैर्दोषैर्हि ज्वरादयो भवन्तीति । यथास्वाधिकारे सम्प्राप्तौ वक्ष्यन्ते ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—शेषान् दोषभेदानाह—वृद्धिक्षयकृतश्चेत्यादि । दोषाणां

वृद्धिक्षयोभयकृतोऽन्यो निरुक्तपञ्चाशतोऽन्यः । तद्यथा—वृद्धास्त्यादि । वातादीनां त्रयाणामेकस्य वृद्धिः । एकस्य समता । अपरस्य क्षयः । इत्येवं वृद्धसमक्षीणदोषैर्जात एकविधो रोगः षड्विधो भवति । तद्यथा—वृद्धवात-समपित्तक्षीणकफज एकः । (१) वृद्धवातसमकफक्षीणपित्तजो द्वितीयः (२) । वृद्धपित्तसमवातक्षीणकफजस्तृतीयः (३) । वृद्धपित्तसमकफक्षीणवातज-श्चतुर्थः (४) । वृद्धकफसमवातक्षीणपित्तजः पञ्चमः (५) । वृद्धकफ-समपित्तक्षीणवातजः षष्ठः (६) । इति षट् । द्वन्द्ववृद्धिः क्षयश्चैकस्येति त्रिभ्य एकस्त्रिविधः । तद्यथा—वृद्धवातपित्तक्षीणवातज एकः (१) । वृद्धवातकफक्षीणपित्तजो द्वितीयः (२) । वृद्धवातपित्तक्षीणकफजस्तृतीयः (३) । इति त्रयः । इति नव । (९) एकवृद्धिर्द्वयोः क्षय इत्येवं त्रयः । तद्यथा—वृद्धकफक्षीणवातपित्तज एकः (१) । वृद्धपित्तक्षीणवातकफजो द्वितीयः (२) । वृद्धवायुक्षीणपित्तकफजस्तृतीयः (३) । इति त्रयः । इत्येवं द्वादश भेदा इति । पूर्वैः पञ्चाशता सह द्व्यधिका षष्टिर्व्याधीनां दोषमानविकल्पजा इत्युक्तम् । वृद्धिरेकस्य समता चैकस्य संक्षय इत्यनेन षड्विकाराः ; द्वन्द्ववृद्धिः क्षयश्चैकस्य इत्यनेन त्रयः ; एकवृद्धिर्द्वयोः क्षयस्तेन त्रयः ; एवं द्विषष्टिप्रकारा भवन्ति ॥ १७।१८ ॥

चक्रपाणिः—वृद्धिरेकस्येत्यादेरुदाहरणं—“प्रकृतिस्थं यदा पित्तम्” इत्यादि । अत्र केचिदेतत्

प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुतः श्लेष्मणः क्षये ।

स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पति ॥

तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितः ।

गात्रदेशे भवेत् तस्य श्रमो दौर्बल्यमेव च ॥ २० ॥

भवतीति ( ६२ ) । नन्वेवम्भूता द्विष्टिर्भवतु । सम्भवन्ति चैभ्योऽधिका विकल्पाः । तद्यथा—एकस्य वृद्धिः समता द्वयोश्चेति त्रयस्तथा । द्वयोश्च द्विश्च समता चैकस्येति त्रय इति ॥ तथा षड्विधा कल्पना वृद्ध्यावस्थायां पृथग्जेषु द्वन्द्वजेषुक्ता । तथा, क्षयश्चैकस्य समता द्वयोश्चेति त्रयस्तथा । द्वयोः क्षयश्च समता चैकस्येति त्रय इति षड्विधा कल्पना क्षयावस्थायां पृथग्जेषु द्वन्द्वजेषु चोक्तैवाविकृतत्वादिति चेत् ? तदा वृद्धिरेकस्य, समता चैकस्य, एकस्य संक्षयः—इति षण्णाभपि चानुपपत्तिः । वृद्धिक्षयव्यतिरिक्तस्य समस्याविकृतत्वादेकवृद्धिः क्षयश्चैकस्येत्येवमेव षड् भवन्तु—इति चेत् ? प्रकृतिस्थं यदा पित्तमित्यादिना-समस्यापि दाहादिकार्य्यवचनात् वृद्धक्षीणदोषाकषणाद् दुष्टिवचनात् । नैवम् । यत एकस्य वृद्धिः समता द्वयोश्चेत्यादिषु च समावस्थस्याकर्षणादि-दुष्टिसम्भवात् । अत्रोच्यते—समदोषस्य दुष्टदोषसंसर्गाभावे पृथग्ज-द्वन्द्वजानामभिधानं वृद्धैकदोषजे समयोः शेषयोर्न हि तत्संसर्गजा दुष्टिर्भवति, न वा वृद्धदोषद्वयजे समस्या शेषस्य दुष्टिर्भवतीति ख्यापनाथ वृद्धिक्षयकृतव्याधिषु यस्यैकस्य वृद्धिरपरस्यैकस्य क्षयस्तदैव समस्याकषण-दुष्टिर्भवति नियमेन, तत्स्वभावादिति च ख्यापनार्थमिहोक्तम्—“वृद्धिरेकस्य समता चैकस्यैकस्य संक्षयः” इति । ननु तर्हि कथमुक्तम्—“एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्” इति ? उच्यते—सर्वानेव यत् प्रकोपयेदित्युक्तं, तदेवं नियमेन प्रकोपयेत् न तु सर्वत्रैव प्रकोपयेदित्यभिप्रायेणोक्तमिति । अथ “वृद्धिरेकस्य समता चैकस्यैकस्य संक्षयः” इति त्रीनुदाहरति—प्रकृतिस्थ-मित्यादि । प्रकृतिस्थं स्वमानस्थं पित्तं श्लेष्मणः क्षये पारिशेष्याद् वृद्धो वायुः स्थानात् पित्तं स्वस्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पति तदा तत्र तत्रानव-एव परमुदाहरणं दृष्टान्तार्थं पठन्ति, शेषोदाहरणन्तु कृत्स्ने तन्त्रे बोद्धव्यम् । केचित् तु—वृद्धिक्षय-विकल्पस्य दुर्बोधत्वेन सर्वेषामेव द्वादशानामपि विकल्पानामाचार्य्येण लक्षणं कृतमिति कृत्वा सर्वमेव पठन्ति । ननु प्रकृतिस्थे पित्ते कथं तदा दाहश्चेति सङ्गतं भवतु, न हि

प्रकृतिस्थं कफं वायुः क्षीणे पित्ते यदा बली ।

कर्षेत् कुर्यात् तदा शूलं शैत्यस्तम्भनगौरवम् ॥ २१ ॥

स्थितो भेद इव पीडा वातेन कदाचित्, कदाचित् पित्तेन दाहः । तथा गात्रदेशे श्रोतोऽनायासेन वातात्, वैवर्ण्यञ्च तस्य भवतीति । अत्र जिह्वास्यम्—दुष्टिस्तु खलु दोषाणां किं विकृतिः, किं प्रकृतिसहिता विकृतिः ? यदि विकृतिरेव दुष्टिः, तदा स्वप्रमाणाद्वृद्धिर्हानिश्चावस्था दुष्टिर्भवति ; ततः स्वप्रमाणस्थं पित्तं श्लेष्मणः क्षये वृद्धवायुना नीतं यत्र तत्र यद्दाहं करोति तत् किं स्वमानस्थमदुष्टं पित्तं करोति ? न ह्यदुष्टस्य पित्तस्य कार्यो दाहः । अथ तर्हि प्रकृतिसहिता विकृतिः ; सा च प्रकृतिः समानावस्था । तस्यां विकृतिवृद्धिर्वा हानिर्वा । तत्रेयं वृद्धिलक्षणा दुष्टिर्दाहात् कार्यादनुमेया । वातेन रज्जकस्योदरस्थस्य पित्तस्यैकदेशाकर्षणात् कथं वृद्धिस्तर्क्यते, हानिरेव हि तर्क्या स्यात् । तत्राहुरेके—गात्रेषु यत्र यत्र पित्तं वातेनाकृष्यते तत्र तत्र स्थितं भ्राजकं पित्तं सर्वशरीरगं यत् तत्तेन सह संयुक्तं वृद्धं भवति । तदेव दाहं करोतीति । तत्रान्ये ब्रुवते—यतः स्थानस्थात् पित्तादाकृष्यते तत् पित्तं तर्हि हसति । तत् पित्तहासकृतं कर्म च तदा भवतु, भवत्येव तत् । इहाकृष्टपित्तकार्यप्रकरणे भगवता नोक्तम् । तस्मात् तस्य पित्तस्य क्षीणत्वात् पित्तस्य वृद्धस्य भ्राजकस्य हासकरणार्थं न विरेचनं विहितम् । विरेचनेन हि कोष्ठस्थरज्जकपित्तस्य निर्हरणं स्यात् । इह च तत् पित्तं क्षीणमिति । तस्मादाकृष्टपित्तस्य स्वस्थाननयनं विहितम् । वृद्धभ्राजक-हासार्थमभ्यङ्गावगाहनादिकं वा प्रयोक्तव्यमिति । स्थानाकृष्टिरपि वृद्धि-क्षयविशेषरूपा दुष्टिः । न वृद्धिक्षयव्यतिरिक्तेति । एवमन्यदुदाहार्यमित्येके ब्रुवते न चात्र पठन्ति ॥ १९।२० ॥

गङ्गाधरः—अन्ये तु तान्यप्युदाहरणानि पठन्ति, तद्यथा—प्रकृतिस्थं कफ-मित्यादि । बली वृद्धो वायुः प्रकृतिस्थं कफं क्षीणे पित्ते सति यदाकर्षेत् तदा शूलं वायुः कुर्यात्, शैत्यस्तम्भनगौरवं कफः कुर्यादित्याकृष्टकफकार्यं शैत्यादिकमिति । व्याधारम्भात् पूर्वं कफः प्रकृतिस्थ एव । व्याधारम्भे तु

प्रकृतिस्थो दोषो विकारकारी, न च वायोर्दाहः सम्भवति, उच्यते—यत्र यत्रेति वचनात् ; यत्र कुपितेन वायुना पित्तं नीतं, तत्र शरीरावयवे प्रकृतिमानास्थतमपि पित्तं वृद्धमेव । यतस्तस्मिन्



प्रकृतिस्थं यदा वातं पित्तं कफपरिक्षये ।

संरुणद्धि तदा दाहः शूलञ्चास्योपजायते ॥ २२ ॥

प्रकृतिस्थं कफं पित्तं यदा वातपरिक्षये । \*

संनिरुन्ध्यात् तदा कुर्यात् सतन्द्रागौरवं ज्वरम् ॥ २३ ॥

प्रकृतिस्थं यदा वातं श्लेष्मा पित्तपरिक्षये ।

संनिरुन्ध्यात् तदा कुर्याच्छीतकं गौरवं ज्वरम् ॥ २४ ॥

खल्व्वाकृष्टो दोषस्तत्स्थानस्थतदोषसंयोगादवृद्ध एव भवतीति, अन्यथा शैत्यादिकं न सम्भवतीति ; एवं सव्वेत्र स्थानाकृष्टसमदोषैर्बोध्यम् । कुपित-  
दोषेण समदोषस्याकर्षणं स्थानस्थावयवहासे स्थानान्तरस्थावयवमेलनेन वृद्धौ  
कारणं न तु समदोषस्य दुष्टिरिति बाह्यहेतुव्यापारवत् ॥ २१ ॥

**गङ्गाधरः**—प्रकृतिस्थमित्यादि । कफपरिक्षये वृद्धं पित्तं प्रकृतिस्थं वातं  
यदा संरुणद्धि तदा पित्तेनास्य दाहः क्रियते । शूलन्तु पित्तनिरुद्धवातः  
करोतीति । यदि स्थानाकृष्टिर्दुष्टिविशेष इष्यते तदा तद्वत् संरोधश्च दुष्टिविशेषो  
भवतु । न ह्यस्ति पित्तकफयोराकर्षणशक्तिः पङ्क्त्यात् ॥ २२ ॥

**गङ्गाधरः**—प्रकृतिस्थं कफमित्यादि । प्रकृतिस्थं स्वप्रमाणे स्थितमकुपितं  
कफं वातपरिक्षये वृद्धं पित्तं संनिरुन्ध्यात् तदा कफकार्यैतन्द्रागौरवसहितं ज्वरं  
पित्तं कुर्यादिति ॥ २३ ॥

**गङ्गाधरः**—प्रकृतिस्थं यदेत्यादि । प्रकृतिस्थं वातं पित्तपरिक्षये वृद्धः श्लेष्मा  
यदा सन्निरुन्ध्यात् तदा वातकार्यं शीतकं स्वकार्यं गौरवं ज्वरश्च कफः  
कुर्यात् ॥ २४ ॥

प्रदेशे तावान् पित्तसम्बन्ध उचितो न भवत्येवेत्यधिकेन तत्र पित्तेन दाह उपपन्न एव, एवम्

प्रकृतिस्थमित्यादौ तु—

\* श्लेष्माणं हि समं पित्तं यदा वातपरिक्षये ।

निपीडयेत् तदा कुर्यात् सतन्द्रागौरवं ज्वरम् ॥

प्रवृद्धो हि यदा श्लेष्मा पित्ते क्षीणे समीरणम् ।

रुन्ध्यात् तदा प्रकुर्वीत शीतकं गौरवं रुजम् ॥

समीरणे परिक्षीणे कफं पित्तं समत्वगम् ।

कुर्वीत सन्निरुन्धानो मृद्वग्नित्वं शिरोग्रहम् ॥ इति चक्रसम्मतः पाठः ।

प्रकृतिस्थं यदा पित्तं श्लेष्मा मारुतसंक्षये ।  
 सन्निरुन्ध्यात् तदा कुर्यान्मृद्वग्नित्वं शिरोग्रहम् ॥  
 निद्रां तन्द्रां प्रलापञ्च हृद्रोगं गात्रगौरवम् ।  
 नखादीनाञ्च पीतत्वं ष्ठीवनं कफपित्तयोः ॥ २५ ॥  
 हीनवातस्य तु श्लेष्मा पित्तेन सहितश्चरन् ।  
 करोत्यरोचकापाकौ सदनं गौरवं तथा ॥  
 हृत्क्ष्मासमास्यस्त्रवणं सदाहं पाण्डुतां मदम् ।  
 विरेकस्य च वैषम्यं वैषम्यमनलस्य च ॥ २६ ॥  
 हीनपित्तस्य तु श्लेष्मा मारुतेनोपसंहितः ।  
 स्तम्भं शैत्यञ्च तोदञ्च जनयत्यनवस्थितम् ॥  
 गौरवं मृदुतामग्नेर्भक्ताश्रद्धाञ्च वेपनम् ।  
 नखादीनाञ्च शुक्लत्वं गात्रपारुष्यमेव च ॥ २७ ॥

गङ्गाधरः—प्रकृतिस्थं यदेत्यादि । यदा मारुतसंक्षये वृद्धः श्लेष्मा प्रकृतिस्थं पित्तं सन्निरुन्ध्यात् तदा पित्तकार्यं प्रलापं स्वकार्यन्तु मृद्वग्नित्वं शिरोग्रहं निद्रां तन्द्रां हृद्रोगं गात्रगौरवं कुर्यात् । नखादीनां पीतत्वं पित्तकार्यम् । कफपित्तयोः ष्ठीवनं तदुभयस्य कार्यं भवेत् ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—अथ द्वन्द्ववृद्धिः क्षयश्चैकस्येत्यस्योदाहरणत्रयमाह—हीनवातस्येत्यादि । पित्तेन वृद्धेन सहितो वृद्धः श्लेष्मा हीनवातस्य स्वप्रमाणतः क्षीणो वातो यस्य तस्य देहे चरन्नरोचकाद्यनलवैषम्यान्तं करोति । तत्रास्यस्त्रवणान्तं कफकार्यम् । शेषं पित्तकार्यम् ॥ २६ ॥

गङ्गाधरः—हीनपित्तस्येत्यादि । मारुतेन वृद्धेनोपसंहितो वृद्धः श्लेष्मा स्तम्भादीनि जनयेत् । अनवस्थितं तोदं वातो वृद्धः स्वकार्यं वेपनञ्च गात्रपारुष्यञ्च जनयति ॥ २७ ॥

अन्यत्रापि प्रकृतिस्थस्यापि दोषस्य विकारे व्याख्येयम् । अन्ये तु ब्रुवते—प्रकृतिस्थानामपि दोषाण दृष्टदोषसम्बन्धाद् विकारकारित्वं स्यात्, यथा रक्तादीनाम् ॥ १९—२५ ॥

मारुतस्तु कफे हीने पित्तञ्च कुपितं द्वयम् ।

करोति यानि लिङ्गानि शृणु तानि समासतः ॥

भ्रममुद्वेष्टनं तोढं दाहं स्फुटनवेपने । \*

अङ्गमहं परीशोषं हृदये धूपनं तथा ॥ २८ ॥

वातपित्तक्षये श्लेष्मा स्रोतांस्यपिदधद् भृशम् ।

चेष्टाप्रणाशं मूर्च्छांश्च वाक्स्ङ्गञ्च करोति हि ॥ २९ ॥

वातश्लेष्मक्षये पित्तं देहौजः स्वंसयेच्चरत् ।

ग्लानिमिन्द्रियदौर्बल्यं तृष्णां मूर्च्छां क्रियाक्षयम् ॥ ३० ॥

पित्तश्लेष्मक्षये वायुर्मर्माण्यभिनिपीडयन् ।

प्रणाशयति संज्ञाञ्च वेपयत्यथ वा नरम् ॥ ३१ ॥

दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम् ।

क्षीणा जहति लिङ्गं स्वं समाः स्वं कर्म कुर्वते ॥ ३२ ॥

**गङ्गाधरः**—मारुत इत्यादि । कफे हीने वृद्धो मारुतः पित्तञ्च वृद्धमिति द्वयं कुपितं यानि लिङ्गानि करोति तानि समासतः शृणु । भ्रमक्षित्यादि । इति द्वन्द्ववृद्धेः कक्षयोदाहरणानि त्रीणि ॥ २८ ॥

**गङ्गाधरः**—अथैकवृद्धिद्वन्द्वक्षयोदाहरणान्याह त्रीणि—वातपित्तक्षय इत्यादि । श्लेष्मा वृद्धः । अपिदधदाच्छादयन् ॥ २९ ॥

**गङ्गाधरः**—वातश्लेष्मक्षय इत्यादि । देहौजश्चरत् पित्तं स्वंसयेत् क्षरयेत् ॥ ३० ॥

**गङ्गाधरः**—पित्तश्लेष्मक्षय इत्यादि । वायुवृद्धो मर्माणि हृदयादीनि ॥ ३१ ॥

**गङ्गाधरः**—इति वृद्धिक्षयोभयकृतान् द्वादश दोषविकल्पानुत्तवा शिष्याणां माशङ्कामुद्भाव्याह—दोषा इत्यादि । दोषाणां द्विषष्टिविकल्पाः । वृद्धावस्थायां

**चक्रपाणिः**—हीनवातस्येत्यादि द्वन्द्ववृद्धिः, क्षयश्चैकस्येत्यस्योदाहरणं, देहौजो देहसारः, किंवा देहश्च ओजश्च देहौजः ॥ २९—३१ ॥

**चक्रपाणिः**—दोषाणां वृद्धिसाम्यक्षयलक्षणानि पृथगाह—दोषा इत्यादि । स्वं लिङ्गमिति

\* स्फुटनवेपने इत्यत्र स्फोटनमुत्तमम् तथा हृदये धूपनमित्यत्र दूयनं धूपनमिति च पाठान्तरम् ।

पञ्चविंशतिः, क्षयावस्थायां पञ्चविंशतिः, वृद्धिक्षयावस्थायां द्वादश ! इति य उक्तास्तत्र वृद्धानां क्षीणानां कानि कार्याणीति शिष्याणामाशङ्क । तत्राह—प्रवृद्धा दोषा यथाबलं स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति । प्रकुपितलक्षणं वक्ष्यते त्रिशोथीये—“दोषप्रकृतिवैशेष्यं नियतं वृद्धिलक्षणम्” इति । वातकलाकलीये चोक्तं प्रत्येकं प्रकुपितलक्षणम् । तदयथा—“कुपितस्तु खलु वायुः शरीरे शरीरं नानाविधैर्विकारैरुपतपति बलवर्णमुखायुषाणुपघाताय । मनो व्याहर्षयति सर्वेन्द्रियाणि उपहन्ति विहन्ति गर्भान् विकृतिमापादयति अतिकालं वा धारयति । भयशोकमोहदैर्न्यातिप्रलापान् जनयति । प्राणांश्चोपरुणद्धि ।” इति । वक्ष्यत च महारोगाध्याये—“संस्रंस्रंशव्यासङ्गमेदहर्षतर्षकम्पावमर्द-चालतोदव्यथाचेष्टादीनि । तथा खरपरुषविशदशुभिरारुणकषायविरसमुखशोष-सुप्तिसङ्कोचनखज्जतादीनि वायोः कर्माणि” इति ।

अथ कुपितस्य पित्तस्य च वातकलाकलीये—“अपक्तिरदर्शनममात्रावत्त्व-मुष्मणो विकृतिवर्णो भयं क्रोधमोहावित्येवमादीन्यशुभानि यानि ।” तथा महारोगाध्याये च पित्तकर्माणि । तदयथा—“दाहौष्ण्यपाकस्वेदक्लेदकोथ-स्त्रावरागाः । तथा यथास्वगन्धवर्णरसादिनिर्व्व नं पित्तकर्माणीति ।” एवं कुपितस्य कफस्य वातकलाकलीये—“शैथिल्यं काश्यमालस्यं क्लीवतामब्जानं मोह इत्येवमादीनि यान्यशुभानि तानि कुपितस्य कफस्य कर्माणि ।” महा-रोगाध्याये च—“श्वेत्यशैत्यगौरवस्नेहमाधुर्य्यस्थैर्य्यपैच्छिल्यमात्स्न्यानि श्लेष्मण

वैकारिकम्, यथाबलमिति—अतिवृद्धेरतिवृद्धं मध्यवृद्धैर्मध्यवृद्धमित्यादि ; लिङ्गं स्वं जहतीत्यनेन क्षीणानां प्रकृतिलिङ्गक्षयव्यतिरिक्तं विकारकर्तृत्वं नास्तीति दर्शयति ; यतः वृद्धा उन्मार्गागामिनो दोषा दूष्यं दूषयन्तो ज्वरादीन् कुर्व्वन्ति, न क्षीणाः, स्वयमेव दुःस्थितत्वात् । स्वं कर्मेति प्राकृतं कर्म । एते च द्विपटिर्भेदा आविष्कृततत्त्वत्वेनोक्ताः, तेरेकदोषक्षये द्विदोषवृद्धौ वृद्ध-वृद्धतरभेदादिभ्योऽधिकत्वं नोद्भावनीयम् । ननु भवत्येवं संख्या यदि सन्निपातो दोषाणां स्यात्, स तु न भवितुमर्हति, यतः वातादीनां परस्परं विरुद्धाः सन्ति गुणाः, विरुद्धगुणानान्तु परस्पररोषघातो भवति, यथा—वह्नितोययोः । नैवं, विरोधो हि भावानां कार्योन्नेयः, नान्यतो दृष्टमात्रेण कल्पयितुं पार्य्यते ; यतः, अन्यत्र तोयदहनयोर्भेद उपलब्धः, तत् किं पाञ्चभौतिक-द्रव्यारम्भेऽपि तयोर्विशेषात् पाञ्चभौतिकं द्रव्यं न स्यात्, तोयाग्निगुणातिरेकाद्वाग्निरसो न स्यात् ; तस्मादनुपलब्धत्वादोषसंसर्गो विरोधस्य स्वभावपर्य्यनुयोगो न युज्यते ; अथ मन्यसे—एवं विरुद्धगुणानामपि दोषाणामविरोधे “विरुद्धगुणसन्निपाते भूयसाऽल्पमवजीयते” इति, तथा “हासहेतुर्विशेषस्तु” इति वचने तर्हि निरर्थके, न, अन्योः प्रभावात् प्रतिपादितविषयव्यतिरेके चरितार्थत्वात् ; प्रभावश्च तयोविरोधको भवत्येव ; यथा—त्रिदोषकरलिङ्गचगता गुणा समान्

आत्मरूपाणि । कर्माणि च—श्वैत्यशैत्यकण्डस्थैर्य्यास्तेष्वगौरवस्नेहसुप्ति-  
क्लेदोपदेहबन्धमाय्यलवणचिरकारित्वादीनि श्लेष्मणः कर्माणि ।” इति  
प्रवृद्धानां दोषाणां लिङ्गम् । क्षीणा जहति लिङ्गं स्वं समाः स्वं कर्म कुर्वन्ते  
इति । स्वं प्राकृतं कर्म लिङ्गं क्षीणा दोषा जहति । त्रिशोथीये वक्ष्यते—  
“वाते पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणमुच्यते । कर्मणः प्रकृताहानिर्दृष्टिर्वापि  
विरोधिताम्” ॥ इति । तत् प्राकृतन्तु स्वं कर्म समानां दोषाणां स्वं स्वं कर्म ।  
तच्च तत्रैव त्रिशोथीये—“उत्साहोच्छ्वासनिश्वास-चेष्टाधातुगतिः समा । समो  
मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माविकारजम् (१) । दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत् तृष्णा  
देहमादवम् । प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम् (२) । स्नेहो बन्धः  
स्थिरत्वञ्च गौरवं वृषता बलम् । क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम् (३) ॥”  
इति । वातकलाकलीये चोक्तम्—“शरीरेषु चरतो वायोःकुपितस्य कर्माणि ।  
वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः, प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवक्तकश्चेष्टानामुच्चा-  
वचानाम्, नियन्ता प्रणता च मनसः, सव्वन्द्रियाणामुद्गतकः, सव्वन्द्रियार्था-  
नाम् अतिबोधा, सव्वशरीरधातुव्यहकरः, सन्धानकरः शरीरस्य, प्रवक्तको  
वा, अतः प्रकृतिः स्पर्शशब्दयोः, श्रोत्रस्पर्शेनयोर्मूलम्, हर्षोत्साहयोः  
यानिः, समीरणोऽग्नेः, दोषसंशोषणः, क्षेप्ता वाहेर्मलानां, स्थूलाणु-  
स्रातसां भेत्ता, कर्त्ता गर्भाकृतीनाम्, आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपितः ।”  
इति । पित्तस्य चाकुपितस्य कर्माणि—“पक्तिर्दर्शनं मात्रावत्त्वमुष्मणः प्रकृति-

दोषान् कुर्वन्ते परं, न तु विरुद्धत्वेन दोषहरणं कुर्वन्ते, त्रिदोषकर्तृत्वप्रभावात् ; तथा आम-  
लकेऽम्लत्वं वातं हन्ति, माधुर्य्यशैत्ये तु पित्तं, श्लेष्माणञ्च कटुत्वतित्त्वे, अम्लं कपायशैत्याभि-  
भूतं वातं न निहन्ति, माधुर्य्यशैत्ये वा म्लत्वाभिभूते पित्तं न जयत एवमादि ; तस्माद् दोषाणां  
प्रभावोऽयं दृष्टत्वादवधार्यते, अथ—न ते परस्परमुपगन्ति । एवम्भूतप्रभावत्वे तु तेषामदृष्ट-  
मेव कारणं, प्राणिनां दुःखजनकेन दृष्टयेन तेऽविरोधेन निवेश्यन्ते, अत एव वक्ष्यति—“विरुद्धै-  
रापि न त्वेते गुणैर्गन्ति परस्परम् । दोषाः सहजसात्म्यत्वाद् घोरं विषमहीनिव ॥ सहजं  
दैववशात् स्वाभाविकं सात्म्यत्वम् ; अनेन व्याख्यानेन “यथा दोषा अन्धेऽन्धं नोपगन्ति, तथा  
रसरक्तादीनपि नोषहन्त्युः” इत्यादि यद्वक्ष्यते कैश्चित्, सर्व्वं तन्निरस्तम् । ननु ‘कालदूष्यप्रकृतिभि-  
र्दोषस्तुल्यो हि सन्ततं, निष्प्रत्यनीकं कुरुते’ इति चिकित्सिते वक्ष्यति, तेन प्रकृतिर्दोषस्य  
प्रतिपक्षा भवतीत्युक्तम् । प्रकृतिश्च जन्मप्रभृतिवृद्धौ वातादिरुच्यते,—“दोषानुज्ञायिता ह्येषां देह-  
प्रकृतिरुच्यते” इत्यादिवचनात् ; तदयं प्राकृतेन दोषेण दोषस्य विरोधः कथं तर्हि उपपन्नः ?  
उच्यते—तत्र प्रकृतेः प्रत्यनीकता इत्यर्थगुणत्वेन मन्तव्या ; समानां हि प्रकृतिं प्राप्य दोषः प्रवृद्ध-  
बलो भवति, असमानान्तु प्राप्य तथा बलवान् न स्यात्, न समानया प्रकृत्या हन्यते ; एवम्

वातादीनां रसादीनां मलानामोजसस्तथा ।

क्षयास्तत्रानिलादीनामुक्तं संच्छीणलक्षणम् ॥ ३३ ॥

घट्टते सहते शब्दं नोच्चैर्द्रवति शूलति ।

हृदयं ताम्यति स्वल्प-चेष्टस्यापि रसक्षये ॥

परुषा स्फुटिता ग्लाना त्वग् रुक्षा रक्तसंक्षये ।

मांसक्षये विशेषेण स्निग्घ्रीवोदरशुष्कता ॥

सन्धीनां स्फुटनं ग्लानिरक्षणोरायास एव च ।

लक्षणं मेदसि क्षीणे तनुत्वश्चोदरस्य च ॥

वर्णः शौर्यं हर्ष इत्येवमादीनि यानि शुभानि ।” अथाकुपितस्य कफस्य कर्माणि  
—“दाढ्यं गुपचय उत्साहो वृषता ब्रानं बुद्धिरित्येवमादीनि यानि शुभानि ।”  
एतानि प्राकृतानि कर्माणि क्षीणा वातादयी जहति । प्राणादिभेदेन वातादीनां  
प्राकृतकर्माणि वातकलाकलीये व्याख्यातानि ॥ ३२ ॥

गङ्गाधरः—अथ दश चाष्टौ क्षयाः इत्युद्दिष्टं विस्तरं प्रवक्ति—वातादीना-  
मित्यादि । वातादिरसादिसप्तधातुसप्तमलादीनामोजसश्च क्षया अष्टादश ।  
तत्रानिलादीनां क्षीणा जहति लिङ्गं स्वम् इत्यनेन संक्षीणलक्षणमुक्तम् ॥ ३३ ॥

गङ्गाधरः—सप्तानां रसादीनां क्षयान् सप्ताह—घट्टत इत्यादि । रसस्य संक्षये  
हृदयं घट्टते विलोडयते । तथोच्चैः शब्दं न सहते हृदयम् । तथा हृदयं द्रवति  
धावते धक्धक् करोति । शूलति शूलयुक्तं भवति । ताम्यति च ग्लायति ।  
स्वल्पचेष्टेत्यनेन स्वल्पचेष्टा भवति (१) । परुषेत्यादि । रक्तसंक्षये त्वक् परुषा  
च स्फुटिता च ग्लाना च रुक्षा च भवति (२) । मांसक्षये विशेषेण स्निग्धादि-  
शुष्कता । तेभ्योऽन्यत्र च शुष्कता स्वल्पा (३) सन्धीनामित्यादि । मेदसि  
क्षीणे सन्धीनां स्फुटनम् । अक्ष्णोर्ग्लानिः । आयासो देहे । उदरस्य तनुत्वं

अन्यत्राप्युन्नेयम्, अतिवृद्धेन वायुना श्लेष्मणो दुर्बलस्य दृष्टत्वादु विरोधो भवत्येव, कचिन्नैता-  
वता संसर्गसन्निपातासम्भवः ॥ ३२ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रत्यष्टादश क्षयानाह—वातादीनामित्यादि ।—अत्र मलानामित्यनेन सूत्र-  
पुरीषयोः पञ्चेन्द्रियमलानाञ्च ग्रहणम् । विशेषेणैतिवचनादन्यगात्राणामपि शुष्कता लभ्यते ॥ ३३ ॥

चक्रपाणिः—सन्धीनामित्यादि मेदःक्षयलक्षणम् । केशेत्यादि अस्थिक्षयस्य । नाभते चास्मेति

केशलोमनखश्मश्रु-द्विजप्रपतनं श्रमः ।  
 ज्ञेयमस्थिक्षये रूपं सन्धिशैथिल्यमेव च ॥  
 शीर्यन्त इव चास्थीनि दुर्बलानि लघूनि च ।  
 प्रततं वातरोगाणि क्षीणे मज्जनि निर्दिशेत् ॥  
 दौर्बल्यं मुखशोषश्च पाण्डुता सदनं श्रमः\* ।  
 क्लैव्यं शुक्राविसर्गश्च क्षीणशुक्रस्य लक्षणम् ॥  
 क्षीणे शकृति चान्त्राणि पीडयन्निव मारुतः ।  
 रुक्षस्योन्नमयेत् कुक्षिं तिर्यग्गूर्द्धञ्च गच्छति ॥  
 मूत्रक्षये मूत्रकृच्छ्रं मूत्रवैवर्ण्यमेव च ।  
 पिपासा बाधते चास्य मुखञ्च परिशुष्यति ॥  
 मलायनानि चान्यानि शून्यानि च लघूनि च ।  
 विशुष्काणि च लक्ष्यन्ते यथास्वं मलसंचये ॥

कृशत्वमिति लक्षणम् (४) । केशेत्यादि । अस्थिक्षये केशादीनां प्रपतनम् । श्रमस्तु  
 अनायासे । सन्धिशैथिल्यञ्च लक्षणं ज्ञेयम् (५) । शीर्यन्त इत्यादि । मज्जनि  
 क्षीणेऽस्थीनि शीर्यन्त इव । तथा दुर्बलानि लघूनि चास्थीनि भवन्ति । प्रततं  
 सततं वातरोगयुक्तान्याप्यस्थीनि स्युः । तथा निर्दिशेत् (६) । दौर्बल्यमित्यादि ।  
 सदनमङ्गावसादः । श्रमो गात्रघूणेनम् । क्लैव्यं स्त्रीष्वशक्तिः । शुक्रस्य चावि-  
 सर्गः स्त्रीसंसर्गोऽल्पविसर्गो वा । क्षीणशुक्रस्यैतल्लक्षणम् (७) । सुश्रुते च क्षय-  
 लक्षणानि वातादीनामुक्तानि—“तत्र वातक्षये मन्दचेष्टत्वमल्पवाक्त्वमल्पहर्षो  
 मूढसंज्ञता च (१) । पित्तक्षये मन्दोष्माग्निता निष्प्रभत्वञ्च (२) । श्लेष्मक्षये  
 रुक्षतान्तर्दाहः । आमाशयेतराशयशिरसां शून्यता । सन्धिशैथिल्यं तृष्णा  
 दौर्बल्यं प्रजागरणञ्चेति (३) ।” अथ मलानां सप्तानां क्षयलक्षणान्याह—क्षीणे  
 शकृतीत्यादि । क्षीणे पुरीषे रुक्षस्य मारुतो वृद्धः सन्नन्त्राणि पीडयन्निबोद्धं  
 नमयेत् कुक्षिञ्च तिर्यग्गूर्द्धं गच्छति (१) । मूत्रक्षय इत्यादि । मूत्रक्षये मूत्रकृच्छ्रा-

कर्मणि शेषलक्षणा षष्ठी । मलायनानीत्यनेन पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानां मुखनासिकाचक्षुःकर्णानां

विभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रियः ।

दुश्छायो दुर्मर्णा रुक्त्वामश्चैवौजसः क्षये ॥ ३४ ॥

हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत् सपीतकम् ।

ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति ॥ ३५ ॥

दीनि भवन्ति ( २ ) । प्राधान्यात् पुरीषमूत्रक्षयलक्षणानि पठित्वा शेषाणां पञ्चानां श्रोत्रमलत्वङ्मलनेत्रमलरसनमलनासिकामलानां सङ्क्षेपेण लक्षणानि आह—मलायनानि चेत्यादि । यथास्वं मलसंक्षयात् श्रोत्रादीनां स्वस्वमलसंक्षयात् मूत्रपुरीषायतनाभ्यामन्यानि मलायनानि, श्रोत्ररन्ध्रे द्वे त्वगधिष्ठानं त्वग्तलोमकूपमात्रं चक्षुषोऽधिष्ठानं चक्षुर्गालके द्वे रसनधिष्ठानं जिह्वा घ्राणाधिष्ठानं द्वे नासारन्ध्रे । एतानि मलायनानि शून्यानि च लघूनि च विशुष्काणि च लक्ष्यन्ते । इति श्रोत्रादिमलक्षयलक्षणानि ( ५ ) । पारिशेष्यात् ओजसः क्षयलक्षणमाह—विभेतीत्यादि । ओजसः क्षयेऽहेतु विभेति । दुर्बलः स्यात् । अभीक्ष्णं ध्यायति । सव्वेन्द्रियेषु व्यथा पीडा भवति । दुश्छायो मन्दच्छविः । दुर्मर्णा दुर्बलमर्णाः । क्षामः क्षीणदेहः । इति ॥ ३४ ॥

गङ्गाधरः—ओजसः क्षयलक्षणमुक्त्वा तस्यौजसो लक्षणमाह—हृदीत्यादि । हृदये तिष्ठति यच्छुभ्रं शुक्लवर्णमीषद्रक्तं सपीतकमीषत्पीतवर्णं तच्छरीरे ओजः संख्यातम् । तस्यौजसो नाशान्ना पुरुषो विनश्यतीत्युक्त्या त्विदमष्टबिन्दुमानमोजः ख्यापितम् । तदवयवनाशमात्रान्ना नश्यति । तन्त्रान्तरे चोक्तं—“प्राणाश्रयस्यौजसोऽष्टौ बिन्दवो हृदयाश्रयाः” इति । शरीरे च वक्ष्यते—“तावच्चैव श्लेष्मणश्चैजसः” इति अनेनार्द्धाञ्जलिमानं यदोजः तस्यैवेदं लक्षणम् । न हि तस्यावयवनाशे नृणां नियमतो मरणम् । अस्यार्द्धाञ्जलिमितस्यौजसः क्षये विभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णमित्यादिलक्षणं भवति न तु मरणमिति । कश्चित् तु—“अष्टबिन्दुमितन्तु प्रधानं हृदि तिष्ठति” इत्यादिलक्षणमिति । तस्याष्टत्वगिन्द्रियाधिष्ठानभूतानाञ्च लोमकूपप्रजननानां यथास्वं मलायनानि गृह्यन्ते ; यदुक्तं जन्तुकर्णे—“दोषाणां धातूनां ओजोमूत्रशङ्कान्द्रियमलायनानामष्टादश क्षयास्ते लक्ष्याः स्वगुणक्रियानाशात्” इति । ओजःक्षयलक्षणमाह—विभेतीत्यादि ।—दुर्मर्णा मनोबलविहीनः । ओजसो दुर्ज्ञेयत्वेन लक्षणमाह—हृदीत्यादि ।—शुद्धमिति शुक्लम्, रक्तमीषदिति किञ्चिद्रक्तं, सपीतकमिति ईषत्पीतकं, तेन शुक्लवर्णमोजः, रक्तपीतौ तु वर्णावत्रानुगतौ ; किंवा, ईषदित्यरूपप्रमाणं, तेन अष्टबिन्दुकमोज इति दर्शयति, यदुक्तं तन्त्रान्तरे—“प्राणाश्रयस्यौजसोऽष्टौ बिन्दवो हृदयाश्रयाः”



प्रथमे जायते ह्योजः शरीरेऽस्मिञ्छरीरिणाम् ।

सर्पिर्वर्णं मधुरसं लाजगन्धि प्रजायते ॥ ३६ ॥

बिन्दुमितस्यौजसो नाशान्ना पुरुषो विनश्यति, अर्द्धाञ्जलिमितस्य (ओजसः) क्षये तु न नश्यतीति व्याचष्टे, तन्न । सुश्रुते चार्द्धाञ्जलिमितस्य ओजसस्त्रिविधः क्षय उक्तः । विस्रंसो व्यापत् क्षयश्चेति । तत्राद्ययोश्चिकित्सितमुक्तम् । क्षये मरणमुक्तं तदनुपपत्तेः । तस्माद् यदेवार्द्धाञ्जलिमितं तदेवाष्टबिन्दुमितं भवति । बिन्दुशब्देनात्र कर्षः । कर्षाष्टकमर्द्धाञ्जलिर्भवति । तस्यार्द्धाञ्जलिमितस्य स्थानं हृदयम् । तच्च शुद्धमीषद्रक्तं सपीतकम् । तस्यौजसः क्षये विस्रंसे व्यापदि च विभेतीत्यादिलक्षणं भवति । द्विधा हि विस्रंसे व्यापदि च लक्षणं भवति । तत्रैकविधमिहोक्तं सुश्रुतेऽन्यविधमुक्तम् । न हि सर्व्वः सर्व्वं वक्तीति । तदोजसस्तु नाशात् सर्व्वशः क्षयान्ना पुमान् विनश्यति । इति द्वयो-  
रविरोधः ॥ ३५ ॥

गङ्गाधरः—तस्यौजस उत्पत्तिक्रममाह—प्रथम इत्यादि । रसादीनां सर्व्वेषां यत् परं तेजस्तदेवौजः प्रथमेऽस्मिञ्छरीरे शरीरिणां सर्पिर्वर्णं मधुरसं जायते । ततो लाजगन्धि प्रजायते । इति । सुश्रुते चोक्तं—“तत्र रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत् परं तेजस्तत् खल्वोजः । तदेव बलमितुपच्यते स्वशास्त्रसिद्धान्तात् । तत्र बलेन स्थिरोपचितमांसता सर्व्वचेष्टास्वप्रतीयातः स्वरवणेप्रसादो वाह्यानाम् आभ्यन्तराणाञ्च करणानामात्मकार्य्यप्रतिपत्तिर्भवति । भवन्ति चात्र—ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं पीतं स्थिरं सरम् । विविक्तं मृदु मृत्स्नञ्च प्राणायतन-  
मुत्तमम् ॥ देहः सावयवस्तेन व्याप्तो भवति देहिनाम् । तदभावाच्च शीर्य्यन्ते शरीराणि शरीरिणाम् ॥ अभिघातात् क्षयात् कोपाच्छोकाद्द्रानाच्छ्रमात् क्षुधः । ओजः संक्षीयते ह्येभ्यो धातुग्रहणनिःसृतम् ॥ तेजः समीरितं तस्माद्विस्रंसयति देहिनाम् ॥ तस्य विस्रंसो व्यापत् क्षय इति लिङ्गानि व्यापन्नस्य

इति ; एतच्चाष्टबिन्दुकं परमोजो ज्ञेयम्, अर्द्धाञ्जलिपरिमाणन्तु यदोजस्तदप्रधानम् । यच्छरीरे वक्ष्यति—“तावच्चैव श्लेष्मेण ओजसश्च प्रमाणम्” इत्यनेन ; तस्माद्विधिविमिहौजः ; अत एव अर्थेदक्षामहा-  
मूलीये वक्ष्यति—“तत् परस्यौजसः स्थानम्” इति ; परस्य श्रेष्ठस्याष्टबिन्दुकस्येत्यर्थः । इह च क्षयलक्षणमर्द्धाञ्जलिमानस्यैव ज्ञेयम्, अष्टबिन्दुकस्य त्ववयवनाशेऽपि मृत्युर्भवतीति “हृदि” इत्या-  
दिना ग्रन्थेन दर्शयति ; एतच्चौजः सर्व्वधातुसमुदायरूपं, तेन सप्तधातुष्वेवावरुद्धमिति नाष्टमधातुत्वादप्रसक्तिः ; अत एव सुश्रुतेऽप्युक्तं—“रसादीनां शुक्रान्तानां तत् परं तेजस्तत्

भवन्ति । सन्धिविश्लेषो गात्राणां सदनं दोषच्यवनं क्रियासन्निरोधश्च  
 विस्रंसे । स्तब्धगुरुगात्रता वातशोफो वर्णभेदो ग्लानिस्तन्द्रा निद्रा च  
 व्यापन्ने । मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापो मरणमिति क्षये । भवन्ति चात्र—  
 त्रयो दोषा बलस्योक्ता व्यापद्विस्रंसनक्षयाः । विश्लेषसादौ गात्राणां दोष-  
 विस्रंसनं श्रमः ॥ अप्राचुर्यं क्रियाणाञ्च बलविस्रंसलक्षणम् । गुरुत्वं स्तब्धता-  
 ऽङ्गेषु ग्लानिर्वर्णस्य भदनम् ॥ तन्द्रा निद्रा वातशोफो बलव्यापदि लक्षणम् ।  
 मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापोऽज्ञानमेव च । पूर्वोक्तानि च लिङ्गानि मरणञ्च  
 बलक्षये ॥ इति । तत्र विस्रंसे व्यापन्ने च क्रियाविशेषैरविरुद्धैः  
 बलमास्थापयेत् । नष्टसंज्ञमितरञ्च वज्जयेत् ।” तन्त्रान्तरेऽपि—“भ्रमरैः  
 फलपुष्पेभ्यो यथा संह्रियते मधु । तद्वदोजः शरीरेभ्यो गुणैः संह्रियते नृणाम् ।”  
 इति । तदेव यथा जायते तदुक्तं “प्रथमे जायते ह्योजः” इत्यादिना । एते  
 चाष्टादश क्षया आविष्कृततर्कैवोक्ताः, न तु निरवशेषेण । सन्ति हि शारीर-  
 भावास्तेभ्योऽधिकाः स्वेदार्तवस्तन्यगर्भस्वरोदकादयः, तेषाञ्च क्षया उन्नेयाः ।  
 उक्तञ्च सुश्रुते—“तेजोऽप्याग्नेयं क्रमशः पच्यमानानां धातूनामभिनिवृत्त-  
 मन्तरं स्थं स्नेहजातं रसाख्यं स्त्रीणां विशेषतो भवति । तेन माद्वसौकुमार्य-  
 मृद्वल्पलोमतोत्साहदृष्टिस्थितिपक्तिकान्तिदीप्तयो भवन्ति । तत् कषायतित्त-  
 शीतरक्षविष्टम्भिवेगविघातव्यवाय-व्यायामव्याधिकर्षणैश्च विक्रियते । तस्यापि  
 पारुष्यवर्णभेदतोदनिष्प्रभत्वानि विस्रंसने भवन्ति । कार्श्यमन्दाग्रिताधस्तिर्यक्-  
 च्युतिर्व्यापत्तौ । दृष्टाग्रिबलहान्यनिलप्रकोपमरणानि क्षये” । इति । तथा  
 स्वेदक्षयलक्षणमप्युक्तं—“स्वेदक्षये स्तब्धरोमकूपता त्वक्शोषः स्पर्शवैगुण्यं  
 स्वेदनाशश्च । तत्राभ्यङ्गस्वेदोपयोगश्च । १ । आर्तवक्षये यथोचितकालादशन-  
 मल्पता वा योनिवेदना च । तत्र संशोधनमाग्रे यानाञ्च द्रव्याणां विधिवदुप-  
 योगः । २ । स्तन्यक्षये स्तनयोर्ग्लानता स्तन्यासम्भवोऽल्पता वा, तत्र  
 श्लेष्मवद्धनद्रव्योपयोगः । ३ । गर्भक्षये गर्भस्य अस्पन्दनमनुन्नतकुक्षिता च,  
 तत्र प्राप्तवस्तिकालायाः क्षीरवस्तिप्रयोगो मेध्यान्नोपयोगश्चेति । ४ । स्वर-  
 खल्वोजः” इति । अन्यत्राप्युक्तं—“भ्रमरैः फलपुष्पेभ्यो यथा संह्रियते मधु । तद्वदोजः शरीरेभ्यो  
 गुणैः संह्रियते नृणाम् ॥” इति । ‘प्रथमे जायते’ इत्यादिपाठस्तु नातिप्रसिद्धः । एतेऽष्टादश क्षया  
 आविष्कृततमस्वेनोक्ताः, तेन उदकक्षयस्वरक्षयाद्यनभिधानं नोद्भावनीयम्” उक्तं हि—“स्वरक्षय-  
 सुरोरोगम्” इति । तथोदकक्षयलक्षणं, यथा—‘तात्त्वोष्टकण्ठक्लोमसंशोषं पिपासाञ्च इदं उदकबहा-  
 न्यस्य दुष्टानीति जानीयात्” इति ॥ ३४—३६ ॥

व्यायामोऽनशनं चिन्ता रुक्षाल्पप्रमिताशनम् ।  
 वातातपो भयं शोको रुक्षपानं प्रजागरः ॥  
 कफशोणितशुक्राणामतिवर्त्तनमोक्षणम् ।  
 कालो भूतोपघातश्च विज्ञेयाः क्षयहेतवः ॥ ३७ ॥  
 गुरुस्निग्धाम्ललवणान्यतिमात्रं निषेविणाम् ।  
 नवमन्नञ्च पानञ्च निद्रामास्यासुखानि च ॥  
 त्यक्तव्यायामचिन्तानां संशोधनमकुर्वताम् ।  
 श्लेष्मा पित्तञ्च मेदश्च मांसञ्चातिप्रवर्द्धते ॥

क्षयश्च स्वरभङ्गरोगलक्षणे बोध्यः । ५ । उदकक्षयस्तु ताल्वोष्ठकण्ठक्लोमसंशोष-  
 पिपासादिभिर्लक्षणैरुदकवहानि स्रोतांस्यस्य दुष्टानीति व्यवस्येत् । इति ॥ ३६ ॥

गङ्गाधरः—क्षयलक्षणानि अष्टादशानामुक्त्वा तेषां क्षयनिदानानि आह—  
 व्यायाम इत्यादि । अल्पाशनं मानतः प्रमिताशनम्, अनशनं लङ्घनम् । कफ-  
 शोणितशुक्राणामतिवर्त्तनमतिप्रवृत्तिः, वमनातियोगेन कफस्य । शोणितस्याति-  
 मोक्षणं सिराव्यधादिभिः । शुक्रस्य अतिमोक्षणमतिमैथुनादिना । कालो  
 वार्द्धक्यातुर्यादिः । भूतोपघातः पिशाचाद्यभिषङ्गः । एते क्षयहेतवो  
 विज्ञेयाः । ननु व्यायामादिकं वातपित्तप्रकोपकं कथं क्षयहेतुरिति चेत् ?  
 न । साधारणतया क्षयहेतुत्वेनोक्त्या यथाहं हेतुतया व्याख्येयं । यद्यस्य  
 विशेषवत् तस्य क्षयहेतुस्तदिति व्यायामेनातिशुक्तेन कफक्षयः स्यात् । वात-  
 पित्तक्षयस्तु अतिस्निग्धाद्यशनादिना स्यादित्येवं यथाहता अत्र बोध्या ॥ ३७ ॥

गङ्गाधरः—इति क्षयानुक्त्वा सप्त पिङ्गका माधुमेहिका इति यदुद्दिष्टं तस्य  
 विस्तरं प्रवक्ति—गुरुस्निग्धेत्यादि । निद्रामास्यासुखानि च भजतामिति शेषः ।  
 मेहिनामित्यर्थादापद्यते । मेहिनां गुर्वाद्यश्वतां निद्रास्यासुखभजतां त्यक्त-

चक्रपाणिः—सामान्येन क्षयाणां हेतुमाह—व्यायाम इत्यादि । प्रमिताशनम् एकरसाभ्यासः,  
 अतिवर्त्तनमतिप्रवृत्तिर्वहिर्गमनमिति यावत्, कालो वार्द्धक्यमादानञ्च, भूतोपघातः पिशाचाद्युप-  
 घातः । अत्र वातक्षयहेतुर्नोक्तो विलक्षणत्वात्, स चाचिन्तनदिवास्वपनादिज्ञेयः, किंवा  
 अनशनात् किट्टाभावः, ततश्च किट्टरूपस्य वातस्याप्यनुत्पादात् क्षयो ज्ञेयः ॥ ३७ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति सप्त पिङ्गका वक्तव्याः, अतस्तासां प्रधानहेतुत्वेन प्रमेहान् तावन्निदानादि-

तैरावृतगतिर्वायुरोज आदाय गच्छति ।  
 यदा वस्तिं तदा कृच्छ्रो मधुमेहः प्रवर्तते ॥  
 स मारुतस्य पित्तस्य कफस्य च मुहुर्मुहुः ।  
 दर्शयत्याकृतिं गत्वा क्षयमाप्यायते पुनः ॥ ३८ ॥  
 उपेक्षयास्य जायन्ते पिङ्काः सप्त दारुणाः ।  
 मांसलेष्ववकाशेषु मर्मस्वपि च सन्धिषु ॥  
 शराविका कच्छपिका जालिनी सर्षपी तथा ।  
 अलजी विनताख्या च विद्रधी चेति सप्तमी ॥ ३९ ॥

व्यायामादीनां श्लेष्मादिकं प्रवर्द्धते । तैः प्रवृद्धैरावृतगतिर्वायुर्यदा तु ओज आदाय वस्तिमागच्छति तदा तेषां सर्व्वएवमेहः कृच्छ्रः कृच्छ्रसाध्यो मधुमेहः प्रवर्तते मधमेहरूपेण परिवर्तते । स मधुमेहः मुहुर्मुहुः कदाचित् मारुतस्य कदाचित् पित्तस्य कदाचित् कफस्य आकृतिं दर्शयति, मुहुर्मुहुः क्षयं गच्छति, क्षयं गत्वा च पुनराप्यायते वृद्धिमाप्नोति । अकारणमेवैवं स्यादिति ॥३८॥

गङ्गाधरः—अस्य मधुमेहस्य उपेक्षया अचिकित्सया प्रतिकाराकरणे दारुणाः सप्त पिङ्का जायन्ते । मांसलादिषु मात्रावकाशेषु । तथा चोक्तं—मधुमेहे मधुसमं जायते स किल द्विधा । क्रूढे धातुक्षयात् वायो दोषावृतपथेऽथवा । आवृतो दोषलिङ्गानि सोऽनिमित्तं प्रदर्शयन् । क्षीणः क्षणात् क्षणात् पूर्णो भजते कृच्छ्रसाध्यताम् ॥ इति । स एवायं कृच्छ्रसाध्यो मधुमेहः । अस्मिन् उपेक्षिते सप्त पिङ्काः स्युः । यश्चासाध्यस्तत्र न पिङ्काः स्युरिति । सुश्रुते तु प्रमेहिणो दश पिङ्का भवन्तीति यदुक्तं, तत्र पुत्रिणीमसूरिकाविदारिकाणां तिसृणां नातिपीडाकरत्वेन गणनयात्र नोपदेशः कृतः । तासाञ्च पिङ्कानामुपसंहारार्थमथान्याः पिङ्काः सन्तीत्यादि वक्ष्यते । पिङ्कानामुत्पत्तिप्रदेशमाह—मांसलेष्वित्यादि । ताः सप्ताह—शराविकेत्यादि । शराविकादिषट्संज्ञा यौगिक्यः स्वस्वलक्षणे स्फटीकृताः । अलजी तु रुद्धि-संज्ञा ॥ ३९ ॥

क्रमेणाह—गुर्व्वित्यादि । नवं पानमिति नवं मद्यम् । निद्रामास्यासुखानि चेत्यत्रान्ते भजतामिति शेषः । ओजः प्रसादो धातूनामिति यावत् ; कृच्छ्र इति कृच्छ्रसाध्यः, उपेक्षयाऽचिकित्सय ;

अन्तोन्नता मध्यनिम्ना श्यामा क्लेदरुगन्विता ।  
 शराविका स्यात् पिङ्का शरावाकृतिसंस्थिता ॥ ४० ॥  
 अवगाढार्त्तिनिस्तोदा महावास्तुपरिग्रहा ।  
 श्लक्ष्णा कच्छपपृष्ठाभा पिङ्का कच्छपी मता ॥ ४१ ॥  
 स्तब्धा सिराजालवती स्निग्धस्त्रावा महाश्या ।  
 रुजा निस्तोदबहुला सूक्ष्मच्छिद्रा च जालिनी ॥ ४२ ॥  
 पिङ्का नातिमहती क्षिप्रपाका मारुजा ।  
 सर्षपी सर्षपाभाभिः पिङ्काभिश्चिता भवेत् ॥ ४३ ॥  
 दहति त्वचमुत्थाने तृष्णामोहज्वरप्रदा ।  
 विसर्पत्यनिशं दुःखाद् दहत्यग्निरिवालजी ॥ ४४ ॥  
 अवगाढरुजाक्लेदा पृष्ठे वाप्युदरेऽपि वा ।  
 महती विनता नीला पिङ्का विनता मता ॥ ४५ ॥

गङ्गाधरः—शराविकालक्षणमाह—अन्तोन्नतेत्यादि । स्पष्टम् ॥ ४० ॥

गङ्गाधरः—अवगाढेत्यादि । अवगाढेत्यादिना कच्छपिका ॥ ४१ ॥

गङ्गाधरः—स्तब्धेत्यादि । स्तब्धेत्यादिना जालिनी सिराजालवती जाला-  
कारेण सिरासमूहवती । ततो जालिनीति संज्ञा ॥ ४२ ॥

गङ्गाधरः—पिङ्केत्यादि । सर्षपी सर्षपाभाभिः पिङ्काभिश्चिताऽधिष्ठिता  
व्याप्तेत्यर्थः । तेन सर्षपीति संज्ञा ॥ ४३ ॥

गङ्गाधरः—दहतीत्यादि । दहतीत्यादिनालजी । त्वचं चर्म । उत्थाने  
पिङ्कोद्गमकाले । विसर्पति स्थानात् स्थानान्तरं व्रजति ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः—अवगाढेत्यादि । अवगाढरुजेत्यादिना विनता विनम्रभाव-  
मापन्ना विनता ततो विनता संज्ञा मता ॥ ४५ ॥

शराविकादि-संज्ञान्वयो विवरणे स्फुटः । अलजीसंज्ञा रूढा ; एताश्च प्राधान्यादुक्ताः ; तेन सुश्रुते-  
ऽपि पिङ्काधिक्यमुक्तं यत्, तन्न विरोधि । शिराजालं शिरासमूहः, चिताऽधिष्ठिता ॥ ३८—४५ ॥

विद्रधिं द्विविधामाहुर्वाह्यामाभ्यन्तरीं तथा ।

वाह्या त्वक्स्नायुमांसोत्था कण्डराभा महारुजा ॥ ४६ ॥

शीतकान्नविदाहुर्गुण-रुक्षशुष्कातिभोजनात् ।

विरुद्धाजीर्णसंक्लिष्ट-विषमासात्म्यभोजनात् ॥

व्यापन्नबहुमद्यत्वाद् वेगसन्धारणाच्छूमात् ।

जिह्वव्यायामशयनादतिभाराध्वमैथुनात् ॥

अन्तःशरीरे मांसासृक् प्रविशन्ति यदा मलाः ।

तदा संजायते ग्रन्थिर्गम्भीरस्थः सुदारुणः ॥

हृदये क्लोम्नि यकृति प्लीहि कुक्षौ च बुक्कयोः ।

नाभ्यां वङ्क्षणयोर्वापि वस्तौ वा तीव्रवेदनः ॥ ४७ ॥

गङ्गाधरः—विद्रधिमित्यादि । विद्रधिमित्यादिना विद्रधिः । अस्यास्तु द्वैविध्येऽपि विद्रधित्वसामान्यात् पिडकानां न सप्तत्वव्याघात इति । त्वक्-स्नायुमांसोत्था यतो गम्भीरधातुसमुत्था । तस्माद्वाह्या कण्डराभा स्थूलस्नायु-प्रकारा ॥ ४६ ॥

गङ्गाधरः—वाह्याभ्यन्तरविद्रध्योर्वातादिजविद्रधितुल्यलक्षणत्वेऽपि आभ्यन्तरविद्रधेर्वाह्यविद्रधितो गरिष्ठत्वेनान्तरविद्रधीमुपलक्ष्योपदेष्टुं तन्निदानमाह—शीतकेत्यादि । शीतकान्नादीनां प्रत्येकमतिभोजनेत्यनेनान्वयः । विरुद्धादीनाञ्च प्रत्येकं भोजनेत्यनेनान्वयः । संक्लिष्टं दोषलम् । व्यापन्नं गुणसम्पद्रहितम् । बहु पीतं मदं येन तस्य भावः तस्मात् व्यापन्नबहुमद्यत्वात् । जिह्वं कौटिल्येनाचरितं व्यायामशयनं व्यायामश्च शयनञ्च तत् तस्मात् । अतिशब्दस्य भारादिभिः प्रत्येकमन्वयः । अन्तःशरीरे शरीराभ्यन्तरे । मांसासृक् मांसश्चासृक् च तद्द्रव्यमभ्यन्तरे यदस्ति यदा तदेव प्रविशन्ति मला वातपित्तकफास्तदा ग्रन्थिर्ग्रन्थिरिवाकृत्या गम्भीरस्थः अत्यन्तावगाढमूलः सुदारुणः कष्टो जायते । अभ्यन्तर उत्पत्तिस्थानान्याह—

चक्रपाणिः—विद्रधिं द्विविधामित्यनेनाभ्यन्तरविद्रधेरपि विद्रधित्वेन पिडकानां सप्तत्वेऽविरोध इति दर्शयति ; कण्डराभा स्थूलस्नायवाकारा । अन्तर्विद्रधेर्गरीयस्त्वेन निदानान्याह—शीतकेत्यादि । संक्लिष्टं दोषलम्, व्यापन्नञ्च बहु च मद्यमुपयुङ्क्ते यः स व्यापन्नबहुमद्यः ।

दुष्टरक्तातिमात्रत्वात् स वै शीघ्रं विदह्यते ।  
 ततः शीघ्रविदाहित्वाद् विद्रधीत्यमिधीयते ॥ ४८ ॥  
 व्यधच्छेदभ्रमानाह-शब्दस्फुरणसर्पणैः ।  
 वातिकीं पैत्तिकीं तृष्णा-दाहमोहमदज्वरैः ॥  
 जृम्भोत्क्लेशारुचिस्तम्म-शीतकैः श्लैष्मिकीं विदुः ।  
 सर्वांसु तु महच्छूलं विद्रधीषूपजायते ॥ ४९ ॥  
 शस्त्रास्त्रैर्भिद्यत इव चोल्ककैरिव दह्यते ।  
 विद्रधी व्यम्लतां याता वृश्चिकैरिव दश्यते ॥ ५० ॥  
 तनु रुक्षारुणं श्यावं फेनिलं वातविद्रधी ।  
 तिलमाषकुलत्थोद-सन्निभं पित्तविद्रधी ॥  
 श्लैष्मिकी स्रवति श्वेतं बहलं पिच्छिलं बहु ।  
 लक्षणं सर्वमेवैतद् भजते सान्निपातिकी ॥ ५१ ॥

हृदये इत्यादि । क्लोत्रीति कण्ठोरसोः सन्धिरूपे स्थाने यत् परिशोषात्  
 पिपासा भवति । कुक्षानुदरगह्वरे । वृक्कयोर्वक्षोऽधःपार्श्वयोः । संहतरूपो-  
 ग्रन्थिः । शीघ्रं विदह्यते पच्यत इत्यर्थः । शीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधीति पृषोदरादि-  
 त्वात् रूर्पासिद्धिः ॥ ४७।४८ ॥

गङ्गाधरः—तस्य लक्षणमाह—व्यधेत्यादि । व्यधो विद्धवत् पीडा । छेदः  
 क्षुद्रखड्गादिच्छेदनवत् पीडा । भ्रमो घूर्णनवत् पीडा । आनाहो मलविवद्धता ।  
 शब्दस्फुरणसर्पणानि तु विद्रधौ । एतैर्व्यधादिभिः सर्पणान्तैर्वातिकीं विद्रधीम्,  
 तृष्णादिभिर्ज्वरान्तैः पैत्तिकीम्, जृम्भेत्यादिभिः श्लैष्मिकीं विदुः । शीत-  
 मेव शीतकम् । सर्वांसु विद्रधीषु सामान्यलक्षणं महच्छूलम् ॥ ४९ ॥

गङ्गाधरः—पक्वलक्षणमाह—शस्त्रेत्यादि । शस्त्रविशेषेण भेदच्छेदवत् पीडा ।  
 उल्काग्निदाहवद् दाहश्च । इति वातादिजविद्रधेः पकाया लक्षणम् । विद्रधी  
 व्यम्लतां पक्तां याता वृश्चिकैरिव दश्यत इति पक्वलक्षणम् ॥ ५० ॥

गङ्गाधरः—विदीर्णत्वे च पूयस्रावभेदं दर्शयति—तन्वित्यादि । तन्वित्यादिना  
 स्रावलक्षणम् । तिलादीनां प्रत्येकमुदशब्दस्यान्वयः । उदकार्थे द्रुपदशब्दो-  
 अन्तःशरीर इति कोष्ठे, मला दोषाः, ग्रन्थिरिव ग्रन्थः । स इति ग्रन्थिः ; व्यधादयो व्यधा-

अथासां विद्रधीनां साध्यासाध्यत्वविशेषविज्ञानार्थं तन-  
कृतलिङ्गविशेषमुपदेक्ष्यामः । तत्र प्रधानमर्म्मजायां विभ्रां  
हृदघटनतमकप्रमोहकासाः । क्लोमजायान्तु पिपासामु-  
शोषगलग्रहाः । यकृज्जायां श्वासः । ग्रीहजायामुच्छ्वासोपरोधः  
कुक्षिजायां कुक्षिपार्श्वान्तरांसशूलम् । बुक्कजायां पार्श्वपृष्ठ-  
कटीग्रहः \* । नाभिजायां हिक्का । वज्जणजायां सकृत्थिसादः ।  
वस्तिजायां कृच्छ्रपूतिमूत्रवर्चस्त्वम् । पक्वप्रभिन्नासूद्धं जासु  
मुखात् स्रावः, अधोजासु तु गुदात्, उभयतस्तु नाभि-  
जासु । आसां हन्नाभिवस्तिजाः परिपक्वाः सान्निपातिकी च

ऽप्यस्ति । बहुशब्दो बहुत्ववाचकोऽपि यदातिशयार्थे प्रयुज्यते न तु  
संख्यायां तदैकवचनान्तोऽपि विशेष्यानुरूपलिङ्गवचनविभक्तिनियमात्  
विशेषणस्येति । वातजादीनां विद्रधीनां तिसृणां लक्षणस्राववृत्त्वा  
तदतिदेशेनाधिकलक्षणस्रावाभावात् सान्निपातिकविद्रधेर्लक्षणं स्रावश्चाह—  
लक्षणमित्यादि । लक्षणं सर्वमिति व्यधादिवातवेदनाविशेषतन्वादिस्रावविशेषौ  
वातविद्रधेर्लक्षणं तृष्णादितिलादुग्रदकसन्निभस्रावौ पैत्तिकविद्रधेर्लक्षणं  
जम्भादिवहलश्वेतबहुपिच्छिलस्रावौ श्लैष्मिकविद्रधेर्लक्षणं सर्वासाञ्च मह-  
च्छूलं शस्त्रवद्भेदनमुल्काग्निदाहवद् दाहश्च पक्वे वृश्चिकवद्दंशनञ्चेत्येतत्-  
सर्वलक्षणं सान्निपातिकी विद्रधी भजते ॥ ५१ ॥

गङ्गाधरः—अथेत्यादि । तत्र प्रधानमर्म्मेति हृदयम् । तत्र जातायां तमकः  
श्वासविशेषः, प्रमोहोऽत्रेन्द्रियमात्रमोहः । यकृदित्यादि । कुक्षिपार्श्वान्तरांस-  
शूलं कुक्षौ पार्श्वान्तरे अंसं भुजोपरिदेशे च शूलम् । पक्वप्रभिन्नासूद्धं जासु  
हृदयक्लोमयकृत्प्लीहकुक्षिषु जातासु मुखात् स्रावः । अधोजासु वज्जण-  
वस्तिजासु पक्वप्रभिन्नासु गुदात् । नाभिजासु उभयत इति मुखात् गुदाच्च ।  
स्थानकृतलिङ्गविशेषप्रदर्शनप्रयोजनमाह—आसामित्यादि । हन्नाभिवस्तिजाः

प्रकाराः, शीतमेव शीतकम्, व्यम्लतां याता विदाहं प्राप्ता । तमकः श्वासभेदः ; कुक्षिपार्श्व-  
न्तरांसशूलमिति कुक्षिपार्श्वान्तरांसेषु शूलम् । हन्नाभिवस्तिजासु सान्निपातिकीं पृथक् पठन्,

\* पृष्ठकोटिग्रहः इति पाठान्तरम् ।



शाय । शेषाः पुनः कुशलमाशुप्रतिकारिणं चिकित्सकम्  
 साद्योपशाम्यन्ति । तस्मादचिरोत्थितां विद्रधीं शस्त्रसर्प-  
 विदुग्दग्निमुल्यां स्नेहस्वेदविरेचनैश्चोपक्रमेत । सर्वशो गुल्म-  
 वच्चेति ॥ ५२ ॥

परिपक्वा मरणाय । प्रागेवोत्पन्नमात्रं परमकुशलमिषजा आदौ पाकं  
 वारयितुकामेन गुणवता गुणवदातुरस्य चेदुपक्रान्ता न पक्तुं पार्यन्ते । तदा  
 न मरणायेति—परिपक्वा इति वचनेन ज्ञापितम् । सान्निपातिकी च पक्वा  
 चापक्वा च यत्र तत्र जाता मरणाय । अत्रापि हन्नाभिवस्तिजा इत्येक-  
 वचनान्ततयानुवर्त्यन्वेतव्यम् । पृथक् पाठात् परिपक्वा इत्यस्य नानुवृत्तिः ।  
 सान्निपातिक्याः सामान्येनोक्त्या पक्वायाश्चासाध्यत्वोक्तेर्लाभात् । इदन्तु वचनं  
 हृदयनाभिवस्तिजा सान्निपातिकी विद्रधी कुशलेनापि मिषजा गुणवदातुरस्य  
 अप्यादौ पाकं वारयितुकामेनाप्युपक्रान्ता पच्यते । यदि वा कस्यचित् न पच्यते  
 तदापि मरणायेति ख्यापनार्थमिति । शेषाः पुनरिति—परिपक्वहन्नाभि-  
 वस्तिजाभ्यः सान्निपातिक्याश्चान्या क्लोमयकृत्प्लीहकुक्षिबुक्वङ्गणजा वाता-  
 दिजाः । हन्नाभिवस्तिजा अप्यपक्वा वातादिजाः कुशलादिकं वैद्यमासाद्योप-  
 शाम्यन्ति । कुशलमाशुप्रतिकारिणमिति विशेषणद्वयेन पुनरेतत् ख्यापितम् ।  
 हन्नाभिवस्तिजा अपरिपक्वा सर्ववातजादयः परिपक्वा ऊर्ध्वं मुखात् सूति-  
 शीला असाध्याः सत्योऽपि कुशलेनोपक्रान्ताः शरीरवाह्यतो विदीर्णाश्चेदास्त्रावं  
 स्रवन्ति न तु मुखात्, तदा कदाचिदुपशाम्यन्ति, इति ज्ञापितम् ।  
 सर्वासाश्च कष्टसाध्यत्वमुक्तमिति । “हन्नाभिवस्तिजास्तु खलु बाह्यशरीरतः  
 प्रभिन्ना अपि कुशलेनोपक्रान्ता न सिध्यन्ति” इति पूर्वमुक्तम् ।

तस्मादित्यादि । सर्वासामेव कष्टसाध्यत्वात् कष्टत्वादिकं दर्शयति—  
 शस्त्रेत्यादि । शस्त्रवच्छेदकत्वम् । सर्पवदाशु संहारित्वम् । विदुग्दग्निर्वज्राग्निः,  
 तद्वदाशुमारकः । ननु सुश्रुते हृदयादिवद्गुदजापि विद्रधी उक्ता । तद्वथा—  
 “गुर्वसात्म्यविरुद्धान्न-शुष्कसंक्लिन्नभोजनात् । अतिव्यवायव्यायाम-वेगाघात-  
 विदाहिभिः ॥ पृथक् सम्भूय वा दोषाः कुपिता गुल्मरूपिणम् । वल्मीकवत्

सान्निपातिकीं पक्वामपक्वाञ्चासाध्यां दर्शयति । शस्त्रादिदृष्टान्तत्रयात् शस्त्रवन्मर्मच्छेदकत्वं  
 सर्पवदाशुसंशारित्वं, विदुग्दग्निवदाशुमारकत्वं ज्ञेयम् ॥ ४६—५२ ॥

भवन्ति चात्र ।

विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः ।

तावच्चैता न लक्ष्यन्ते यावद्वास्तुपरिग्रहः ॥ ५३ ॥

समुन्नद्धमन्तः कुर्वन्ति विद्रधिम् ॥ गुदे वस्तिमुखे नाभ्यां कुक्षौ वङ्गणयो-  
स्तथा । बुक्कयोः प्लीहि यकृति हृदये क्लोन्नि वा तथा ॥ तासां लिङ्गानि जानीया-  
द्वाह्यविद्रधिलक्षणैः ॥” इत्यादि । गुदजायास्तु तत्रैव लक्षणमुक्तं—“गुदे वात-  
निरोधश्च” इतिमात्रम् । एवम्—“स्त्रीणामपप्रजातानां प्रजातानां तथाऽहितैः ।  
दाहज्वरकरो घोरो जायते रक्तविद्रधिः ॥ अपि सम्यक् प्रजातानामसृक् कायात्  
अनिःसृतम् । रक्तजं विद्रधिं विद्यात् कुक्षौ मकल्लसंज्ञितम् । सप्ताहान्नोप-  
शान्तश्चेत् ततोऽसौ संप्रपच्यते ॥” इति । रक्तविद्रधी च वातादिविद्रधिवदुक्ता ।  
तथा वाह्यविद्रधी च वातपित्तकफसन्निपातजक्षतजरक्तजभेदात् षोढा उक्ता ।  
तत्र वातादिजानामभ्यन्तरविद्रधीनाश्च लक्षणान्येव वातादिजवाह्यानाम् । क्षत-  
जायास्तु—“तैस्तैर्भावैरभिहते क्षते चापथ्यसेविनः । क्षतोष्मा वायुविसृतः सरक्तं  
पित्तमीरयेत् ॥ ज्वरस्तृष्णा च दाहश्च जायते तस्य देहिनः । एष विद्रधिरागन्तुः  
पित्तविद्रधिलक्षणः । कृष्णस्फोटवृतः श्यावस्तीव्रदाहरुजाज्वरः । पित्तविद्रधि-  
लिङ्गस्तु रक्तविद्रधिरुच्यते ॥” इति । कथमत्राचार्येण नोक्ता इति चेत् ? न ।  
आभ्यन्तरविद्रधौ गुदजातविद्रध्या आर्तवजविद्रध्या वस्तिजायामन्तर्भावात् ।  
वस्तिशब्देन वस्तिसामीप्याद्गुदं वस्तिमुखश्च गृह्यते । तत्र गुदजायां कृच्छ्र-  
पूतिवातवर्चस्त्वं वस्तिमुखजायां कृच्छ्राल्पपूतिमूत्रवर्चस्त्वमिति वस्तिजायां  
कृच्छ्रपूतिमूत्रत्वमिति वचनस्य व्याख्यानम् । सुश्रुतेऽप्युक्तं—“गुदे वात-  
निरोधश्च वस्तौ कृच्छ्राल्पमूत्रता” इति । अत्रापि वातनिरोधः कृच्छ्रवातत्वं  
तेनापि कृच्छ्रवर्चस्त्वं गम्यते । रक्तजाभ्यन्तरविद्रध्याश्च रक्तजगुल्मेऽन्त-  
र्भावाच्च । सप्ताहानन्तरपाकित्वेन तदारम्भकवातजत्वेन वातजायामन्तर्भावाद्वा ।  
आविष्कृततमत्वेन सूत्ररूपत्वेन वात्रानुक्तत्वदोषाभावाच्च । सर्व्वशो गुल्म-  
वच्चोपक्रमेदित्युक्त्या गुल्मविद्रध्यन्यतरत्वेन विज्ञानादेरप्रयोजनस्य व्याधिनिव-  
र्त्तनस्यानपायाच्च ॥ ५२ ॥

गङ्गाधरः—ननु सुश्रुते प्रमेहिकपिड्काव्यतिरिक्ताश्च दश पिड्का उक्ताः ।  
कथमत्र माधुमेहिका एवेति ? अत आह—भवन्ति चात्रेति । विनेत्यादि ।

चक्रपाणिः—प्रमेहं विनाप्युक्तपिड्कासम्भवं दर्शयति—विनेत्यादि ।—एतेन च पिड्कानां

शराविका कच्छपिका जालिनी चेति दुःसहा ।  
जायन्ते ता ह्यतिबलाः प्रभूतश्लेष्ममेदसः ॥ ५४ ॥  
सर्षपी त्वलजी चैव विनता विद्रधी च याः ।  
साध्याः पित्तोत्वणास्तास्तु संभवन्त्यल्पमेदसः ॥ ५५ ॥  
मर्मस्वसे गुदे पाण्योस्तले सन्धिषु पादयोः ।  
जायन्ते यस्य पिङ्काः स प्रमेही न जीवति ॥ ५६ ॥  
तथान्याः पिङ्काः सन्ति पीतरक्तासितारुणाः ।  
पाण्डुराः पाण्डुवर्णाश्च भस्माभा मेचकप्रभाः ॥

प्रमेह विनापि दुष्टमेदस एता जायन्त । याः पिङ्का भवन्ति तासामेव माधुमेहिकपिङ्कावल्लिङ्गसाध्यासाध्यत्वादिकं बोध्यम् । वास्तुपरिग्रहः स्थानस्य परि सर्व्वतो ग्रहणमित्यर्थः ॥ ५३ ॥

गङ्गाधरः—आसां दोषदूष्यनियममाह—शराविकेत्यादि । दुःसहाः कष्ट-  
त्वात् । प्रभूतश्लेष्ममेदस इत्यनेन ( विना प्रमेहं प्रभूतश्लेष्ममेदसः ) कफ-  
मेहिनामेव गुरुस्निग्धादिसेवनेन मधुमेहत्वे शराविकादिकास्तिस्रो भवन्ति ॥ ५४ ॥

गङ्गाधरः—नन्वन्यमेहिनां सर्षपीत्यादिकाश्चतस्रः पित्तोत्वणा अल्पमेदसो  
भवन्तीत्यनेन पित्तमेहिनां गुरुस्निग्धादिसेवनेन मधुमेहत्वे एव भवन्ति  
सर्षप्यादयश्चतस्रो न तुल्यमेहिनामिति । अत्र विद्रधी बाह्या न ताभ्यन्तरा,  
तस्य दोषादिविशेषोक्तत्वात् । आभ्यन्तरा हि विद्रधी यस्य यन्मयप्रमेहस्तस्य  
तन्मयी भवति, यद्यपि मधुमेहत्वे त्रैदोषिकत्वं तथापि पूर्व्वप्रमेहदोषाधिक्येन  
मधुमेहत्वेऽपि तद्व्यपदेशात् । पूर्व्वप्रमेहकृद्दोषस्याप्राधान्येनोत्वणत्रिदोषजत्वेन  
मधुमेहत्वे त्रिदोषजा विद्रधी भवति । सुतरां सुश्रुतेनोक्तम्—“ये यन्मयाः स्मृता  
मेहास्तेषामेतास्तु तन्मयाः ।” इति ॥ ५५ ॥

गङ्गाधरः—प्रमेहमात्रे पिङ्काया असाध्यत्वमाह—मर्मस्वित्यादि । बहु-  
वचनात् सप्तोत्तरे मर्मशते । तले हस्ततले ॥ ५६ ॥

गङ्गाधरः—ननु सुश्रुते दश पिङ्काः प्रमेहिणामप्रमेहिणाश्चोक्ताः । अत्र तु  
माधुमेहिकत्वं यत् पूर्व्वमुक्तं तत् प्रायिकत्वेन ज्ञेयम् । वास्तु स्थानं, विद्रधी चेति बाह्य-  
विद्रधी ॥ ५३—५६ ॥

चक्रपाणिः—पिङ्काप्रसङ्गेनान्यासामपि पिङ्कानामाविष्कृतानां लक्षणं ब्रूते—तथाऽन्या

मृद्राश्च कठिनाश्चान्याः स्थूलाः सूक्ष्मास्तथापराः ।

मन्दवेगा महावेगाः स्वल्पशूला महारुजाः ॥

सप्तैति विरोध इति ? अत आह—तथान्या इत्यादि । सप्त पिङ्का आविष्कृततम-  
तयोक्ताः अन्याश्च पिङ्काः सन्ति । ताः कीदृश्य इति ? अत आह—पीतेत्यादि ।  
अत एव सुश्रुतोक्ता—“महत्स्वल्पचिता ज्ञेया पिङ्का सा तु पुत्रिणी । मसूरसम-  
संस्थाना ज्ञेया सा तु मसूरिका । विदारीकन्दवद्वृत्ता कठिना च विदारिका ॥”  
इति तिस्रोऽन्तर्भाव्याः । पाण्डुरा धूसराः । पाण्डुवर्णाः रुक्षपाण्डुवर्णाः । भस्माभाः  
श्यावाऽनुश्वेतवर्णाः । मेचकप्रभाः स्निग्धकृष्णवर्णाः । सुश्रुतेऽप्युक्तं नाम-  
विशेषेण—“स्निग्धा सवर्णा ग्रथिता नीरुजा मुद्गसन्निभा । कफवातोत्थिता ज्ञेया  
बालानामजगल्लिका ॥ यवाकारा सुकठिना ग्रथिता मांससंश्रिता । पिङ्का  
श्लेष्मवाताभ्यां यवप्रख्येति सोच्यते ॥ घनामवक्त्रां पिङ्कासुन्नतां परिमण्डलाम् ।  
अत्रालजीमल्पपूयां तां विद्यात् कफवातजाम् ॥ विवृतास्यां महादाहां पक्वो-  
द्भ्रम्वरसन्निभाम् । विवृतामिति तां विद्यात् पित्तोत्थां परिमण्डलाम् ॥ ग्रन्थयः  
पञ्च वा षड् वा दारुणाः कच्छपोन्नताः । कफानिलाभ्यामुद्भूतां विद्यात् तां  
कच्छपीमिति ॥ पाणिपादतले सन्धौ ग्रीवायामूर्ध्वजत्रुणि । ग्रन्थिवेल्लीक-  
वद् यस्तु शनैः समुपचीयते ॥ तोदक्लेदपरीदाह-कण्डूमद्भिर्गणैर्गृतः । व्याधि-  
र्वेल्लीक इत्येष कफपित्तानिलोद्भवः ॥ पञ्चपुष्करवन्मध्ये पिङ्काभिः समा-  
चिताम् । इन्द्रवृद्धान्तु तां विद्याद् वातपित्तोत्थितां भिषक् ॥ कर्णौ परि-  
समन्ताद्वा पृष्ठे वा पिङ्कोग्ररूक् । शाल्कवत् पनसिकां तां विद्यात् श्लेष्म-  
वातजाम् ॥ (हनुसन्धौ समुद्भूतं शोफमल्परुजं स्थिरम् । पाषाणगर्दभं  
विद्याद्वलाशपवनात्मकम् ॥) विसर्पवत् सर्पति यो दाहज्वरकरस्तनुः । अपाकः  
श्वयथुः पित्तात् स ज्ञेयो जालगर्दभः ॥ बाहुपाश्वींसकक्षासु कृष्णस्फोटां  
सवेदनाम् । पित्तप्रकोपात् सम्भूतां कक्षामिति विनिर्दिशेत् ॥ अग्नि-  
दग्धनिभाः स्फोटाः सज्वरा रक्तपित्ततः । क्वचित् सर्वत्र वा देहे स्मृता विस्फोटका  
इति ॥ कक्षाभागेषु ये स्फोटा जायन्ते मांसदारुणाः । अन्तर्दाहज्वर-  
करा दीप्तपावकसन्निभाः ॥ सप्ताहाद द्वादशाहाद्वा पक्षाद्वा घ्नन्ति मानवम् ।  
तामग्निरोहिणीं विद्यादसाध्यां सन्निपाततः ॥ विदारीकन्दवद्वृत्तां

इत्यादि ।—पाण्डुरा धूसराः, पाण्डुवर्णास्तु रुक्षपाण्डुवर्णा ज्ञेयाः, मेचकप्रभाः स्निग्धकृष्णवर्णाः ।

ता बुद्ध्या मारुतादीनां यथास्वं हेतुलक्षणैः ।

ब्रूयादुपाचरेदाशु प्रागुपद्रवदर्शनात् ॥ ५७ ॥

कक्षावक्ष्णसन्धिषु । रक्तां विदारिकां विद्यात् सर्व्वजां सव्वलक्षणाम् ॥  
प्राप्य मांससिरास्त्रायूः श्लेष्मा मेदस्तथानिलः । ग्रन्थिं कुर्व्वन्ति भिन्नाऽसौ  
मधुसर्पिर्वसानिभम् । सुवत्यास्रावमत्यर्थं तत्र वृद्धिं गतोऽनिलः । मांसं विशोष्य  
ग्रथितां शर्करां जनयेत् पुनः । दुर्गन्धं क्लिन्नमत्यर्थं नानावर्णं ततः सिराः । सुवन्ति  
सहसा रक्तं तं विद्याच्छर्करावर्द्धम् ॥ पामाविचच्छ्यौ' कुष्ठेषु रकसा च  
प्रकीर्त्तिता । शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभिः ॥ मेदोरक्तानुगैश्चैव  
दोषैर्वा जायते नृणाम् । सकीलः कठिनो ग्रन्थिनिम्नमध्योन्नतोऽपि वा ।  
कोलमात्रः सरूक् स्रावी जायते कदरस्तु सः ॥ अरू'पि बहुवक्त्राणि बहुक्लेदीनि  
मर्द्ध'नि ॥ कफासृक्क्रिमिकोपेण नृणां विद्यादरू'षिकाम् । दाहज्वर-  
रुजावन्तस्ताम्राः स्फोटाः सपीतकाः । गात्रेषु वदने चान्तर्विब्धेयास्ता  
मसूरिकाः ॥ शाल्मलीकण्टकप्रख्याः कफमारुतशोणितैः । जायन्ते पिङ्गका  
यूनां वक्त्रे या मुखदूषिकाः ॥ कण्टकैराचितं वृत्तं कण्डूमत् पाण्डु मण्डलम् ॥  
पद्मिनीकण्टकप्रखैरस्तदाख्यं कफवातजम् ॥ अवेदनं स्थिरञ्चैव यस्य गात्रेषु  
दृश्यते । माषवत् कृष्णमुत्सन्नमनिलान् मशकं विदुः ॥ व्यानो गृहीत्वा श्लेष्माणं  
करोत्यर्शस्त्वचो वहिः । कीलोपमं स्थिरकरं चम्पेकीलन्तु तद्विदुः ॥ वातेन  
तोदपारुष्यं पित्तादसितवक्त्रता । श्लेष्मणा स्तिमितं तस्य ग्रथितत्वं सवर्णता ॥  
शकृन्मूत्रसमायुक्तेऽधौतेऽपाने शिशोर्भवेत् । स्विन्नस्यास्त्राप्यमानस्य कण्डू रक्त-  
कफोद्भवा । कण्डूयनात् ततः क्षिप्रं स्फोटः स्रावश्च जायते । एकीभूतां व्रणैर्धोरां  
तां विद्यादहिपूतनाम् ॥ स्नानोत्सादनहीनस्य मलो वृषणसंश्रितः । प्रक्लिद्यते  
यदा स्वेदात् सकण्डू' जनयेत् तदा ॥ तत्र कण्डूयनात् क्षिप्रं स्फोटः स्रावश्च  
जायते । प्राहुर्वृ'षणकच्छुं' तां श्लेष्मरक्तप्रकोपजाम् ॥" इति ।

सर्व्वमुपसंहर्तुमाह—ता इत्यादि । उपाचरेच्चेति मारुतादीनां भेषजैरिति ।  
प्रागुपद्रवदर्शनादिति पिङ्गकायामुपद्रवोत्पत्तेः पूर्व्वमेवोपाचरेदित्यर्थः । उपद्रव-  
संहिता हि पिङ्गकाः साध्या अपि कृच्छ्रा भवन्ति इति ज्ञापितमिति ॥ ५७ ॥

उपाचरेच्चेति मारुतादीनां भेषजैरित्यर्थाद्भवति ; प्रागुपद्रवदर्शनादित्यनेन उपद्रवयुक्ता पिङ्गका-  
ऽसाध्येति दर्शयति ॥ ५७ ॥

तृट्श्वासमांससङ्कोच-<sup>\*</sup>मोहहिकामदज्वराः ।  
 विसर्पमम्मसंरोधाः पिङ्गकानामुपद्रवाः ॥ ५८ ॥  
 क्षयः स्थानञ्च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः ।  
 ऊर्द्धञ्चाधश्च तिर्यक् च विज्ञेया त्रिविधापरा ॥  
 त्रिविधा चापरा कोष्ठ-शाखामर्मास्थिसन्धिषु ।  
 इत्युक्ता विधिभेदेन दोषाणां त्रिविधा गतिः ॥ ५९ ॥

गङ्गाधरः—उपद्रवानाह—वृद्धित्यादि । मम्मसंरोधो वक्ष-उपरोधः ॥ ५८ ॥

गङ्गाधरः—अथोद्दिष्टदोषाणां त्रिविधा चोक्ता गतिरपि विस्तरेणाह—क्षय  
 इत्यादि । गतिरवस्था प्रकारश्च । स्वस्थानुरसामान्येन वातादीनां त्रिधा गतिः ।  
 तत्रातुराणां वातादेः क्षयश्च वृद्धिश्च क्षयवृद्धिभयम् । क्षयवृद्धिसहचरस्थानञ्चेति  
 चतुर्धापि त्रिधैव, ततो नातिरेकात् । स्वस्थानान्तु स्थानं साम्यमेवेत्यर्थः  
 तात्पर्यतो व्याख्येयः । तत्र क्षयस्त्ववयवोपचयः, न च ध्वंस एव । स्थानं  
 समत्वेनावस्थानम् । वृद्धिरवयवोपचयः । स च द्विधा स्वस्थानस्थो नान्यो  
 दूषक एव, यस्तु चय इत्युच्यते । द्वितीयस्तु स्वस्थानात् प्रसारी दूष्यदूषको  
 विशिष्टव्याधिजननोन्मुखो यस्तु प्रकोप इत्युच्यते । क्षयलक्षणान्युक्तानि  
 प्राक्, वृद्धिलक्षणान्येषाम् सुश्रुते—यथा “वृद्धिः पुनरेषां स्वयोनिवर्द्धनात्युप-  
 सेवनाद्भवति । तत्र वातवृद्धौ तृणपाण्डुर्यं काश्यं काष्ण्यं गात्रस्फुरणमुष्ण-  
 कामिता निद्रानाशोऽल्पबलत्वं गाढवर्चस्त्वञ्च । पित्तवृद्धौ पीतावभासता  
 सन्तापः शीतकामित्वमल्पनिद्रता मूर्च्छा बलहानिरिन्द्रियदौर्बल्यं पीतविष्मूत्र-  
 नेत्रत्वञ्च । श्लेष्मवृद्धौ शौक्ल्यं शैत्यं स्थैर्यं गौरवमवसादस्तन्द्रा निद्रा सन्ध्यस्थि-  
 विश्लेष्मचेति” त्रिविधम् । गत्यन्तरमाह—ऊर्द्धमित्यादि । अत्रापि गति-  
 रित्यनुवर्तते । एषा गतिरूर्द्धादिगमनरूपैवावस्था प्रायेण वृद्धयव-  
 स्थायामेव ॥

गत्यन्तरमाह—त्रिविधेत्यादि । अत्र चकारादगतिरनुवर्तते । तेन कोष्ठे  
 गतिरेका, शाखासु गतिरेका, मर्मास्थिसन्धिषु गतिरेका, कष्टसाध्यत्व-

चक्रपाणिः—सङ्कोचः पूतिभावः ॥ ५८ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति दोषाणां गतिं विवृणोति—क्षय इत्यादि । स्थानं स्वमानावस्थानं, गतिः

\* सङ्कोच इति वा पाठः ।

चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां यथाक्रमम् ।

भवन्त्येकैकशः षट्सु कालेष्वभ्रागमादिषु ॥ ६० ॥

ख्यापनायोक्ता । एताश्च तिस्रो गतयः तिस्रैषणीये त्रिविधरोगमार्गव्याख्याने विस्तरेण व्याख्याताः । गतिमुपसंहरति—इत्युक्तेत्यादि । विधिभेदेनेति—विधिस्तु प्रकारः । अन्वयवान् प्रकारः, निरन्वयो भेद इति । तेनाभिन्न-जातीयानामेव कस्यचिद्धर्मान्तरस्य योगः प्रकारः समाने भावे वर्तते । संख्या-वन्मात्रे तु भेद इति । विधिभेदेन क्षयादेकप्रकारेण ऊर्द्धादेकप्रकारेण कोष्ठा-देकप्रकारेण विधेरपि भेदेन त्रिविधा गतिरित्युक्ता ॥ ५९ ॥

गङ्गाधरः—क्षयादिप्रकाराणां चयत्वादिप्रकारत्वाभावात् पुनर्गतिप्रकारं पृथगाह—चयेत्यादि । चयेति प्रचयः प्राधान्येन चयः । प्रकोपश्च प्राधान्येन कोपः । प्रशमोऽपि प्रकर्षेण शम इति बोध्यम् । अभ्रागमो वर्षाः । तदा-दिषु षट्सु वर्षाशरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मप्रावृट्सु कालेष्वृत्तुषु । पित्तादीनामिति पित्तकफवातानामेकैकशो अयौगपदेन पृथक् पृथगित्यर्थः । यथाक्रमं प्रचय-प्रकोपप्रशमा भवन्ति ।

तेन प्राग्दक्षिणायनादेको मास आषाढः, परश्चैको मासः श्रावणः ; तौ प्रावृट् । ततो वर्षासु भाद्राश्विनयोः पित्तं प्रचीयते । शरदि कार्तिकाग्रहायणयोः प्रकुप्यति । ततः प्रागुत्तरायणादेको मासः पौषः परश्चैको मासो माघ इति हेमन्ते पौषमाघयोः प्रशाम्यति । श्लेष्मा तु पौषमाघयोर्हेमन्ते प्रचीयते । फाल्गुन-चैत्रयोर्वसन्ते प्रकुप्यति । वैशाखज्यैष्ठ्योग्रीष्मे प्रशाम्यति । वातः पुनस्तत्र वैशाखज्यैष्ठात्मके ग्रीष्मे प्रचीयते । आषाढश्रावणात्मिकायां प्रावृषि प्रकुप्यति । भाद्राश्विनयोर्वर्षासु प्रशाम्यति । अभ्रागमादिष्वित्यत्रादिशब्देन तद्गुण-संविज्ञानबहुव्रीहिणा पूर्वपूर्वस्य प्रशमकालमादायैवोत्तरोत्तरस्य प्रचयादौ कालत्रयं विवक्षितमाचार्येण । तेनोक्ता व्याख्या न व्याहन्यते । सुश्रुते तु ऋतु-चर्याध्याये सूत्रस्थाने—“इह तु वर्षाशरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मप्रावृषः षट्प्रवो

प्रकारोऽवस्था वा । चय इत्यत्र प्रशब्दोलुप्तनिर्दिष्टः, तेन प्रकृष्टचयः, एवं प्रशमोऽपि ; एतेन वर्षादिषु पित्तादीनां प्रकृष्टश्चयो भवतीति दर्श्यते, इतरदोषस्यापि च स्तोकमात्रेण चयो यथा-सम्भवं सूच्यते ; तेन शरद्यनुबलत्वेन कफप्रकोपो भवतीत्यादि गृहीतं स्यात् ॥ ५९ ॥

चक्रपाणिः—यथाक्रममिति वर्षाशरद्धेमन्तग्रीष्मप्रावृट्क्रमेण, किंवा यथाक्रममिति यथायोग्य-तया । पित्तादीनामिति पित्तश्लेष्मवातानाम्, एकैकश इति अयौगपद्येन, एतच्च प्राधान्येनैव

भवन्ति दोषोपचयप्रकोपप्रशमनिमित्तम् । ते तु भाद्रपदाद्येन द्विमासिकेन व्याख्याताः । तद्यथा—भाद्रपदाश्विनौ वर्षाः । कात्तिकमार्गशीषौ शरत् । पौषमाघौ हेमन्तः । फाल्गुनचैत्रौ वसन्तः । वैशाखज्यैष्ठौ ग्रीष्मः । आषाढश्रावणौ प्रावृट् । इत्यादि । तस्याशीतीयव्याख्याने सर्व्वं लिखितमिति । षट्स्रुतुष्विति नोक्त्वा षट्सु कालेष्वभ्रागमेतिरूपेणोक्त्या संवत्सर इव षट्स्रुतुकोऽहोरात्रोऽपि शीतोष्णवर्षलक्षणः पूर्व्वरात्रप्राद्यात्मकवर्षादिषट्स्रुतुलिङ्गकः पित्तकफवातानां प्रचयप्रकोपप्रशमहेतुः ख्यापितः । तद्यथा—रात्रौ प्रथमदशदण्डात्मकवर्षासु पित्तमुपचीयते । मध्यरात्रे शरदि प्रकुप्यति । रात्रिशेषे हेमन्ते प्रशाम्यति । श्लेष्मा तु तत्र हेमन्ते रात्रौ शेषदण्डदशकरूपायां वर्षत्तुलक्षणायां प्रचीयते । पूर्व्वार्द्धे प्रकुप्यति वसन्तलक्षणे । मध्याह्ने ग्रीष्मलक्षणे प्रशाम्यति । सुश्रुतेऽप्युक्त-मृतुचर्याध्याये—“तत्र पूर्व्वार्द्धे वसन्तस्य लिङ्गम् मध्याह्ने ग्रीष्मस्य अपरार्द्धे प्रावृषः प्रदोषे वार्षिकम् शारदमर्द्धरात्रे प्रत्यूषसि हेमन्तमुपलक्षयेत् एव-महोरात्रमपि संवत्सरमिव शीतोष्णवर्षलक्षणं दोषचयप्रकोपप्रशममैर्जानीया-दिति ।” प्रचयादिषु प्रशब्दोपादानेन प्राधान्येन चयप्रकोपप्रशमाः ख्यापिताः । तेन वर्षासु कफस्य किञ्चिच्चयः, शरदि किञ्चित्प्रकोपः, शान्तिर्हेमन्ते । हेमन्ते च पित्तस्य किञ्चिच्चयः, वसन्ते च किञ्चित्प्रकोपः, शान्तिर्ग्रीष्मादौ । ग्रीष्मो-त्तरे च पित्तस्य कफस्य किञ्चिच्चयः, प्रावृषि च किञ्चित्प्रकोपः, वर्षादौ शान्तिः । न वर्षान्ते । तत्र पुनश्चयः स्यादिति बोध्यम् । वस्तुतस्तु पित्तादीना-मिति पूर्व्वं पित्तस्य ग्रहणं विसर्गाभिप्रायेण । चयस्य च प्राथमिकत्वेन तदनु-रोधाच्च चयस्य तु कफस्याप्यादानप्रथमर्त्तो च सम्भवात् । यथाक्रममिति चयादि-क्रमेण पित्तादीनां वर्षादिषु षट्सु एकैकशः प्रत्येक एवर्त्तौ यथाक्रमं भवन्तीत्यर्थः । एषा कालकृता मिथ्यायोगातियोगायोगव्यतिरिक्तसमयोगयुक्ता प्राकृता काल-कृता गतिश्चयाद्या पुनश्चोच्यते । तेन उक्तञ्चान्यत्र—“चयप्रकोपप्रशमा वायो-र्धर्म्मदिषु त्रिषु । वर्षादिषु च पित्तस्य कफस्य शिशिरादिषु ॥” कफस्य चयो वातस्य प्रकोपः । भाद्राश्विनादिद्विद्विमासरूपवर्षादिषु त्रिषु क्रमेण यथा पित्तस्य चयप्रकोपप्रशमाः, कफस्य चयप्रकोपप्रशमाः, वातस्य चयप्रकोपप्रशमा भवन्ति,

ज्ञेयम्, तेन प्रावृषि श्लेष्मपित्तकोपेनाप्रधानेन न व्यभिचारः ; यदुक्तम्—“वर्षास्वग्निबले हीने कुप्यन्ति पवनादयः” इत्यत्र हि पवनादय इति पवनप्रधानाः, एवं वसन्ते वातपित्तप्रकोपे व्याख्येयम् । अत्र च षट्सु ऋतुषु पित्तश्लेष्मवातानां प्रबलचयादयः विभज्यमानत्वेन पित्तचयकाले वातस्य कोपः, शरदि पित्तस्य प्रकोपकाले वातप्रशमः, हेमन्ते पित्तप्रशमः, कफस्य चयः, वसन्ते



गतिः कालकृता चैषा चयाद्याः पुनरुच्यते ।

गतिश्च द्विविधा दृष्टा प्राकृती वैकृती तथा ॥ ६१ ॥

तथा पुनः फाल्गुनचत्रादि-द्विद्विमासात्मकवसन्तादिषु त्रिषु क्रमेण पित्तस्य चय-  
प्रकोपप्रशमाः, कफस्य चयप्रकोपप्रशमाः, वातस्य चयप्रकोपप्रशमा भवन्ति । तथा  
सति षट्सु वर्षादिषु पित्तस्य प्रथमा द्वितीयाश्चयप्रकोपप्रशमाः । वर्षाषु पित्तस्य  
चयः शरदि प्रकोपो हेमन्ते प्रशमः । पुनर्वसन्ते चयो ग्रीष्मे प्रकोपः प्रावृषि  
प्रशमः । एवं कफस्य हेमन्ते चयो वसन्ते प्रकोपो ग्रीष्मे प्रशमः । पुनः  
प्रावृषि चयो वर्षासु प्रकोपः शरदि प्रशमः । तथा वायोग्रीष्मे चयः प्रावृषि  
प्रकोपो वर्षासु प्रशमः । पुनः शरदि चयो हेमन्ते प्रकोपो वसन्ते प्रशमः ।  
इत्येकैकशः षट्सूत्रेषु द्विधा गतिः प्राकृती वैकृती च दृष्टा पूर्वाश्चयप्रकोपप्रशमाः  
प्राकृती गतिः । शेषा वैकृती गतिरिति । एवमहोरात्रेऽपि षट्सु भागेषु द्विविधा  
गतिः प्राकृती वैकृती च द्रष्टव्या । एवन्तु प्रकृतिस्थः कालोऽपि हेतुर्निजानां  
व्याधीनां न तु मानसानां कालादीनामित्यतस्त्रिविधहेतुषु नोक्तः ॥ ६० ॥

गङ्गाधरः—ननु प्रावृषि पित्तस्य शरदि कफस्य वसन्ते वातस्य प्रशमहेतु-  
स्तर्हि “वर्षासु मारुतो दुष्टः पित्तश्लेष्मान्वितो ज्वरम् । कुर्यात् पित्तञ्च शरदि  
तस्य चानुबलः कफः ॥ कफो वसन्ते तमपि वातपित्तं भवेदनु ॥” इति  
वचनद्वयं कथं संगच्छते इत्याकाङ्क्षायामाह—गतिः कालेत्यादि । एषा उक्त-  
रूपा चयप्रकोपप्रशमात्मिका गतिः कालकृता ऋतुस्वभावादेव भवति । न तु  
निदानान्तरमपेक्षते । निदानविशेषात् पुनरतो विपर्ययेणापि भवतीति  
कालकृता चेति चकारेण ज्ञापितम् । तथा सति कार्त्तिकग्रहायणात्मिकायां  
शरदि कालस्वभावात् प्रकुपिते पित्ते सति काले स्वभावात् शान्तोऽपि कफः  
किञ्चित्तुषारपतनान्निःशेषेण न प्रशाम्यति, अनुबन्धरूपेणावतिष्ठते वायु-  
श्चयारम्भान्मध्ये । एवं वसन्ते च कालस्वभावात् हेमन्तसञ्चितः प्रकोपमाफ्नः  
कफः प्रबलः, वायुस्तत्र शान्तोऽप्यादानस्वभावेन सूर्यसन्तापरोक्ष्यात् निःशेषेण न  
प्रशाम्यति । सशेषत्वमापन्नोऽनुबन्धरूपेण कुप्यति । तत्र चयारम्भेण मध्यमं  
कफप्रकोप एव परं, तथा कफप्रशमके ग्रीष्मे वातचय इति च स्यात् । वातं परित्यज्य पित्तादीना-  
मित्यभिधानं विसर्गस्याभिप्रेतत्वेनाग्रे वक्तव्यत्वात् कृतम्, विसर्गे च पित्तचय एव स्यादिति  
कृत्वा ॥ ६० ॥

चक्रपाणिः—गतिभेदान्तरमाह—गतिश्चेत्यादि ।—अत्र पित्तमादौ कृतं शरीरस्थितिहेत्वन्नि-

पित्तादेवोष्मणः पक्तिर्नराणामुपजायते ।

पित्तञ्चैव प्रकुपितं विकारान् कुरुते बहून् ॥ ६२ ॥

प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा वैकृतो मल उच्यते ।

स चैवौजः स्मृतं काये स च पाप्मोपदिश्यते ॥ ६३ ॥

भवति । एवं प्राट्षि च ग्रीष्मसञ्चितो वायुः कालस्वभावात् भूवाष्पादितः प्रकोप-  
मापन्नः प्रबलस्तत्र च पित्तमपि शान्तिमापद्यमानं भूवाष्पमेघनिष्यन्दनादिभ्यः  
कालस्वभावान्निःशेषेण न प्रशाम्यति, सशेषमापन्नमनुबन्धरूपेण कुप्यति ।  
कफश्च तत्र चयमापद्यमानः कालस्वभावात् भूवाष्पादितो मध्यमं कुप्यति  
इति । कालकृतापि निदानविशेषकृता कालकृतैव गतिर्बाध्या ।

अस्यास्तु चयाद्यनेकगतेविधिभेदमाह—चयाद्या पुनरित्यादि । उक्तरूपा  
चयाद्या तु पित्तादीनां गतिः प्राकृती वैकृती चेति द्विचोच्यते । पित्तस्य वर्षादिषु  
त्रिषु चयाद्या गतिः प्राकृती वसन्तादिषु त्रिषु वैकृती । कफस्य हेमन्तादिषु त्रिषु  
चयाद्या गतिः प्राकृती, प्राट्टादिषु त्रिषु वैकृती । वायोः पुनर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु  
चयाद्या गतिः प्राकृती शरदादिषु त्रिषु वैकृतीति । उक्तञ्च—“वर्षाशरद्वसन्तेषु  
वातादयः प्राकृतः क्रमात् । वैकृतोऽन्यः स दुःसाध्यः प्राकृतश्चानिलोद्भवः ॥” इति ।  
तथेत्यादि । तथा पित्तादीनां चयाद्या प्राकृती वैकृती द्विधा गतिर्दृष्टा ।  
प्राकृती स्वास्थ्यावस्था वैकृतीत्वातुर्यावस्था इति । द्विधा पित्तादीनां गति-  
रित्यर्थः । तदद्वयमुदाहरति—आहारेत्यादि । अत्रापि पित्तस्यादावुपादानमग्नेः  
शरीररक्षणहेतुत्वेन तदात्मकत्वात् । पक्तिः पाको भुक्तानामिति शेषः । पित्तं  
पाचकाख्यमपि रूपं वातः समानाख्यः पक्वपुरुषवत् । कफः क्लेदकाख्यो जलवत्  
एभिस्त्रिभिः पाकः सम्पद्यते यथा लोके पुरुषाग्निजलैस्त्रिभिरिति । पित्तवात-  
कफानां स्वास्थ्यावस्थारूपा प्राकृती वैकृती गतिर्दाहादिभिः । पित्तञ्चैवेत्यादि  
बहूनिनि ओषचोषादीन् ॥ ६१।६२ ॥

गङ्गाधरः—कफस्योदाहरणमाह—प्राकृतस्त्वित्यादि । प्राकृतः प्रकृतिगति-  
माश्रितः । बलमोजोरूपस्य श्लेष्मणः कर्म बलमिति बलहेतुः । मल इति

कर्तृत्वेन, पक्तिः पाकः, बलमिति बलहेतुत्वेन, मल इति शरीरमलनीकरणात्, ओज इति  
सारभूतं, यदि वा द्वितीयश्लैष्मिकौजोहेतुत्वेनौजः, वक्ष्यति हि शरीरे—“तावच्चैव श्लैष्मिकौ-

सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः ।  
 तेनैव रोगा जायन्ते तेन चैवोपरुध्यते ॥ ६४ ॥  
 नित्यं सन्निहितामित्रं परीक्ष्यात्मानमात्मवान् ।  
 नित्यं युक्तः परिचरेदिच्छन्नायुरनित्वरम् ॥ ६५ ॥

तत्र श्लोकौ ।

शिरोरोगाः सहृद्रोगा रोगा मानविकल्पजाः ।  
 क्षयाश्च पिङ्गाश्चोक्ता दोषाणां गतिरेव च ॥

मालिन्यकारः मन्दाग्रादिविकारहेतुरुच्यते । नन्वोजःकर्म बलं कथं प्राकृत-  
 श्लेष्मा कुरुते इति ? अत आह—स चेति । बलकृदेव यः प्राकृतः श्लेष्मा स एव  
 काये ओजः ख्यातमिति । वक्ष्यते च शारीरे—“तावदेव श्लेष्मणश्चोजसः  
 प्रमाणम् ।” इति । सुश्रुतेऽप्युक्तं “सौम्यमोजः सर्व्वधातूनां तेजः ।” इत्युपचारात्  
 स वैकृतः श्लेष्मा पाप्मा रोगः ॥ ६३ ॥

गङ्गाधरः—सर्वा हीत्यादि । वातेनेति प्रकरणात् प्राकृतेन । सर्वा चेष्टा  
 इति प्राकृतक्रिया गमनादयः । तेनेति वैकृतेन उपरुध्यते मार्य्यते हन्यते  
 इत्यर्थः ॥ ६४ ॥

गङ्गाधरः—नन्वेवं तदा किं कर्त्तव्यमिति ? अत आह—नित्यमित्यादि ।  
 सन्निहितामित्रं स्वशरीरस्थत्वेनातिनिकटस्थान्यमित्राणि शत्रवो वैकृतपित्ता-  
 दयो यस्य तं तथाभूतमात्मानमात्मवान् प्रशस्तमनाः परीक्ष्य युक्त आत्महिताव-  
 हितचेताः सन् नित्यगमनशीलमायुरनित्वरमगमनशीलतया नित्यमिच्छन्  
 परिचरेदिति ॥ ६५ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थमुपसंहरति—तत्रेत्यादि । शिरोरोगा इत्यादिश्लोक-  
 द्वयं स्पष्टम् ॥ ६६ ॥

जसश्च प्रमाणम् इति, दुःखहेतुत्वात् पाप्मा । सर्वा हि चेष्टा इत्यविकृतगमनाद्याः, उपरुध्यते  
 म्रियते ॥ ६३—६४ ॥

कियन्तःशिरसीयेऽस्मिन्नध्याये तत्त्वदर्शिना ।

ज्ञानार्थं भिषजाञ्चैव प्रजानाञ्च हितैषिणा ॥ ६६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते श्लोकस्थाने

कियन्तःशिरसीयो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि । पूर्ववद् व्याख्यातव्यम् ।

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ

सूत्रस्थाने कियन्तःशिरसीयसप्तदशाध्यायजल्पाख्या

सप्तदशी शाखा ॥ १७ ॥

चक्रपाणिः—आत्मवानिति प्रशंसायां मतुप्प्रत्ययः ; युक्त इत्युद्युक्तः, अनित्वरम्

अगत्वरम् ॥ ६५।६६ ॥

इति चरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्वेददीपिकायां सूत्रस्थान-

व्याख्यायां कियन्तःशिरसीयो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

## अष्टादशोऽध्यायः ।

अथातस्त्रिशोथीयमध्यायं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

त्रयः शोथा भवन्ति वातपित्तश्लेष्मनिमित्ताः । ते पुन-  
र्द्विविधा निजागन्तुभेदेन । तत्रागन्तवश्छेदनभेदनक्षण-  
भञ्जनपिच्छनोत्पेषणवेष्टनप्रहारबधबन्धनव्यधनपीडनादिभिर्वा

गङ्गाधरः—अथ शिरोरोगहृद्रोगयोः सप्रभेदयोरुक्तत्वे दोषमानविकल्पज-  
विकाराणां विशिष्टव्याधिषु ज्वरादिषु हेतूनां क्षयाणां गतीनाञ्च विस्तरवचने-  
ऽपि च विशिष्टव्याधिविशेषाणामुत्सेधलक्षणानां पिङ्कानां मध्ये या अन्याः  
सामान्यत उक्तास्तासां विस्तरेण वक्तुं त्रिशोथीयमध्यायमारभते—  
अथात इत्यादि । अध्यायादौ त्रयः शोथा इति वाक्यस्यार्थत्रिशोथमधिकृत्य  
कृतोऽध्याय इति त्रिशोथीयस्तं तथा सर्व्वं पूर्वाध्यायवद्व्याख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः— यद्यप्यत ऊर्द्ध्वं विधिभेदो वक्ष्यते तथाप्यादौ चिकित्सार्थं  
प्राधान्याच्च प्रतिवातादिजत्वेन त्रिविधानाह—त्रय इत्यादि । ननु वातपित्त-  
श्लेष्मनिमित्तास्तु खलु निजा एव तिस्रैषणीये ह्युक्तम् । तत्र निजः शरीरदोष-  
समुत्थः । आगन्तुः भूतविषादुत्पत्थः । कथमत्र ते वातपित्तकफनिमित्तास्त्रयः  
शोथाः पुनर्द्विधा भवन्ति निजागन्तुकभेदेनेति चेत् ? न । शोथा वातादिज-  
त्वेन यदा बातव्यास्तदा त्रय एव, अन्यथा तु निजागन्तुभेदेनेति ।

ननु वातादिजा एव शोथाः पुनर्द्विविधाः ते इति पदेन सामान्यतः शोथा  
इत्यस्मादनुवृत्तेर्द्विधा प्रतिलोमतत्रयुक्त्यादावागन्तुशोथस्य निदानलिङ्गचिकित्सा-  
सूत्राण्याह—तत्रागन्तवश्छेदनेत्यादि । छेदनं द्विधाकरणम् । भेदनमाशयाव-  
दारणम् । क्षणनं चूर्णनम् । भञ्जनं जर्जरीकरणम् । पिच्छनमत्यर्थपीडनम् ।

चक्रपाणिः—पूर्वाध्याये पिङ्का उक्ताः, ताश्च शोथरूपाः, तेन शोथाधिकारात् त्रिशोथीयोऽभि-  
धीयते । वक्ष्यमाणद्विविधादिभेदे विद्यमानेऽपि वातादिकृतत्रित्वाभिधानमग्रे वातादिकृतस्यैव  
प्राधान्यख्यापनार्थम् । भेदनमाशयविदारणं, क्षणनमस्थिचूर्णनम्, भञ्जनं जर्जरीकरणं, पिच्छन-

भल्लातकपुष्पफलरसात्मगुप्ताशूकक्रिमिशूकाऽहितपत्रलता-गुल्म-  
संस्पर्शनैर्वा स्वेदनपरिसर्पणावमूत्रणैर्वा विषिणां सविषविष-  
प्राणिदंष्ट्रादन्तविषाणनखनिपातनैर्वा सागरविषवातहिमदहन-  
संस्पर्शनैर्वा शोथाः समुपजायन्ते ॥ २ ॥

ते पुनर्यथास्वं हेतुजैर्व्यञ्जनैरादावुपलभ्यन्ते निज-  
व्यञ्जनैकदेशविपरीतैः, व्रण-बन्ध-मन्त्रागद-प्रलेप-प्रतापनिर्वा-  
पणादिभिश्चोपक्रमैरुपक्रम्यमाणाः प्रशान्तिमापद्यन्ते ॥३॥४॥

उत्पेषणं शिलयेवोत्पेषणवत् । वेष्टनं सर्पादिवद्ग्रन्थिवन्धनम् । व्यधनं विद्धवत्  
कण्टकादिना । आत्मगुप्तायाः शूकः । क्रिमीणां शूकवतां शूकः क्रिमिशूकः ।  
अहितपत्रादिः वृश्चिकालयादीनां पत्रादिः । स्वेदनेत्यादिना विषिणामित्यनेना-  
न्वयः । ते पुनरिति च्छेदनाद्यागन्तुजाः शोथा आदौ यथास्वं हेतुजैः खड्गादि-  
हेतुभैर्व्यञ्जनैर्लक्षणैर्निजव्यञ्जनैकदेशविपरीतैः शारीरदोषजलक्षणेभ्यः । आग-  
न्तूनामेकदेशेन ईषलक्षणेन निजो रोगः पूर्वमेव वातादिभिरन्वीयते । आगन्तुहिं  
व्यथापूर्वो जायते, पश्चात् निजैर्दोषैरनुबध्यते इति । किञ्चिद्विपरीतैरादौ  
प्रथममुपलभ्यन्तेऽर्थात् उत्तरकालं वातादिभिरनुबध्यन्ते इत्यर्थः । उक्तं हि—  
“आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथागन्तुमतिप्रवृद्धः” इति । आगन्तुशोथस्य  
हेतुलक्षणे उक्त्वा क्रियोपक्रमसूत्रमाह—व्रणेत्यादि । व्रणे बन्धो व्रणबन्धः ।  
बन्धमन्त्रादयो यथायोग्यं विधेयाः । आदिना शोधनरोपणादीनां ग्रहणम् ।  
चकारस्तुकारार्थः न तु समुच्चये । पूर्वमुपक्रमाभावात् ॥ २—४ ॥

अत्यर्थपीडनं, उत्पेषणं शिलोत्पेषणमिव, वेष्टनमग्रन्थिवन्धनं सर्पादिभिः, शूकवतां क्रिमीणां शूकः  
शूकक्रिमिशूकः, स्वेदनादिभिर्विषिणामिति योज्यम् ॥ ११२ ॥

चक्रपाणिः—आदावुपलभ्यन्त इति वचनादुत्तरकालमागन्तोरपि निजतुल्यतां ब्रूते, यदुक्तम्—  
‘आगन्तुरन्वेति निजं विकारम्’ इति । निजव्यञ्जनैकदेशविपरीतरिते निजलक्षणेभ्य आगन्तूना-  
मेकदेशो विपरीतो भवति, स च वातादिजन्यस्याववर्णविकारत्वाद् ज्ञेयः ; किंवा, आगन्तु-  
भ्यंथापूर्वा भवति पश्चाद् वातादिभिरनुबध्यते, निजस्तु पूर्वं वातादिलक्षणैर्युज्यते, पश्चाद् वेदनावान्  
स्यादित्येकदेशविपरीतम् । व्रणेऽरिष्टबन्धो बन्धः, बन्धादयश्च यथायोग्यतया बोद्धव्याः ॥ ३१४ ॥

निजाः पुनः स्नेहस्वेदवमनविरेचनास्थापनानुवासनशिरो-  
विरेचनानामयथावत्प्रयोगान्मिथ्यासंसर्जनाद्वा छर्द्द्यालसक-  
विसूचिका-श्वास-कासातीसारशोष-पाण्डुरोगोदर-<sup>\*</sup>प्रदरभग-  
न्दराशोविकारातिकर्षणाद्वा कुष्ठकण्डूपिङ्कादिभिर्वा छर्द्दि-  
क्षवधूद्वार-शुक्र-वात-मूत्र-पुरीषवेगविधारणैर्वा कर्म्मरोगोप-  
वासातिकर्षितस्य वा सहसातिगुर्व्वम्ललवणपिष्टान्नफलशाक-  
रागदधिहरितक-मद्य-मन्दकविरूढनवशूकशमीधान्यानूपौदक-  
पिशितोपयोगात् मृतपङ्कलोष्मभक्षणात्लवणातिभक्षणाद्भ-  
संपीडनादामगर्भप्रपतनात् प्रजातानाञ्च मिथ्योपचारादुदीर्ण-  
दोषत्वाच्च शोथाः प्रादुर्भवन्तीत्युक्तः सामान्यो हेतुः ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—निजशोथानां हेतुलिङ्गक्रियामूत्राण्याह—निजाः पुनरित्यादि ।  
अयथावदित्ययोगात् । मिथ्यासंसर्जनादिति स्वेदादीनां यस्य यत् पथ्यमुक्तं  
तद्विपरीतपथ्याहारात् । छर्द्द्यादिरोगातिकर्षणं शोथहेतुर्भवति । आदिना-  
ऽपथ्यादेर्ग्रहणम् । छर्द्दिप्रभृतीनां वेगविधारणानि शोथहेतवः । कर्म्मेति पञ्च-  
कर्म्मणां रोगाणामुपवासस्य चातियोगैः कर्षणञ्च शोथहेतुः । अत्रानुक्त-  
रोगातिकर्षणोपसंहारार्थं पुनर्वचनम् । सहसा तु अतिगुर्व्वम्लादिभक्षणं शोथ-  
हेतुः । अत्र रागो रागषाड्वः । मन्दक मन्दजातम् । विरूढमङ्क रितम् । नवं  
नूतनञ्च शूकधान्यम् तथा शमीधान्यञ्च । मृदादेर्भक्षणं शोथहेतुः । प्रजातानाञ्च  
मिथ्योपचारादिति नवप्रसूतानां पथ्यविपरीतसेवनात् । उदीर्णदोषत्वाद्वातादीनां  
स्वकारणकुपितत्वात् किंवा स्वस्वकारणं विनैतेभ्यः कारणेभ्य उदीर्णत्वात् तेन ।  
एते हेतवो दोषं कोपयन्तः शोथं जनयन्तीति दोषव्याध्युभयस्यैव हेतुत्वमेषामिति  
बोध्यम् ॥ ५ ॥

चक्रपाणिः—छर्द्यादयः पुराणा एव शोथहेतवः । कर्म्माद्यतिकर्षितस्य तु सहसातिगुर्व्वम्ल-  
सेवनं शोथहेतुः । कर्म्मेति पञ्चकर्म्म । विरूढनवशब्दौ शूकशमीधान्यादिशोषणवाचकौ, प्रजाताना-  
मित्यचिरप्रसूतानाम् ॥ ५ ॥

अयन्त्वत्र विशेषः । शीतरुचलधुविशदधूमो\*पवासाति-  
कर्षणक्षपणादिभिर्वायुः कुपितस्त्वङ्मांसशोणितादीन्यभिभूय  
शोथं जनयति । स क्षिप्रोत्थानप्रशमो भवति, तथा  
श्यावारुणवर्णः प्रकृतिवर्णो वा । चलनः स्पन्दनः खरपरुष-  
भिन्नत्वग्रोमा । छिद्यत इव†भिद्यत इव सूचीभिरिव तुद्यते ।  
पिपीलिकाभिरिव संसृप्यते । सर्षपकल्कावलित इव चिमि-  
चिमायते सङ्कच्यते आयम्यते इति वातशोथः ॥ ६ ॥

उष्णतीक्ष्णकटुक्षारलवणाम्लाजीर्णभोजनैरग्न्यातपप्रतापैश्च  
पित्तं प्रकुपितं त्वङ्मांसशोणितादीन्यभिभूय शोथं जनयति ।  
स क्षिप्रोत्थानप्रशमो भवति । कृष्णनीलपीतताम्रावभास  
उष्णो मृदुः कपिलताम्रलोमा । स उष्यते दूयते धूप्यते उष्मा-  
यते स्विद्यते क्लिद्यते । न च स्पर्शमुष्णं सुषूयते इति पित्त-  
शोथः ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—वातादिविशेषहेतुमाह—अयमित्यादि । शीतेत्यादि । शीतादीनि  
द्रव्याणि । धूमः । उपवासातिकर्षणम् । क्षपणं वमनादिभिर्दोषक्षपणम् ।  
आदिना व्यायामादीनां ग्रहणम् । तस्य रूपमाह—स इत्यादि । प्रकृतिवर्णो  
गात्रसवर्णः । चलनः वृद्धिहासाभ्यां संक्रमणः । स्पन्दनः स्फुरणः । सङ्कच्यते  
इत्याकुञ्चनवान् । आयम्यते इत्यायतो भवति ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—पित्तशोथस्य सहेतुलिङ्गमाह—उष्णेत्यादि । कपिलेति पिङ्गल-  
वर्णः । उष्यत इति पाश्चस्थवह्निनेव दह्यते । दूयते तप्यते । धूप्यते धूम-  
मिवोद्गमति । उष्मायते वह्निरुष्णो भवत्यन्यैरप्युष्णतयोपलभ्यते । स्विद्यते  
घर्म्मवान् भवति । क्लिद्यते पाकात् संस्लेदो भवति । न चोष्णं स्पर्शं सुषूयते न  
सहते ॥ ७ ॥

चक्रपाणिः—क्षपणं वमनादिभिः ; प्रकृतिवर्णो देहसमानवर्णः, चलः संक्रमवान्, स्पन्दनः  
कम्पनः । उष्यते पाश्चस्थेनेव वह्निना दह्यते, धूप्यते धूममिवोद्गमति, उष्मायते वह्निः परैः



गुरुमधुरशीतस्निग्धोपयोगैरतिस्वप्नाव्यायामादिभिश्च श्लेष्मा प्रकुपितस्त्वङ्मांसशोणितादीन्यभिभूय शोथं जनयति । स कृच्छ्रोत्थानप्रशमो भवति । पाण्डुश्वेतावभासो गुरुः स्निग्धः श्लक्ष्णः स्थिरः स्त्यानः शुक्लाग्रोमा स्पर्शोष्णसहश्चेति श्लेष्मशोथः ॥ ८ ॥

यथास्वकारणाकृतिसंसर्गाद् द्विदोषजास्त्रयः शोथा भवन्ति । यथास्वकारणाकृतिसन्निपातात् सान्निपातिक एक एवं सप्तविधो भेदः । प्रकृतिभिस्ताभिर्भिद्यमानो द्विविधस्त्रिविधश्चतुर्विधः सप्तविधोऽष्टविधः शोथ उपलभ्यते । स पुनश्चैक एवोत्-  
सेधसामान्यात् ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—कफशोथस्य सहेतुलिङ्गमाह—गुर्वित्यादि । कृच्छ्रोत्थानप्रशम इति चिरेणास्योत्पत्तिः प्रशमश्च स्यात् ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—शोथस्य वातादिजत्वेन त्रिविधत्वेऽपि संसर्गतोऽपि भेदं दर्शयति—यथास्वेत्यादि । स्पष्टम् । ननु तर्हि त्रिविधत्वाद्यनियमो भवतीत्युक्तसंख्याधिक्य-मपि भवतीति ? अत आह—प्रकृतिभिरित्यादि । प्रकृतिभिरित्युपादानकारणै-स्ताभिस्ताभिरिति दोषागन्तुरूपाभिः पृथग्दोषरूपाभिः संस्पृष्टदोषरूपाभिः सन्नि-पतितदोषरूपाभिः, द्विविध इति प्रागेव स्वनिदानकुपितदोषहेतुकत्वेन प्रागेव दोष-सम्बन्धाभावेन छेदनादिहेतुकत्वेन भेदाद् द्विविधः शोथः । पुनः स एव द्विविधः शोथ उत्तरकालं यथास्वदोषानुबन्धेन प्रागेव च दोषसम्बन्धेन त्रिदोषाविना-भावात् वातजत्वादिभेदेन त्रिविधः । स एव त्रिविधः शोथः पृथग्दोषसंस्पृष्टदोष-भेदेन चतुर्विधः । संसर्गो हि द्वाभ्यां त्रिभिश्च भवति । स च पुनः पृथग्-दोषद्वन्द्वदोषसन्निपतितदोषजत्वभेदेन सप्तविधश्च भवति । दोषाणां पृथग्-द्वन्द्वसन्निपतितत्वे तु मानविकल्पेन द्विषष्टिविधत्वान्तर्भाव इति बोध्यम् । उत्सेधसामान्यादिति उच्यते तत्त्वसामान्यात् ॥ ९ ॥

अप्युष्णत्वेनोपलभ्यते, स्विद्यति स्वेदनवान् स्यात्, न सुषूयते न सहते, स्पर्शनञ्च न सहते, उष्णञ्च न सहते । स कृच्छ्रोत्थानप्रशम इति चिरोत्थानप्रशमः, प्रकृतिभिरिति कारणैः, उत्सेधः क्षन्तत्वम् ॥ ६—९ ॥

भवन्ति चात्र ।

दूयन्ते\* यस्य गात्राणि स्वपन्तीव रुजन्ति च ।  
 पीड़ितान्युन्नमन्त्याशु वातशोथं तमादिशेत् ॥  
 यश्चाप्यरुणावर्णाभिः शोथो नक्तं प्रणश्यति ।  
 स्नेहोष्णमर्दनाभ्याश्च प्रणश्येत् स च वातिकः ॥ १० ॥  
 यः पिपासाज्वरार्त्तस्य दूयतेऽथ विदह्यते ।  
 स्विद्यते क्लिद्यते गन्धी स पैत्तः श्वयथुः स्मृतः ॥  
 यः पीतमुखनेत्रत्वक् पूर्वं मध्यात् प्रसूयते ।  
 तनुत्वक् चातिसारो च पित्तशोथः स उच्यते ॥ ११ ॥  
 यः शीतलः सक्तगतिः कण्डूमान् पाण्डुरेव च ।  
 यः पीड़ितो नोन्नमति श्वयथुः स कफात्मकः ॥  
 यस्य शस्त्रकुशच्छेदाच्छोणितं न प्रवर्त्तते ।  
 कृच्छ्रेण पिच्छां खवति स चापि कफसम्भवः ॥ १२ ॥

**गङ्गाधरः**—एषां लिङ्गान्युक्तवापि पुनः प्रायोभावीणि लिङ्गान्याह—भवन्ती-  
 त्यादि । दूयन्ते इत्यादिना वातशोथस्य लिङ्गानि । स्वपन्तीवेति निर्व्वेदनानि ।  
 रुजन्ति व्यथन्ते । तेन कदाचिद्वायोर्निश्चलत्वात् व्यथन्ते, चलत्वात् तु  
 कदाचिद्व्यथन्ते गात्राणि शोथप्रदेशे न त्वन्यत्र । एवं शोथप्रदेशे गात्राणि  
 पीड़ितान्याशुन्नमन्ति । नक्तं प्रणश्यतीति प्रशाम्यति ॥ १० ॥

**गङ्गाधरः**—यः पिपासेत्यादिना पित्तशोथस्य । दूयते इतीह विदाहादिना ।  
 वातिके तु वेदनादिना दूयन्त इति बोध्यम् । गन्धीति पाकात् क्लेदेन पूय-  
 गन्धवान् भवति । मध्यादिति पूर्वं मध्यशरीरमारभ्य प्रसूयते पित्तेन दोषे-  
 णेति शेषः । मध्यदेशप्रसवेन पित्तानुमानात् ॥ ११ ॥

**गङ्गाधरः**—यः शीतल इत्यादिना कफशोथस्य ॥ १२ ॥

**चक्रपाणिः**—शूयन्त इत्यादि पुनः श्लोकेन पुनर्लक्षणाभिधानं प्रायो भाविलक्षणदर्शनार्थम् ।  
 स्वपन्तीवेति निर्व्वेदनः, एतेन, वायोश्चलत्वेन क्षणाच्च रुक्, क्षणाच्च तदभाव इति ज्ञेयम् ।  
 मध्यादिति शरीरमध्यात् । सक्तगतिरविसारी, छिन्नादिति च्छेदात् ॥ १०—१३ ॥

\* शूयन्ते इति वा पाठः ।

निदानाकृतिसंसर्गाच्छ्रयथुः स्याद् द्विदोषजः ।

सर्वाकृतिः सन्निपाताच्छोथो व्यामिश्रलक्षणः ॥ १३ ॥

यस्तु पादाभिनिवृत्तः शोथो गुर्वङ्गगो \* भवेत् ।

जन्तोः स च सुकष्टः स्यात् प्रसूतः स्त्रीमुखाच्च यः ॥ १४ ॥

यश्चापि गुह्यप्रभवः स्त्रिया वा पुरुषस्य वा ।

स च कष्टतमो ज्ञेयो यस्य च स्युरुपद्रवाः ॥ १५ ॥

छर्दिः श्वासोऽरुचिस्तृष्णा ज्वरोऽतीसार एव च ।

सप्तकोऽयं सदोर्बल्यः शोथोपद्रवसंग्रहः ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—निदानेत्यादिना द्वन्द्वजानां शोथानाम् । सर्वाकृतिरित्यादिना सान्निपातिकस्य ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—एषामसाध्यत्वादिविज्ञानार्थमाह—यस्त्वित्यादि । पादाभिनिवृत्त इति पादमभि लक्षणीकृत्यादौ जातः । गुर्वङ्गगः सर्वाङ्गगः इत्यर्थः । पादादिक्रमेणादावधोदेहे जातमात्रं लघुदेहे जातत्वेऽपि शोथो न प्रतिकर्तुं शक्यते । स यदा गुरुमूर्द्धदेहं गच्छति तदा जेतुं न शक्यतेऽसाध्य इत्यर्थः—सुकष्ट इति पदेन ख्यापितः । प्रसूतः स्त्रीमुखाच्च य इति स्त्रिया विशेषेणोक्तत्वादेव पुंसो जन्तोरसाध्यशोथोपदेशः । स्त्रिया मुखमादावारभ्य यो गुर्वङ्गगो भवेत् स स्त्रियाः सुकष्टोऽसाध्य इत्यर्थः । उक्तं हि—“अधोभागो गुरुः स्त्रीणामूर्द्धं पुंसां गुरुस्तथा ।” इति ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—स्त्रीपुंसयोरुभयोरसाध्यशोथलक्षणमाह—यश्चेत्यादि । गुह्यप्रभवः गुह्यात् प्रसूत इत्यर्थः । अत्रापि कष्टतमपदेनासाध्य उच्यते । उपद्रपयुक्तत्वेऽप्युभयस्य शोथस्यासाध्यत्वम् ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—उक्तानुपद्रवानाह—छर्दिरित्यादि । अथोत्सेधसामान्यादैकदेशिकानां शोथानां सम्प्राप्तिवचनेन स्वरूपमाह । दोषभेदे लक्षणञ्चात्र भिन्नाधिकाराद्विस्तरेण न वक्ष्यते यथास्वदोषलिङ्गैर्जातव्यत्वादिति ॥ १६ ॥

चक्रपाणिः—पादाभिनिवृत्तः पुरुषाणां लघावधोदेशे जातः सन् यदा न जीयते, तदा गुरुमूर्द्धदेशं गतः स च न पार्यते जेतुम्, यो हि लघौ प्रदेशे जेतुं न पार्यते गुरुप्रदेशगतो नितरामेव न पार्यते; एवम्, प्रसूतः स्त्रीमुखाच्च य इत्यपि ज्ञेयम्, वचनं हि—“अधोभागो गुरुः स्त्रीणामूर्द्धं पुंसां गुरुस्तथा” इति । उक्तानुपद्रवानाह—छर्दिरित्यादि ॥ १४—१६ ॥

\* सर्वाङ्गगः इति चक्रः ।

यस्य श्लेष्मा प्रकुपितो जिह्वामूलेऽवतिष्ठते ।

आशु संजनयेच्छोथं जायतेऽस्योपजिह्विका ॥ १७ ॥

यस्य श्लेष्मा प्रकुपितः काकलेष्ववतिष्ठते ।

आशु संजनयेच्छोथं करोति गलशुगिडकाम् ॥ ८ ॥

यस्य श्लेष्मा प्रकुपितो गलवाहेऽवतिष्ठते ।

शनैः संजनयेच्छोथं गलगण्डोऽस्य जायते ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—यस्येत्यादि । यस्येत्यादिना उपजिह्विकालक्षणम् । सुश्रुते त्वेनमधिजिह्वमाह । तद्यथा—“जिह्वाग्ररूपः श्वयथुः कफात् तु जिह्वोपरिष्ठादपि रक्तमिश्रात् । त्रयोऽधिजिह्वः खलु रोग एष विवर्जयेदागतपाकमेनम् ॥” इति । तेनात्राशु संजनयेदित्यनेनाशुकारिरक्तसंसर्गोऽत्र कफस्य बाधितः ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—यस्येत्यादि । अत्रापि आशुसंजनयेच्छोथमिति वचनेन आशुकारिरक्तसंसर्गः कफस्य सूचितः । ( इदं गलशुण्डीलक्षणम् । अत्र काकलं तालुमूलम् । ) सुश्रुते तु—“श्लेष्मासृग्भ्यां तालुमूलात् प्रवृद्धो दीर्घः शोथो ध्मात् वस्तिप्रकाशः । तृष्णाकासश्वासकृत् तं वदन्ति व्याधिं वैद्या गलशुण्डीति नाम्ना ॥” इति । “शोथः स्थूलस्तोददाहप्रपाकी प्रागुक्ताभ्यां तुण्डिकेरी मता तु ॥” इत्यस्याप्यत्रावरोधः ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—यस्येत्यादि । पुनयेत्येत्यादिना गलगण्डलक्षणम् । एषोऽत्र दोषभेदेन नोक्तः पदाधिकारात् । सुश्रुते हि स्वाधिकाराद्विस्तरेणोक्तः । तद्यथा—“वातः कफश्चापि गले प्रवृद्धो मन्ये तु संसृत्य तथैव मेदः । कुर्वन्ति गण्डं क्रमशः खलिकैः समन्वितं तं गलगण्डमाहुः ॥ तोदान्वितः कृष्णसिरावनद्धः कृष्णोऽरुणो वा पवनात्मकस्तु । मेदोऽन्वितश्चोपचितश्च कालात् भवेत् प्रदिग्धे च गलेऽरुजश्च ॥ पारुष्ययुक्तश्चिरवृद्धप्रपाको यदृच्छया पाकमियात् कदाचित् । वैरस्यमास्यस्य च तस्य जन्तोर्भवेत् तथा तालुगलप्रशोषः ॥ स्थिरः सवर्णोऽल्परुगुग्रकण्डूः शोथो महाश्चापि कफात्मकस्तु । चिराभिवृद्धिं कुरुतेऽचिराद्वा प्रपच्यते मन्दरुजं कदाचित् ॥ माधुर्यमास्यस्य च तस्य जन्तोर्भवेत् तथा तालुगलप्रलेपः । स्निग्धो मृदुः पाण्डुरनिष्ठगन्धो मेदःकृतो नीरुगथातिकण्डूः ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रत्युत्सेधसामान्यात् प्रादेशिकान् शोथानाह—यस्येत्यादि । काकलं तालुमूलम् । शनैरिति वचनेन गलगण्डकारिणो दोषाश्चिरक्रिया भवान्त । गलग्रहादौ चाशुकारिणो

यस्य श्लेष्मा प्रकुपितस्तिष्ठत्यन्तर्गले स्थिरः ।

आशु संजनयेच्छोथं जायतेऽस्य गलग्रहः ॥ २० ॥

यस्य पित्तं प्रकुपितं सरक्तं त्वचि सर्पति ।

शोथं सरागं जनयेद्विसर्पस्तस्य जायते ॥ २१ ॥

यस्य पित्तं प्रकुपितं त्वचि रक्तेऽवतिष्ठते ।

शोथं सरागं जनयेत् पिङ्गका तस्य जायते ॥ २२ ॥

यस्य पित्तं प्रकुपितं शोणितं प्राप्य शुष्यति ।

तिलकाः पिप्प्लवो व्यङ्गो नीलिका तस्य जायते ॥ २३ ॥

प्रलम्बतेऽलाबुवदल्पमूलो देहानुरूपक्षयवृद्धियुक्तः । स्निग्धास्यता तस्य भवेच्च जन्तोर्गलेऽनुशब्दं कुरुते च नित्यम् ॥ कृच्छ्राच्छ्वसन्तं मृदुसव्वेगात्रं संवत्सरा-तीतमरोचकाक्षेम् । क्षीणन्तु वैद्यो गलगण्डिनं तं भिन्नस्वरञ्चैव विवर्जयेत् तु ॥ निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले । महान् वा यदि वा ह्रस्वस्तं गण्डमिति निर्दिशेत् ॥” इति गलगण्डाधिकारः ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—यस्येत्यादि । यस्य प्रकुपितः श्लेष्मा स्थिरः सन्नन्तर्गले तिष्ठति, तस्य तदन्तर्गले स आशु शोथं संजनयेत् । स च शोथो गलग्रहो नाम जायते ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—यस्य पित्तमित्यादि । यस्य प्रकुपितं पित्तं सरक्तं त्वचि सर्पति । तत् सरक्तं पित्तं त्वचि सरागं शोथं जनयेत् । तस्य स तु शोथो विसर्पो नाम जायते । विसर्पोऽयं विस्तरेण चिकित्सिते वक्ष्यते ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—यस्येत्यादि । यस्य प्रकुपितं पित्तं त्वचि स्थिते रक्तेऽवतिष्ठते । तत् पित्तं त्वक्स्थिरक्तावस्थितं सरागं शोथं जनयेत् । स च शोथः पिङ्गका नाम जायते ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—यस्य पित्तमित्यादि । यस्य प्रकुपितं पित्तं शोणितं प्राप्य शुष्यति शोषयति, शोषणविशेषात् तस्य तिलकस्तिल इव प्रतिकृतिस्तिलकाल इति नाम जायते, पिप्प्लवो जतुमणिर्नाम च जायते । व्यङ्गो मुखदेशे न्यच्छो जायते ।

दोषा भवन्ति । विसर्पस्य पिङ्गकायाश्च तुल्यकारणत्वेऽपि विसर्पे सर्पणशीलो दोषः पिङ्गकायाञ्च स्थिरो ज्ञेयः, अत एव पिङ्गकासंप्राप्तौ “अवतिष्ठते” इत्युक्तम् ॥ १७—२० ॥

चक्रपाणिः—यस्य पित्तमित्यादौ पित्तं प्राप्य शोणितं कर्तुं शुष्यतीति योजनीयम् । पिप्प्लवो

यस्य पित्तं प्रकुपितं शङ्खयोरवतिष्ठते ।

श्वयथुः शङ्खको नाम दारुणस्तस्य जायते ॥ २४ ॥

यस्य पित्तं प्रकुपितं कर्णमूलेऽवतिष्ठते ।

ज्वरान्ते दुर्जयोऽन्ताय शोथस्तस्योपजायते ॥ २५ ॥

वातः ग्रीहानमुद्धूय कुपितो यस्य तिष्ठति ।

शनैः परितुदन् पार्श्वं ग्रीहा तस्याभिवर्द्धते ॥ २६ ॥

यस्य वातः प्रकुपितो गुल्मस्थानेऽवतिष्ठते ।

शोथं सशूलं जनयन् गुल्मस्तस्योपजायते ॥ २७ ॥

नीलिका नाम च जायते । सुश्रुते क्षुद्ररोगाधिकारे विशेषेणैते रोगा उक्ताः । तद्यथा—“कृष्णानि तिलमात्राणि नीरुजानि समानि च । वातपित्त-  
कफोद्रेकात् तान् विद्यात् तिलकालकान् ॥ नीरुजं सममुत्पन्नं मण्डलं कफ-  
रक्तजम् । सहजं रक्तमीषच्च श्लक्ष्णं जतुमणिं विदुः ॥ क्रोधायासप्रकुपितो  
वायुः पित्तेन संयुतः । सहसा मुखमागम्य मण्डलं विमृजत्यतः । नीरुजं तनुकं  
श्यावं मुखे व्यङ्गं तमादिशेत् ॥” इति ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—यस्येत्यादि । यस्य प्रकुपितं पित्तं द्वयोः शङ्खयोरवतिष्ठते, तस्य  
तयोः शङ्खदेशयोर्दारुणः श्वयथुः शङ्खको नाम जायते ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—यस्य पित्तमित्यादि । यस्य प्रकुपितं पित्तं ज्वरितस्य कर्णमूले-  
ऽवतिष्ठते तस्य ज्वरान्ते कर्णमूले ततः शोथो जायते । स दुर्जयोऽन्ताय  
भवति ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—वात इत्यादि । यस्य कुपितो वातः ग्रीहानमुद्धूय तिष्ठति,  
तस्य वामं पार्श्वं शनैः परितुदन् ग्रीहा नाडी अभिवर्द्धते ॥ २६ ॥

गङ्गाधरः—यस्येत्यादि । यस्य प्रकुपितो वातो गुल्मस्थाने गुल्मनिदानोक्ते  
स्थानेऽवतिष्ठते, तस्य स वातः सशूलं शोथं गुल्माख्यं जनयन् जनयति ।  
तस्य स गुल्म उपजायते ॥ २७ ॥

जटुला इति प्रसिद्धाः । दारुणोऽनुपक्रमादाशु मारकः । दुर्जयोऽन्तायेति दुर्जयो वा यथाक्रम-  
मुपक्रम्यमाणः, अन्तायेति मिथ्योपक्रमाद् वेति मन्तव्यम् ; अयमेव शोथोऽन्यत्राप्युक्तः—“सन्नि-  
पातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः । शोथः सञ्जायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते” इति ॥ २१—२५ ॥

यस्य वातः प्रकुपितः शोथशूलकरश्चरन् ।

वङ्क्षणाद् वृषणौ याति वृद्धिस्तस्योपजायते ॥ २८ ॥

यस्य वातः प्रकुपितस्त्वङ्मांसान्तरमाश्रितः ।

शोथं संजनयेत् कुक्ष्यावुदरं तस्य जायते ॥ २९ ॥

**गङ्गाधरः**—यस्य वात इत्यादि । यस्य प्रकुपितो वातो वङ्क्षणे शोथ-  
शूलकरः संश्चरन् वङ्क्षणाद्वृषणौ याति, तस्य वृद्धिर्नाम रोग उपजायते  
इति । सुश्रुतेऽयं वृद्धिरोगः प्रपञ्चेनोक्तः । तद्वयथा—“वातपित्तश्लेष्म-  
शोणितमेदोमूत्रान्ननिमित्ताः सप्त वृद्धयः । तासां मूत्रान्ननिमित्ते वृद्धी वात-  
समुत्थे केवलमुत्पत्तिहेतुरन्यतरः । अधः प्रकुपितोऽन्यतमो हि दोषः फल-  
कोषवाहिनीरभिप्रपद्य धमनीः फलकोषयोर्वृद्धिं जनयति, तां वृद्धिमिति  
आचक्षते । तासां भविष्यतीनां पूर्व्वरूपाणि वस्ति कटिमुष्कमेद्रेषु वेदना मारुत-  
निग्रहः फलकोषशोफश्चेति । तत्रानिलपरिपूर्णां वस्तिमिवाततां परुषाम्  
अनिमित्तानिलरुजं वातवृद्धिमाचक्षते । १ । पक्वोदुम्बरसङ्काशां ज्वरदाहोष्मवतीं  
चाशुसमुत्थानपाकां पित्तवृद्धिम् । २ । कठिनामल्पवेदनां शीतां कण्डूमतीं  
श्लेष्मवृद्धिम् । ३ । कृष्णस्फोटवृतां पित्तवृद्धिलिङ्गां रक्तवृद्धिम् । ४ । मृदु-  
स्निग्धां कण्डूमतीमल्पवेदनां तालफलप्रकाशां मेदोवृद्धिम् । ५ । मूत्रसन्धारण-  
शीलस्य मूत्रवृद्धिर्भवति, गच्छतोऽस्य पूर्णा दृतिरिव क्षुभ्यति । मूत्रकृच्छ्र-  
वेदनां वृषणयोः श्वयथुं कोषयोश्चापादयति, तां मूत्रवृद्धिं विद्यात् । ६ । भार-  
हरणबलवद्विग्रहबृक्षप्रपतनादिभिश्चायासविशेषैर्वायुरतिप्रवृद्धः प्रकुपितश्च स्थूला-  
न्नस्येतरस्य चैकदेशं विगुणमादायाधो गत्वा वङ्क्षणसन्धिमुपेत्य ग्रन्थिरूपेण  
स्थित्वाऽप्रतिक्रियमाणे च कालान्तरेण फलकोषं प्रविश्य मुष्के शोफमापा-  
दयति । आध्मातो वस्तिरिवाततः प्रदीर्घः शोफो भवति । सशब्दमव-  
पीडितश्चोद्ध्रेमुपैति । विमुक्तश्च पुनराधमति । तामन्त्रवृद्धिमसाध्यामाचक्षते । ७ ॥”  
इति । अत्र वङ्क्षणसन्धिस्था यदा तदासाध्येति ज्ञेयम् ॥ २८ ॥

**गङ्गाधरः**—यस्य वात इत्यादि । यस्य प्रकुपितो वातस्त्वङ्मांसान्तरमाश्रितः  
सन् शोथं जनयेत्, तस्य स कुक्ष्यावुदरं जायते ॥ २९ ॥

**चक्रपाणिः**—गुल्मादयो विस्तरवक्तव्या अपि इहोत्सेधसामान्यात् लेशत उच्यन्ते । शोथ-  
संग्रह इति शोथत्वेनोत्सेधरूपेण संग्रहः शोथसंग्रहः ॥ २६—३१ ॥

यस्य वातः प्रकुपितः कुक्षिमावाय्यं तिष्ठति ।

नाथो व्रजति नाप्यूर्ध्वमानाहस्तस्य जायते ॥ ३० ॥

रोगाश्चोत्सेधसामान्यादधिमांसाब्बुदादयः ।

विशिष्टा नामरूपाभ्यां निर्देश्याः शोथसंग्रहे ॥ ३१ ॥

गङ्गाधरः—अस्य भेदो वक्ष्यते—यस्येत्यादि । यस्य प्रकुपितो वातः कुक्षिमावाय्यं तिष्ठति, नाथो नाप्यूर्ध्वं व्रजति, तस्य स आनाहो नाम रोगो जायते ॥ ३० ॥

गङ्गाधरः—उपसंहरति—रोगा इत्यादि । इह शोथसंग्रहे उत्सेधसामान्यात् अन्ये येऽधिमांसाब्बुदादयो रोगास्ते नामरूपाभ्यां विशिष्टा निर्दिष्टा बुद्धिमद्भिः । तद्यथा सुश्रुते—“गात्रप्रदेशे कचिदेव दोषाः संमूर्च्छिता मांसमसृक् प्रदूष्य । वृत्तं स्थिर मन्दरुजं महान्तमनल्पमूलं चिरवृद्धपाकम् । कुर्वन्ति मांसोपचयश्च शोफं तमब्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति ॥ वातेन पित्तेन कफेन चापि रक्तेन मांसेन च मेदसा च । तज्जायते तस्य च लक्षणानि ग्रन्थेः समानानि समादिशन्ति ॥ दोषः प्रदुष्टो रुधिरं सिराश्च सम्पीड्य सङ्कोच्य गतस्त्वपाकम् । सास्त्रावमुन्नहति मांसपिण्डं मांसाङ्कुरैराचितमाशु वृद्धिम् ॥ स्रवत्यजस्रं रुधिरं प्रदुष्टमसाध्यमेतद्रुधिरात्मकं स्यात् । रक्तक्षयोपद्रवपीडितत्वात् पाण्डुर्भवेदब्बुदपीडितस्तु ॥ मुष्टिप्रहारादिभिरङ्घ्रितेऽङ्गे मांसं प्रदुष्टं प्रकरोति शोफम् । अवेदनं स्निग्धमनन्यवर्णमपाकमश्मोपममप्रचाल्यम् ॥ प्रदुष्टमांसस्य नरस्य गाढमेतद्भवेन्मांसपरायणस्य ॥ मांसाब्बुदन्त्वेतदसाध्यमुक्तं साध्येष्वपीमान्यपि वर्जयेत् तु । संप्रसृतं मर्मणि यच्च जातं स्रोतःसु वा यच्च भवेदचाल्यम् ॥ यज्जायतेऽन्यत्र खलु पूर्वजाते ज्ञेयं तदध्यब्बुदमब्बुदज्ञैः ॥ यद्द्वन्द्वजातं युगपत् क्रमाद्वा द्विरब्बुदं तच्च भवेदसाध्यम् ॥ न पाकमायान्ति कफाधिकत्वान्मेदोऽधिकत्वाच्च विशेषतस्तु । दोषस्थिरत्वाद्ग्रथनाच्च तेषां सर्वाब्बुदान्येव निसर्गतस्तु ॥” ग्रन्थिश्च सुश्रुते यथा—“वातादयो मांसमसृक् प्रदुष्टाः सन्दूष्य मेदश्च कफानुबन्धम् । वृत्तोन्नतं विग्रथितन्तु शोफं कुर्वन्त्यतो ग्रन्थिरिति प्रदिष्टः ॥ आयम्यते व्यथ्यत एति तोदं प्रभ्रश्यते कृत्यत एति भेदम् । कृष्णोऽमृदुर्वस्तिरिवाततश्च भिन्नः स्रवेच्चानिलजोऽस्रमच्छम् ॥ दन्दह्यते धूप्यति चातिमात्रं पापच्यते प्रज्वलतीव चाति । रक्तः सपीतोऽप्यथवापि पित्ताग्निनः स्रवेदुष्णस्तीव दुष्टम् ॥ शीतो विदुर्णोऽप्यरुजोऽतिकण्डुः पाषाणवत् संहन-



नोपपन्नः । चिराभिष्टुद्धिश्च कफप्रकोपाद्भिन्नः स्रवेद्रक्तघनश्च पूयम् ॥  
 शरीरशुद्धिक्षयशुद्धिहानिः स्निग्धो महानल्परुजोऽतिकण्डुः । मेदःकृतो गच्छति  
 चातिभिन्ने पिण्याकसर्पिःप्रतिमन्तु मेदः ॥ व्यायामजातैरबलस्य तैस्तेराक्षिप्य  
 वायुर्हि सिराप्रतानम् । सम्पीड्य सङ्कोच्य विशोष्य चापि ग्रन्थिं करोत्युन्नत-  
 माशु वृत्तम् ॥ ग्रन्थिः सिराजः स तु कृच्छ्रसाध्यो भवेद्यदि स्यात् सरुजश्चलश्च ।  
 अरुक् स एवाप्यचलो महांश्च मम्मूर्त्तिश्चापि विवर्जनीयः ॥” इति । अपची  
 चात्र द्रष्टव्या सुश्रुतोक्ता । तद्यथा—“हन्वस्थिकक्षाक्षकबाहुसन्धिमन्यागलेषूप-  
 चितन्तु मेदः । ग्रन्थिं स्थिरं वृत्तमथायतं वा स्निग्धं कफश्चाल्परुजं करोति ॥ तं  
 ग्रन्थिभिश्चामलकास्थिमात्रैर्मत्स्याण्डजालप्रतिमैस्तथान्यैः । अनन्यवर्णैरुपचीय-  
 मानं चयापकर्षादपचीं वदन्ति ॥ कण्ड्युतास्तेऽल्परुजः प्रभिन्नाः स्रवन्ति  
 नश्यन्ति भवन्ति चान्ये । मेदःकफाभ्यां खलु रोग एष सुदुस्तरो वर्षगणानु-  
 बन्धि ॥” इति । गण्डमालापची च नात्रोक्ता । “कर्कन्धुकोलामलकप्रमाणैः  
 कक्षांसमन्यागलवङ्क्षणेभु । मेदःकफाभ्यां चिरमन्दपाकैः स्याद्गण्डमाला  
 बहुभिश्च गण्डैः ॥ ते ग्रन्थयः केचिदवाप्तपाकाः स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति  
 चान्ये । कालानुबन्धं चिरमादधाति सैवापचीति प्रवदन्ति केचित् ॥” इति ।  
 पाकं प्राप्ता गण्डमालैवापचीत्यर्थः । श्लीपदमुक्तं सुश्रुतेन यथा—“कुपितास्तु  
 दोषा वातपित्तश्लेष्माणोऽथः प्रपन्ना वङ्क्षणोरुजानुजङ्घास्त्वतिष्ठमानाः काला-  
 न्तरेण पादमाश्रित्य शनैः शोफं जनयन्ति । तत् श्लीपदमित्याचक्षते ।  
 तत् त्रिविधम्—वातपित्तकफनिमित्तमिति । तत्र वातजं खरं कृष्णं परुष-  
 मनिमित्तानिलरुजं परिस्फुटति च बहुशः । पित्तजन्तु पीतावभासमीषन्मृदु  
 ज्वरदाहप्रायश्च । श्लेष्मजन्तु श्वेतं स्निग्धावभासं मन्दवेदनं भारिकमिति  
 महाग्रन्थिकं कण्टकैरुपचितश्च । तत्र संवत्सरातीतमतिमहद्वल्मीकजातं  
 प्रस्रुतमिति वर्जनीयानि । भवन्ति चात्र—त्रीण्यप्येतानि जानीयात् श्लीपदानि  
 कफोच्छ्रयात् । गुरुत्वश्च महत्त्वश्च यस्मान्नास्ति विना कफात् ॥ पुराणोदक-  
 भूयिष्ठाः सर्व्वेत्षु च शीतलाः । ये देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि विशेषतः ॥  
 पादवद्धस्तयोश्चापि श्लीपदं जायते नृणाम् । कर्णाक्षिनासाशिश्ने च केचि-  
 दिच्छन्ति तद्विदः ॥” इति । ब्रध्नरोगश्चान्यत्र दृश्यते—“अत्यभिष्यन्दि-  
 गुर्व्वाम-सेवनान्निचयं गतः । करोति ग्रन्थिवच्छोफं दोषो वङ्क्षणसन्धिषु ॥  
 ज्वरशूलान्नादाहाढ्यं तं ब्रध्नमिति निर्दिशेत् ॥” इति । एवं शिलायुप्रभृति-  
 गलरोगादयः स्वाधिकारे वाच्याः ॥ ३१ ॥

वातपित्तकफा यस्य युगपत् कुपितास्त्रयः ।

जिह्वामूलेऽवतिष्ठन्ते विदहन्तः समुच्छ्रिताः ॥

जनयन्ति भृशं शोथं वेदनाश्च पृथग्विधाः ।

तं शीघ्रकारिणं रोगं रोहिणीति विनिदिशेत् ॥

त्रिरात्रं परमश्वास्य जन्तोर्भवति जीवितम् ।

कुशलेन त्वनुक्रान्तः क्षिप्रं सम्पद्यते सुखी ॥ ३२ ॥

गङ्गाधरः—प्राधान्यादाशुकारित्वाच्च गलगतरोहिणीमाह । अथास्य गलगशोथ-  
विशेषमाह—वातेत्यादि । यस्य पृथग्वातपित्तकफाः युगपच्च कुपितास्त्रयो  
वातपित्तकफाः समुच्छ्रिताः प्रवृद्धा जिह्वामूलेऽन्तर्विदहन्तोऽवतिष्ठन्ते, तत्र  
भृशं शोथञ्च जनयन्ति । पृथग्विधाः प्रतिदोषजा वेदनाश्च जनयन्ति । त  
जिह्वामूले जातं शोथं शीघ्रकारिणं शीघ्रमारकं रोगं रोहिणीति नाम्नादिशेत् ।  
वातपित्तकफा इति पृथक् पुनस्त्रय इति वचनात् युगपत् कुपिताश्च त्रय इति  
वार्तापित्तकफाः सन्निपतिता इत्यर्थः । शीघ्रकारित्ववचनात् रक्तमप्यत्र बोध्यम् ।  
समुच्छ्रिता इति अतिवृद्धाः । भृशमतिदुःखदम् । शीघ्रकारिणं मोचनहननान्य-  
तरत् शीघ्रं कर्तुं शीलं यस्य तं तथा । उक्तं हि—“स शीघ्रं शीघ्रकारित्वात्  
प्रशमं याति हन्ति वा” इति । शीघ्रमारकत्वं दर्शयति—त्रिरात्रमित्यादि । परमं  
जीवितमित्यायुः परमायुरित्यर्थः । अस्य जन्तोस्त्रिरात्रं परमायुर्भवतीत्यर्थः । इति  
त्वकुशलभिषजोपक्रान्तत्वेऽनुपक्रान्तत्वे च बोध्यम् । कुशलेन तु भिषजा क्षिप्रमनु-  
क्रान्तश्चिकित्सितुमारब्धः रोहिणीमान् पुमान् क्षिप्रं सुखी आरोग्यवान्  
सम्पद्यते । इत्युभयत्रैव क्षिप्रशब्दान्वयः । एतेनाविरुद्धा सुश्रुतेनाप्युक्ता वातादि-  
भेदेन रोहिणी । यथा—“गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्च्छितौ पृथक् समस्ताश्च  
तथैव शोणितम् । प्रदूष्य मांसं गलरोधिनोऽङ्कुरान् सृजन्ति यान् सासुहरा तु  
रोहिणी ॥ जिह्वां समन्ताद्भृशवेदना ये मांसाङ्कुराः कण्ठनिरोधिनः स्युः ।  
तां रोहिणीं वातकृतां वदन्ति वातात्मकोपद्रवगाढयुक्ताम् ॥ क्षिप्रोद्गमा  
क्षिप्रविदाहपाका तीव्रज्वरा पित्तनिमित्ततः स्यात् । स्रोतोनिरोधिन्यपि  
मन्दपाका गुर्वी स्थिरा सा कफसम्पता वै ॥ गम्भीरपाक्यप्रतिवार्यवीर्या

चक्रपाणिः—समुच्छ्रिता अतिरिक्तप्रमाणाः, भृशमत्यर्थदुःखकारणम् । क्षिप्रमित्यनुपक्रान्त  
वृत्त्यनेन संबध्यते, तेन त्रिरात्रादिति त्वं यस्य तस्य कथं शीघ्रं भृशम् इति बोधं नोत्तिष्ठते, विंवा,

सन्ति चैवंविधा रोगाः साध्या दारुणसम्भताः ।  
 ये हन्युरनुपक्रान्ता मिथ्याचारेण वा पुनः ॥ ३३ ॥  
 साध्याश्चैवापरे सन्ति व्याधयो मृदुसम्भताः ।  
 यत्नायत्नकृतं येषु कर्म सिध्यत्यसंशयम् ॥ ३४ ॥  
 असाध्याश्चापरे सन्ति व्याधयो याप्यसंज्ञिताः ।  
 सुसाध्वपि कृतं येषु कर्म यात्राकरं भवेत् ॥ ३५ ॥  
 सन्ति चाप्यपरे रोगा येषु कर्म न सिध्यति ।  
 अपि यत्नकृतं \* वैदैर्न तान् विद्वानुपाचरेत् ॥ ३६ ॥

त्रिदोषलिङ्गा त्रयसम्भवा स्यात् । स्फोटोचिता पित्तसमानलिङ्गाऽसाध्या प्रदिष्टा रुधिरात्मकेयम् ॥” इति । पञ्च रोहिण्यः स्युरिति ॥ ३२ ॥

गङ्गाधरः—नन्वेवं शीघ्रकारी किमेष एव रोगोऽस्ति, न त्वन्यः ? इत्या-  
 काङ्क्षायामाह—सन्ति चेत्यादि । एवंविधा इति शीघ्रकारिणो रोगाः ज्वरान्त-  
 जातकर्णशोथबलयादयः । साध्या दारुणसम्भता इति दारुणत्वं विवृणोति—  
 ये हन्युरित्यादि । कुशलेनोपक्रान्तत्वे साध्यत्वम् । अकुशलेनोपक्रान्तत्वे तथा  
 चानुपक्रान्तत्वे ये हन्युस्ते दारुणत्वेन साध्यतया सम्भताः ॥ ३३ ॥

गङ्गाधरः—दारुणत्वप्रसङ्गेन मृदुत्वादिकमप्याह—साध्याश्चेत्यादि । मृदुत्वं  
 विवृणोति—यत्नायत्नेत्यादि । कर्म इति कर्तृपदम् ॥ ३४ ॥

गङ्गाधरः—साध्यस्य दारुणत्वमृदुत्वभेदावुक्त्वा असाध्यस्य भेदमाह—  
 असाध्या इत्यादि । याप्यसंज्ञिता इति विवृणोति । येषु रोगेषु सुसाधुरूपेण कृतं  
 कर्म चिकित्सा यात्राकरं कालक्षेपणकरयापनाकृदित्यर्थः ॥ ३५ ॥

गङ्गाधरः—असाध्यस्य भेदान्तरमाह—सन्तीत्यादि । न सिध्यतीत्यसिद्धत्वं  
 विवृणोति । अपीत्यादि । कुशलैरपि वैदैर्यत्रकृतमपि कर्म येषु न सिध्यति

क्षिप्रं सम्पद्यते सुखीति व्याधिमहिम्ना भवति, व्याधेरिवैतत् स्वरूपं यत् शीघ्रं हन्ति शीघ्रं  
 प्रशाम्यतीति ; यदुक्तं “स शीघ्रं शीघ्रकारित्वात् प्रशमं याति हन्ति वा” इति ॥ ३२ ॥

चक्रपाणिः—एतदेव शीघ्रकारित्वम् अन्येष्वपि ज्वरान्तकर्णशोथबलयादिष्वस्तीत्याह—सन्ति  
 हेयवमित्यादि । दारुणा इति सम्भता दारुणसम्भताः । दारुणत्वप्रसङ्गेन मृदुत्वादिभेदानप्याह—

साध्याश्चैवाप्यसाध्याश्च व्याधयो द्विविधाः स्मृताः ।

मृदुदारुणभेदेन ते भवन्ति चतुर्विधाः ॥ ३७ ॥

त एवापरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि ।

रुजावर्णसमुत्थान-स्थानसंस्थाननामभिः ॥

प्रयोजनसिद्धिं न करोति ते रोगाः प्रत्याख्येया इत्यर्थः । विद्वानिति साध्यत्वा-  
साध्यत्वादिसर्वप्रकारेण व्याधिं तदुपक्रमश्च सर्वथैव विदितवान्, तान्-  
नोपाचरेत् ॥ ३६ ॥

गङ्गाधरः—एवं मृदुदारुणभेदेन साध्यस्यासाध्यस्य च भेदानुपसंहरति—  
साध्याश्चैवेत्यादि । मृदुदारुणभेदेनेति मृदुसाध्या दारुणसाध्या मृद्रसाध्या  
दारुणासाध्या इति चतुर्विधा भवन्ति । अत्रासाध्यानां मृदुत्वं याप्यत्वं  
दीर्घकालेन मारकत्वम् । दारुणत्वन्तु प्रत्याख्येयत्वं सद्यःप्राणहर्तृत्वञ्चेति  
कश्चिद्, तन्न । कालान्तरेण मारकत्वेऽपि च दारुणत्वात् । तस्य हि  
प्रत्याख्येयत्वमस्त्येवेति । त एवेति चतुर्विधा एव रुजा वातादिकृतवेदना  
चिमिचिमादिरनेकः । वर्णा अपि वातादिकृताः श्यावादयो बहवः । समु-  
त्थानानि वातादीनां कारणानां कारणानि । रुक्षजागरणादीनि तथा स्वस्व-  
व्याधीनां स्वस्वकारणानि बहूनि सन्ति । स्थानानि व्याधीनाञ्च तानि  
तानि बहूनि गात्रप्रदेशरूपाणि सन्ति । संस्थानानि वातादिभिः सम-  
विषमसमवायारब्धत्वेन कृतानि रूपाणि अपरिसंख्येयानि नामानि  
उ्वररक्तपित्तादीनि अपरिसंख्येयानि तैर्भिद्यमानास्ते चतुर्विधा व्याधयो-  
ऽपरिसंख्येया भवन्ति ।

साध्याश्चेत्यादि । यात्राकरं यापनाकरं, बालैरज्ञैः, असाध्ये अज्ञा एवोत्साहात् प्रवर्तन्त  
इत्यर्थः । असाध्यस्य मृदुदारुणत्वं याप्यप्रत्याख्येयभेदेन, तथा सद्यःप्राणहर-कालान्तरप्राणहर-  
त्वादिना च ॥ ३३—३७ ॥

चक्रपाणिः—रुजावर्णेत्यादि ।—समुत्थानभेदा हेतुभेदाः,—रुक्षभोजनरात्रिजागरणादिभिन्नहेतु-  
जन्यो हि वातो भिन्नोपक्रमसाध्यश्च भवतीति भावः ; स्थानभेदा आमाशयादयो रसादयश्च ;  
संस्थानमाकृतिः, यथा—गुल्माव्बुंदादिः ; नामभेदो यथा—पृक्स्मिन्नेव राजयक्ष्मणि राजयक्ष्म-

व्यवस्थाकरणं तेषां यथा स्थूलेषु संग्रहः ।

तथा प्रकृतिसामान्यं विकारेषूपदिश्यते ॥

विकारनामाकुशलो न जिहीयात् कदाचन ।

न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः ॥३८॥

स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः ।

स्थानान्तरगतश्चापि विकारान् कुरुते बहून् ॥

नन्वेवं चेदपरिसंख्येयत्वं व्याधीनां कथं चिकित्सितुं व्यवहर्त्तव्यमिति ? अत आह—व्यवस्थेत्यादि । तेषां परिसंख्याविहीनानां व्याधीनां चिकित्सार्थं स्थूलेषु रोगेष्वष्टोदरीयोक्तेषु यथा संग्रहः सङ्क्षेपो व्यवस्थाकरणं संख्ययोक्तार्थं मुपदिश्यते तथा संख्ययाऽनुक्तेषु विकारेषु प्रकृतिसामान्यं समताकारण-समानताव्यवस्थाकरणमुपदिश्यते । प्रकृतिभूतकारणवातादिसामान्यं हि सर्वेष्वेव व्याधिषु वर्त्तते । तद्भेदेन सर्वेषां व्याधीनां संख्या व्यवस्था कर्त्तव्येति भावः । विकारेष्वपि दृश्यते इति पाठेऽपि तुल्यार्थः । वक्ष्यते ह्यष्टोदरीये “सर्वे विकारा वातपित्तकफान् नातिवर्त्तन्ते” इति ।

ननु रुजावर्णादिभेदेन ज्ञातत्वे चिकित्साविशेषात् तस्य ज्ञानमावश्यक-मन्यथा तद्रोगस्य रुजावर्णेनामाद्यज्ञाने प्रतीकारो न भवतीति ? अत आह—विकारनामेत्यादि । विकाराणां ज्वररक्तपित्तादिनामभेदेनाविदितवान् चिकित्सितुमिति शेषः । लज्जाभावे हेतुमाह—न हीत्यादि ॥ ३७, ३८ ॥

गङ्गाधरः—कुतो नामतो न ध्रुवा स्थितिरिति ? अत आह—स एवेत्यादि । स एव ज्वरादितत्तद्वाध्यारम्भक एव दोषः पुनः समुत्थानविशेषतः अतीसारा-

शोषादिसंज्ञा । नन्वेवमपरिसंख्येयत्वे कथं व्यवहार इत्याह—व्यवस्थेत्यादि । व्यवस्थाकरणं चिकित्सान्वयवहारार्थं संख्याकथनम् । यथास्थूलेष्विति ये ये स्थूला उदरमूत्रकुच्छादयः तेषु संग्रहोऽष्टोदरीयरोगसंग्रह इत्यर्थः । स्थूलेषु विकारेषु अष्टोदरीये संज्ञयाऽनुक्तेषु कथं व्यवस्थाकरण-मित्याह—तथेत्यादि । प्रकृतिसामान्यं समानकारणता, तेन अनुक्तेषु साक्षाद् व्याधिषु, वातजोऽयं श्लेष्मजोऽयमिति तथा रसजोऽयम् रक्तजोऽयमित्यादिका चिकित्सान्वयवहारार्थं व्यवस्था कर्त्तव्येति भावः ; अत एवाष्टोदरीये वक्ष्यति—“सर्वे विकारा वातपित्तकफान् नातिवर्त्तन्ते” इति । ज्वररक्तपित्तादिवन्नामाज्ञानेऽपि वातादिजन्यत्वज्ञानेनैव प्रचरितव्यमित्याह—विकारेत्यादि । स्थानान्तरगतश्चेत्यत्र चकार एकस्थानगतोऽपि बहुविकारं करोतीति समुच्चिनोति, यतो वक्ष्यति—

तस्माद्विकारप्रकृतीरधिष्ठानान्तराणि च ।

समुत्थानविशेषांश्च बुद्ध्वा कर्म समाचरेत् ॥ ३६ ॥

यो ह्येतत् त्रितयं ज्ञात्वा कर्माण्यारभते भिषक् ।

ज्ञानपूर्वं यथान्यायं स कर्मसु न मुह्यति ॥ ४० ॥

नित्याः प्राणभृतां देहे वातपित्तकफास्त्रयः ।

विकृताः प्रकृतिस्था वा तान् बुभुत्सेत पण्डितः ॥ ४१ ॥

दीनां कारणविशेषतश्च नामतः स्थितिरस्ति । ततोऽप्येषां स्थानान्तरगतः सन् चकारात् तत्स्थानस्थोऽपि वा बहून् विकारानतीसाररक्तपित्ताव्यतिरिक्तान् कुरुते । ततो नामभेदतः स्थितिर्न भुवास्ति ।

ननु नामाज्ञानेन सति कथं चिकित्सितव्यमिति ? अत आह—तस्मादित्यादि । तस्मादिति व्याधीनां नाम्नः स्थितेरध्वत्वात् । विकारप्रकृतीर्व्याधीनां समवायिकारणानि वातादिदोषान् रसरक्तादिदूध्यांश्च तेषां कार्यं दृष्ट्वाऽधिष्ठानान्तराणि च बुद्ध्वा कर्म चिकित्सितं समाचरेत् । नन्वापाशयगतपक्षाशयगतवातयोः रुक्षस्वेदं स्नेहपूर्वस्वेदं न प्रयुज्य सर्वत्र रुक्षो वा स्निग्धो वा स्वेदः प्रयुज्यतामिति ? अत आह—अधिष्ठानेति । आशयान्तराणि । ननु मृत्तिकाजपाण्डुरोगादीनां प्रकृतिर्वातादीनां विज्ञानेन न प्रशमो भवतीति तत्र का गतिरिति ? अत आह—समुत्थानेत्यादि ॥ ३९ ॥

गङ्गाधरः—एतत्त्रितयविज्ञानपूर्वककर्मकरणे फलमाह—यो हेतुरित्यादि । ज्ञानपूर्वमिति व्याधीनां प्रकृत्यधिष्ठाननिदानविशेषज्ञानानन्तरं तत्र यस्य यत् प्रतिक्रिया तस्याः क्रियाया ज्ञानपूर्वकं यथान्यायं यस्मिन् व्याधौ यत् कम्मे शास्त्रोक्तं तस्मिन् व्याधौ तत् कर्म यो भिषक् आरभते स भिषक् कम्मसु व्याधिप्रतिकारकर्मसु न मुह्यति ॥ ४० ॥

गङ्गाधरः—नन्वेवं सति व्याधीनां प्रकृत्यादीनां ज्ञानस्यावश्यकत्वे के

“करोति गलमाश्रितः । कण्ठोद्ध्वंसश्च कासश्च स्वरभेदमरोचकम्” इति । अधिष्ठानान्तराणि आशयान्तराणि, ज्ञानपूर्वमिति चिकित्साज्ञानपूर्वकं, यथान्यायं यथागमम् ; एवं मन्यते—यद् वातारब्धत्वादिज्ञानमेव कारणं रोगाणां चिकित्सायामुपकारि, नामज्ञानं नु व्यवहारमात्रप्रयोजनार्थं, न स्वरूपेण चिकित्सायामुपकारीति ॥ ३८—४० ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति वातादिज्ञानेन रोगज्ञानमुद्दिष्टं तेनोपोद्धातेन वातादीनां प्रकृति-

उत्साहोच्छ्वासनिश्वास-चेष्टा धातुगतिः समा ।  
 समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माविकारजम् ॥ ४२ ॥  
 दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत् तृष्णा देहमाह्वयम् ।  
 प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम् ॥ ४३ ॥  
 स्नेहो बन्धः स्थिरत्वञ्च गौरवं वृषता बलम् ।  
 क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम् ॥ ४४ ॥

चावश्यविज्ञेया भवन्तीति ? अत आह—नित्या इत्यादि । वातपित्तकफा-  
 स्त्रयः समस्ता एव न लन्यतमः । विकृताः क्षीणा वा वृद्धा वा ये क्षीणवृद्ध-  
 संसृष्टसमाना वा । प्रकृतिस्था वा । क्षीणा वा वृद्धा वा क्षीणवृद्धसंसृष्टा वा  
 ये केऽपि भवन्तु ते केनचिद्रूपेण प्राणभृतां देहे नित्या एव सततसम्बन्धा  
 एव सन्तः सत्त्वक्रियाहेतव एव भवन्ति । पण्डितस्तान् विकृतान् वा प्रकृति-  
 स्थान् वा वातपित्तकफान् बुभुत्सेत ज्ञातुमिच्छेत् ॥ ४१ ॥

गङ्गाधरः—तत्रादौ प्रकृतिस्थानां लक्षणान्याह—उत्साहोच्छ्वासेत्यादि ।  
 चेष्टेति यथार्थभूता वाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिः समा चेष्टा । धातुगतिः परपरधातु-  
 पोषकतया गमनमवस्था वा समा अविकृता । गतिमतां मूत्रपुरीषादीनां समो  
 मोक्षो यथाकालं यथामानं वह्निर्माचनम् ॥ ४२ ॥

गङ्गाधरः—अथ पित्तकर्माण्याह—दर्शनमित्यादि । दर्शनमित्यादिषु  
 पित्तस्य प्राकृतकर्माणि । पक्तिर्भुक्तानां पाकः । उष्मा देहे स्वाभाविकमौष्ण्यं  
 पाचकाग्निर्वा । प्रभा देहकान्तिः । प्रसादो मनःप्रसन्नता ॥ ४३ ॥

गङ्गाधरः—स्नेह इत्यादि । स्नेह इत्यादिना कफस्य प्राकृतकर्माणि ।  
 स्नेहः शरीरस्य चैक्यम् । बन्धः सानुबन्ध इति कश्चित् । शरीरावयव-  
 सम्बन्धीनां बन्ध इति युक्तः । स्थिरत्वमश्लिष्यत्वम् । देहस्य गौरवं देहस्य

स्थानम् अप्रकृतिस्थानाञ्च लक्षणं वक्तुमाह—नित्या—इत्यादि । बुभुत्सेत ज्ञातु-  
 मिच्छेत् ॥ ४१ ॥

चक्रपाणिः—चेष्टेत्यविकृता चेष्टा । धातुगतिरिति रसादीनां पोष्यं धातुं प्रति गमनम् ।  
 गतिमतामिति पुरीषादीनां वह्निर्निःसरताम्, प्रसादो मनःप्रसादः, बन्धः सन्धिबन्धः, स्थिरत्वम्  
 अश्लिष्यत्वम्, गौरवं प्राकृतं शरीरगौरवम्, क्षमा सहिष्णुता, धृतिर्मनसोऽचाञ्चल्यम्, क्षमादयश्च

वाते पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणमुच्यते ।

कर्मणः प्राकृताद्धानिर्बृद्धिर्वापि विरोधिनाम् ॥ ४५ ॥

स्वाभाविकगुरुता । वृषता पुंस्त्वशक्तिः । क्षमादयस्त्रयः प्रभावाः कफकर्मणि । बलमोजःकृतम् ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः—वातादीनां प्राकृतकर्मण्युक्ता विकृतकर्मण्यह—वात इत्यादि । अत्र कश्चित् तु वृद्धिर्वापि विरोधिनामिति वाताद्यन्यतमक्षयेऽन्यतमवृद्धिर्भवतीति व्याचष्टे, तन्न । युगपत्त्रयाणां क्षयानुपपत्तेः पित्तवृद्धौ श्लेष्मणः सर्वशेन विनाशापत्तेश्च । वस्तुतस्तु 'क्षीणा जहति लिङ्गं स्वम्' इत्युक्त्या इदमेव बोध्यम् । तद्यथा 'कर्मणः प्राकृताद्धानिः' इति वातस्य प्रकृतिस्थस्य प्राकृतं कर्म उत्साहादिकमुक्तं यत् तस्माद्धानिरपचयः । अल्पोत्साहोऽनुत्साहः अल्पोच्चासोऽल्पनिश्वासः । अल्पचेष्टा । रसादीनामुत्तरोत्तरधातुपोषकत्वमल्पम् । मलादीनामल्पमोक्ष इति क्षीणवातस्य कर्म । अथवा प्राकृतादुत्साहादिकर्मणो विरोधिनामनुत्साहादीनां वृद्धिरिति तत्तदेव कर्म लभ्यते । क्षीणे वातस्येति तुल्यमेव क्षयलक्षणमुभययैव भवतीति वाशब्द उपात्तः । एवं पित्तस्य प्रकृतिस्थस्य यद् यत् प्राकृतं कर्म दर्शनादिकमुक्तं तस्माद्धानिरपचयस्तस्माद्वा विरोधिनामदर्शनादीनां वृद्धिः पित्ते क्षीणे लक्षणमुच्यते । तथा च पित्तक्षयेऽल्पदर्शनमदर्शनं वा । अल्पपक्तिरपक्तिर्वा । अल्पोष्मानुष्मा वा । अल्पक्षुधा अक्षुधा वा, अल्पतृष्णा चातृष्णा वा, देहमार्दवमल्पं न वा, अल्पप्रभा अप्रभा वा, मनसश्चालपप्रसादोऽप्रसादो वा, अल्पमेषा चामेषा वेति भवतीति । एवं कफस्य प्रकृतिस्थस्य प्राकृतं कर्म स्नेहादिकं यद्यदुक्तं तस्मात् तस्मात् कर्मणो हानिरपचयस्तत्तत्कर्मणो विरोधिनां रौक्ष्यादीनां वृद्धिर्वा कफे क्षीणे लक्षणमुच्यते । तथा च श्लेष्मक्षये देहस्याल्पस्निग्धत्वं रौक्ष्यं वा, शरीर-

श्लेष्मणः प्रभावात् क्रियन्ते, एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् । कर्मणः प्राकृतादिति वातादिप्रकृतिकर्मत्वेनोक्तादुत्साहादेः, हानिरपचयः । वृद्धिर्वापि विरोधिनामिति—उक्तप्राकृतलक्षणविरोधिनां कर्मणां वृद्धिः, यथा—वातक्षये उत्साहविरोधिना विषादस्य वृद्धिः, पित्तक्षयेऽदर्शनापक्तादीनाम्, श्लेष्मक्षये रौक्ष्यादीनां वृद्धिः, इह प्राकृतकर्महानौ सत्याम् नावश्यं विरोधिकर्मवृद्धिरत उक्तं वृद्धिर्वेत्यादि, न ह्यवश्यमुत्साहहानावल्पमात्रायां सत्यां विषादो वर्द्धते, अलोभन्यूनत्वे वा मनाकलोभो वर्द्धते ; किंवा, उत्साहाद्यभावेनाभावमुखेन ज्ञानार्थं 'कर्मणः प्राकृताद्धानिः' इत्युक्तम्, विषादवृद्ध्या तु विधिमुखेन ज्ञानार्थं 'वृद्धिर्वापि विरोधिनाम्' इत्युक्तम् ; यदुच्यते—वृद्धिर्वापि



दोषप्रकृतिवैशेष्यं नियतं वृद्धिलक्षणम् ।

दोषाणां प्रकृतिर्हानिर्वृद्धिश्चैव परीक्ष्यते ॥ ४६ ॥

सन्धीनामल्पबन्धनमबन्धो वा, देहमांसाद्यवयवस्याल्पशैथिल्यं शैथिल्यं वा, देहे  
ऽल्पगुरुत्वं लघुत्वं वा, स्त्रीसंसर्गशक्तिरल्पा न वा, अल्पबलमबलं वा, अल्पक्षमा  
अक्षमा वा, अल्पधृतिरधृतिर्वा, अल्पलोभोऽलोभो वा भवतीति ॥ ४५ ॥

**गङ्गाधरः**—वातादीनां प्राकृतकर्मणां भावाभाववचनेन क्षयलक्षणमुक्त्वा  
वृद्धिलक्षणमाह—दोषेत्यादि । दोषाणां वातपित्तकफानां प्रकृतिः स्वभावः  
रौक्ष्यादिकम् । तस्य वशेष्यमाधिक्यमेवात्र विवक्षितम्, न त्वल्पत्वाधिक्ये ।  
पदार्थाख्यतन्त्रयुक्त्याऽल्पत्वस्य क्षयलक्षणत्वेनोक्तत्वात् तदितरवृद्धिलक्षणे वक्तव्ये  
तदितरस्याधिक्यमात्रस्यैव वैशेष्यपदेन लब्धत्वात् । तथा च वातस्य प्रकृतिस्थस्य  
रौक्ष्यशैत्यलाघवसौक्ष्म्यचलत्ववैशद्यस्वरत्नानां प्रकृतीनामाधिक्यं वातस्य वृद्धि-  
लक्षणम् । तस्य रौक्ष्यशैत्याद्याधिक्यं न पित्तकफयोर्वृद्धिलक्षणम्, पित्ते कफे  
च तत्तद्धर्मस्यानियतत्वात् । सत्यपि हि पित्तस्य रौक्ष्ये कफे च शैत्ये  
रौक्ष्यादिसहचरितसौक्ष्म्यशत्यादयश्च न पित्ते कफे चेति नियतत्वाभावः ।  
नियतत्वं हि तद्वदन्यावृत्तिकत्वं याद्रूप्येण यस्य यद्वृत्तिकत्वं ताद्रूप्येण  
तदितरावृत्तिकत्वमिति रूपेण ग्राह्यम् । एवं पित्तस्य प्रकृतिस्थस्य सस्नेहोष्णत्व-  
तीक्ष्णद्रवत्वाम्लकटुत्वसरत्नानां प्रकृतीनां धर्माणां वैशेष्यमाधिक्यं पित्तस्य  
वृद्धिलक्षणम् । तथा श्लेष्मणश्च प्रकृतिस्थस्य गौरवशैत्यमृदुत्वस्निग्धत्वमाधुर्य-  
स्थैर्यपैञ्जल्यानां प्रकृतीनां धर्माणां वैशेष्यमाधिक्यं श्लेष्मणो वृद्धिलक्षणमिति  
कश्चिद्व्याचष्टे । तन्न मनोरमम् । वातस्य रौक्ष्यशैत्यादीनां पित्तस्य सस्नेहौष्ण्या-  
दीनां कफस्य गुरुत्वशैत्यादीनां विज्ञानार्थं लक्षणानां वक्तव्यत्वावश्यकत्वेन  
न्यूनत्वदोषादिति । तस्मादत्र व्याख्यास्यामः । प्रकृतिः स्वमानस्थस्य रौक्ष्यादि-  
गुणः प्राकृतं कर्म च प्रकृतिस्थत्वे हि वातादीनां रौक्ष्यादिधर्मजनितमपि कर्म

विरोधिनामिति—विरोधिदोषाणाम्, यथा—पित्तवृद्धौ तु श्लेष्मक्षयो जायते, इत्येवमादि ; तन्न,  
यतः अन्यदोषवृद्ध्याबन्धस्यावश्यं न ह्यपायो भवात्, तथाहि सति, पित्तवृद्धौ सत्यां सर्वदा  
श्लेष्मक्षयः स्यात्, न च दोषाः पस्परघातकाः इति प्रागेव प्रतिपादितम्, प्रदेशान्तरेऽपि दोषाणां  
स्वलक्षणहानिरेव परं क्षयलक्षणं “क्षीणा जहति लिङ्गं स्वम्” इत्यनेनोक्तम् ॥ ४२—४५ ॥

**चक्रपाणिः**—वृद्धिलक्षणमाह—दोषेत्यादि । प्रकृतिः स्वभावस्तस्य वैशेष्यमाधिक्यं, श्लेष्मणः  
स्नेहशैत्यमाधुर्यादिर्या प्रकृतिस्तस्या स्नेहघातिशैत्यातिमाधुर्यादि वैशेष्यं वृद्धिलक्षणम् ।

तत्र श्लोकाः ।

सङ्ख्या निमित्तं रूपाणि शोथानां साध्यता न च ।

तेषां तेषां विकाराणां शोथांस्तांस्तांश्च पूर्वजान् ॥

रौक्ष्यादिवत् प्रकृतिर्भवति । तेषां वैशेष्यम् । तेषां विशेषोऽत्र पदार्थाख्यतत्रयुक्त्या आधिक्यं न तु हानिः । तस्माज्जातं प्रकृतगुणजकर्मणामधिकबलेनानुवृत्ति-  
सहितातिरिक्तं यद्यत् कर्म आध्मानादिकं तत् सर्वं दोषप्रकृतिवैशेष्यम् । तत्  
तु वृद्धिलक्षणमित्यर्थः । उक्तं हि—“दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथा-  
बलम्” इति । इत्थञ्च वातादीनां रौक्ष्यादिगुणवृद्ध्या जनिताध्मानादिभिलिङ्गै  
रौक्ष्यादीनां वृद्ध्यानुमानेनैव वातादीनामपि वृद्ध्यानुमानं सिध्यति, तत्तद्गुणसमु-  
दायविशिष्टो हि वातादिः न त्वतिरिक्त इति ; उक्तञ्च महारोगाध्यायोक्तकर्माणि  
प्रतिसंस्कृत्य—“आध्मानस्तम्भरौक्षस्फुटनविमथनक्षोभकम्पप्रतोदाः, कण्ठोद्धा-  
वसादौ श्रमकविलपनं स्रंसशूलप्रभेदाः । पारुष्यं कर्णेनादौ विषयपरिणति-  
भ्रंशदृष्टिप्रमोहाः, विस्पन्दोद्धनानि ग्लपनमशयनं ताडनं पीडनञ्च ॥ नामोन्नामौ  
विषादो भ्रमपरिपतनं जृम्भणं रोमहर्षौ, विक्षेपाक्षेपशोषग्रहणशुषिरता च्छेदनं  
वेष्टनञ्च । वर्णः श्यावोऽरुणो वा तृडपि च महती स्वापविश्लेषसंज्ञा, विद्यात्  
कर्माण्यमूनि प्रकुपितमस्तुः स्यात् कषायो रसश्च ॥ विस्फोटाम्लकधूमकाः  
प्रलपनं स्वेदस्रुतिमूर्च्छनं, दौर्गन्ध्यं दरणं मदो विसरणं पाकोऽरतिस्तृडभ्रमौ ।  
उष्माऽतृप्तिमः प्रवेशदहनं कटूम्लतिक्ता रसाः, वर्णः पाण्डुविवर्जितः कुथितता  
कर्माणि पित्तस्य वै ॥ तृप्तिस्तन्द्रा गुरुता स्तैमित्यं कठिनता मलाधिक्यम् ।  
स्नेहापत्त्युपलेपाः शैत्यं कण्डूः प्रसेकश्च ॥ शोफो निद्राधिक्यं द्वावेव रसौ पटु-  
स्वादू । वर्णः श्वेतोऽलसता कर्माणि कफस्य जानीयात् ॥” इति । एवमपि  
महारोगाध्याये वक्ष्यन्ते । नन्वेतैः प्राकृतहानिवृद्धिलक्षणैः किं स्यादिति ?  
अत आह—दोषाणामित्यादि । अर्थादेतैरविकारजैः कर्मभिर्दोषाणां प्रकृतिः  
स्वभावेनावस्था परीक्ष्यते परीक्षकैः । एतैः क्षीणलक्षणैर्दोषाणां हानिः परीक्ष्यते ।  
एतैश्च वृद्धिलक्षणैर्दोषाणां वृद्धिः परीक्ष्यतेऽनुमानादिभिः ॥ ४६ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थसंग्रहायाह—तत्रेत्यादि । त्रयः शोथा इत्यादिना

नियतमिति प्रतिनियतम् । यद्यस्य प्रकृतिलक्षणं तद् वृद्धं सत् तस्यैव वृद्धिलक्षणमित्यर्थः, अन्ये  
तु निश्चितमित्याहुः ॥ ४६ ॥

चक्रपाणिः—संग्रहे शोथानां साध्यतामिति स्नेहौष्ण्यमर्दनाभ्याञ्च प्रणश्येत्, स च वातिकम्

विधिभेदं विकाराणां त्रिविधं बोध्यसंग्रहम् ।

प्राकृतं कर्म दोषाणां लक्षणं हानिवृद्धिषु ॥

शोथानां सङ्ख्या । छेदनेत्यादिना आगन्तुशोथानां निमित्तम् । ते पुनरित्यादिना च रूपं बहुवचनात् । व्रणवन्धेत्यादिना क्रियासूत्रञ्च । निजा इत्यादिना दोषजशोथानां निमित्तं सामान्यत उक्तम् । अयन्तत्र विशेष इत्यादिना दोषविशेषवातशोथानां निमित्तं बहुवचनात् । ( प्रदीप्तिस्त्वित्यादिना सम्प्राप्तिम् ) । स क्षिप्रोत्थानेत्यादिना रूपञ्च । उष्णतीक्ष्णेत्यादिना पित्तशोथानां निमित्तम् । प्रकुपितमित्यादिना सम्प्राप्तिम् । स क्षिप्रेत्यादिना रूपञ्च । गुरुमधुरेत्यादिना कफशोथानां निमित्तम् । प्रकुपित इत्यादिना सम्प्राप्तिम् । स कृच्छ्रेत्यादिना रूपञ्च । यथास्वेत्यादिना द्रवजशोथानां निमित्तं रूपञ्च । पुनयथास्वेत्यादिना सान्निपातिकशोथानां निमित्तं रूपञ्चोक्तम् । प्रकृतिभिरित्यादिना पुनः सङ्ख्या । बहुवचनादुक्ता बोध्या बहुवचनाच्च । भवन्ति चात्रेत्यादिना वातादिजानां शोथानां पुनरधिकरूपञ्चोक्तमिति बोध्यम् । स्नेहोष्णमर्दनाभ्याञ्चेत्यादिकमपि ह्युपशयं बहुवचनाद्विद्यात् । यस्तु पादाभिनिवृत्त इत्यादिना तेषां तेषां विकाराणां वातादिजानां शोथानामसाध्यतावचनेन तदितरेषां साध्यता । तेषाञ्च न च साध्यता उक्ता । एतेन यस्तु स्नेहोष्णमर्दनाभ्यामित्याद्य पश्यवचनं साध्यतापरतया व्याचष्टे तद् दूषितं भवति । छर्द्दित्यादिना तूपद्रवाश्च न साध्यतावचनेन बोध्याः । यस्येत्यादिना सम्पद्यते सुखीत्यन्तेन ऐकदेशिकांस्तांस्तान् पूर्वजान् प्राक् शोथरूपेण जातान् पश्चादुपजिह्वादित्रणादिरूपेण भाविनः शोथान् निमित्तसम्प्राप्तिरूपसहिताश्चैकैकश्लोकेन त्रिभिस्तु रोहिणीरोगञ्चोक्तवान् । इति यथोक्तक्रमेण सङ्ख्यानिमित्तरूपाणि बोध्यानि न तु यथाक्रमेण । सन्ति चैवेत्यादिनाऽधिमांसभेदम् । विकारनामाकुशल इत्यादिना त्रिविधो बोध्यसंग्रहः । विकारविज्ञानार्थं बोध्यानां प्रकृत्यधिष्ठानान्तरसमुत्थानविशेषाणां संग्रहः । उत्साहेत्यादिना वातादीनां प्राकृतं कर्म ।

इत्युक्तं ज्ञेयम् ; न चेति न च साध्यताम्, यथा—“यश्च पादाभिनिवृत्तः” इत्यादि । तेषामित्युपजिह्वादीनाम् । शोथान् पूर्वजानित्यभिदधानः, उपजिह्वादिषु पूर्वं शोथो भवति, पश्चादुपजिह्वादिश्लेष्मन्तिरिति दर्शयति, अत एव “आशु सञ्जनयेत् शोथम्” इत्युक्ता “जायतेऽस्योप-

वीतमोहरजोदोष-लोभमानमदस्पृहः ।

व्याख्यातवांस्त्रिशोथीये रोगाध्याये पुनर्व्वसुः ॥ ४७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते श्लोकस्थाने  
त्रिशोथीयो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

वाते पित्ते इत्यादिना दोषाणां हानिवृद्धिषु लक्षणम् । एतत् सर्व्व व्याख्यात-  
वानित्यस्य कर्मपदम् ॥ ४७ ॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि । पूर्व्ववद्वाख्येयम् । इति त्रिशोथी-  
याध्यायः । इतिशब्दः समाप्तिवचनः ।

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ सूत्रस्थानीयः  
अष्टादशाध्यायत्रिशोथीयजल्पाख्या ह्यष्टादश शाखा ॥ १८ ॥

जिह्विका” इत्युक्तम् । बोध्यो बोद्धव्यो विकारप्रकृत्यादिः, तस्य त्रिविधं संग्रहमिति, “तस्माद्  
विकारप्रकृतीः” इत्यादयुक्तं त्रयम् ॥ ४७ ॥

इति चरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्व्वेददीपिकायां सूत्रस्थान-  
व्याख्यायां त्रिशोथीयो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

## एकोनविंशोऽध्यायः ।

अथातोऽष्टोदरीयमध्यायं व्यख्यास्यामः, इतिह  
स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

इह खल्वष्टावुदराणि । अष्टौ मूत्राघाताः । अष्टौ क्षीर-  
दोषाः । अष्टौ रेतोदोषाः ।०। सप्त कुष्ठानि । सप्त पिङ्गकाः ।  
सप्त वीसर्पाः ।०। षड्दतीसाराः । षडुदावर्त्ताः ।०। पञ्च गुल्माः ।  
पञ्च प्लीहदोषाः । पञ्च कासाः । पञ्च श्वासाः । पञ्च हिक्काः ।  
पञ्च तृष्णाः । पञ्च च्छर्द्दयः । पञ्च भक्तस्यानशनस्थानानि ।  
पञ्च शिरोरोगाः । पञ्च हृद्रोगाः । पञ्च पाण्डुरोगाः । पञ्चो-  
न्मादाः ।०। चत्वारोऽपस्माराः । चत्वारोऽक्षिरोगाः । चत्वारः

गङ्गाधरः—अथ क्षुद्रव्याधीनां व्यवस्थाकरणं स्थूलव्याधिवदुक्तम्, ननु स्थूल-  
व्याधीनां व्यवस्थाकरणञ्च च किं तावदित्याकाङ्क्षायां त्रिशोथीयानन्तरमष्टो-  
दरीयमाह—अथात इत्यादि । अध्यायादौ अष्टावुदराणीति वचनस्यार्थमादाय  
अष्टोदरमिति पदमधिकृत्य कृतोऽध्याय इत्यष्टोदरीयस्तम् इति सर्व्वं प्राग्बतु  
व्याख्यातव्यम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—उदररोगस्यापि शोफरूपत्वेन त्रिशोथीयानन्तरं प्रथममेकादि-  
सङ्ख्याकसन्न्यासादीन् विहायाष्टसङ्ख्याकोदरस्य ग्रहणं बोध्यम् । तत्सामीप्यात्  
सप्तादिसङ्ख्याकव्याधीनामपि निर्देशश्चात्रोद्देश इति । सप्त कुष्ठानीति प्राधान्यात्  
महाकुष्ठानि । भक्तस्यानशनस्य स्थानानि आकररूपाणि अरोचककारणम्

चक्रपाणिः—पूर्वाध्याय उक्तं 'व्यवस्थाकरणं तेषां यथास्थूलेषु संग्रहः' इति, तदनु जिज्ञासाया-  
मष्टावुदराणीत्यादि यथास्थूलं संग्रहोऽभिधीयते । अष्टोदरीय इति चार्थपरसंज्ञा, उदराभिधान-  
मादौ पूर्वाध्यायोक्तशोथसामान्यात्, उदराणि उत्सेधसामान्यात् शोथप्रभेदा एव ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—इहैकादिसङ्ख्यापरित्यागादष्टसंग्रहणमादौ कृतम्, अष्टसङ्ख्याया बहुत्वेन  
प्राधान्यात् । विंशतिसङ्ख्या मेहादीनम् जनविंशत्यधःसङ्ख्यानुपूर्वीप्राप्त्यभावात् कृतः प्रथमं  
निवेशः ; यद्यपि चिकित्सिते अष्टादश कुष्ठानि, तथापिह महाकुष्ठाभिप्रायेण सप्तोच्यते । षड्दवावर्त्ता  
इत्यत्र न वेगान्धारणीयोक्तन्यायेन उच्चारदिनिरोधजादय उदावर्त्ता इहोच्यन्ते । गुल्मैर्व्याख्याता इति

कर्णरोगाः । चत्वारः प्रतिश्यायाः । चत्वारो मुखरोगाः ।  
 चत्वारो ग्रहणीदोषाः । चत्वारो मदाः । चत्वारो मूर्च्छायाः ।  
 चत्वारः शोषाः । चत्वारि क्लैव्यानि ।०। त्रयः शोथाः । त्रीणि  
 किलासानि । त्रिविधं लोहितपित्तम् ।०। द्वौ ज्वरौ । द्वौ व्रणौ ।  
 द्वावायामौ । द्वे गृध्रस्थौ । द्वे कामले । द्विविधमामम् । द्विधा  
 वातशोणितम् । द्विविधान्यर्शांसि ।०। एक ऊरुस्तम्भः ।  
 एकः संन्यासः । एको महागदः ।०। विंशतिः क्रिमिजातयः ।  
 विंशतिः प्रमेहाः । विंशतिर्योनिव्यापदः ।०। इत्यष्टचत्वारिंशद्  
 रोगाधिकरणान्यस्मिन् संग्रहे समुद्दिष्टानि । तानि यथोद्देश-  
 मभिनिर्दिश्यन्ते ॥ २ ॥

अष्टाबुदराणीति—वातपित्तकफसान्नपातप्रीहबद्धच्छिद्रो-  
 दकोदराणीति ।०। अष्टौ मूत्राघाता इति—वातपित्तकफ-  
 सन्निपाताश्मरीशर्कराशुक्रशोणितनिमित्ता इति ।०। अष्टौ  
 क्षीरदोषा इति—वैवर्ण्यं वैगन्ध्यं वैरस्यं पैच्छिल्यं फेनसङ्घातो  
 रौच्यं गौरवमतिस्नेहश्चेति ।०। अष्टौ रेतोदोषा इति—तनु  
 शुष्कं फेनिलमश्वेतं पूत्यतिपिच्छिलमन्यधातूपहितमवसादि  
 चेति ॥ ३ ॥

इत्यथः । कारणस्य कार्यरूपत्वेनाभिनिर्वृत्त्या पञ्चारोचका इति लभ्यत्वान्न  
 रोगाधिकरणे कारणवचने दोषः । इत्यष्टचत्वारिंशत् स्थूलरोगाधिकरणानि ।  
 क्षुद्ररोगाधिकरणान्यप्यनया दिशा उद्दिष्टव्यानि बुद्धिमता भवन्ति ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—यथोद्देशं रोगसङ्ख्या निर्दिशति—अष्टाबुदराणीतीत्यादि । एषां  
 याद्रूप्येण यया सङ्ख्याया उपदेशे चिकित्सायामुपयोगितास्ति ताद्रूप्येण प्रभेदा-  
 सङ्ख्यापददर्शनं बोध्यम् । तेन द्वन्द्वजादीनां चिकित्सामेलकेन प्रयोजनसिद्धेर्न

यथा गुल्मभेदस्तथापीह । पञ्च नृणोति संभोजनस्नेहादिजनितानामपि वातादिजन्य एवावरोधात्,

सप्त कुष्ठानीति—कपालोडुम्बरमण्डलर्ष्यजिह्वपुण्डरीक-  
सिध्मकाकणानीति ।०। सप्त पिङ्गका इति—शराविका कच्छ-  
पिका जालिनी सर्षप्यलजी विनता विद्रधी चेति ।०। सप्त विसर्पा  
इति—वातपित्तकफाग्निकर्दमकग्रन्थिसन्निपाताख्याः ॥ ४ ॥

षड्तीसारा इति—वातपित्तकफसन्निपातभयशोकजाः ।०।  
षड्दुदावर्त्ता इति—वातमूत्रपुरीषशुक्रच्छर्दिक्षवधुजाः ॥ ५ ॥

पञ्च गुल्मा इति—वातपित्तकफसन्निपातशोणितजाः । पञ्च  
प्लीहदोषा इति—गुल्मैर्व्याख्याता भवन्ति ।०। पञ्च कासा  
इति—वातपित्तकफक्षतक्षयजाः । पञ्च श्वासा इति—महोर्द्ध-  
च्छिन्नतमकक्षुद्राः ।०। पञ्च हिक्का इति—महती गम्भीरा  
व्यपेता क्षुद्रा चान्नजा च । पञ्च तृष्णा इति—वात-  
पित्तामक्षयोपसर्गात्मिकाः ।०। पञ्च च्छर्दय इति—द्विष्टान्न-  
संयोगवातपित्तकफसन्निपातोद्रेकात्मिकाः ।०। पञ्च भक्तस्यान-  
श्नस्थानानीति—वातपित्तकफद्वेषायासाः ।०। पञ्च शिरोरोगा

द्वन्द्वजत्वादिना उपदेशः । सान्निपातिकस्य विकृतिविषमारम्भाच्चिकित्सा-  
विशेषोपदेशार्थं पृथगभिधानमिति सर्वत्र बोध्यम् । उदराध्यायेऽष्टोदराणां  
पृथक् लक्षणानि दर्शयितव्यानि ॥ ३ ॥

गुल्माधरः—सप्त कुष्ठानीतीत्यादि । सप्त कुष्ठानि लक्षणतो वक्ष्यते । सप्त  
पिङ्गकाः कियन्तःशिरसीये दर्शिताः । षड्दुदावर्त्ता नवेगान्धारणीये दर्शितवेग-  
धारणलक्षणैर्बोध्याः ॥ ४।५ ॥

गङ्गाधरः—पञ्च गुल्मा इत्यादि । पञ्च प्लीहदोषा इति गुल्मैर्व्याख्याता  
इति—वातपित्तकफसन्निपातशोणितजा इति । प्लीहशब्देनात्रोपलक्षणात्  
यकृद्दोषा अपि पञ्च तथैव बोध्याः । कियन्तःशिरसीये शोफसामान्यादुक्तः  
प्लीहदोषोऽत्र सङ्ख्याया व्यवस्थाकरणाथमुपदिष्टः । पञ्च शिरोरोगा इत्यादि ।

स्थानमिव स्थानं कारणं, तेन अनश्नस्थानान्यरोचकानीत्यनेन कारणेन कार्याण्यरोचकानि

इति—पूर्वोद्देशमभिसमस्य वातपित्तकफसन्निपातक्रिमिजाः । १० ।  
 पञ्च हृद्रोगा इति—शिरोरोगैर्व्याख्याताः । पञ्च पाण्डु-  
 रोगा इति—वातपित्तकफसन्निपातमृजाः । १० । पञ्चोन्मादा  
 इति—वातपित्तकफसन्निपातागन्तुनिमित्ताः ॥ ६ ॥

चत्वारोऽपस्मारा इति—वातपित्तकफसन्निपातनिमित्ताः । १० ।  
 चत्वारोऽक्षिरोगाश्चत्वारश्च कर्णरोगाश्चत्वारः प्रतिश्यायाः  
 चत्वारो मुखरोगाश्चत्वारो ग्रहणीदोषाश्चत्वारो मदाश्चत्वारो  
 मूर्च्छाया इत्यपस्मारैर्व्याख्याताः । ० । चत्वारः शोषा इति—  
 साहससन्धारणक्षयविषमाशनजाः । १० । चत्वारि क्लेशा-  
 नीति—बीजोपघातात् ध्वजभङ्गाजरायाः शुक्रक्षयाच्च ॥ ७ ॥

त्रयः शोथा इति—वातपित्तश्लेष्मनिमित्ताः । त्रीणि  
 किलासानीति रक्तताम्रशुक्लानि । १० । त्रिविधं लोहितपित्तमिति  
 ऊर्ध्वभागमधोभागमुभयभागश्च ॥ ८ ॥

द्वौ ज्वरावित्युष्णाभिप्रायः शीतसमुत्थः, शीताभिप्रायश्चोष्ण-  
 पूर्वोद्देशमभिसमस्येति कियन्तः शिरसीयोक्तानां पञ्चशिरोरोगाणामुद्देशमभि-  
 लक्ष्यीकृत्य समस्यार्द्धावभेदकाद्यन्तर्भावेण संक्षिप्य । शिरोरोगैरिति वातपित्त-  
 कफसन्निपातक्रिमिजा इत्यर्थः ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—चत्वारोऽक्षिरोगा इत्यादि । अपस्मारैर्व्याख्याता इति अक्षि-  
 रोमकर्णरोगप्रतिश्यायमुखरोगग्रहणीदोषमदमूर्च्छानां सप्तानां चतुश्चतुर्विधत्व-  
 मपस्मारवत् वातपित्तकफसन्निपातजलभेदादित्यर्थः ॥ ७/८ ॥

गङ्गाधरः—द्वौ ज्वरावित्यादि । शीतसमुत्थ इत्यनेनैवोष्णाभिप्रायत्वस्य  
 लाभेऽपि यत् पुनरुष्णाभिप्राय इत्युक्तं तन्निदानविपरीतज्वरितस्य भवतीति

गृह्यन्ते ; तेन संग्रहे कारणाभिधानमन्यायमिति न भवति । पूर्वोद्देशमभिसमस्येति कियन्तः-  
 शिरसीये विस्तरोक्तान् संक्षिप्य, किंवा कियन्तःशिरसीय एव 'अर्द्धावभेदको वा स्याद्' इत्यादि  
 उद्दिष्टानभिसमस्य परित्यज्य शिरस्येव रूजारूपा ये पञ्चोच्यन्ते । साहसं सन्धारणं क्षयो विषमा-  
 शनमिति षाढे कारणेन कार्यञ्च चतुर्विधः शोष उच्यते । द्वौ ज्वरावित्यादौ शीतसमुत्थैर्नैव



समुत्थः ।०। द्वौ व्रणाविति—निज आगन्तुश्च ।०। द्वावायामौ  
इति—वाह्यश्चाभ्यन्तरश्चेति ।०। द्वे गृध्रस्याविति—वाताद्  
वातकफाच्च । द्वे कामले इति—कोष्ठाश्रया शाखाश्रया च ।०।  
द्विविधमाममित्यलसको विसूचिका च । द्विविधं वात-  
शोणितमित्युत्तानं गम्भीरश्च ।०। द्विविधान्यर्शांसीति—  
शुष्काण्यार्द्राणि च ॥ ६ ॥

एक ऊरुस्तम्भ इत्यामत्रिदोषसमुत्थः ।०। एकः संन्यास  
इति—त्रिदोषात्मको मनःशरीराधिष्ठान इति ।०। एको महा-  
गद इत्यतत्त्वाभिनिवेशः ॥ १० ॥

विंशतिः क्रिमिजातय इति—यूकाः पिपीलिकाश्च द्विविधा

जापनार्थम्, एवं शीताभिप्रायश्चोष्णसमुत्थ इत्यत्रापि बोध्यम् । किंवा शीत-  
समुत्थ इत्यत्र किं शीतर्तसमुत्थस्य पित्तस्यापि उष्णाभिलाषजनकत्वमस्तीति  
तद्वारणाय शीतसमुत्थज्वरस्य लक्षणविधया विशेषणमुक्तमुष्णाभिप्राय इति ।  
एवमुष्णसमुत्थस्य लक्षणविधया विशेषणं शीताभिप्राय इति बोध्यम् ।

द्विविधमाममिति त्रिविधकुक्षीयविमानेऽन्नविषाख्यस्यालसकेऽन्तर्भावात् ।  
अन्ये तु अन्नविषस्य विषान्तरत्नवदत्रान ग्रहणं विषत्वादित्याहुः ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—एकः संन्यास इत्यादि ।—मनःशरीराधिष्ठान इति युगपदुभया-  
श्रयः एको महागद इति अतत्त्वाभिनिवेश इति लक्षणः सव्वसांसारिकदुःखरूपः  
कामक्रोधादिसकलमानसव्याधिरतत्त्वाभिनिवेशत्वसामान्यादेक एव वर्ण्यते ।  
महागदत्वश्चास्य प्रायेणापहार्यत्वात् ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—विंशतिरित्यादि ।—विंशतिः क्रिमिजातय इति जातिभेदेनोप-

उष्णाभिप्रायता लब्धा, यतः निदानविपरीतमिच्छति ज्वरी, तदाह उष्णाभिप्रायताविशेषणं शीतत्तु-  
समुत्थत्वेन पैत्तिकस्यापि ज्वरस्य शीतसमुत्थत्वनिरासार्थम्, एवं शीताभिप्रायेऽपि वक्तव्यम् ।  
द्विविधमाममिति आमविषस्य त्रिविधकुक्षीये वक्ष्यमाणस्यालसक एवान्तर्भावात् ; अन्ये त्वामविषस्य  
विषत्वेनान्यविषतन्त्रविषयत्वादिहाग्रहणमिति ब्रुवते । अतत्त्वाभिनिवेशो मानसो विकारः, स च  
सर्वसंसारिदुःखहेतुतया गद इत्युच्यते ॥ २—१० ॥

चक्रपाणिः—क्रिमीणां संज्ञा प्रायो रूढ्या ज्ञातव्या । पिपीलिका लिख्याः । दोषस्य दूष्येण

बहिर्मलजाः ।०। केशादा लोमादा लोमद्वीपाः सौरसा  
 औडुम्बरा जन्तुमातरश्चेति षट् शोणितजाः ।०। अन्त्रादा  
 उदरावेष्टा हृदयचराश्चुरवो दर्भपुष्पाः सौगन्धिका महागुदा-  
 श्चेति सप्त कफजाः ।०। ककेरुका मकेरुका लेलिहाः सशूल-  
 सौसुरादाश्चेति पञ्च पुरीषजा इति ॥ ११ ॥

विंशतिः प्रमेहा इति—उदकमेहश्चेक्षुवालि कारसमेहश्च  
 सान्द्रमेहश्च सान्द्रप्रसादमेहश्च शुक्लमेहश्च शुक्रमेहश्च शीत-  
 मेहश्च शनैर्मेहश्च सिकतामेहश्च लालामेहश्चेति दश  
 श्लेष्मनिमित्ताः ।०। क्षारमेहश्च कालमेहश्च नीलमेहश्च  
 लोहितमेहश्च मज्जिष्ठामेहश्च हरिद्रामेहश्चेति षट् पित्त-  
 निमित्ताः ।०। वसामेहश्च मज्जमेहश्च हस्तिमेहश्च मधुमेह-  
 श्चेति चत्वारो वातनिमित्ताः । इति विंशतिर्मेहाः ॥ १२ ॥

विंशतियोनिव्यापद इति—वातिकी पैत्तिकी श्लैष्मिकी  
 सान्निपातिकी चेति चतस्रो दोषजाः ।०। दोषदूष्यसंसर्ग-  
 प्रकृतिनिर्देशैरवशिष्टाः षोडश निर्दिश्यन्ते ।०। रक्तयोनि

देशस्तु बहिर्मलशोणितकफपुरीषजत्वभेदोपदेशेन चिकित्सासिद्धौ क्रिमिप्रकार-  
 दर्शनेनापि मलशोणितादिजन्यत्वविज्ञानार्थः । पिपीलिका इति लिख्याः ।  
 बहिर्मलजा इत्यादि स्थानभेदकथनं चिकित्साविशेषार्थम् ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—विंशतिः प्रमेहा इति विवृणोति । उदकमेहश्चेत्यादि । उदक-  
 मेहादिनाम्नोपदेशः कफजत्वादिना चोपदेशश्चिकित्साविशेषार्थं साध्यत्वादि-  
 ज्ञानार्थश्च ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—विंशतियोनिव्यापद इति । वातिकीत्यादिभेदेन चतुर्विधलोप-  
 देशस्तु वातादिदोषहरचिकित्सार्थम् । दोषेत्यादि ।—दोषस्य वातादे-  
 रक्तादिना दूष्येण संसर्गः दोषदूष्यसम्बन्धः । प्रकृतिर्हेतुस्तैर्निर्देशा विस्तरोक्तयः

रक्तादिना संसर्गो दोषदूष्यसम्बन्धः ; प्रकृतिः कारणं, तत्र दोषदूष्यसंसर्गनिर्देशेन रक्तयोन्यादयः

श्चारजस्का चाचरणा चातिचरणा च प्राक्चरणा चोपप्लुता  
च परिप्लुता चोदावर्त्तिनी च कर्णिनी च पुत्रघ्नी चान्तर्मुखी  
च सूचीमुखी च शुष्का च वामिनी च षण्डयोनिश्च महा-  
योनिश्चेति विंशतिर्योनिव्यापदो भवन्ति ।०। इति केवल-  
श्चायमुद्देशो यथोद्देशमभिनिर्दिष्टो भवति ॥ १३ ॥

सर्व एव निजा विकारा नान्यत्र वातपित्तकफेभ्योऽभि-

तद्यथा । एतेन रक्तयोऽन्यादीनां षोडशानां दोषदृष्यसंसर्गं निदानश्चावेक्ष्य  
चिकित्सा कर्तव्येति सूचितम् । केवलश्चेत्यादि ।—अयमष्टाबुदराणीत्यादिः  
केवलः कृतस्त्र उद्देशः । कश्चिदत्र मदात्ययरोगस्य मदरूपत्वेन मदेऽन्तर्भावं  
व्याचष्टे, तन्न । मदात्ययो हि मद्यपानात्ययः । मदस्तु वातादिदोषकृतो  
विधिशोणितिके वक्ष्यन्ते । वस्तुतस्तु पानात्ययपरमदपानविभ्रमशूलाम्लपित्त-  
स्वरभेदादीनामनुक्तानां संग्रहाय व्यवस्थाकरणमिति वचनं पूर्वाध्याये  
उक्तम् । एषामुदरादीनां प्राधान्येन चिकित्सोपयोगिभेदकधर्मेण संख्या  
उक्ताः । प्रकारान्तरेण तु भेदकधर्मान्तरेण चिकित्साप्रकारान्तरख्यापनार्थं  
स्वतन्त्रे तन्त्रान्तरे च यः संज्ञाभेदः कृतः सोऽप्यनेनाविरुद्धो बोध्यः । स च  
प्रतिरोगव्याख्याने दशयिष्यामः ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—अथ शूलाम्लपित्तस्वरभङ्गपानात्ययादीनामनुक्तानां तथा त्रिशो-  
थीयेऽस्मिंश्चाध्याये उक्तानां महारोगाध्याये च वक्ष्यमाणानां रोगाणां निजाना-  
मुपसंहारार्थमाह—सर्व एवेत्यादि । सर्व इत्युक्ता अनुक्ता वक्ष्यमाणाश्च सर्व  
एव निजा दोषजा विकारा वातपित्तकफेभ्योऽन्यत्र हेतौ नाभिनिर्वर्त्तन्ते ।  
यदि चागन्तवोऽपि पश्चाद्दोषसम्बन्धेन व्यभिचरन्ति तथाप्यागन्तौ दोष-

प्रकृतिनिर्देशेन प्राक्चरणादयो योनिव्यापत्तिचिकित्सितं वीक्ष्य व्याकर्त्तव्याः । अत्र मदा एव मदा-  
त्ययरूपतां यान्तीति कृत्वा मदात्ययाः पृथङ्नोक्ताः । इह चोक्तानां रोगाणां यद्यपि प्रकारान्तरेण  
अन्यथापि संख्या स्यात्, तथाहि—अष्टौ ज्वराः, द्वावुन्मादौ निजागन्तुकभेदेनेत्यादि, तथापि  
प्रधानविवक्षया एत एव भेदा गृहीताः । प्राधान्यञ्च स्वाधिकारे रोगाणामनुसरणीयम् ॥ ११—१३ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रत्यष्टोदरादीनां तथा वक्ष्यमाणानां महारोगे तथानुक्तानामिह तन्त्रे  
रोगाणां निजानां वातपित्तश्लेष्माण एव ध्येयताः समस्ता वा कारणं भवन्तीत्येतद्रूपं रोगाणां  
चिकित्सोपयोगि सूत्रं दर्शयितुमाह—सर्व इत्यादि ।—सर्व इत्युक्ता अनुक्ताश्च । यद्यप्यागन्तुषु

निर्वर्तन्ते । यथा हि शकुनिः सर्वा दिशः परिपतन्  
स्वां छायां नातिवर्तते, तथा स्वधातुवैषम्यनिमित्ताः  
सर्वे विकारा वातपित्तकफान् नातिवर्तन्ते । वातपित्तश्लेष्मणां  
तु खलु स्थानसंस्थानप्रकृतिविशेषान् समीक्ष्य तदात्मकानपि  
सर्वविकारांस्तांस्तानेवोपदिशन्ति बुद्धिमन्तः ॥ १४ ॥

प्रत्यनीकचिकित्सा न कार्येति ज्ञापनाय निजा इत्युक्तम् । अत्र दृष्टान्त-  
माह—यथा हीत्यादि । शकुनिः पक्षी । सुश्रुतेऽप्युक्तं—“सर्वेषाञ्च व्याधीनां  
वातपित्तश्लेष्माण एव मूलं तल्लिङ्गत्वाददृष्टफलत्वादागमाच्च । यथा हि कृत्स्नं  
विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितं सत्त्वरजस्तमांसि न व्यतिरिच्य वर्तन्ते,  
एवमेव कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितमव्यतिरिच्य वातपित्त-  
श्लेष्माणो वर्तन्ते” इति । तथा स्वधातुवैषम्यनिमित्ता इति स्वपदेन वाताद्य-  
न्यतमज्वरादीनां पित्तादिव्यतिरिक्तत्वं ख्यापितम् । धातुपदेन बाह्यहेतु-  
व्यायामादिकटादिगुरुमधुरादीनां बाह्यहेतूनां निरासः । उक्तं हि “जायन्ते  
हेतुवैषम्याद्विपमा देहधातवः” इति । वैषम्यपदेन साम्यनिमित्तानामुत्साहा-  
दीनां दर्शनादीनां स्नेहादीनाञ्च निरासः । निमित्तपदेन न पश्चात् धातु-  
वैषम्यजनकानामागन्तूनां दण्डाद्यभिधातादीनां निरासः । न हि दण्डाद्यभि-  
धातेन जाताः क्षतादयः पूर्वं धातुवैषम्यनिमित्ता भवन्तीति । एवं सर्वे  
विकारा इति ज्वरादिरूपाः न तु वातादिवैषम्यरूपाः । इति च निमित्तपदेन  
ख्यापितम् ।

ननु ग्रीहोदरादयः पूर्वमेवागन्तुं विनव स्वधातुवैषम्यनिमित्ताः पृथङ्-  
निर्दिष्टाः किं दोषागन्तुभ्यामतिप्रोच्यन्ते इति ? अत आह—वातपित्तेत्यादि ।  
ग्रीहादयो हि पूर्वं वाताद्यविनाभूता भवन्ति । वातेत्यादि । वातादीनां  
स्थानं रसादि पक्वाशयादि, संस्थानं लिङ्गम्, प्रकृतिः समवायिकारणं  
रौक्ष्यादिगुणः, तेषां विशेषान् प्रभेदानभिसमीक्ष्य तदात्मकान् धातुस्थान-  
अपि दोषसम्बन्धो न व्यभिचरति, तथाप्यागन्तौ रोगे दोषापेक्षया न चिकित्सेत्यागन्तुव्युदासार्थं  
निजा इत्युक्तम् । स्वज्ञेदेनागन्तुकृतं धातुवैषम्यं निराकरोति ; ननु यदि वातादिजन्या एव  
सर्वविकारास्तत् किमर्थमन्यथाप्युदरादयः ग्रीहजत्वादिभिः निर्द्देश्यन्त इत्याह—वातपित्तेत्यादि ।  
—स्थानं रसादयो वस्त्यादयश्च, संस्थानमाकृतिलक्षणमिति यावत्, प्रकृतिः कारणम्, एषां  
विशेषानभिसमीक्ष्य तांस्तानुपदिशन्ति “अष्टावुदराणि” इत्येवमादुपदिशन्ति ; तदात्मकानपि

भवतश्चात्र—

स्वधातुवैषम्यनिमित्तजा ये विकारसङ्घा बहवः शरीरे ।

न ते पृथक् पित्तकफानिलेभ्य आगन्तवस्त्वेव ततो विशिष्टाः ॥

संस्थानप्रकृत्यात्मकत्वेन तांस्तान् वातादिजानेवोदरादीन् सर्वविकारान् बुद्धिमन्त उपदिशन्ति । वातपित्तकफसन्निपातप्लीहबद्धच्छिद्रोदकोदराणीत्यष्टा-  
बुदराणीति एवमादीन् । स्थानविशेषेण नाम रक्तगुल्मादुपदेशः । संस्थान-  
विशेषेणोपदेशस्तु इक्षुरसमेहादिव्यपदेशः । प्रकृतिविशेषेण व्यपदेशस्तु प्लीहो-  
दरादीत्यन्ये । तन्न । स्थानविशेषत्वात् प्लीहादेः । परन्तु शीतज्वर उष्ण-  
ज्वर इत्यादि रसज्वररक्तज्वरेत्येवमादिरूपेण । किन्तु वातादिहेतुलक्षणवशाद्  
वातादिजा एव ते सर्वे रोगा बोध्या इति ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—अत्राधिकार्थप्रदर्शनार्थमाह—भवतश्चात्रेत्यादि । अत्रापि स्वधातु-  
वैषम्यनिमित्तजा इति पूर्ववद्व्याख्येयम्, तत्र बहुव्रीहिः अत्र कर्मधारयः  
स्वधातुवैषम्यपदस्य निमित्तपदेन सह । ततो जनेडे इति तु धात्वर्थः । प्रकरणाद्  
बहव इति बहवो रोगास्ते च विकारसंघाः स्वस्वलक्षणरूपविकारसमूहवन्तः ।  
एतद्विशेषेण स्वस्वलक्षणस्यापि स्वधात्मात्मकत्वं ख्यापितम् । शरीरे इति पदं  
मानसव्याध्यागन्तुव्याध्योर्व्यवच्छेदार्थम् । पित्तकफानिलेभ्यो न पृथङ्नान्ये  
वर्तन्ते इत्यर्थः । अत्र पित्तस्यादावुपादानं छन्दोऽनुरोधात् । वाताद्यात्मका एव  
नान्यात्मकाः, यथा मृदात्मका एव घटादयः इति । आगन्तवस्तु ततो वाता-  
दिभ्यो विशिष्टा अन्ये एव ।

वातादिजनितानपि । तत्र स्थानविशेषादुपदेशो यथा—ऊरुस्तम्भरक्तयोनिकामलाग्रभृतयः, संस्थान-  
विशेषात् पिङ्गकागुल्मग्रभृतयः, प्रकृतिविशेषात् श्लेष्मप्लीहोदरग्रभृतयः । अन्ये तु व्याख्यानयन्ति—  
यतस्तानेवेति वातादिजानेवेति व्यपदिशन्ति, तदात्मकानपीति यथोक्ताष्टादिसंख्यायुक्तानपि,  
यद्यपि प्लीहादिकारणान्तरेण भिन्ना अपि रोगास्तथापि वातादिस्थानजन्यत्वेन तथा वातादिलक्षण-  
युक्तत्वेन तथा वातादिकारणजातत्वेन वातादिजा एव सर्वविकारा इति वाक्यार्थः ॥ १४ ॥

चक्रपाणिः—अमुमेवार्थं श्लोकेनाह—स्वधात्वित्यादि ।—स्वशब्दोऽग्रे वक्ष्यमाणशरीरापेक्षः,  
तेन शरीरधातुवैषम्यं गृह्यते, मानसन्तु प्रतिक्षिप्यते; धातवश्च न स्वरूपेण रोगकारणमिति  
वैषम्यपदं कृतम् । आगन्तवो हि रोगा अभिघातज्वरादयो धातुवैषम्यजा भवन्ति, अतस्तद्व्युदा-  
सार्थं निमित्तपदम्, आगन्तुषु वैषम्यं चिद्यमानमपि कारणत्वेन न व्यपदिश्यते अप्रधानत्वात् ।  
किन्त्वागन्तुरेव लघुगुडादिप्रहारस्तत्र चिकित्साविशेषप्रयोजककारणं; निजे तु वैषम्यमेव चिकित्सा-

आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथागन्तुमतिप्रवृद्धः ।

तत्रानुबन्धं प्रकृतिश्च सम्यग् ज्ञात्वा ततः कर्म समाचरेत् ॥ १५ ॥

ननु कथं त्रयः शोथा भवन्ति वातपित्तश्लेष्मनिमित्तास्ते पुनर्द्विधा निजागन्तुभेदेनेति वचनेनागन्तोर्वाताद्यत्मकत्वं सङ्गच्छते-इति ? अत आह—  
आगन्तुरित्यादि । निजमिति वातादिदोषवैषम्यरूपं पूर्वभागान्तुर्दण्डाद्यभि-  
घातजनितो भूतादिजनितश्च, उत्तरकालं निजं वातादिदोषवैषम्यरूपमन्वेति ।  
अतिप्रवृद्धश्चेत् बहुकालेन च शरीरप्रायो भवतीति बोध्यः । तथा निजः वातादि-  
दोषजो व्याधिरतिप्रवृद्धः कालान्तरेणानुबन्धादतिबलवान् आगन्तुरत्र भूता-  
दिकमन्वेति । तस्मादागन्तुरपि वाताद्यनुबन्धरूपात्मकत्वेनोत्तरकालं नाति-  
वर्त्तते । ननु कामज्वरादीनां मानसव्याधीनां किमागन्तुकत्वम्, किं मानसत्वम्  
इति चेत् ? न । कामादीनां मानसव्याधित्वात् तज्जानां ज्वरादीनामागन्तुजत्वात् ।  
ननु तत्रोत्तरकालं वातादिप्रत्यनीकं कर्म किं कर्त्तव्यमिति ? अत आह—तत्रे-  
त्यादि । प्रकृतिं कामशोकादिकारणं वातादिकारणञ्च सम्यक् बलाबलत्वेन  
ज्ञात्वा । किंवा अनुबन्धमप्रधानम्, प्रकृतिं प्रधानम् । यदुक्तं “स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो  
यथोक्तसमुत्थानोपशमो भवत्यनुबन्धः । तद्विपरीतोऽनुबन्ध इति” ॥ १५ ॥

प्रयोजकम् । ‘निमित्तजाः’ इति च स्वधातुवैषम्यपदस्य कर्मधारयत्वेन, बहुव्रीहिपक्षे त्वनर्थक एव  
स्थात् । विकारसङ्घा इत्याद्यावदुराणीत्यादयः । बहुवचनेनैव बहुत्वे लब्धे पुनः ‘बहुवः’ इति  
वचनं बहुवचनस्य त्रित्वमात्रेणैव चरितार्थत्वनिषेधार्थम् । न ते पित्तकफानिलेभ्यः पृथगिति  
पित्तकफानिला एव ते दूष्यादिविशेषभाज इत्यर्थः ; इह पित्तमादौ कृतं छन्दोऽनुरोधात्, किंवा  
प्राधान्यानियमज्ञापनार्थं कृतम् । अत्र च धातुवैषम्यमात्रं विकारो नोक्तः, तस्य वातादिवैषम्य-  
रूपत्वेन सिद्धत्वादेव ; यस्तु धातुवैषम्यविशेषो धातुवैषम्यजातो ज्वरादिरूपः, स इह शिष्यं  
प्रति विकृतवाताद्यभेदेन प्रतिपाद्यते । तत इति पूर्वोक्तविकारसङ्घात् । विशिष्टा इति पित्त-  
कफानिलव्यतिरिक्ताः ।

सम्प्रति भिन्नयोर्निजागन्तोः सम्बन्धमाह—आगन्तुरित्यादि । निजं प्रथमसमुत्पन्नं  
विकारमागन्तुर्भूतादिजन्यो विकारोऽन्वेत्यनुगतो भवति, यथा दोषज एव ज्वरे उन्मादे  
वा पश्चाद् भूतनिवेशोऽपि भवति, तथागन्तुमुत्पन्नमभिघातजं ज्वरं भूतजञ्चोन्मादं पश्चाद्धेतु-  
मासाद्य निजोऽपि तत्र दोषलक्षणलक्षितो गदो भवति । ‘अपि प्रवृद्धः’ इति वचनेन आगन्त्वव-  
स्थायामपि निजदोषो वृद्धोऽस्त्येव, परं प्रवृद्धोऽसौ न भवति स्वलक्षणाकर्तृत्वेनेति दर्शयति । अपि-  
शब्देन तु निजस्य निजेन तथागन्तोरेष्यागन्तुना अनुबन्धः सूच्यते । अत्र निजागन्त्वोरनुकार्य-  
माह—तत्रेत्यादि । अनुबन्धः पश्चात्कालजातः, प्रकृतिर्मूलभूतः, सम्यग्ज्ञात्वेति बलवत्त्वा-

तत्र श्लोकौ ।

विंशकाश्चैककाश्चैव त्रिकाश्चोक्तास्त्रयस्त्रयः ।  
द्विकाश्चाष्टौ चतुष्काश्च दश द्वादश पञ्चकाः ॥  
चत्वारश्चाष्टका वर्गाः षट्कौ द्वौ सप्तकास्त्रयः ।  
अष्टोदरीये रोगाणामध्याये सम्प्रकीर्तिताः ॥ १६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते श्लोकस्थाने-  
ऽष्टोदरीयो नाम एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थमाह—तत्र श्लोकाविति ॥ १६ ॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि । इति पूर्व्वेवद्वाख्येयम् । इत्याष्टोदरीयः ।  
इतिशब्दः समाप्तिवचनः ॥

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजलपकल्पतरौ सूत्र-  
स्थानीयं कोनविंशाष्टोदरीयाध्यायजलपाख्या  
एकोनविंशी शाखा ॥ १९ ॥

बलवत्त्वादिना ; किंवा, अनुबन्धोऽप्रधानः, प्रकृतिरनुबन्ध्यः प्रधानमित्यर्थः ; यदुक्तं—“स्वतन्त्रो  
व्यक्तलिङ्गः स्वचिकित्साप्रशमश्चानुबन्धोऽतो विपरीतस्त्वनुबन्धः” इति ॥ १५।१६ ॥

इति चरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्वेददीपिकायां सूत्रस्थान-  
व्याख्यायाम् अष्टोदरीयो नाम एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

## दिंशोऽध्यायः ।

अथातो महारोगाध्यायं व्याख्यास्यामः, इतिह

स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

चत्वारो रोगा भवन्ति, आगन्तुवातपित्तश्लेष्मनिमित्ताः ।  
तेषां चतुर्णामपि च रोगाणां रोगत्वमेकविधं भवति रुक्-  
सामान्यात् । द्विविधा पुनः प्रकृतिरेषामागन्तुनिजविभागात् ।

गङ्गाधरः—अथ त्रिष्वध्यायेषु तावन्तः सामान्यतो वातादिजा उक्ताः ।  
सम्प्रति परिशिष्टान् वातादेरकजान् नानाव्याधीनुपदेष्टुं महारोगाध्याय-  
माह—अथात इत्यादि । रोगस्यात्र महत्त्वमेकैकजनानात्वमिति महा-  
रोगाणां विज्ञानायाध्यायस्तं तथा इति कश्चित् । तन्न । संग्रहश्लोके सम्यङ्  
महति रोगाणामध्याये तत्त्वदशनेति स्ववचनविरोधात् । तेन रोगाणामध्यायः  
रोगाध्यायः । महंश्चासौ रोगाध्यायश्चेति महारोगाध्यायः । पूर्वाध्याया-  
पेक्षयास्य महत्त्वादिति । सर्व्वं पूर्वाध्यायवद्व्याख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—चत्वार इत्यादि । यद्यपि तिस्रैपणीये त्रयो रोगा इति निजा-  
गन्तुमानसा इत्युक्तं, तथापि मानसव्याधेरगन्तुत्वख्यापनार्थं पुनरिहोच्यते—  
आगन्तुरित्यादि—इति कश्चित् । तन्न । वचनमिदं हि शारीरव्याध्यभिप्रायेण ।  
तत्र हि शारीरमानसोभयाभिप्रायेण तद्वचनमुक्तम् । तेषामित्यादि । रुक्-  
सामान्यादिति धातुवैषम्यसामान्यात् दुःखत्वसामान्याद्वा । प्रकृतिः समवायि-  
कारणं स्वभावो वा । आगन्तुत्वं पूर्व्वसञ्चयदोषानपेक्षत्वे सति दुःखजनकत्वम् ।  
मानसव्याधिकामादिदण्डाद्यभिघाताभ्यां जातज्वरादेश्च जनकयोर्मानसदोष-  
दण्डाद्यभिघाताद्योः पूर्व्वसञ्चयापेक्षाशीलत्वाभावादागन्तुत्वम् । पूर्वाङ्गादि-  
कालिककफादेः शेषरात्रादिसञ्चयापेक्षप्रकोपेण ज्वरादिव्याधिजनकत्वम् । न

चक्रपाणिः—पूर्व्वं सामान्येन वातादिजन्या उक्ताः, सम्प्रत्यवशिष्टान् केवलवातादिजन्यान्  
अभिधातुं महारोगाध्यायोऽभिधीयते । आगन्तोरुक्तस्यापि त्रिशोथीये पुनरिह विशेषेण  
लक्षणाद्यभिधानार्थमभिधानम् । प्रकृतिरिह स्वभावः । मनःशरीरविशेषादिति आगन्तोरपि मनः  
शरीरञ्चाभिधानम्, एवं निजस्यापि, आगन्तुग्रहणेन च मानसोऽपि कामादिगृह्यते ।



द्विविधञ्चैषामधिष्ठानं मनःशरीरविशेषात् । विकाराः पुनः

तु सञ्चयनिरपेक्षप्रकोपेणेति नागन्तुत्वम् । तिस्रं षणीये तु यदुक्तमागन्तुत्वं भूतविषवाय्वग्निसम्प्रहारादिसमुत् इत्यनेन तत्रागन्तुशब्देन विरुध्यते । तत्र हि मानसनिजागन्तुजास्त्रिधा व्याधय एवोक्ताः । अत्र तु निजागन्तुजावेव शारीर-  
व्याध्यधिकाराभिप्रायेणागन्तुनिजभदादित्युक्तौ । द्विविधञ्चैषामधिष्ठानं मनः-  
शरीरविशेषादित्युक्तेर्न चानुपपत्तिः । शारीराणां कामभयादिजज्वरादीनां मनो-  
ऽधिष्ठानाभिप्रायात् । न तु मानसकामादिव्याधेरधिष्ठानाभिप्रायेण मनःशरीर-  
विशेषादित्युक्तम् । अथापस्मारोन्मादादीनामुभयाश्रयत्वं तदा किं तेषां  
मानसत्वम्, किं शारीरत्वं ? न तावन्मानसत्वं शारीरदोषजन्यत्वात् न वा  
शारीरत्वं मनःसंश्रयत्वात् । किन्तु मानसातिरिक्तशारीरातिरिक्तत्वाभ्यामत्र  
मानसव्याध्यतिरिक्तत्वमेवास्तीति । मानसव्याध्यतिरिक्तव्याध्यधिकारोऽयं  
रोगचतुष्क इति च नाशङ्क्यं चतुर्णामपि रोगाणां रोगत्वमेकविधं भवति  
रूक्सामान्यादिति वचनानुपपत्तिः । यदि चागन्तुवातपित्तकफनिमित्तानां  
चतुर्णां रोगत्वं रूक्सामान्यादेकविधत्वमन्यत्र रूक्सामान्यसत्त्वे कथं व्याहृत्यत  
इति ? तर्हि द्विविधञ्चैषामधिष्ठानं मनःशरीरविशेषादित्यत्र मनःशरीरविशेषा-  
दित्युक्तापत्तिः स्यादिति कश्चित् । तन्न । तत्र केवलमानसव्याधेरनधिकरण-  
त्वाभिप्रायेणैवोक्तं—चत्वारो रोगा भवन्तीत्यादि । एषां चतुर्णान्तु द्विविध-  
मधिष्ठानं शारीराभिप्रायेण मनःशरीरविशेषादित्युक्तम् । यद्यप्यपस्मारोन्मादादे-  
रुभयाश्रयत्वं तथाप्यपस्मारोन्मादाद्यारम्भकदोषस्य वातादेः प्राक्सत्त्वाल्लभभावे  
रजस्तमसोराधिक्ये अपस्मारोन्मादादिजनकत्वात् शारीरत्वेऽपि क्षीणसत्त्व-  
मानसत्वप्राधान्यान्मनस एवाधिष्ठानत्वात् । अधिष्ठानं हि न केवलमाधारवस्त्वात्मा  
तूच्यते । किन्त्वाधेयवस्तुनो यः स्वस्वधर्मस्तेनावच्छिन्न आधार उच्यते । यथा  
वह्नाधारकर्षु महानसादिर्वह्निधर्मोष्णत्वावच्छिन्नकर्षूत्वादिमान् तथा चात्र  
दूष्यत्वे सत्यधिकरणत्वमधिष्ठानत्वमिति बोध्यम् । सर्व्वेषामेव हि रोगाणा-  
मागन्तुनिजानां स्वजनितदुःखस्य मनोऽनुभूतत्वान्न मानसत्वम् न वा  
मनोऽधिष्ठानमिति । अत ऊर्द्धञ्च मुखानि तु खल्वागन्तोरित्यादिना  
चागन्तोः कारणोपदेशे केवलमानसव्याधेर्दोषरजस्तमसोरदृष्टत्वाच्च । त्रिशोथीये  
“त एवापरिसंख्यया भिद्यमाना भवन्ति हि । रुजावर्णसमुत्थान-

एवं चतुर्विधत्वादि प्रतिपाद्य पुनः प्रकारान्तरेणापरिसंख्येयतां रोगाणामाह—

अपरिसंख्येयाः प्रकृत्यधिष्ठानलिङ्गायतनविकल्पविशेषाणाम्  
अपरिसंख्येयत्वात् ॥ २ ॥

मुखानि तु खल्वगन्तोनखदशनपतनाभिघाताभिषङ्गाभि-

स्थानसंस्थाननामभिः ॥” इत्यनेनापरिसंख्येयत्वस्योक्तत्वेऽपि पुनरिहा-  
परिसंख्येयत्ववचनं रोगपरिसंख्योपदेशप्रकरणत्वात् पुनरुक्तं बोध्यम् ।  
किंवा उक्ततत्प्रकारा विविधप्रकारेणात्रापरिसंख्येयत्ववचनमिदं समग्रो-  
पादानार्थमिति न पुनरुक्तम् । अत्र हि प्रकृतिः समवायिकारणम् ।  
प्रकृतिभूतद्रव्यं वातादिः । अधिष्ठानमपि दृष्यत्वेनावस्थानं रसरक्तादि ।  
लिङ्गं लिङ्गीभूतज्वरादीनां लिङ्गम् । आयतनं वातादीनां पकाशयादि । तथा  
चात्रोक्तानां तत्रोक्तानाञ्च प्रकृत्यादीनां रुजावर्णादीनाञ्च विकल्पविशेषाणा-  
मपरिसंख्येयत्वादिकारा अपरिसंख्येया इति पर्यवसितोऽर्थो बोध्यः ।  
तद्यथा—दोषदृष्यलिङ्गीभूतलिङ्गपकाशयादीनां रुजावर्णवाह्यहेतुरात्रिजाग-  
रणादिगात्रप्रदेशविशेषलिङ्गनाम्नाञ्च विशेषाणां विकल्पेन तद्भेदे भवन्त्यपरि-  
संख्येया रोगा इति निष्कर्षः । दोषा हि संसर्गांशांशयोर्विकल्पेनापरिसंख्येयाः ।  
दृष्याश्च रसादयः शरीरावयवाः परस्परमेलकाल्पत्वाधिकत्वादिना विभज्यमाना  
अपरिसंख्येयाः । लिङ्गानि च लिङ्गीभूतानां ज्वरादीनां प्रत्येकशक्तापरि-  
संख्येयत्वानि तन्त्रे त्वाचार्येणाविष्कृततमान्युपदिश्यन्ते । आयतनानि च  
वातादीनां शरीरप्रदेशेऽपरिसंख्येयान्याचार्येणाविष्कृततमानि कतिचिदुप-  
दिश्यन्ते ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—एषाम् अव्यवहितपूर्ववर्त्तिकारणान्याह—मुखानीत्यादि । यद्यपि

विकारा इत्यादि । पुनरिति वक्ष्यमाणप्रकारान्तरेण, प्रकृतिः प्रत्यासन्नं कारणं वातादि,  
अधिष्ठानं दृष्यं, लिङ्गानि लक्षणानि, आयतनानि वाह्यहेतवो दुष्टाहाराचाराः ; एषां विकल्परूपो  
विशेषो विकल्पविशेषः , तेषामपरिसंख्येयत्वादिति—अत्र दोषाः संसर्गांशांशविकल्पादिभि-  
रसंख्येयाः ; दृष्यास्तु शरीरावयवा ७ गुणः परस्परमेव मेलकेन विभज्यमाना असंख्येयाः ;  
लिङ्गानि कृत्स्नविकारगतान्यसंख्येयान्येव, आविष्कृतानि तु तन्त्रे कथितानि ; हेतवश्चावान्तर-  
विशेषादसंख्येयाः , प्रव्यक्ता एव विकाराः । केचित् पुनरेषामिति पठन्ति, स तु पाठो नानुमत-  
स्तावत्, यदि च स्यात्, तदा देहमनःप्रत्ययसर्पकम्—‘एषाम्’ इति पदम् । बहुवचनन्तु मनः-  
शरीरयोर्बहुत्वविवक्षया ॥ १२ ॥

चक्रपाणिः—मुखानि कारणानि, यथा “रजस्वलागमनमलक्ष्मीमुखानाम्” इति । श्रेणमिति

चाराभिशापबध-बन्धनव्यधन-वैष्टन-पीडनरज्जुदहनशस्त्राशनि-  
भूतोपसर्गादीनि । निजस्य तु खलु मुखं वातपित्तश्लैष्मिकं  
वैषम्यम् ॥ ३ ॥

द्वयोस्तु खल्वागन्तुनिजयोः प्रेरणमसात्स्वयेन्द्रियार्थसंयोगः  
प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति । सर्वेऽपि खल्वेते प्रवृद्धाश्चत्वारो  
रोगाः परस्परमनुवधन्ति । न चान्योन्येन सह सन्देह-  
मापद्यन्ते ॥ ४ ॥

तिस्रैषणीये भूतविषवाग्ब्रीत्यादिनागन्तुकारणान्युक्तानि तथाप्यत्र प्रकरणात्  
भाष्यरूपेण तद्विषयवसायार्थं पुनरुक्तान्यपुनरुक्तानि भवन्ति । निजस्येति  
शरीरदोषसमुत्थस्य विशिष्टस्य ज्वरादिरूपस्य धातुवैषम्यस्य निजत्वे तस्य स्व  
हेतुत्वासम्भवात् वैषम्यं प्रत्येकशो हानिराधिक्यञ्च संसृष्टानामपि सन्निपतितानां  
ह्रस्ववृद्धसंसृष्टसाम्यञ्च । एतानि खल्वागन्तुनिजयोः कारणानि कर्तृभूतानि  
सन्निकृष्टानि । प्रेरणमिति प्रेरयतीति कर्त्तरि कृत् प्रयोजकमित्यर्थः । तेन  
नखादिपातनादेर्वातादिवैषम्यस्य च प्रयोजकमसात्स्वयेन्द्रियार्थसंयोगाद्विरयं  
बोध्यम् । ज्वररक्तपित्तादीनां प्रतिनियतकारणमिध्याहारादीनां वातादिप्रेरक-  
त्ववत् ज्वरादिजनकत्वमप्यस्तीति न्यूनत्वदोषो नाशङ्क्यः । तत्रापि मिध्याहारा-  
दीनां प्रतिनियतज्वराद्यारम्भकतया वातादिप्रेरकत्वं न तु व्याधिजनकत्वम् ।  
साक्षादेव यत्र तु बाह्यहेतूनां वातादिप्रेरकत्ववत् साक्षाद्राधिजनकत्वं तत्र  
तज्जत्वेनैवाचार्यैर्व्याधयो व्यपदिश्यन्ते । यथा मृत्तिकाजपाण्डुरोगादयः । एतेन  
रक्तादिजत्वेन गुल्मादीनां व्यपदेशो व्याख्यातो भवति । अनुवधन्तीत्यनु-  
गच्छन्तीति । अष्टोदरीये यदेतदुक्तम्—आगन्तुरन्वेतीत्यादिना तदागन्तुनिजयोः  
परस्परानुबन्धकत्ववचनमप्यत्र वातजादीनामन्यतमानुबन्धकत्वस्वरापनार्थमत्र  
पुनरुक्तम् । नन्वतिवृद्धत्वे वातजपित्तजकफजागन्तुजानामन्यतमानुबन्धकत्वे  
मिश्रीभावेनागन्तुनिजयोर्निजागन्तुजान्यतमत्वेन सन्देहः स्यादिति चेत् ? नेति ।  
अर्थमाह—न चेत्यादि । तथात्वेनान्योन्येन ते रोगा न सन्देहत्वापद्यन्ते  
परस्परानुबन्ध्यत्वे ॥ ३।४ ॥

कारणम्, अनेकार्थत्वाद्वातूनाम् । अनुबध्नन्त्यनुगच्छन्ति । न सन्देहमापद्यन्त इति न सन्देह-  
विषयतामापद्यन्ते । मिश्रीभूता अपि प्रतिसंभिन्नैर्लक्षणैर्भेदा ज्ञायन्त इत्यर्थः ॥ ३।४ ॥

आगन्तुर्हि व्यथापूर्वमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां  
वैषम्यमापादयति । निजे तु वातपित्तश्लेष्मणाः पूर्वं  
वैषम्यमापद्यन्ते, जघन्यं व्यथामभिनिवर्तयन्ति ॥ ५ ॥

तेषां त्रयाणामपि दोषाणां शरीरे स्थानविभागमनु-  
व्याख्यास्यामः । तद् यथा—वस्तिः पुरीषाधानं कटी  
सक्थिनी पादावस्थीनि च वातस्थानानि । तत्रापि पक्काशयो

गङ्गाधरः—तत्र हेतुमाह—आगन्तुर्हीत्यादि । जघन्यमिति पश्चात् । वैषम्य  
मापादयतीति वातादिवैषम्यप्रेरको भवति इत्यर्थः । पूर्वं व्याधौपनिपतति  
दुःखं प्राक् व्यथाया जघन्यमुत्तरकालं वातादिवैषम्यमापादयति । निजे तु  
वातादयः पूर्वं पश्चाद्व्यथां तत्रोत्पादयन्ति परं दुःखमाधिदैवमात्रिभौतिकमाध्या-  
त्मिकं वा । इति आगन्तुनिजयो पूर्वोत्तरकालं व्यथादोषवैषम्यदोषवैषम्य-  
व्यथात्वकभेदकलक्षणम् । अत्र वातजस्य पित्तजानुबन्धकत्वे मिश्रीभावे को भेद  
इति नाशङ्क्यः, तयोर्मिश्रीभावे स्वस्वलक्षणमेव भेदकमलं तदुक्तेनेति । अथ  
प्रकृत्यधिष्ठानसमुत्थानं ज्ञात्वा कर्माचरणमुपदिष्टम् । तत्रागन्तवादि-  
प्रकृतिरुक्ता ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—असात्मेन्द्रियार्थसंयोगादिसमुत्थानमुक्तम् अधिष्ठानन्तु किं  
तावद्वातादीनामित्यत आगन्तोर्वातादीनान्तु स्थानेषु वक्तव्येषु तत्रागन्तोः  
स्थानप्रतिनियमाभावेन, वातादीनान्तु स्थाननियमाद्वातादीनां स्थानान्याह—  
तेषामित्यादि किंवा वातादीनां मिश्रीभावे सन्देहनिरासार्थं भेदकस्थाना-  
न्याह—तेषामित्यादि । त्रयाणामपीत्यपिशब्दः समुच्चये । निजागन्तुभेद उक्तः,  
त्रयाणाञ्च दोषाणां मिश्रीभावे सन्देहनिरासार्थं स्थानविभागमनुव्याख्यास्याम  
इति भावः ।

तद्यथेत्यादि । वातस्थानानीति प्राणादिभेदेन हृत्कण्ठवह्निपायुसर्वार्हेषु  
पक्काशये च नित्यं स्थितस्य वातस्य शीर्षादिविशेषसञ्चारस्थानवदेतानि वस्त्या-

चक्रपाणिः—आगन्तुनिजयोर्भेदकं लक्षणमाह—आगन्तुर्हीत्यादि । आगन्तुरूपन्नः सन्,  
व्यथापृथ्वीमिति पीडां प्रथमं कृत्वा पश्चाद्दोषाणां वैषम्यमिति दोषवैषम्यलक्षणमुक्तम्,—स्वलक्षण-  
कारकन्तु वैषम्यमागन्तोरादितः प्रभृति विद्यमानमप्यकिञ्चित्करमिति भावः ॥ ५ ॥

चक्रपाणिः—आगन्तुनिजयोर्भेदकं लक्षणमभिधाय निजविकारकराणां वातादीनां भेदज्ञानार्थम्

विशेषेण वातस्थानम् । स्वेदो रसो लसीका रुधिरमामाशय-  
श्चेति पित्तस्थानानि । तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्त-  
स्थानम् । उरः शिरो ग्रीवा पठ्वाग्यामाशयो मेदश्च

दीनि व्यानापानवातयोः सञ्चारस्य स्थानानि वैशेषिकाणि । तत्रापि  
पकाशयो विशेषेण बोध्यः । समानापानव्यानानां त्रयाणामधिष्ठानत्वात् प्रायेण  
वस्त्यादिषु स्थानेषु वातविकारा भवन्ति । एषु च स्थिते वाते जिते सर्व-  
वातविकारजयः स्यादित्यभिप्रायेणोक्तान्येतानि स्थानानि । उक्तं हि  
सुश्रुते—“तत्र समानवातः श्रोणिगुदसंश्रयः, श्रोणिगुदयोरुपग्रहो नाभेः  
पकाशय इति । प्राणोदानौ समानश्च व्यानश्चापान एव च । स्थानस्था  
मारुताः पञ्च यापयन्ति शरीरिणम् ॥ वायुर्यो वक्तुः सञ्चारी स प्राणो नाम  
देहधृक् ॥ सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चाप्यवलम्बते । प्रायशः कुरुते द्रुष्टो  
हिकाश्वासादिकान् गदान् ॥ उदानो नाम यस्तूढं मुपैति पवनोत्तमः । तेन  
भाषितगीतादि-विशेषोऽभिप्रवर्त्तते । ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् करोति च विशेषतः ॥  
आमपकाशयचरः समानो वह्निसङ्गतः । सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान्  
विविनक्ति हि । गुल्माग्निसङ्गातिसार-प्रभृतीन् कुरुते गदान् ॥ कृत्स्नदेहचरो  
व्यानो रससंवाहनोद्यतः ॥ स्वेदासृक्स्त्रावणो वापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि ॥  
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान् ॥ पकाधानालयोऽपानः काले  
कर्षति चाप्ययम् । समीरणः शकृन्मूत्र-शुक्रगर्भात्तेवान्यथः ॥ क्रुद्धश्च कुरुते  
रोगान् घोरान् वस्तिगुदाश्रयान् । शुक्रदोषप्रमेहाश्च व्यानापानप्रकोपजाः ॥  
युगपत् कुपिताश्चापि देहं भिन्दुररसंशयम् ॥” इति वचनैः वातिकस्थानान्युक्तानि ।

पित्तस्थानान्याह—स्वेद इत्यादि । लसीका देहोदकस्य पिच्छाभागः ।  
तत्राप्यामाशयः पित्तस्य विशेषेण स्थानम् पाचक-रज्जक-भ्राजकानां त्रयाणां  
मधिष्ठानत्वात् । प्रायेणैतेषु स्थानेषु स्थितस्य पित्तस्य जितत्वे सर्वपित्त  
विकारावजयः स्यादित्यभिप्रायेणोक्तानि । आमामाशयः पकामाशयमध्यम् ।  
सुश्रुते हि पकामाशयमध्यं पित्तस्येत्युक्तम् ।

श्लेष्मणः स्थानान्याह—उर इत्यादि । अत्रामाशय इत्यामाशयस्योद्धा-

आह—तेषामित्यादि । पुरीषाधानं पकाशयः । यद्यपि प्राणादिभेदभिन्नस्य वायोः पृथगेव  
स्थानानि वक्ष्यति, यथा,—“स्थानं प्राणस्य शीर्षैरः कण्ठजिह्वास्यकर्णनासिकाः” इत्यादि, तथापीदं  
वैशेषिकं स्थानं ज्ञेयं, यत्, अत्र प्रायो वातादिविकारा भवन्ति, भूताश्च दुर्जयाः । अत्र च विजिते

श्लेष्मणः स्थानानि । तत्राप्युरो विशेषेण श्लेष्मणः स्थानम् ॥ ५ ॥

सर्व्वशरीरचरास्तु खलु वातपित्तश्लेष्माणो हि सर्व्वस्मिन् शरीरे कुपिताकुपिताः शुभाशुभानि कुर्व्वन्ति । प्रकृतिभूताः शुभान्युपचयबलवत्प्रसादादीनि । अशुभानि पुनर्विकृतिमापन्नानि विकारसंज्ञकानि । तत् विकाराः सामान्यजा वयवभागः । अत्राप्युरो विशेषेण श्लेष्मणः स्थानमिति, क्लेदकावलम्बकश्लेष्काणां त्रयाणामधिष्ठानत्वात् । प्रायेणैषु स्थानेषु स्थितस्य कफस्य जये सर्व्वश्लेष्मविकारावजयः स्यादित्यभिप्रायेणोक्तान्येतानि स्थानानि । सुश्रुते तु श्लेष्मणः स्थानमामाशय इति यदुक्तं तत्राप्यामाशयोद्धभागाभिप्रायेण बोध्यम् । अथवा पाचकपित्तस्थानाभिप्रायेण । सुश्रुतेनोक्तं—पक्वामाशयमध्यं पित्तस्येति । अत्र त्वामाशयः पित्तस्थानतया यदुक्तं तद् रज्जकपित्ताभिप्रायेणेति बोध्यम् । आमाशयः श्लेष्मणः स्थानं यत् सुश्रुतेनोक्तं तत् क्लेदकश्लेष्मस्थानाभिप्रायेण । अत्र त्वपि तदभिप्रायेणेति न विरोधः । एवमेव स्थानभेदेन लक्षणप्रभेदेन परस्परानुबन्धवातादीनां मिश्रीभावे सन्देहस्पर्शो न स्यादिति भावः ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—स्थानभेदवचनस्य प्रयोजनान्तरमाह—सर्व्वेत्यादि । सर्व्वशरीरचरत्वमेपां त्रयाणामेव पञ्चपञ्चात्मकत्वेन बोध्यम् । न केवलं व्यानभ्राजकश्लेष्ममात्रेण । तथात्वे तु कुपिताकुपिताः शुभाशुभानि कुर्व्वन्तीति वचनस्यानैकान्तिकत्वप्रसङ्गात् प्राणादिपाचकादिक्लेदकादीनामपि कुपिताकुपितानां शुभाशुभकर्तृत्वात् । सर्व्वस्मिन् हीति हिशब्दार्थस्य यस्मादित्यस्य ततो विकारा इत्यत्र तत् इत्यनेन सहान्वयः । किंवा एवार्थे हि सर्व्वस्मिन्नेव शरीरे इत्यर्थः । तत् इति तत्रेत्यर्थः ।

कुपिताकुपिताः शुभाशुभानीत्यस्यानुलोमतत्रयुक्त्यान्वयशङ्कानिरासार्थं शुभाशुभानि च विवर्तितामाह—प्रकृतीत्यादि-विकारसंज्ञकानीति ।

वाते सर्व्ववातविकारावजयः ; लसीकोदकस्य पिच्छाभागः, पित्तस्थाने आमाशय इति आमाशयाधोभागः, श्लेष्मस्थानेष्वामाशय आमाशयोद्धभागः ॥ ६ ॥

चक्रपाणिः—सामान्यजा इति वातादिभिः प्रत्येकं मिलितैश्च ये जन्यन्ते । नानात्मजा इति

नानात्मजाश्च । तत्र सामान्यजाः पृथ्वमष्टोदरीये  
व्याख्याताः । नानात्मजांस्त्विहाध्यायेऽनुव्याख्यस्यामः ।  
तद् यथा—अशीतिर्यतविकाराः । चत्वारिंशत् पित्तविकाराः ।  
विंशतिः श्लेष्मविकाराः ॥ ७।८ ॥

तत्रादित एव वातविकाराननुव्याख्यास्यामः । नखभेदश्च  
विपादिका च पादशूलश्च पादभ्रंशश्च पादसुप्तता च वात-  
खुड्डता च गुल्फग्रहश्च पिण्डकोद्वेष्टनश्च गृध्रसी च जानु-  
भेदश्च जानुभ्रिंश्लेषश्चोरुस्तम्भश्चोरुसादश्च पाङ्गुल्यश्च  
गुदभ्रंशश्च गुदात्तिश्च वृथणाक्षेपश्च शेफःस्तम्भश्च वङ्क्षणा-

विकारान् विवृणोति—तत इत्यादि । तत इति तत्रोपचयबलादिरूपाणि  
शुभानि । विकारसंज्ञकानीति । विकाराः सामान्यजा नानात्मजाश्चेति  
द्विधेति शेषः । तत्र सामान्यजा इति सामान्येन तत्तद्व्याधित्वरूपेण जायन्ते  
वाताद्वा पित्ताद्वा कफाद्वा द्वन्द्वाद्वा सन्निपतिताद्वाऽन्यस्माद्वा ये ते सामान्यजाः ।  
नानात्मजा इति नानात्मकत्वेन बहुव्याधित्वरूपेण जायन्ते वाताद्वा पित्ताद्वा  
कफाद्वा ये ते नानात्मजाः । ज्वरादयो हि ज्वरत्वावच्छिन्नाः प्रत्येकं वातादिव  
पित्तादितोऽपि जायन्ते । नखभेदविपादिकादयश्च केवलादेव वातात् बहु-  
व्याधित्वावच्छिन्ना जायन्ते । न तु वातादिव पित्तादित इति बोध्यम् ।  
तत्रेति सामान्यजनानात्मजविकारेषु मध्ये सामान्यजा इति स्थूला उदरादयः  
सूक्ष्माश्च व्यवस्थाकरणमित्यादिना व्याख्याता इत्यर्थः । इहाध्याये तु  
नानात्मजान् व्याख्यास्यामः । तद्यथेत्यादि । तत्रादित एवेत्यत्र भूरिदारुण-  
विकारकचतुर्त्वादिति हेतुरुन्नेयः ॥ ७।८ ॥

गङ्गाधरः—नखभेदश्चेत्यादि । नखभेदः कुनखः । विपादिका पाणिपाद-  
स्फुटनम् । वातखुड्डता चालुक इति लोके । पिण्डिका जान्वधोमांसपिण्डः ।  
तस्योद्वेष्टनं दण्डादिनेव ताडनम् । अत्र कश्चिदाह गृध्रसी गृध्रसीशूलम् । ऊरुस्तम्भ  
ये वातादिभिर्दोषान्तरासंपृक्तैर्ऽन्यन्ते । विपादिका पाणिपादस्फुटनं, पादभ्रंशः पादस्यारोप-  
विषयदेशादन्यत्र पतनम्, सुप्तिः पादयोर्निष्क्रियत्वं स्पृशीक्षता वा, वातखुड्डिका चालुक इति  
हात प्रसिद्धः । गृध्रसीशब्देन गृध्रसीशूलं गृह्यते, ऊरुस्तम्भेन च ऊरुस्तम्भनमात्रं वातजन्यत्वेन

नाहश्च विड्भेदश्च श्रोणिभेदश्चोदावत्तश्च खञ्जत्वञ्च वामन-  
त्वञ्च त्रिकग्रहश्च पृष्ठग्रहश्च पार्श्वमर्दश्चोदरावेष्टश्चोन्मादश्च  
हृद्भवश्च वक्षोघर्षश्च वक्षउपरोधश्च वक्षस्तोदश्च बाहुशोषश्च  
ग्रीवास्तम्भश्च मन्यास्तम्भश्च कण्ठोद्ध्वंसश्च हनुभेदश्चौष्ट-

ऊरुस्तम्भनवातः । कर्णाक्षिशूलदयश्च वातातिसारे विड्भेदश्चेत्यादि वात-  
जन्यत्वेन गृह्यते न तु गृध्रस्यादिरोगाः, तेषां पैत्तिकादिप्रभेदादित्युक्त्वा  
दोषान्तरसम्बन्धस्तत्रानुबन्धरूप इत्याह । तन्न मनोरमम् । यतोऽत्र नखभेदो  
नखभङ्गरता, न तु कुनखः । विपादिका वातव्याध्युक्ता पाणिपादस्फटनम् ।  
पादशूलः स्वनामा । गुल्फग्रहो गुल्फशूलः । पिण्डिकोद्वेष्टनमुक्तम् । गृध्रसी वात-  
व्याध्युक्ता । तत्र वाताद्वातकक्षात् तन्द्रेति यत् कक्षसम्बन्ध उक्तः स च  
नारम्भकत्वेन किन्तूत्तरकालम्, नातोऽस्याः सामान्यजत्वम् । जानुभेदः जानु-  
भङ्गः । जानुविश्लेषो जानुसन्धिषैथिल्यम् । ऊरुस्तम्भश्चेति नोर्लुस्तम्भाख्यो  
व्याधिः श्लेष्ममेदःप्रधानजः, किन्तूरुस्तम्भनमात्रं वातकृतमन्यदेकम् । पाङ्गुल्यं  
पङ्गता वातमात्रजव्याधिविशेषः, न त्वामवातादिकृतपाङ्गुल्यमात्रलिङ्गम् ।  
पाङ्गुल्यस्य वातकर्मत्वेऽपि रोगान्तरलिङ्गत्वे रोगत्वाभावात् । वक्ष्यते हि “ज्ञानाथ  
यानि चोक्तानि व्याधिलिङ्गानि संग्रहे । व्याधयस्ते तदात्वे हि लिङ्गानीष्टानि  
नामयाः ॥” इति । अनयैव दिशा एष्वशीतिवातव्याधिषु उन्मादाद्याख्या ये  
सामान्यजा दृश्यन्ते तेऽत्र न वातव्याधिषु बोध्याः, किन्तु केवलवातजमनो-  
मत्तत्वमात्रादिरूपेण तत्तत्सम्प्राप्तिव्यतिरिक्ता ज्ञेयाः । वातरोगाध्याये यावन्तो  
रोगा उक्तास्तावन्तस्तु वातनानात्मजा एव । तत्र तत्र हि पित्ताद्यावरणादित्वेन  
आरम्भकत्वं वातस्यैव, न तु पित्तादेः । अत एव विड्भेदो न वातातिसारीय-  
विड्भेदः परन्तु अतीसारग्रहण्यादिसामान्यजव्याधीनां सम्प्राप्तिं विना केवल-  
वातजद्रवपुरीषातिनिःसरणं विड्भेदः । उदरावेष्ट इत्युदरस्या समन्ताद्वेष्टनवत् ।  
हृद्भव इति हृदयस्य द्रुतिः स्फुरणम् । बाहुशोषोऽवबाहुकः । मन्यास्तम्भश्च  
वातरोगाधिकारे वाच्यः । कण्ठोद्ध्वंस इति शुष्ककासः । राजयक्ष्मणि कफ-  
लिङ्गत्वेन य उक्तः स च कफमिश्रवातानुबन्ध एव ; स चात्र न ज्ञेयः । हनु-

गृह्यते, एवं कर्णाक्षिशूलयोः शूलमात्रं, वातजातीसारेऽपि विड्भेदो वातजः, एवञ्च न गृध्रस्यादीनां



भेदश्चाक्षिभेदश्च दन्तभेदश्च दन्तशैथिल्यञ्च मूकत्वञ्च  
 गदगदत्वञ्च वाक्सङ्गश्च कषायास्यता च मुखशोषश्चारस-  
 ज्ञता च कर्णशूलश्चाशब्दश्रवणञ्चोच्चैःश्रुतिश्च बाधिर्यञ्च  
 वर्त्मस्तम्भश्च वर्त्मसङ्कोचश्च तिमिरञ्चाक्षिशूलञ्चाक्षिव्युदा-  
 सश्च भ्रूव्युदासश्च शङ्खभेदश्च ललाटभेदश्च शिरोरुक् च  
 केशभूमिस्फुटनञ्चादितञ्चैकाङ्गरोगश्च सर्वाङ्गरोगश्च क्षेपकश्च  
 दण्डकश्च भ्रमश्च भ्रमश्च वेपथुश्च जृम्भा च हिक्रा च विषादश्च

भेदो हनुस्तम्भः । ओष्ठभेद ओष्ठस्तम्भः । अक्षिभेदोऽक्षिगोलकभ्रमणाभाव-  
 रूपोऽक्षिस्तम्भः । दन्तभेद इति दन्तभङ्गः । दन्तशैथिल्यं चलदन्तत्वम् । वाक्-  
 सङ्गो जातोत्तरकालं वाक्प्रवृत्त्यभावः अस्फुटवचनत्वं वा । अरसज्ञता रसज्ञाना-  
 भावः । अशब्दश्रवणमल्पशब्दश्रवणम् । न तूच्चैः । उच्चैःश्रुतिर्बृहद्वनि-  
 श्रवणं न खल्पध्वनेः । बाधिर्यं खल्पबृहदुभयशब्दाश्रवणम् । वर्त्मस्तम्भ  
 इत्यक्षिवर्त्मद्वयचलनाभावः । वर्त्मसङ्कोच इत्यक्षिवर्त्मद्वयान्यतरस्य सङ्कचितत्वं  
 विस्फारणाभावः । तिमिरमिति लिङ्गनाशाः षट् तथान्ये च । अक्षिशूलमक्षि-  
 वेदना । अक्षिव्युदास इत्यक्षिभ्रष्टता, नेत्रस्य स्वस्थानच्युतता । भ्रूव्युदास  
 इति भ्रुवोः स्वस्थानादधो निपतनम् । शङ्खभेद इति ललाटकदेशः शङ्खः तस्य  
 भेदो वेदना भङ्गो वा न तु शङ्खरोगः । ललाटभेद इति मध्यललाटे वेदना भङ्गो  
 वा । शिरोरुगिति केवलं शिरःपीडा, न तु पञ्चशिरोरोगा ये उक्ताः । केशभूमि-  
 स्फुटनं विदरणम् । अहितादयः षट् वातरोगाध्याये वाच्याः । तमोऽन्धकारप्रवेश-  
 मात्रम् । भ्रमो गात्रशिरोघूर्णनम् । हिक्रकेति न पञ्च हिक्राः ये सामान्यजा

सामान्यजत्वं, यथोक्तातङ्कस्य केवलवातजम्बत्वात्, उदरस्यावेष्टनमिवोदरस्यावेष्टः, अशब्द-  
 श्रवणं शब्दाभावेऽपि शब्दश्रवणम्, उच्चैः श्रुतिस्तावत् स्वरमात्रश्रवणम्, अल्पशब्दस्य तु  
 सर्व्वथैवाश्रवणम्, बाधिर्यं शब्दमात्रस्थैवाश्रवणम्, तिमिरन्तु वातजमेव, दोषान्तरसम्बन्ध-  
 स्तत्रानुबन्धरूपः ; एकाङ्गरोगः सर्वाङ्गरोगश्चेति ज्वरादिषु उष्णत्वशीतत्वादीनां कदाचिदेकाङ्ग-  
 व्यापकत्वेनैकाङ्गरोगः, तेषामेव कदाचित् सर्वाङ्गव्यापकत्वेन सर्वाङ्गरोगः, दोषान्तरसम्बन्धोऽपि  
 व्याप्यव्याप्ती वातकृते एव, “वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षान्त मेघवत्” इति वचनात् ; तथा  
 भ्रमश्च वातिकः स्मृतिमोहरूपः ; अत्र कस्यचिदङ्गस्य पादादेः शूलादयोऽभिहिताः, न हस्तादीनां,

प्रलापश्च ग्लानिश्च रौक्ष्यञ्च पारुष्यञ्च श्यावाकृणावभासता  
चास्वप्नश्चानवस्थितचित्तत्वश्च \* इत्यशीतिर्वातविकाराः । वात-  
विकाराणामपरिसङ्ख्येयानामविष्कृततमा एव व्याख्याताः ।  
सर्वेष्वपि स्वत्वेतेषु वातविकारेषु तेष्वन्येषु चानुक्तेषु  
वायोरिदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणम् । यदुप-

उक्ताः, किन्तु हिक्कनमात्रं हिगितिशब्दप्रवृत्तिः । विपादो मनोदैन्यम् । अति-  
प्रलापश्चेति वातकृतः । प्रलापस्तु पित्तकृत इति प्रलापयोर्भेदात् न  
सामान्यजत्वम् । ग्लानिरहर्षः । अनवस्थितत्वं क्षणिकस्वभाववैपर्ययत्ववत् ।

ननु वातरोगाध्याये वक्ष्यमाणस्वल्बीमिन्मिनादीनां किं न वा नानात्म-  
जत्वमिति ? अत आह—इत्यशीतिरित्यादि । आविष्कृतत्वं प्रायोभावित्वम् ।  
तेनान्येऽपि वातरोगाः सन्ति ।

नन्वेषामुक्तानामनुक्तानाञ्च वातरोगाणां कथं ज्ञेयत्वमिति ? अत  
आह—सर्वेष्वित्यादि । वायोरिदमात्मरूपमपरिणामीति—आत्मरूपं सम्बन्धा-  
श्रयत्वादुत्पत्ताधिव्यतिरिक्तं अपरिणामि सहजसिद्धं लिङ्गमकुपितवायोरिदं  
स्वाभाविकं लिङ्गमित्यर्थः । स्थानान्तरादिसम्बन्धोपाधिना हि परिणामि-  
लिङ्गन्तु यथाकरं बोध्यम् । कर्मणश्चेति चकारेण वायोरिदमपरिणामीत्यनु-  
वर्तते । विकाराधिकारात् वायोविकारिकत्वमर्थादेव लभ्यते । तेन वृद्धस्य वायोः  
कर्मणश्च स्वलक्षणमिदमपरिणामि पित्तादुत्पत्ताधिव्यतिरिक्तं स्वरूपतः सिद्धम् ।  
स्वं रूपं लिङ्गं कर्म हि वायोः क्रिया । तस्य लिङ्गं श्रमादिकं वक्ष्यते । न तु तस्य  
लिङ्गानि वक्ष्यन्ते । कर्म पुनः प्रवृत्तिरुत्क्षेपणादि पञ्चविधमाहुरन्ये । तन्न,  
बहुविधत्वात् । कीदृशं वायोर्वातविकारेण स्वीय रूपं ? तस्य च कर्मणश्च

तत्र येऽभिहितास्ते प्रधानभूताः प्रायोभावित्वेन, अनुक्तास्तु वातविकाराणामपरिसंख्येत्येन  
ग्राह्याः ।

वायोरिदमित्यादौ वायोरिदमात्मरूपं स्वरूपम्, अपरिणामीति सहजसिद्धं  
नान्योपाधिकृतमित्यर्थः । कर्मणश्चेति विकृतस्य वायोः कर्मणः, स्वलक्षणमित्यात्मीयं लक्षणम् ;

\* उन्मादश्चेत्यत्र हन्मोहस्तथा हनुभेदश्चेत्यत्र हनुताडस्तथा हिक्का चेत्यत्र विपाद इति चक्र-  
सम्मतः पाठः ।

लभ्य तत्तदवयवं वा विमुक्तसन्देहा वातविकारमेवाध्यवस्यन्ति  
कुशलाः ॥ ६ ॥

तद्वयथा—रौक्ष्यं शैत्यं लाघवं विशदता गतिरमूर्त्तित्वञ्च  
वायोरात्मरूपाणि । एवंविधत्वाच्च वायोः कर्मणः स्वलक्षण-  
मिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः । तद्वयथा—

स्वलक्षणं कीदृशमिति ? अत आह—यदुपलभ्येत्यादि । वातविकारेषु वायो-  
रर्थात् वृद्धस्य संसर्गाद्यन्तरेण स्वाभाविकं यदात्मरूपं कृत्स्नं तत्तदवयवं वा  
एकदेशं वोपलभ्य विमुक्तसन्देहाः वातविकारत्वेन संशयपरिहीणाः कुशला  
भिषजः वातविकारमेवाध्यवस्यन्ति । न तु पित्तादिविकारत्वेन वाशब्देन  
कृत्स्नमिति लभ्यते । एतच्च यदितिपदस्य कर्मणश्च स्वलक्षणमित्यनेन  
अप्यन्वयः । तेन वातविकारेषु वृद्धस्य वायोः कर्मणश्च स्वामाविकं यत्  
कृत्स्नं स्वलक्षणं तत्तदवयवं वोपलभ्य विमुक्तसन्देहा वातरोगत्वेनैवाध्यव-  
स्यन्ति न तु पित्तादिरोगत्वेनेत्यर्थो बोध्यः ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—ननु वातविकारेषु वायोरर्थात् वृद्धस्यापरिणामि किमात्मरूपं  
किञ्च तस्य कर्मणोऽपरिणामि स्वलक्षणमिति ? तत्तदाह—तद्वयथेति ।  
गतिश्चलत्वम् । अमूर्त्तित्वं सूक्ष्मत्वम् न तु परमाणुत्वम् । किन्तु वृहत्त्वेऽपि  
सूक्ष्मानुसारित्वाभिधायकगुण इति यावत् । एतानि चात्मरूपाणि वायोः  
साम्यहान्यवस्थयोरपि भवन्त्यपि मानाधिक्येनात्र बोद्धव्यानि । वृद्धावस्थ-  
त्वाद् वायोर्यथा हीनस्य वा समस्य वा वृद्धस्य वा बह्वे रूपणत्वं वर्तमानमेवाल्पं  
वा समं वा वृद्धं वा भवति । तेन चोष्णत्वेन किञ्चिद्दहति, समश्च दहति, अधिकं  
वा दहतीतिवत् अत एवाह एवंविधत्वादिति । वृद्धरौक्ष्यादिरूपत्वादस्य वृद्धस्य  
वायोस्तं तं शरीरावयवमाविशतः कर्मणश्च स्वलक्षणमिदं भवति । शरीराव-  
यवापेक्षया हि कर्मविशेषः स्यात् । स्याच्चाभाशयादिपित्तादिसम्बन्धेन  
कर्म च प्रवृत्तिः ।

अत्राप्यपरिणामीति पित्तश्लेष्मसम्बन्धनिरपेक्षं, न तु शरीरावयवानपेक्षमिति, यतः, ब्रूते—“तं  
तं शरीरावयवमाविशतः” इति ; अत एव च स्वसादीनां शरीरावयवापेक्षत्वेन न सर्वदा  
भावः ; एवञ्च पित्तश्लेष्मणोरपि चात्मरूपादि ध्याल्येयम् ॥ ७—९ ॥

चक्रपाणिः—अमूर्त्तत्वमित्यद्वयत्वम्, एवंविधत्वादिति रौक्ष्यादियुक्तत्वाद्वायोरिति सम्बन्धः

स्वंसभ्रंश-व्यासङ्गभेद\* हर्ष-तर्षकम्पावमर्दचालतोदव्यथाचेष्टा-  
दीनि । तथा खरपरुषविशदशुषिरारुणकषायविरसमुखशोष-  
सुप्तिसङ्कोचनखञ्जतादीनि च वायोः कर्म्मणि । तैरन्वितं वात-  
विकारमेवाध्यवस्येत् ॥ ३० ॥

सा च वायोरत्र वृद्धचलत्वादिगुणेन भवतीति अभिप्रायेण वृद्धवायोः  
कर्म्मणो लिङ्गमिदमस्य भवतीति यदुक्तं तदाह—तद्यथेत्यादि । स्वंस  
इति स्वस्थानतोऽभस्तात् स्थानान्तरचलनमदूरतः । भ्रंशः स्वस्थानतो दूर-  
गमनम् । व्यासङ्ग इत्यन्यासक्तिरित्यर्थः । भेद इत्यङ्गभेदोऽङ्गभङ्गवत्पीडा ।  
हर्षेत्यङ्गस्य । तेनाङ्गहर्षो लोमाञ्चः । कश्चिद् वायोः प्रभावात् हर्षो हृष्ट-  
चित्तत्वमाह, तन्न ; चलत्त्वगुणकार्यमध्यत्वासाहचर्यादनुभवाकौशल्यात् ।  
कर्म्पो वेपथुः । अवमर्दोऽङ्गवेदना । चालः स्पन्दनम् । तोदः सूचीवद्व्यथा ।  
व्यथा पीडा । चेष्टा गमनक्षेपणादि । अत्रादिपदप्रयोगेण पृथक् पदकरणं  
वायोश्चलत्त्वगुणस्य प्राधान्यात् । तज्जन्यकर्म्मणो लिङ्गान्येतानीति स्वप्राप-  
नार्थम् । खरत्वादिगुणजन्यकर्म्मणो लिङ्गान्याह—तथा खरेत्यादि । खरत्व-  
गुणेन वृद्धवायोः कर्म्मणो लिङ्गं खरत्वम् पुंसः शरीरस्य कर्कशत्वम् । परुषत्वं  
अचैकण्यम् शरीरस्य निःस्नेहतेत्यर्थः । रौक्ष्यगुणेन वृद्धवायोः कर्म्मेणः विशदत्वं  
देहेऽपैच्छिल्यं विशदगुणेन वृद्धस्य वायोः कर्म्मेणो लिङ्गम् । सूक्ष्मगुणेन  
वृद्धस्य वायोः कर्म्मेणो लिङ्गं शुषिरत्वं देहेऽघनत्वम् । वायोर्भातिकत्वेन पाञ्च-  
भौतिकशरीरसम्बन्धेन चारुणवर्णः । वैशद्यगुणेन वृद्धस्य वायोः कर्म्म पैच्छिल्या-  
भावः । कषायरसता विरसता च तथा व्याख्याता । रौक्ष्यगुणेन वृद्धस्य  
वायोः कर्म्मणो लिङ्गं मुखस्य कषायरसता रसाभिव्यक्तौ च दृश्यते । वाय्वा-  
काशबाहुल्यात् कषाय इति । विरसता स्वभावरसवैपरीत्यं मुखस्य रौक्ष्यशैत्यञ्च  
भवति वा । शोषस्तु रौक्ष्यलाघवगुणाभ्यां वृद्धस्य कर्म्मणो लिङ्गम् । सुप्तिः  
अस्पर्शज्ञानं लाघवचलत्त्वगुणाभ्यां वृद्धस्य कर्म्मणो लिङ्गम् । सङ्कोचनं शैत्य-  
गुणेन वृद्धस्य चलत्त्वगुणेन चलनकर्म्मणो लिङ्गम् । खञ्जत्वं लाघवरोक्ष्याभ्यां  
वृद्धस्य शोषणकर्म्मणः कर्म्म । आदिपदेनाध्मानादिकं बोध्यम् । वायोः  
स्वंसः किञ्चिदवस्थानसञ्चलनं, भ्रंशस्तु दूरगतिः, व्यासो विस्तरणं, हर्षो वायोरनवस्थितत्वेन

\* भेदेत्यनन्तरं सादस्तथा सङ्कोचनेत्यनन्तरं स्तम्भनमित्यधिकः पाठश्चक्रस्वीकृतः ।

तं मधुराम्ललवणस्निग्धोष्णैरुपक्रमेत । स्नेहस्वेदास्थाप-  
नानुवासननस्तःकम्म-भोजनाभ्यङ्गोत्सादन-परिषेकादिभिर्वात-  
हरैर्मात्रां कालञ्च प्रमाणीकृत्य । तत्रास्थापनानुवासनन्तु  
खलु सर्वोपक्रमेभ्यो वाते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः ।  
तद्धि आदित एव प्रकाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं  
छिनत्ति । तत्रावजिते वातेऽपि शरीरान्तर्गतवातविकाराः  
प्रशान्तिमापद्यन्ते । यथा वनस्पतेर्मूले ध्विन्ने स्कन्ध-

कर्माणीति वृद्धवायोः कर्मणः कर्माणि कर्मभूतलिङ्गानि । एतेः कर्मभिरनु-  
मितेन कर्मणानुमेया भवन्ति । वातस्य वृद्ध्या रौक्ष्यादयो गुणा लिङ्गभूताः ।  
तैश्च गुणैर्वातो वृद्धोऽनुमीयते इति । ततः युतरां तैः स्रंसादिभिरन्वितं विकारं  
वातविकारमेव वातरोगस्तनैवाध्यवस्येत् न त्वन्यविकारत्वेनेति ॥ १० ॥

**गङ्गाधरः**—प्रसङ्गादस्य वातस्य प्रशयमूत्रमाह—तमित्यादि । तं वातरोगं  
मधुरादिभिः रौक्ष्यादिगुणत्रिपरीतैः स्निग्धोष्णैर्युगपत् स्निग्धत्वोष्णत्ववृद्धिस्तैला-  
दिभिः उपक्रमेतेति विवृणोति—स्नेहेत्यादि । मधुरादिभिः स्नेहादिपरिषेका-  
द्यन्तोपक्रमाणां रौक्ष्यादिविपरीतत्वात् वातहरत्वम् । मात्रां कालञ्च प्रमाणी-  
कृत्येत्यस्य मधुरादिभिः स्नेहादिभिश्च सहान्वयादुपक्रमेतेत्यस्य चोभयत्रान्वयः ।  
आस्थापनानुवासनन्तु इत्येकवचनम् आनुपूर्व्विकत्वेन युगलत्वाभिप्रायात् ।  
सर्व्वोपक्रमेभ्यः स्नेहस्वेदादिभ्यो मध्ये वाते प्रधानतमम्, न तु पित्तादौ ।  
प्रधानतमत्वं दर्शयितुं हेतुमाह—तद्धीत्यादि । आस्थापनानुवासनं हि आदित  
एव वातरोगे प्रयोगमात्रं शीघ्रमेव वैकारिकं वातमूलं न तु प्राकृतं, छिनत्तीति  
वायोयं स्थानसमाश्रयणेन तत्तद्विकारकर्तृत्वं तत्स्थानसंयोगमुच्छिनत्ति ।  
तदुच्छेदेन कथमन्यत्रगतवातविकाराः प्रशाम्यन्तीति ? अत आह—तत्रेत्यादि ।  
तत्र वैकारिकमूलभूतस्थानसंयोगे वातस्यावजिते शरीरान्तर्गतवातविकारा

प्रभावाद् वा क्रियते, वत्तुलीकरणं वर्त्तुः चालः स्पन्दः, रसवर्णौ वायुना रसवर्णरहितेनापि  
प्रभावात् क्रियेते ॥ १० ॥

**चक्रपाणिः**—प्रस्तावागतत्वेन चिकित्सामाह—मधुरेत्यादि । आदित एवेति शीघ्रमेव, केवलं  
वैकारिकमिति सकलविकारकारकम् ॥ ११ ॥ १२ ॥

शाखाप्ररोहकुसुमफलपलाशादीनां नियतो विनाश-  
स्तद्वत् ॥ ११।१२ ॥

पित्तविकारांश्चत्वारिंशतोऽत ऊर्ध्वं मनुष्याख्यास्यामः । तद्-  
यथा—ओषश्च प्लोषश्च दाहश्च दवथुश्च धूमकश्चांम्लकश्च  
विदाहश्चान्तर्दाहश्चोष्माधिक्यञ्च अतिस्वेदश्चाङ्गस्वेदश्चाङ्ग-  
गन्धश्चाङ्गावदरणञ्च शोणितक्लेदश्च मांसक्लेदश्च त्वग्दाहश्च  
त्वगवदरणञ्च चर्मदलनञ्च \* रक्तकोठश्च रक्तविस्फोटश्च  
रक्तमण्डलञ्च रक्तपित्तञ्च हरितत्वञ्च हारिद्रत्वञ्च नीलिका च  
इतरस्थानगता अन्ये लिङ्गभूता विकारा अपि प्रशान्तिमापद्यन्ते । तत्र दृष्टान्त-  
माह—यथेत्यादि ॥ ११ । १२ ॥

गङ्गाधरः—क्रमिकत्वात् चत्वारिंशत् पित्तविकारानाह—पित्तेत्यादि ।  
तद्यथेत्यादि । ओषश्चेति ओषः पार्श्वस्थितेन वह्निनेव उष्मा  
पीडा । प्लोषः किञ्चिद्दहनमिव । दाहः सर्वाङ्गदहनमिव । दवथः  
धक्धकीति लोके । धूमको धूमोद्गिरणमिव । अम्लकोऽम्लो-  
दिरणमिव । विदाहो भुक्तानामर्द्धपरिपाकः । अन्तर्दाहः अभ्यन्तरे-  
ऽप्युष्मत्वात् । उष्माधिक्यञ्च वहिर्गोष्णाधिक्यम् । अङ्गस्वेदः सर्वदा किञ्चित्-  
किञ्चित्स्वेदः । अङ्गगन्धः इति गात्रेऽव्यक्तगन्धः । अङ्गावदरणं गात्रप्रदेश-  
विशेषे विदीर्णता । त्वग्दाहः शरीरवाह्यतश्चर्मज्वालात्रम् । त्वगवदरणं  
वाह्यत्वङ्मात्रविदीर्णता । चर्मावदरणं सप्तत्वचां विदीर्णता । रक्तकोठश्चेति  
यदुक्तं—“वरटीदृष्टनीकाशो लोहितोऽस्रकफपित्तात् । क्षणिकोत्पादविनाशः  
कोठ इति निगद्यते तज्ज्ञैः” इति । रक्तविस्फोटश्चेति सुश्रुते क्षद्रोगाधिकारे—  
“अग्निदग्धनिभाः स्फोटाः सज्वरा रक्तपित्ततः । क्वचित् सर्वत्र वा देहे स्मृता  
विस्फोटका इति ॥” रक्तमण्डलश्चेति पकोडुम्बरवद्वक्त्रवर्णत्वात् रक्तमण्डलः ।  
सुश्रुते परिमण्डलाख्य उक्तः—“विवृतास्यां महादाहां पकोडुम्बरसन्निभाम् ।

चक्रपाणिः—ओषः पार्श्वस्थितेनेव वह्निना पीडा, प्लोषः किञ्चिद्दहनमिव दाहः, सर्वाङ्ग-  
दहनमिव दवथुः धग्धगिकेति लोके ख्याता, धूमको धूमोद्गमनमिव, त्वगवदरणं वाह्यत्वङ्मात्राव-  
दरणम्, चर्मावदरणस्तु षष्णामपि त्वचां दरणं, रक्तपित्तं दोषान्तरासंघृतं रक्तपैत्तिकं ज्ञेयम् ;

\* चर्मावदरणमिति चक्रः ।

कक्षा च कामला च तिक्तास्यता च लोहितगन्धास्यता च पूति-  
मुखता च तृष्णाधिवयञ्च अतृप्तिश्चास्यपाकश्च गलपाकश्चाक्षि-  
पाकश्च गुदपाकश्च मेढूपाकश्च जीवादानञ्च तमःप्रवेशश्च  
हरितहारिद्रनेत्रवर्चस्त्वश्च । इति चत्वारिंशत् पित्तविकाराणा-  
मपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

सर्वेष्वपि तु खल्वेतेषु पित्तविकारेषूक्तं नुक्तेषु चान्येषु  
पित्तस्येदमात्मरूपमपरिणामि कर्मण्यश्च स्वलाजगत्सु । यदुप-  
लभ्य तदवयवं वा विमुक्तसन्देहाः पित्तविकारभेदाध्यवस्यन्ति

विवृतामिति तां विद्यात् पित्तोत्थां परिस्पृष्टाम् ॥” इति । रक्तपित्तञ्चेति  
रक्तसंसर्गेण रक्तीभूतं पित्तं रक्तपित्तम् । न तु रक्तपित्ताख्यो य उच्यते तस्य  
यवकोलादिकारणैः पित्तं प्रकुप्य रक्तश्च विदुतं यदुत्प्रीहमभवत्तद्वहस्रोतो-  
ऽभिगम्य दूषयित्वा रक्तपित्तं जगयतीति रक्तभदोपात् मेदात् किंवा तस्यापि  
वातादिसंसर्गलाभारम्भे पित्तस्यैव कर्तृत्वात् सामान्यजत्वाभावाच्च नानात्मज-  
त्वम् । तदेवात्र गृह्यते । हरितारं स्फुरणत्वम् । हरिद्रत्वं हरिद्रावर्णत्वम् ।  
नीलिका क्षुद्ररोगे तुश्रुतोक्ता त्रिकोशीये लिखिता । कक्षा चात सुश्रुते—  
“बाहुपाश्चात्कक्षास्रं कृष्णस्फोटं सर्वदात् । पित्तप्रकोपात् सम्भूतां कक्षामिति  
विनिर्दिशेत् ॥” इति । कायला चेति कक्षा । पित्तपाण्डोरवस्थाविशेषः । कामला  
बहुपित्तैषा बोध्या । पाण्डोर्हि सामान्यजत्वेऽपि पित्तपाण्डौ पित्तलाहारात्  
व्याध्यन्तस्त्वेन कायला भवति । तस्मात् कामलायाः सामान्यजत्वम् । तिक्ता-  
स्यता तिक्तमुखत्वम् । लोहितगन्धास्यता मुखे रक्तगन्धत्वम् । पूतिमुखता  
दुर्गन्धमुखता । तृष्णाधिवयं केवलतृष्णातिशयः न तु तृष्णाख्यरोगविशेषः,  
तस्य सामान्यजत्वात् । अतृप्तिः सदा यशुधा । जीवादानं विरेचनव्यापद्विशेष  
उक्तो यो जीवरक्तनिर्गमः । हरितेत्यादिना एक एव रोगः । इतीत्यादि  
सर्वे पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—सर्वष्वित्यादि । पित्तस्यात्मरूपेषु वर्णश्चाशुक्तसदृशः । गन्धश्च

एवं तृष्णायाञ्च तृष्णामात्रं, कक्षा कक्षदेशगतमांसद्वरणं, स्फोटाः सुश्रुतक्षुद्ररोगोक्ताः, गन्धो विश्व  
इत्यामगन्धः, यथास्वमित्यामगन्धवर्णसदृशम्, अग्निरद्गृहमग्निगृहम् ॥ १३—१७ ॥

कुशलाः । तद्वयथा—औष्ण्यं तैदृशं द्रवमनतिस्नेहो वर्ण-  
श्चाशुक्लो\* गन्धश्च विलो रसो कटुकाम्लौ सश्च पित्तस्यात्म-  
रूपाणि । एवंविधत्वाच्चास्य कर्मणः स्वलक्षणमिदमेतस्य भवति  
तं तं शरीराद्यवमाविशतः । तद्वयथा—दाहौष्ण्यपाकस्वेद-  
क्लेदकोथ† स्वावरागाः यथास्वगन्धवर्णरसदिनिर्वर्तनं पित्तस्य  
कर्माणि । तेरेन्द्रितं पित्तविकारमेवाध्यवस्येत् ॥ १४।१५ ॥

तं मधुरतिक्तकषायशीतैरुपक्रमैरुपक्रमेत स्नेहविरेचन-  
प्रदेहपरिषेकाभ्यङ्गादिभिः पित्तहरैर्मात्रां कालश्च प्रमाणीकृत्य ।  
विरेचनन्तु सर्वोपक्रमेभ्यः पित्तो प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः ।  
तद्धि आदित एवमाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूल-  
मपकर्षति । तत्रावजिते पित्तो शरीरान्तर्गतपित्तविकाराः

विसृ आमगन्धः । एवंविधत्वाच्चेति औष्ण्यदिगुणवत्त्वात् । वृद्धपित्तस्य  
औष्ण्यदिगुणजनितस्य कर्मणे इदं वक्ष्यमाणं दाहादिकं कर्म स्वलक्षणम् ।

कर्मणो लक्षणान्याह—एवमित्यादि । पूर्वमिह व्याख्यातम् । दाहेत्यादि ।  
पित्तस्य औष्ण्यतीक्ष्णत्वाभ्यां वृद्धस्य कर्म बह्वेति दाहादिकं तेन कर्मणा  
शरीरे दाहौष्ण्यपाकादिरागान्ता औष्ण्यतीक्ष्णताभ्यां सहचरितद्रवानति-  
स्नेहाभ्यां भवन्ति पित्तस्य दहनादिकर्मणो लिङ्गानि । यथास्वगन्धवर्णेत्यादि ।  
अशुक्लनानावर्णगुणेन वृद्धस्य पित्तस्य कर्मणश्चिह्नमशुक्लास्तावन्तो वर्णाः  
शरीरस्य । गन्धश्च शरीरस्य विलो रसश्च शरीरे कटुरसेन वृद्धस्य कटुक-  
शाम्लरसेनाम्लः । सर्वं पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥ १४।१५ ॥

गङ्गाधरः—प्रसङ्गादागतत्वात् पैत्तिकरोगाणां क्रियासूत्रमाह—तमित्यादि ।  
शीतेति स्पर्शतः पाकतो वीर्यतश्च । उपक्रमानाह—स्नेहेत्यादि । आमाशयमिति  
पक्वमाशयमध्यस्थानस्योद्धेम् । ततःप्रभृति पित्तस्याधोभागगमनेन यावद्-  
वैकारिकमूलस्थानसंयोगं छिनत्तीत्यभिप्रायेणाह—अपकर्षतीति छिनत्ति ।

\* वर्णश्च शुक्लाक्षणवर्ज इति चक्रस्वीकृतः पाठः ।

† कोथेत्यनन्तरं कण्डू इति चक्रः ।



प्रशान्तिमापद्यन्ते ; यथाग्नौ व्यपगते केवलमग्निगृहं शीती-  
भवति तद्वत् ॥ १६।१७ ॥

श्लेष्मविकारान् विंशतिमत ऊर्ध्वं व्याख्यास्यामः । तद्-  
यथा—तृप्तिश्च तन्द्रा च निद्राधिक्यञ्च स्तैमित्यञ्च गुरुणात्रता  
च आलस्यञ्च मुखस्त्रावश्च मुखमाधुर्य्यञ्च श्लेष्मोद्विरणञ्च  
बलाशकश्चापक्तिश्च हृदयोपलेपश्च कण्ठोपलेपश्च धमनी-  
प्रविचयश्च गलगण्डश्च अतिस्थौल्यञ्च शीताग्निता चोदईश्च  
श्वेतावभासता च श्वेतनेत्रमूत्रवर्चस्त्वञ्च । इति विंशतिः

व्यपगते व्यपोढे केवलमग्निहीनमग्निसन्तप्तमात्रम् अग्निगृहमग्निमद्-  
गृहम् ॥ १६।१७ ॥

गङ्गाधरः—उद्देशक्रमप्राप्तान् श्लेष्मिकान् विंशतिं रोगानाह—श्लेष्मेत्यादि ।  
तृप्तिश्चेत्यादि । येनात्मानं तृप्तमिव मन्यते सर्व्वदा सा तृप्तिः । बलाशको  
बलक्षयः । कश्चित् तु—“नित्यं मन्दज्वरो रुक्षः शूनकस्तेन सीदति । स्तब्धाङ्गः  
श्लेष्मभूयिष्ठो नरो वातबलाशकी ॥” इत्याह, तन्न । वातश्लेष्मारब्धत्वेन  
नानात्मजत्वाभावात् । धमनीप्रविचयो धमन्युपलेपेन धमनीनां पुष्टता ।  
गलगण्डस्तु कफारब्ध एव वातानुबन्धेन कफेनारब्धत्वे हि वातजकफजमेदोजत्व-  
व्यपदेशोऽनुबन्धत्वेन तेषामाधिकात् । न पुनर्वस्तुतो ज्वरादिवत् वातजादिः ।  
शीताग्निता मन्दाग्निता । उदईश्चेति तन्त्रान्तरे हुत्रक्तो यथा—“शीतमारुत-  
संस्पर्शात् प्रदुष्टौ कफमारुतौ । पित्तेन सह सम्भूय वहिरन्तर्विसर्पतः ॥ पिपासा-  
रुचिह्लास-देहसादाङ्गगौरवम् । रक्तलोचनता तेषां पूर्वरूपस्य लक्षणम् ॥ वरटी-  
दष्टसंस्थानः शोथः सञ्जायते बहिः । सपाण्डुस्तोदबहूलश्छर्द्दिज्वरविदाहवान् ॥  
उदईमिति तं विद्याच्छीतपित्तमथापरे । वाताधिकं शीतपित्तमुदईश्च कफा-  
धिकः ॥” इति । एवमन्यत्रापि—“सोत्सङ्गैश्च सरागैश्च कण्डूमद्भिश्च मण्डलैः ।  
शैशिरः कफजो व्याधिरुदई इति कीर्तितः ॥” इति । एष एवात्र विवक्षितः । पूर्व्वश्च  
कफाधिकत्वेन यो निरुक्तस्तस्य वातमात्रादिजत्वाभावेन सामान्यजत्वाभावात् ।

चक्रपाणिः—तृप्तिर्येन तृप्तमि आत्मानं सर्व्वदा मन्यते, बलाशको बलक्षयः, किंवा श्लेष्मो-  
द्वेकान्मन्दजवित्वम् स्थूलाङ्गता वा बलाशकः, धमनीप्रतिचयो धमन्युपलेपः, शीताग्निता,

श्लेष्मविकाराः, श्लेष्मविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा  
व्याख्याता भवन्ति ॥ १८ ॥

सर्वेष्वपि तु खल्वेतेषूक्तेषु श्लेष्मविकारेषु चाप्यनुक्तेषु  
चान्येषु श्लेष्मण इदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्व-  
लक्षणम् । यदुपलभ्य तदवयवं विमुक्तसन्देहाः श्लेष्मविकार-  
मेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः । तद् यथा—श्वैत्यशैत्यगौरवस्नेह-  
माधुर्यस्थैर्यपैच्छित्यमात्स्न्यानि श्लेष्मण आत्मरूपाणि ।  
एवंविधत्वाच्चास्य कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं  
शरीरावयवमाविशतः । तद् यथा—श्वैत्यशैत्यकण्डूस्थैर्योत्-  
सेध-गौरव-स्नेह\* सुप्ति-क्लेदोपदेहवन्धनमाधुर्यचिरकारित्वा-  
दीनि श्लेष्मणः कर्माणि । तैरन्वितं श्लेष्मविकारिणमेव  
अध्यवस्येत् ॥ १६।२० ॥

तं कटुतिक्तकषायतीक्ष्णोष्णरुक्षैरुपक्रमैरुपक्रमेत । स्वेद-  
पित्तवातारब्धत्वे तु वातादिजत्वव्यपदेशाभावात् । इतीत्यादि । सर्वं पूर्व-  
वद्व्याख्येयम् ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—श्वैत्येत्यादि । पूर्वार्धाध्याये श्वेतवर्णानुपदेशस्तत् कथयितुमना-  
वश्यकत्वाद्वा तु विज्ञानाय श्वेतवर्णोपदेशः । मात्स्न्यं मृत्स्नावन्मृत्तत्वरूपं  
मृदुत्वं वा । श्वैत्यादीनि शरीरस्य । तेन कफस्य वृद्धस्य कर्मानुमानात् । तेन  
कम्पेणाकफस्य वृद्धाः श्वैत्यादयोऽनुमीयन्ते । तैश्च वृद्धः कफोऽनुमीयते । अत्र  
सुप्तिः कफकर्मलक्षणं, वाताशीतिरोगिषु पादसुप्तता यद्यप्युक्ता तथापि कफस्य  
शैत्यगुणकर्मणा सुप्तिर्भवतीतिवत् वातस्यापि शैत्यगुणकर्मणा सुप्तता भवितु-  
मर्हतीति वातस्थाने पादे सुप्तता उक्ता । कफस्थाने तु कफजा इति भेदेन  
बोध्या । गन्धश्च नानाविधः । आदिना शोफलवणरसादीनां ग्रहणम् ॥१९।२०॥

गङ्गाधरः—तमित्यादि । तमित्यादि पूर्वदिशा व्याख्येयम् । आदित

मन्दाग्निता, मात्सर्यं मसृणता, श्लेष्मकर्मसु सुप्तिर्निष्क्रियत्वेन, वाते तु स्पर्शज्ञानेन ; अत्रामाशयम्

\* स्नेहेत्यनन्तरं स्तम्भ इत्यधिकः पाठश्चक्रसम्मतः ।

वमनशिरोविरेचनव्यायामादिभिश्च श्लेष्महरैर्मात्रां कालञ्च प्रमाणीकृत्य । वमनन्तु सव्वोषक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः । तद्धि आदित एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकश्लेष्ममूलमूर्द्धमुत्क्षिपति । तत्रावजिते श्लेष्मणि शरीरान्तर्गताः श्लेष्मविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते । यथा भिन्ने केदारसेतौ शालियःषष्टिकादीनि अनभिष्यन्दमानान्यम्भसा प्रशोषमापद्यन्ते तद्वदिति ॥ २१।२२ ॥

भवन्ति चात्र ।

रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम् ।

ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्व्यं समाचरेत् ॥ २३ ॥

एवामाशयमित्यामाशयस्योर्द्धावयवस्य विशेषेण श्लेष्मस्थानत्वात् । अत्राप्युरो विशेषेण श्लेष्मणः स्थानमिति वचनेन वक्षसः श्लेष्मण प्रधानस्थानत्वेऽपि श्लेष्मणः सव्वेषु स्थानेष्वामाशयरूपेष्वथ आशयस्त्वामाशय एव । ततःप्रभृति ऊर्द्धहरणेन सव्वामाशयश्लेष्महरणं भवतीति ज्ञापनाय हि ऊर्द्धमुत्क्षिपतीत्यूर्द्ध-श्लेष्महरणेन श्लेष्मण आमाशयेन वैकारिकमूलसंयोगमारभ्य वक्षःप्रभृति-संयोगं छिनत्तीत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तमाह—यथा भिन्ने इत्यादि । अम्भसा अनभिष्यन्दमानानीत्यन्वयः ॥ २१।२२ ॥

गङ्गाधरः—ननु वाताद्यात्मरूपकर्मलक्षणानां विज्ञाने किं प्रयोजनमित्यत आह पदेन—भवन्तीत्यादि । रोगमित्यादि । आदौ रोगं परीक्षेतेति चेत् सुतरां रोगपरीक्षायां वातादिलिङ्गज्ञानमपेक्षते इति भावः । तत औषधं परीक्षेत इत्यन्वयः । औषधरीक्षा हि व्याध्यपेक्षिणी भवतीति । अतो रोगपरीक्षानन्तरं भेषजपरीक्षा उपपद्यते । अत एव सुतरां रोगपरीक्षाभेषजपरीक्षानन्तरं प्रतिक्रिया भवतीत्याह—ततः कर्म आस्थापनादुत्पक्रमणम् । ज्ञानपूर्वमिति अन्यत्र

अनुप्रविश्येति वचनेन श्लेष्मस्थानेष्वामाशयस्य प्राधान्यम्, पूर्व्वन्तु “तत्रापि उरो विशेषेण” इति वचनेनोरः प्रधानम्, एवमुभयमपि तुल्यं ज्ञेयम् ॥ १८—२२ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति रोगज्ञानस्य चिकित्सायामुपयोगमाह—रोगमित्यादि । औषधं परीक्षेतेति

यस्तु रोगमविज्ञाय कर्म्मण्यारभते भिषक् ।

अभ्योषधविधानज्ञस्तस्य सिद्धिर्यदृच्छया ॥ २४ ॥

यस्तु रोगविशेषज्ञः सर्वभैषज्यकोविदः ।

देशकालप्रमाणज्ञस्तस्य सिद्धिरसंशयम् ॥ २५ ॥

तत्र श्लोकाः ।

संग्रहः प्रकृतिर्देशो विकारो मुखमीरणम् ।

असन्देहोऽनुबन्धश्च रोगाणां संप्रकाशितः ॥ २६ ॥

दोषस्थानानि रोगाणां गणा नानात्मजाश्च ये ।

रूपं पृथक् च दोषाणां कर्म्म चापरिणामि यत् ॥ २७ ॥

कृतास्थापनादिकर्म्मदर्शनादिजनितज्ञानपूर्वम् । रोगविज्ञानं विना कर्म्मरभ्ये दोषमाह—यस्त्वित्यादि । यदृच्छेति । यदि कदाचित् व्याध्यन्नुरूपेण दैवात् कर्म्म भवति तदा सिद्धिरपि भवतीति न त्वेकान्तेन । एकान्तेन सिद्धिं दर्शयितुमाह—यस्त्वित्यादि । तस्य कर्म्मेणारभमाणे सिद्धिरित्यर्थः ॥ २३—२५ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायाथेसंग्रहार्थमाह—तत्रेत्यादि । संग्रह इति चत्वारो रोगा इत्यादिना व्याधीनां संक्षेपः । प्रकृतिरिति द्विविधा पुनरित्यादिना । देश इति द्विविधश्चैषामित्यादिनाधिष्ठानम् । विकाराश्च मुखानि च तत्तथा । विकारा इति विकाराः पुनरित्यादिना विकारापरिसङ्ख्यानम् । मुखमिति मुखानि इत्यादिना सन्निकृष्टकारणानि । ईरणमिति द्वयोस्तु खत्वित्यादिना मुखानां प्रेरणं त्रिविधमुक्तम् । असन्देह इति न चान्योन्येत्यादिना । अनुबन्धश्चेति सर्वेष्वित्यादिना ज्ञन्दोऽनुरोधेन असन्देहवचनात् पुर्व्वं कृतोऽत्र परं निरूपितो बोध्यः । तेषां त्रयाणामित्यादिना दोषस्थानानि । नानात्मजा रोगाणां गणाः इति सर्व्वेशरीरचरास्त्वित्यादिनारभ्य नखधेदश्चेत्यादिना निर्देशेन दोषाणां पृथक् प्रत्येकं रूपम् । सर्व्वेष्वपीत्यारभ्य रौक्ष्येत्यादिना वातस्य, पुनः सर्व्वेषु

सम्बन्धः, औपधपरीक्षा रोगापेक्षिणी, तेन, तदनन्तरमेव सा भवतीति भावः ; अतः कर्म्ममिति चिकित्साम्, ज्ञानपूर्व्वमिति कर्म्मदर्शनजनितज्ञानपूर्व्वम् ॥ २३—२५ ॥

चक्रपाणिः—संग्रहे “संग्रह इति चत्वारो रोगाः” इत्यादि संक्षेपोक्तिः, प्रकृतिरिति “द्विविधा पुनः” इत्यादि, देश इति “द्विविधश्चैषामधिष्ठानम्” इत्यादि, विकाराश्च मुखञ्च विकारमुखं,

पृथक्त्वेन च दोषाणां निर्दिष्टाः समुपक्रमाः ।

सम्यङ् महति रोगाणामध्याये तत्त्वदर्शिना ॥ २८ ॥

इति रोगचतुष्कः ।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते श्लोकस्थाने

महारोगो नाम विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥

इत्यारभ्य औष्ण्येत्यादिना पित्तस्य, पुनः सर्व्वेष्वित्यारभ्य श्वेत्येत्यादिना कफस्य स्वकर्मणो रूपम् । पृथक्त्वेन दोषाणां समुपक्रमा इति तं मधुराम्लेत्यादिना वातस्य, पुनस्तं मधुरतिक्त्यादिना पित्तस्य, पुनस्तं कटुतिक्त्यादिना कफस्योपक्रमाः । रोगाणां महति अध्यायेऽस्मिन् निर्दिष्टास्तत्त्वदर्शिना पुनर्व्वसुनेत्यर्थः ॥ २६—२८ ॥

इति रोगचतुष्को रोगाणां विज्ञानायाध्यायचतुष्क इत्यर्थः ।

अध्यायं समापयति—अग्रीत्यादि । महारोगाध्याय इति समाप्तिवचनम् ।

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ सूत्र-  
स्थानीयमहारोगाध्यायजल्पाख्या विंशी शाखा ॥ २० ॥

तत्र विकाराः “विकाराः पुनः” इत्यादिना “मुखानि” इत्यादिना सुखम्, “द्वयोस्तु” इत्यादिना ईर्षणम्, असन्देहः “न चान्योन्य” इत्यादिना, ‘सर्व्वेषु’ इत्यादिना अनुबन्धः, नानात्मजाः सर्व्वे दोषान्तरासंपृक्तदोषजन्या उक्ताः ॥ २६—२८ ॥

इति रोगचतुष्कः ।

इति चरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्व्वेददीपिकायां सूत्रस्थान-  
व्याख्यायां महारोगो नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

## एकविंशोऽध्यायः ।

अथातोऽष्टौनिन्दितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः.

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

इह खलु शरीरमधिकृत्याष्टौ निन्दिताः पुरुषा भवन्ति,  
तद्वयथा—अतिदीर्घश्चातिह्रस्वश्चातिलोमा चालोमा चातिगौर-  
श्चातिकृष्णश्चातिस्थूलश्चातिकृशश्चेति ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—रोगनिरूपणानन्तरं भेषजरोगयोर्यथायोजनं कर्तव्यं तदुपदेष्टुं  
योजनाचतुष्कमारभते । तत्र प्रायेण व्याधिविशेषे भेषजयोजनायां शरीर-  
विशेषमेवापेक्षत इत्यतः श्लैष्मिकनानात्मजेषु चातिस्थौल्यश्चोक्तम् । तत्र भेषज-  
योजनायामष्टौनिन्दितीयमारभते—अथात इत्यादि । अस्याध्यायस्यादौ अष्टौ  
निन्दिताः पुरुषा भवन्ति इत्यस्य वाक्यस्याष्टौनिन्दितेतिपदमधिकृत्य कृतो-  
ऽध्याय इति तथा । सर्व्वं पूर्व्ववद् व्याख्येयं भवति ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—इह खलु भोः शरीरमधिकृत्याष्टौ निन्दिताः पुरुषा भवन्ति ।  
मनोऽधिकृत्य च ये निन्दिताः पुरुषाः खलुशठादयस्तेऽस्मिंस्तन्त्रे शरीरव्याधि-  
चिकित्साप्रधानत्वान्नोपदिष्टाः । अतिदीर्घादयः षड्हि निन्दिताः प्रस्तावात्  
शरीरनिन्दाधिकाराच्चोक्ताः कुब्जकाणभङ्गुरादयश्चैकदेशनिन्दितत्वान्नोक्ताः ।  
निन्दितत्वं न दृश्यत्वेन कुत्सितत्वम्, आकृतिषौष्ठवादतिदीर्घादीनामपि  
सौन्दर्यात् । किन्तु क्रियाविशेषेऽसाधुत्वम् । तथा सत्यतिदीर्घादीनां  
षण्णां कुत्रचित् क्रियाविशेषेऽसाधुत्वेनानतिनिन्दितत्वात् तद्वर्णनं नोक्तं  
तदुन्नेयम् ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—रोगचतुष्के रोगा उक्ताः, भेषजञ्च भेषजचतुष्के, रोगभेषजयोस्तु योजना यथा  
कर्तव्या तद् वक्तुं योजनाचतुष्कोऽभिधीयते ; सा च योजना रोगेण समं भेषजानां प्रायः शरीर-  
मेवापेक्षत इति शरीरभेदप्रतिपादकोऽष्टौनिन्दतीयोऽभिधीयते ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—शरीरमधिकृत्येति वचनेन मनोऽधिकृत्य ये निन्दिता अध्वार्मिककदर्यादयः,  
तानिहानुपयुक्तान् निराकरोति ; अतिदीर्घादयश्च षड्हि निन्दितप्रस्तावाद्बुध्यन्ते ; निन्दितत्वञ्च तेषां  
लोकविगानादेव ; अतिदीर्घश्चेत्यादिचकारः कुब्जादिनिन्दितग्रहणार्थम् ॥ २ ॥

तत्रातिस्थूलातिकृशयोभूय एवापरे निन्दितविशेषा भवन्ति । अतिस्थूलस्य तावदायुषो ह्रासो जरोपरोधः कृच्छ्रव्यवायता दौर्बल्यं दौर्गन्ध्यं स्वेदाबाधः क्षुदतिमात्रं पिपासातियोगश्चेति भवन्त्यष्टौ दोषाः । तदिदमतिस्थौल्यम् अतिसंपूरणाद्गुरुमधुरस्निग्धोपयोगात् अव्यवायात् अव्यायामाद् दिवास्वप्नाद् हर्षनित्यत्वात् अचिन्तनाद्बीजस्वभावाच्चोपजायते ॥ ३ ॥

तस्य ह्यतिमात्रं मेदस्विनो मेद एवोपचीयते, न तथेतर धातवस्तस्मादस्यायुषो ह्रासः । शैथिल्यात् सौकुमर्याद्गुरुत्वाच्च मेदसो जरोपरोधः । शुक्राल्पत्वान्मेदसावृतमार्गत्वाच्चास्य कुच्छ्रव्यवायता । दौर्बल्यमसमत्वाच्चातूनाम् । दौर्गन्ध्यन्तु मेदोदोषान्मेदसः स्वभावात् स्वेदनत्वाच्च । मेदसः श्लेष्म-

गङ्गाधरः—अष्टसु मध्ये पुनरतिशयेन क्रियाविशेषोऽतिस्थौल्यातिकाश्रयो- निन्दितत्वं दर्शयितुमाह—तत्रेत्यादि । भूय इति अतिदीर्घाद्यपेक्षयैव भूयिष्ठं यथा स्यात् तथाऽपरे निन्दितविशेषाः क्रियासु निन्दाविषयधर्मविशेषा भवन्ति । तानाह—अतिस्थूलस्येत्यादि । अष्टौ दोषा इति निन्दितक्रियाविशेषहेतुत्वात् । अतिस्थौल्यहेतुमाह—तदिदमित्यादि । बीजस्वभावादित्यतिस्थूलमातापितृशोणितशुक्रस्वभावात् ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—एभ्यो हेतुभ्योऽतिस्थूलत्वोद्भवं तदष्टदोषजन्मप्रकारमाह—तस्य ह्यतीत्यादि । अतिमात्रमेदस्विन इति वचनार्थविवरणं मेद एवोपचीयत इत्यादि । तस्मादतिमेदस एवातिवृद्ध्यान्यथातूनामयथोपचर्याद्विषमधातुत्वात् । दौर्बल्यश्चा-

चक्रपाणिः—तत्रातिस्थूलकृशयोश्चिकित्सोपयुक्तं विशेषं वक्तुमाह—तत्रेत्यादि । भूय एवेत्यतिदीर्घादितुल्यलोकविगानादधिका निन्दिताश्च ते विशेषाश्चेति निन्दितविशेषाः । अतिस्थौल्यस्य हेतुमाह—तदित्यादि । अति संपूरणमतिभोजनम् । बीजस्वभावादिति स्थूलमातापितृजन्यत्वात् । सम्प्रति स्थूलस्य साधारणादप्याहाराद् भूरिमेदोजन्माह—तस्य हीत्यादि । मेदस्विन इति हेतुगर्भविशेषणं, तेन यस्मादतिस्थूलशरीरे मेदो देहव्यापकत्वेन लब्धवृत्त्यतस्तदेव प्रायो वर्द्धते, नान्ये रसादयस्तदभिभूत्वादित्यर्थः । तस्मादिति विषमधातुत्वात् ; मेदोदोषादिति

संसर्गाद् विष्यन्दित्वादबहुत्वाद्\*व्यायामासहत्वाच्च स्वेदाबाधः ।  
तीक्ष्णाग्नित्वात् प्रभूतकोष्ठवायुत्वाच्च क्षुदतिमात्रं पिपासाति-  
योगश्चेति ॥ ४ ॥

भवन्ति चात्र ।

मेदसावृतमार्गत्वाद्वायुः कोष्ठे विशेषतः ।

चरन् सन्धुक्षयत्यग्निमाहारं शोषयत्यपि ॥

तस्मात् स शीघ्रं जरयत्याहारश्चापि काङ्क्षति ।

विकारांश्चाश्नुते घोरान् कांश्चित् कालव्यतिक्रमात् ॥५॥

एतावुपद्रवकरौ विशेषादग्निमारुतौ ।

एतौ हि दहतः स्थूलं वनदावो वनं यथा ॥ ६ ॥

समधातुत्वात् । दौर्गन्ध्यन्तु मेदोदोषात्, मेदो हि दुष्टदुर्गन्धिमत् दुर्गन्धाय भवति ।  
दुष्टमेदसो दुर्गन्धित्वे हेतुमाह—मेदसः स्वभावात् स्वेदनत्वाच्चेति । पुंसः स्वेद-  
जनकत्वे हि मेदसः स्वभाव एव हेतुः । स्वेदातिशयाच्च गात्रे दौर्गन्ध्यं स्यादिति  
भावः । स्वेदाबाध इति स्वेदस्यानिवृत्तिः । तत्र हेतुर्मेदसः श्लेष्मसंसर्गः ।  
श्लेष्मा हि विष्यन्दी स्नेहगुणात् । तत्संसर्गेण मेदसोऽपि विष्यन्दनं बहुत्वात् ।  
बहुमेदा हि श्लेष्मसंसर्गेण सुतरां विस्यन्दते । व्यायामासहत्वाच्चेति  
व्यायामासहत्वं ह्यतिस्थूलस्य देहशैथिल्यात् सौकुमार्यात् देहगुस्तात्  
दौर्बल्याच्चेति पूर्वोक्ता हेतवोऽत्राप्युन्नेयाः । तीक्ष्णाग्नित्वं हि पित्ताद्  
भवति ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—अत्र तु प्रभूतकोष्ठवायुत्वमुक्तमित्यतः प्रभूतकोष्ठवायुत्वेऽपि  
तीक्ष्णाग्नित्वं दर्शयितुमाह—भवन्तीत्यादि । स इति मेदस्वी । कालव्यति-  
क्रमात् वयसः कालाधिक्यात् ॥ ५ । ६ ॥

दुष्टमेदोर्दुर्गन्धयुक्तं भवति, स्वभावादिति स्वभावादपि मेद आमगन्धित्वेन दुर्गन्धम्, स्वेदल-  
त्वाच्चेति सति च स्वेदे दुर्गन्धतानुभवसिद्धैवेत्यर्थः, श्लेष्मसंसर्गादिभ्यो हेतुभ्यः स्वेदावरोधो  
ज्ञेयः ॥ ३।४ ॥

चक्रपाणिः—मेदसेत्यादौ वायोरनतिवृद्धत्वेनाग्निसन्धुक्षणत्वम्, न वैषम्यापादकत्वम्, यतः,  
अतिवृद्धो हि वैषम्यं वह्नेः करोति वायुः ; स इति मेदस्वी ; कालव्यतिक्रमादिति भोजनकालाति-



मेदस्यतीवसंवृद्धे सहसैवानिलादयः ।

विकारान् दारुणान् कृत्वा नाशयन्त्याशु जीवितम् ॥ ७ ॥

मेदोमांसातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तनः ।

अयथोपचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते ॥ ८ ॥

इति मेदस्विनो दोषा हेतवो रूपमेव च ।

निर्दिष्टं वक्ष्यते वाच्यमतिकाश्यं त्वतः परम् ॥ ९ ॥

सेवा रुक्षान्नपानानां लङ्घनं प्रमिताशनम् ।

क्रियातियोगः शोकश्च निद्रावेगविनिग्रहः ॥

रुक्षस्योद्वर्तनस्नानस्याभ्यासः प्रकृतिजरा ।

विकारानुशयः क्रोधः कुर्वन्त्यतिकृशं नरम् ॥ १० ॥

व्यायाममतिसौहित्यं क्षुत्पिपासामथौषधम् ।

कृशो न सहते तद्वदतिशीतोष्णमैथुनम् ॥

गङ्गाधरः—मेदोऽतिवृद्धौ दोषान्तरमाह—मेदस्यतीवेत्यादि । स्पष्टम् ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—ननु मेदस्वी कथं विज्ञायत इति ? अतोऽतिस्थूललक्षणमाह—मेदोमांसेत्यादि । इति निर्दिष्टमित्यन्वयः । अतिकाश्यं तु दोषा हेतवो रूपमेव च इति यत्तत् वाच्यं वक्तव्यं नोक्तमतः परमूर्द्धं तद्वक्ष्यते इत्यर्थः ॥८॥९॥

गङ्गाधरः—तत्रादौ हेतूनाह—सेवेत्यादि । प्रमितस्य स्तोकस्य मात्राल्प-स्याशनमिति प्रमिताशनम् । क्रियातियोगो वमनादिसंशोधनक्रियाणामति-योगः । निद्राया रात्रौ स्वभावतः प्रवृत्ताया विनिग्रहो न तु दिने वेगनिग्रहः । उद्वर्तनश्च स्नानश्च तत्तस्य रुक्षस्य स्नेहतैलादिहीनस्य अभ्यासः सततं क्रिया । प्रकृतिरतिकृशमातापित्रोः शोणितशुक्रस्य स्वभावः । जरा वार्द्धक्यम् । विकारानुशयो व्याधेश्विरानुवृत्तिः ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—अतिकृशस्य दोषानाह—व्यायाममित्यादि । व्यायामाद्यसहत्वे

क्रमात् । अतिस्थूललक्षणमाह—मेदोमांसेत्यादि । वाच्यमभिधेयम्, किंवा, वाच्यमिति निन्दितम् अवद्यमिति यावत् ॥ ५—८ ॥

चक्रपाणिः—प्रमितस्य स्तोकस्याशनं प्रमिताशनम्, क्रियातियोगो वमनातियोगः, प्रकृतिर्देह-

प्रीहा कासः क्षयः श्वासो गुल्मार्शांस्युदराणि च ।  
 कृशं प्रायोऽभिधावन्ति रोगाश्च ग्रहणीगताः ॥ ११ ॥  
 शुष्कस्फिगुदरप्रीवो धमनीजालसन्ततः ।  
 त्वगस्थिशेषोऽतिकृशः स्थूलपट्वा नरो मतः ॥ १२ ॥  
 सततं व्याधितावेतावतिस्थूलकृशौ नरौ ।  
 सततञ्चोपचर्यौ हि कर्षणैर्वृंहणैरपि ॥ १३ ॥  
 स्थौल्यकार्श्यं वरं कार्श्यं समोपकरणौ हि तौ ।  
 यदुग्रभौ व्याधिरागच्छेत् स्थूलमेवातिपीडयेत् ॥ १४ ॥

कृशस्यातिस्थूलस्येव हेतून् न दर्शितवान् दौर्बल्यदोषस्य दृश्यमानत्वात् ।  
 अतिकृशस्यातिदौर्बल्ये यत्किञ्चिदाहारादेवातिगुर्वाहारा भवन्ति, सुतरां  
 तीक्ष्णाग्निदोषा न भवन्ति इति भावः । प्रीहादयश्च रोगा अतिकृशं  
 धावन्ति ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—अतिकृशस्य रूपमाह—शुष्कस्फिगित्यादि । स्थूलपट्वा स्थूल-  
 ग्रन्थिः ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—अनयोः क्रियामूत्रमाह—सततमित्यादि । सततं हि अतिस्थूले  
 कर्षणोपचारः । अतिकृशे सततं वृंहणोपचारः कर्त्तव्यः । तत्र हेतुः सततं  
 व्याधितावित्यादि । सततव्याधितत्वञ्चातिस्थूलस्य देहस्य शैथिल्यादि ।  
 शुक्राल्पत्वदौर्बल्यदौर्गन्ध्यादित्वञ्च कृशस्य सततव्याधितत्वं व्यायामाद्य-  
 सहत्वम् ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—अनयोरप्यतिनिन्दितत्वं दर्शयति—स्थौल्येत्यादि । स्थौल्य-  
 कार्श्ये इति निर्द्धारणे सप्तमी । वरमिति किञ्चिदिष्टम् । वरत्वं दर्शयति—  
 समोपेत्यादि । हि शब्दो हेत्वर्थः । समोपकरणावपि तावुभौ अतिस्थूलाति-  
 कृशौ यस्मात् व्याधिः सहसा आगच्छेत् । आगच्छंश्च स्थूलमेवातिपीडयेत् ।  
 जनकं बीजम्, अनुशयोऽनुबन्धः । कृशस्य लक्षणम्—शुष्केत्यादि । त्वगस्थिशेष इति दृश्यते इति  
 शेषः, स्थूलपट्वा स्थूलग्रन्थिः ॥ १—१२ ॥

चक्रपाणिः—कर्षणैर्वृंहणैरिति यथासंख्यम् । वरमिति मनागिष्टम्, स्थूलमेवातिपीडयेदिति  
 स्थूलस्य दुरुपक्रमत्वात् । यतः स्थूलस्य सन्तर्पणमतिस्थौल्यकर्म, उपतर्पणञ्चायं प्रवृद्धाग्नित्वान्न  
 सोढुं क्षमः, अबले तु सन्तर्पणं योग्यमेवेति भावः ॥ १३१४ ॥

सममांसप्रमाणस्तु समसंहननो नरः ।

दृढेन्द्रियो विकाराणां न बलेनाभभूयते ॥ १५ ॥

क्षुत्पिपासातपसहः शीतव्यायामसंसहः ।

समपक्ता समजरः सममांसचयो मतः ॥ १६ ॥

गुरु चातपणञ्चष्टं स्थूलानां कर्षणं प्रति ।

कृशानां वृंहणार्थन्तु लघु सन्तर्पणन्तु यत् ॥ १७ ॥

नतु अतिकृशमतिपीडयेत् । अतिकृशस्य गमनागमनादिष्वतिस्थूलतः किञ्चिदधिकयोग्यत्वात् । सन्तपणापतर्पणादिषु च किञ्चित् क्षमत्वम् । समोपकरण-  
त्वञ्चानयोः अतिव्यायामव्यवायक्षुत्पिपासातिशीतोष्णत्वासहत्वम् ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—निन्दितपुरुषप्रसङ्गात् प्रशस्तपुरुषं दर्शयति—समेत्यादि । कश्चिदत्र “मांसशब्देनोपचयः स्तद्विपर्ययश्च विवक्षितस्तेन सममुपचयस्य प्रमाणं यस्य स तथा” इति व्याचष्टे, तन्न ; अतिदीर्घादेः समोपचयप्रमाणत्वेऽपि निन्दितत्वात् । वस्तुतस्तु समे मांसप्रमाणे यस्य स तथा, मांसस्य समत्वं यथायोग्यनातिस्थौल्यं नातिकाश्यमित्यर्थः । प्रमाणस्य समत्वं नातिद्वैध्यं नातिह्रस्वत्वं यथायोग्यमित्यर्थः । समसंहननः समं यथायोग्यं शरीरमांसादीनां सन्निवेशो दाढ्यं नातिशैथिल्यं नातिदाढ्यमित्यर्थः । दृढेन्द्रिय इति दृढ-  
दृष्ट्यादिः । तथा सति स नरो देहे जातानां विकाराणां बलेन नाभभूयते ।  
तथा क्षुधादिसहस्यात् । समपक्तादिश्च मतः ॥ १५/१६ ॥

गङ्गाधरः—अतिस्थूलस्य यत् कर्षणमुक्तमतिकृशस्य च यद्वृंहणमुक्तं तयोः सूत्रे आह—गुरु चेत्यादि । स्थौल्ये तीक्ष्णाग्निवप्रभूतकोष्ठवायुत्वाभ्यां गुरुद्रव्यं यदतर्पणं तदिष्टमप्यपोषकत्वात् कर्षणं स्यात् । न तु यद्रव्यं सन्तर्पणं तद्वृंहणं कृशानां भवति । अतर्पणमिति येन न तृप्तिः स्यात् तदतर्पणम् । तर्पणद्रव्यश्च

चक्रपाणिः—सम्प्रति प्रशस्तपुरुषमाह—समेत्यादि । मांसशब्देनेहोपचयस्तद्विपर्ययश्च विवक्षितः, तेन सममुपचयस्य प्रमाणं यस्य स तथा । संहननं मेलकः । अपरमपि सममांस प्रमाणगुणानाह—क्षुदित्यादि ॥ १५/१६ ॥

चक्रपाणिः—एवं स्थूलकृशौ प्रतिपाद्य तयोर्योजनीयं भेषजमाह—गुर्वित्यादि । गुरु चातर्पणञ्च, यथा मधु । एतद्धि गुरुत्वाद् वृद्धमग्निं यापयति अतर्पणत्वाभेदो हन्ति । एवं प्रशान्तिकाप्रभृतीनामतर्पणानां रुरवारादिना गुरुत्वं कृत्वा भोजनं देयम् । कृशानान्तु लघु तर्पणं देयम्, तद्धि

वातघ्नान्यन्नपानानि श्लेष्ममेदोहराणि च ।

रुक्षोष्णा वस्त्यस्तीक्ष्णा रुक्षाण्युद्रुतानि च ॥

गुडूचीभद्रमुस्तानां प्रयोगस्त्रैफलस्तथा ।

तक्रारिष्टप्रयोगश्च प्रयोगो मान्त्रिकस्य च ॥

श्लेष्मसंसृष्टमेदस्त्वादिष्टमित्यतः प्रशातिकायवादीनामतर्पणानां संस्कारेण च गुरुणां लघुत्वं विधाय भोजनम् । तथा गुरुणां संस्कारेणातर्पणत्वं विधाय भोजनं स्थूलानां कर्षणं प्रतीष्टं भवति । अतिस्थूलस्य ज्वरादौ व्याधौ दुरुपक्रमत्वात् । न हि तस्य सन्तर्पणं स्थौल्यकरत्वाद्विषम् । नाप्यतर्पणमतिवृद्धाग्निवायुत्वात् सद्यं स्यादिति । कृशानां वृंहणार्थं लघु यद्द्रव्यं भवति अग्निकरत्वात् तदतिकृशस्याल्पाग्नित्वादिष्टमपि तच्चावृंहणत्वाच्च चष्टं गुरुत्ववृंहणमिष्टमग्निबलापेक्षया देयम् । यच्च सन्तर्पणं द्रव्यं तदपि पुष्टिकरत्वादिष्टमित्यथः । इत्यञ्च गुरुत्वापतर्पणत्वोभयं यत्र तदिष्टं स्थौल्ये । लघुतासन्तर्पणत्वोभयं यत्र तदिष्टं काशेऽत्र । एवं सति स्वभावगुरुद्रव्यं संस्कारेणापतर्पणं कृत्वा स्थौल्ये स्वभावलघु च द्रव्यं संस्कारेण लघु च कृत्वा स्थौल्ये प्रयोक्तव्यम् । तथा काशेऽत्र स्वभावलघु यद्द्रव्यं तत् संस्कारेण सन्तर्पणं कृत्वा स्वभावगुरु च यद्द्रव्यं तदपि संस्कारेण गुरु कृत्वा प्रयोजयेदित्यर्थः । लघुत्वस्यापतर्पणत्वं गुरुत्वस्य सन्तर्पणत्वमिति । तत्रादौ स्थौल्ये गुरु चातर्पणं कर्षणमिति सूत्रं विवृणोत्यत्रैव चिकित्सास्थाने विवरणानभिप्रायात् ॥ १७ ॥

**गङ्गाधरः**—वातघ्नेत्यादि । वातघ्नानीति गुरुस्तिग्धोष्णानि । श्लेष्ममेदोहराणीति रुक्षोष्णलघूनि च अन्नपानानीत्यन्वयः । एतदपि भाष्यरूपेण सूत्रम् । “रुक्षोष्णा वस्त्यस्तीक्ष्णाः” इति वस्तिर्वातहराणामिति वचनात् स्नेहद्रव्यनिर्मितत्वाद्गस्तेः सर्व्वस्या एव । सति च वातहरत्वे तीक्ष्णरुक्षोष्णद्रव्ययोगेण तथालविधानान्मेदःश्लेष्महरत्वं बोध्यम् । एवं रुक्षद्रव्यकृतोद्वर्त्तनञ्च जलोपसेकेन गुरुत्वात् वातहरत्वापतर्पणत्वञ्च बोध्यम् । गुडूचीभद्रमुस्तानां प्रयोगस्त्रिदोषहरत्वात् लाघवाद्ग्नित्वद्विकरं सन्तर्पणत्वाच्च पुष्टिकृत् ; एतच्च द्वितयमप्यभीष्टतमत्वेनोक्तम् । तेन मेदस्त्रिनो यल्लघु चातर्पणं प्रशातिकाग्निवृद्धादि, तच्च कर्त्तव्यम् । तथा कृशस्यापि नवान्नादि गुर्वपि सन्तर्पणं कर्त्तव्यम् । परं लाघवं गौरवञ्च तत्संस्कारादिना प्रतिकर्त्तव्यम् ॥ १७ ॥

**चक्रपाणिः**—माक्षिकस्येति मधुनः, न च मधुनो वृष्यप्रयोगेषु दृष्टत्वाद् वृंहणत्वं वाच्यम्, यतः योगवाहि मधु यदा वृष्येण युज्यते तदा वृष्यत्वं करोति, लेखनयुक्तन्तु लेखनकरम, तथा

विडङ्गं नागरं चारं काललोहरजो मधु ।  
 यवामलकचूर्णस्य प्रयोगः श्रेष्ठ उच्यते ॥  
 विल्वादिपञ्चमूलस्य प्रयोगः क्षौद्रसंयुतः ।  
 शिलाजतुप्रयोगश्च साग्निमन्थरसः परः ॥  
 प्रशातिका प्रियङ्गुश्च श्यामाका यवका यवाः ।  
 जूर्णाह्वाः कोद्रवा मुद्राः कुलत्थाश्च मुकुष्टकाः \* ॥  
 आढकीनाञ्च बीजानि पटोलामलकैः सह ।  
 भोजनार्थं प्रयोज्यानि पानञ्चानु मधूदकम् ॥  
 अरिष्टांश्चानुपानार्थं मेदोमांसकफापहान् ।  
 अतिस्थौल्यविनाशाय प्रविभज्य प्रयोजयेत् ॥ ६८ ॥

तथा त्रैफलप्रयोगोऽपि तथा तक्रारिष्टप्रयोगश्च । माक्षिकस्य मधूनः प्रयोगस्तु  
 तस्य योगवाहित्वेन दृष्यप्रयोगे दृष्टत्वेऽपि केवलस्य दृष्यत्वाभावात् स्वभावेन  
 रौक्ष्यादिगुणयोगाच्च कर्षणमिति बोध्यम् । उक्तं हि “नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च  
 योगवाहि परं मधु ॥” इति । विडङ्गादीनान्तोपधिद्रव्याणां गुरुत्वाभावेऽपि  
 प्रभावात् स्थौल्यकर्षणत्वम् । काललोहरजस्तीक्ष्णलोहस्य जारितमारितचूर्णः ।  
 मधु इति पुनः पाठात् विडङ्गादीनां सहयोगेन प्रयोगो बोध्यः । पूर्वं हि केवलस्य  
 माक्षिकस्य प्रयोग उक्तः । विल्वादिक्षौद्रसंयुत इत्येको योगः । प्रयोगः  
 सततोपसेवनमित्यर्थः । शिलाजत्वित्यारभ्य साग्निमन्थरस इत्यन्तोऽत्रैको  
 योगः । अथ गुरु चापतपणसमाह—प्रसातकेत्यादि । प्रसातिका ओडिधान्य-  
 मिति लोके प्रसिद्धा । प्रियङ्गुश्चेति प्रियङ्गुनामधान्यविशेषः । श्यामाका इति  
 श्यामघासबीजानि । यवकाः स्वल्पयवाः । यवा वृहदयवाः प्रसिद्धाः ।  
 जूर्णाह्वा जुनारा इति लोके । आढकी तुवरी । मधूदकमिति मधुमिश्रोदक-  
 मित्यर्थः ॥ १८ ॥

स्वरूपेणापि रक्षादिगुणयोगात् कर्षणं, वचनं हि—“नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि परं मधु ।”  
 विडङ्गादिप्रयोगो गौरवनिरपेक्ष एवातिस्थौल्यहरः प्रभावात् । प्रशातिका उडिकेति प्रसिद्धा यवकाः  
 स्वल्पयवाः, चक्रमुद्रक ऋषिमुद्रक इति प्रसिद्धाः, आढकी तुवरी ॥ १८ ॥

\* कुलत्थाश्चक्रमुद्रका इति चक्रस्वीकृतः पाठः ।

अस्वप्नञ्च व्यवायञ्च व्यायामं चिन्तनानि च ।  
 स्थौल्यमिच्छन् परित्यक्तुं क्रमेणाभिप्रवर्द्धयेत् ॥  
 स्वप्नो हर्षः सुखा शय्या मनसो निवृत्तिः शमः ।  
 चिन्ताव्यवायव्यायाम-विरतिः संप्रहर्षणम् \* ॥  
 नवान्नानि नवं मद्यं ग्राम्यान्पौदका रसाः ।  
 संस्कृतानि च मांसानि दधि सर्पिः पयांसि च ॥  
 इक्षवः शलयो माषा गोधूमा गुडवैकृतम् ।  
 वस्तयः स्निग्धमधुरास्तैलाभ्यङ्गश्च सर्व्वदा ॥  
 स्निग्धमुद्रर्त्तनं स्नान-गन्धमाल्यनिषेवणम् ।  
 शुक्लं वासो यथाकालं दोषाणामवसेचनम् ॥  
 रसायनानां वृद्ध्याणां योगानाञ्चोपसेवनम् ।  
 हत्वातिकाश्यमाधत्ते नृणामुपचयं परम् ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—अतिस्थौल्यप्रतिक्रियामुत्तवातिकृशस्य प्रतिक्रियापाह—अस्वप्न-  
 मित्यादि । अस्वप्नादिकं क्रमेण वञ्जेयितुं स्वप्नादिकं क्रमेण वर्द्धयेत् ।  
 स्वप्न इत्यादि । सुखा शय्या सुखदशय्या । मनसो निवृत्तिः अनिवृत्त्य-  
 भावः । शमः शान्तिर्मेनस एवेत्यन्वयः । चिन्तादिभ्यो विरतिर्निवृत्तिः ।  
 ग्राम्यान्पौदकमांसानां रसा ग्राम्यान्पौदका रसाः । संस्कृतानि  
 च मांसानीति वचनेन मांससामान्यस्य संस्कारेण लघुत्वमुत्पाद्य प्रयोगः  
 काश्ये न पथ्यं बोध्यमिति ज्ञापकेन नवान्नादीनां सर्व्वेषां गुरुसन्तर्पणानामपि  
 संस्कारेण लघुत्वमायाय काश्ये न प्रयोग इति ज्ञापितम् । तथा प्रकृतिलघूनामपि  
 सन्तर्पणत्वमायाय प्रयोगः काशेर्बोध्यः । प्रकृतिलघूनां तथा प्रकृतिसन्तर्पणानाञ्च

चक्रपाणिः—काश्यंचिकित्सामाह—स्वप्न इत्यादि । शमः शान्तिः । ननु नवान्नादीनां  
 गुरुणां संस्कारादिनाऽगौरवं प्रतिकर्त्तव्यमग्निमान्द्यभयात्, तत् किमिति लघून्वेव रक्तशाल्यादीनि  
 तथा न क्रियन्ते, तानि हि प्रकृत्या लघूनि तर्पणानि च मधुरयोगात् ? न, उभयस्याभिप्रेतत्वात्,  
 प्रकृतिलघु च तर्पणं रक्तशाल्यादि, संस्कारदिलघु च नवान्नादि सन्तर्पणकरणमिति ; एवं पूर्व्वोक्त-

\* प्रियदर्शनमिति चक्रपाणिः ।

अचिन्तनाच्च कार्याणां ध्रुवं सन्तर्पणेन च ।

स्वप्नप्रसङ्गाच्च नरो वराह इव पुष्यति ॥ २० ॥

यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः ।

विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः ॥ २१ ॥

रक्तशाल्यादीनां सुतरामनुक्तानां प्रयोगः कार्ये हितो लघुसन्तर्पणन्तु यदिति सूत्रेणैव प्रतिपादितो भवति । वस्तय इत्यस्य विशेषणं स्निग्धमधुरा इति । गन्धमाल्यादीनां मनःप्रहर्षणत्वात् पुष्टिकरत्वम् । यथाकालं यस्य दोषस्य यश्च यः कालस्तस्मिन् काले चीयमानस्य तस्य दोषस्यावसेचनं निहरेणप्रपचय-करणमित्यर्थः ॥ १९ ॥

गङ्गाधर—प्रशस्ततमान्याह—अचिन्तनाच्चेत्यादि । कार्याणामिति पदेन सत्कर्मकरणेऽपि चिन्ताव्यवच्छेदार्थं चिन्तामात्रस्यैव कर्षणत्वात् । वराह इवेत्यनेन पुष्टिकरणे प्रशस्ततमत्वं ख्यापितम् । स्वप्नप्रसङ्गादिति सततनिद्रया-ऽतिमात्रनिद्रया चेत्येताभ्यां स्वप्नप्रस्तावान्निद्रायाः स्थौल्यकार्ययोः प्रधान-भेषजत्वेन विशेषादुपदेशं कर्तुमारभते—यदा त्वित्यादि । मनसीति चेतसि । क्लान्ते इति क्लमान्विते । क्लमस्तूक्तः सुश्रुते “योऽनायासश्रमो देहे प्रवृद्धः श्वास-वज्जितः । क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रवाधकः ॥” इति, देहक्लमाभिप्रायेण उक्तस्तदनुसारेण मनःप्रभृतीनां निश्चेष्टता क्लमः । कर्मात्मान इन्द्रियाणि । कालस्वभावात् श्रमादिहेत्वः तरतो वा मनसि चेष्टाहीने मनःप्रवृज्यानीन्द्रियाणि क्लमान्वितानि भूत्वा विषयेभ्यः शब्दस्पर्शादिभ्यो निवर्तन्ते यदा तदा मानवो राशिपुरुषः स्वपितीत्यतो न परमात्मा सुप्तोऽनुमीयते । एतेन समनस्कोन्द्र-याणां विषयतो निवृत्तिनिद्रेति ख्यापितम् । तस्यैव भेदाः—“तमोभवा” इत्यादिनात्रैवाध्याये वक्ष्यन्ते इति । कश्चित् तु—एकस्तु स्वप्नो निरिन्द्रियप्रदेशे मनोऽवस्थानमित्याह, परे तु मेध्यामनःसंयोगो निद्रा स्वप्नः । पुरी तन्मनः-संयोगो निद्रासुषुप्तिरित्याहुः । तदमूलकम् । वस्तुतस्तु कर्मात्मान इत्यनेन

प्रशक्तिकादावप्यनुसर्तव्यम् । अचिन्तनाच्चेत्यादिना प्रकृष्टं बृंहणकारणमुच्यते, स्वप्नप्रसङ्गो नित्यं स्वप्नमतिमात्रञ्च ॥ १९।२० ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति प्रस्तावानुगतं स्थौल्यकार्यचिकित्साप्रधानभूतं स्वप्नं निद्रारूपं सर्व्वतो निरूपयति—यदा त्वित्यादि । मनसीत्यन्तःकरणे, किंवा मनोयुक्त आत्मा मन इत्युच्यते, तस्मिन्

आत्मबुद्धरहङ्काराणां व्यवच्छेदः । बाह्यानां दशानामिन्द्रियाणाञ्च ग्रहणम् । मनसश्च क्लान्तिः स्वस्थानस्य हृदयस्य तमसावरणेन निमीलनाद्भवति । मनसश्च सर्वेन्द्रियाणां चेष्टाप्रत्येयस्य क्लमात् सर्वेन्द्रियाणां क्लमो निश्चेष्टता भवति । सुतरां सर्वेन्द्रियाणि विषयेभ्यो निवर्तन्ते । यतः स राशि-पुरुषस्य स्वापो निद्रेत्यर्थः । समनस्केन्द्रियाणां विषयतो निवृत्तिस्तु राशि-पुरुषस्य वस्तुतो निद्रा । किन्तु राशिपुरुषस्य सर्ववाहेन्द्रियाणां विषयतो निवृत्त्यां नानुमीयते आत्मनो निद्रा । सा चात्मनि नीरजस्तमोऽन्यतरसंयोगः तैजसतामसाहङ्कारान्यतरसंयोग इति यावत् । तत्संयोगे तु हेतुस्तमआत्ममनः-स्थानश्चेत्पमनोदेहध्रमादिः । तमःश्लेष्मादिना हि उद्रिक्तरजस्ककेवलान्यतर-त्वेन तमस उद्रेकात् सत्त्वस्य लाघवादुद्रिक्तरजस्केन केवलेन बोद्रिक्तं तमसा हृदयावरणम् । हृदयावरणेन हि मनश्चेतयितुमात्मा नालं भवति, चैतन्या-भावात् प्रकाशाभावाच्च । सक्रियमपि मनो बाह्येन्द्रियाणां स्थानेषु न गन्तु-मर्हति । नातश्चेन्द्रियाणि स्वस्वविषयेषु प्रयोक्तुमर्हति । ततश्चेन्द्रियाणि न स्वविषयान् ग्रहीतुमर्हन्ति । सुतरां विषयेभ्यो निवर्तन्ते इति । बाह्येन्द्रियाणां विषयतो निवृत्त्या मानवानां बाह्येन्द्रियकार्यज्ञाने कर्माभावेनानुमीयते आत्मनो राजसतामसाहङ्कारान्यतरयोगः । सा च निद्रा द्विधा । तत्र तैजसा-हङ्कारयोगः स्वप्नः । तामसाहङ्कारयोगः सुषुप्तिः । अत्र तु निद्रा सुप्तिः सुषुप्ति-श्चोच्यते । तयोस्तमोभवेत्यादिना विवरणात् स्वप्नस्य पुनरिन्द्रियस्थाने विव-रितव्यत्वम् । “मनोबहानां पूर्णत्वात् दोषैरतिबलैस्त्रिभिः । स्रोतसां दारुणान् स्वप्नान् काले पश्यति दारुणे ॥ नातिप्रसुप्तः पुरुषः सफलानफलान्स्तथा । इन्द्रियेण मनसा स्वप्नान् पश्यत्यनेकधा ॥ दृष्टं श्रूतानुभूतञ्च प्रार्थितं कल्पितं तथा । भाविकं दोषजञ्चैव स्वप्नं पञ्चविधं विदुः ॥” इत्यादि । तत् स्वप्न-दर्शनस्य विवरणं न तु स्वप्नस्य निद्रारूपस्य । सुप्तिमुषुप्त्योल्लिङ्गन्तु देहिनो बुद्धिकर्मेन्द्रियकार्याभावः । तत्र बुद्धिकर्मेन्द्रियाणां नातिकार्याभावः स्वप्नस्य लिङ्गम् । अतिशयेन कार्याभावस्तु सुषुप्तेः । श्वासोच्छ्वासप्राणा-पानादिकन्तु न बुद्धिकर्मेन्द्रियाणां कार्यम् । आत्मलिङ्गत्वादात्मकार्यं सुखादिवत् । उक्तं हि माण्डूक्योपनिषदि—“स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग क्लान्त इति निष्क्रिये, कर्मात्मान इतीन्द्रियाणि, क्लमान्विताः क्रियारहिताः, विषयेभ्यो रूपादिभ्यः, मनसोऽप्रवृत्त्येन्द्रियाण्यपि न प्रवर्तन्त इति भावः ; तदा स्वपितीति स्वप्नगुणयुक्तो भवति, स्वप्नश्च निरिन्द्रियप्रवेशे मनोऽवस्थानम् ; किंवा, कर्मात्मान इति संसार्यात्मानः । मनसि क्लान्ते



एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः । यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न च कञ्चन स्वप्न पश्यति तत् सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ।” इत्यादि । सुषुप्तिकाले केवलमनोमात्रयुक्तत्वात् तदितरतत्त्वानां लयात् पुनर्जन्मान्तरसंस्कारतः सर्व्वतत्त्वसम्पूर्णः स एव जीव इति बुद्धिमान् जागरितः स्यात् । उक्तं हि कैवल्योपनिषदि—“स एव माया परिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्व्वम् । स्त्रियान्नपानादिविचित्रागौः स एव जाग्रत् परितृप्तिमेति ॥ स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पित-विश्वलोके । सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति ॥ पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात् स एव जीवः स इति प्रबुद्धः ॥” इत्यादि । प्रथमः पादस्तु जागरितस्थान आत्मा । तमःश्रमाद्यभावे सत्त्वोद्रेकात् तमसात्ममनःस्थानहृदया-वरणाभावेन उद्विक्तसत्त्वेन प्रकाशात् सात्त्विकाहङ्कारोद्रेकः । प्रवर्त्तको हि सत्त्वम् । अतस्तेन चोद्विक्तसात्त्विकाहङ्कारेण प्रवर्त्तकेनात्मा मनश्चेतयितुमर्हन् मनश्चेतयति । तच्चेतितश्च मनः श्रोत्रादीनां स्वस्वस्थानेषु गन्तुमर्हत् गच्छच्च श्रोत्रादीनि चेतयित्वा स्वस्वकर्मसूपयुङ्क्ते । प्रयोजितानि पुनः श्रोत्रादीनि स्वस्व-विषयान् गृह्णन्तीति जागरणं सात्त्विकाहङ्कारात्मसंयोगः । तस्य लिङ्गानि बाहेर्गन्द्रियकर्मणि । माण्डूक्येऽप्युक्तं—“जागरितस्थानो वहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुक् वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥” इति । सुश्रुतेऽप्युक्तं—“तद्द्रव्यं विशेषेण चेतनास्थानम् । अतस्तस्मिंस्तमसावृते सर्व्वप्राणिनः स्वपन्ति । भवति चात्र । पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम् । जाग्रतस्तद्विकशति स्वपतश्च निमीलति ॥ निद्रान्तु वैष्णवीं पाप्मानमुपदिशन्ति । सा स्वभावत एव सर्व्वप्राणिनोऽभिस्पृशति । तत्र यदा संज्ञावहानि स्रोतांसि तमोभूयिष्ठः श्लेष्मा प्रतिपद्यते तदा तामसी नाम निद्रा सम्भवत्यनवबोधिनी सा प्रलयकाले । तमोभूयिष्ठानामहःसु निशासु च भवति । रजोभूयिष्ठानामनिमित्तम् । सत्त्व-भूयिष्ठानामर्द्धरात्रे । क्षीणश्लेष्मणामनिलबहुलानां मनःशरीराभितापवताश्च नैव सा वैकारिकी भवति । भवन्ति चात्र । हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम् । तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनाम् ॥ निद्राहेतुस्तमः सत्त्वं बोधने हेतुरुच्यते । स्वभाव एव वा हेतुर्गरीयान् परिकीर्यते ॥ पूर्व्वदेहानु-

आत्मानः क्लान्ता भवान्त, मनोऽधीनप्रवृत्तित्वादात्मनां, ततश्च मनोनिवृत्त्या आत्मानोऽपि न विषयान् गृह्णन्ति, इन्द्रियाणि चात्मानोऽप्रवृत्त्यैव न प्रवर्त्तन्ते ॥ २१ ॥

निद्रायुक्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम् ।  
 वृषता क्लीवता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च ॥ २२ ॥  
 अकालेऽतिप्रसङ्गाच्च न च निद्रा निषेविता ।  
 सुखायुषी न वा कुर्यात् कालरात्रिरिवागता ॥  
 सैव युक्ता पुनर्युङ्क्ते निद्रा देहसुखायुषा ।  
 पुरुषं योगिनं सिद्ध्या सत्या बुद्धिरिवागता ॥ २३ ॥

भूतांस्तु भूतात्मा स्वपतः प्रभुः । रजोयुक्तेन मनसा गृह्णात्यर्थान् शुभाशुभान् ॥  
 करणानान्तु वैकल्ये तमसाभिप्रवर्द्धिते । अस्वपन्नपि भूतात्मा प्रसुप्त इव चोच्यते ॥”  
 इति । अस्वपन्निति वैकल्याभिप्रायेण प्रसुप्त इति । तैजसतामसाहङ्कारयोगाभि-  
 प्रायेणोक्तम् ॥ २०।२१ ॥

गङ्गाधरः—अथ निद्राफलमाह—निद्रायुक्तमित्यादि । निद्रायुक्तं सुखं दुःख-  
 मित्यादि भावाभावरूपं निद्रायाः समययोगायोगमिथ्यायोगातियोगयुक्ताया  
 आयुक्तमधीनम् । तत्र समययोगयुक्तनिद्रायुक्तानि सुखपुष्टिवलवृषताज्ञान-  
 जीवितानि भवन्ति । इतराणि दुःखादीनि मिथ्यायोगादियुक्तनिद्रायुक्तानि  
 भवन्तीत्यर्थः । न चेत्यजीवितमल्पजीवितञ्च ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—प्रतिलोमतत्रयुक्त्या तद्द्वयमुदाहरति—अकालेऽतीत्यादि । अकाले  
 इति दिनाद्यविहितकाले निषेविता निद्रा मिथ्यायोगयुक्ता भवति । अति-  
 प्रसङ्गात् निषेविता निद्राऽतियोगयुक्ता भवति । न च निषेविता निद्रा अयोग-  
 युक्ता भवति । एषा त्रिविधा निद्रा सुखायुषी नैव कुर्यात् । वाशब्द एवार्थः ।  
 कालरात्रिः काल एव यम इति यावत् । अथवा सकलकालिकी निद्रा काल-  
 रात्रिः । सैवेति निद्रा युक्ता समययोगयुक्ता सुखायुषा सुखेनायुषा च पुरुषं  
 युङ्क्ते । योगिनं योगवन्तं यथा सत्या बुद्धिस्तत्त्वज्ञानम् ॥ २३ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति विधिना सेविताया निद्राया गुणम् अविधिना च दोषमाह—निद्रायुक्त-  
 मित्यादिना न चेत्यन्तेन । अत्र च सुखादि विधिसेवितनिद्राफलम्, दुःखादि त्वविधिनिद्रा-  
 फलम् । एतदेव विभजते—अकाल इत्यादि । अकाल इति दिनादौ निद्रां प्रति निषिद्धे काले ।  
 अनेन च मिथ्यायोगो निद्राया उक्तः, कालरात्रिः कालोषा, सत्या बुद्धिस्तत्त्वज्ञानम् ॥ २२—२३ ॥

गीताध्ययनमद्यस्त्री-कर्मभाराध्वकर्षिताः ।

अजीर्णिनः क्षताः क्षीणा वृद्धा बालास्तथाबलाः ॥

तृष्णातीसारशूलार्ताः श्वासिनो हिक्किनः कृशाः ।

पतिताभिहतोन्मत्ताः श्रान्ता यानप्रजागरैः ॥

क्रोधशोकभयक्लान्ता दिवास्वप्नोचिताश्च ये ।

सर्वे एते दिवास्वप्नं सेवेरन् सार्वकालिकम् ॥

गङ्गाधरः—निद्रायाः कालमाह—गीतेत्यादि । गीतादिकर्षितानां रौक्ष्य-  
विरोधी स्निग्धदिवास्वप्नो देहपुष्टिकरो रौक्ष्यहरश्च भवतीत्यारोग्यं तेषां भवति ।  
अजीर्णिन इति जीणे एव भुञ्जीतेति वचनादजीर्णं सति भोजनाभावादभुक्त-  
वत एवाजीर्णिनो दिवानिद्रा तदजीर्णपरे पाकाय भवति । एवं क्षतादीना-  
मपि बोध्यम् । उक्तं हि सुश्रुते—“सर्वेत्तु पु दिवास्वप्नः प्रतिषिद्धोऽन्यत्र ग्रीष्मात् ।  
प्रतिषिद्धेष्वपि तु बालवृद्धस्त्रीकषितक्षतक्षीणमद्यनित्ययानवाहनाध्वकर्मपरि-  
श्रान्तानामभुक्तवतां मेदःस्वेदकफरसरक्तक्षीणानामजीर्णिनाश्च मुहूर्तं दिवा-  
स्वपनमप्रतिषिद्धम् । रात्रावपि जागरितवतां जागरितकालादर्द्धमिष्यते दिवा-  
स्वप्नः” इति । तस्मात् मेदःस्वेदक्षीणाः कृशा एव भवन्ति । रसक्षीणशब्देन रक्त-  
क्षीणशब्देन च पुनरबलाः । दिवास्वप्नश्च तृट्शूलहिकाजीर्णातिसारिणामित्यनेन  
वाच्यत्वान्न न्यूनता । तथा पतिता अभिहता उन्मत्ताः क्रोधक्लान्ताः शोकक्लान्ताः  
भयक्लान्ताश्च कफक्षीणा एव । यानप्रजागरैरिति बहुवचनं प्रत्येकं बहुत्वाभिप्रायेण ।  
प्रजागरो रात्रिजागरणम् । दिवास्वप्नोचिताः सर्वेत्तुषु अभ्यस्तदिवास्वप्नाः ।  
सुश्रुतेऽप्युक्तं “दिवा वा यदि वा रात्रौ निद्रा सात्म्यीकृता तु यैः । न तेषां

चक्रपाणिः—सम्प्रति दिनेऽपि यैर्निद्रा सेव्या तानाह—गीतेत्यादि । इह गीतकर्षितानां  
दिवास्वप्नाद् धातुपुष्टौ सत्यामारोग्यम्, अतीसारादिषु च प्रभावादित्रापि निद्रा हिता, अजीर्णिनस्तु  
अजीर्णपाकार्थं दिवानिद्रा, निद्रा हि स्रोतोऽवरोधेनाग्निबलं कृत्वा शीघ्रमाहारं पचति ;  
दिवास्वप्नसात्त्वयानां सहसा तत्परित्यागे दोष एव स्यात्, रात्रौ जागरितानाञ्च तज्जनितवात-  
क्षीभशमार्थं दिवास्वप्नः, स च क्षारपाणिवचनेन कर्त्तव्यः, ददुक्तम्—“यावत्कालं न सुप्तः  
स्याद् रात्रौ स्वप्नाद् यथोचितात् । ततोऽर्द्धमात्रं तत्कालं दिवास्वप्नो विधीयते ॥” अथञ्च  
दिवास्वप्नोऽभुक्तवतामेव, यदुक्तं हारीते—“भुक्त्वा स्वप्नं न सेवेत् सुस्थोऽप्यसुखितो भवेत् ।  
अन्यत्राप्युक्तं व्यायामादिषु दिवास्वप्नविधाने—“नरान् निरशनान् कामं दिवा स्वापयेत्” इति ।

धातुसाम्यं तथा ह्येषां बलञ्चाप्युपजायते ।  
 श्लेष्मा पुष्यति चाङ्गानि स्थैर्यं भवति चायुषः ॥ २४ ॥  
 ग्रीष्मे त्वादानरुक्षाणां वर्द्धमाने च भास्करे ।  
 रात्रीणाञ्चातिसङ्क्षेपाद् दिवा स्वप्नः प्रशस्यते ॥ २५ ॥  
 ग्रीष्मवर्ज्येषु कालेषु दिवास्वप्नात् प्रकुप्यतः ।  
 श्लेष्मपित्ते दिवास्वप्नस्तस्मादन्येषु नेष्यते ॥  
 मेदस्विनः स्नेहनित्याः श्लेष्मलाः श्लेष्मरोगिणः ।  
 दूषीविषात्ताश्च दिवा न शरीयन् कदाचन ॥ २६ ॥

स्वप्तां दोषो जाग्रतां वा विधीयते ॥” इति । सार्वकालिकं सार्वर्चुकं न तु  
 भुक्ते वाप्यभुक्ते वा । एषामभुक्तवतां दिवास्वप्नकलमाह—धात्वित्यादि ॥२४॥

गङ्गाधरः—ननु सार्वर्चुकेषु भुक्तवतां गीतकर्षितादीनां दिवास्वप्नो भवत्वैवं  
 भुक्तवतां किमन्यथा स्यादिति ? अत आह—ग्रीष्मे इत्यादि । सार्वकालिक-  
 मित्यनेन गीतकर्षितादीनामभुक्तवतां दिवास्वप्नो विहितः । ग्रीष्मे खित्यादिना  
 सार्वेषामेव स्वस्थातुराणां भुक्तवतामभुक्तवताश्च विहितः । केचिदभुक्तवता-  
 मेवेत्याहुः ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—ग्रीष्मवर्ज्येषु कालेषु पुनरभुक्तवतां गीतकर्षितादीनां  
 दिवास्वप्नस्य विहितत्वात् तेषां भुक्तवतामन्येषां भुक्तवतामभुक्तवताश्च  
 ग्रीष्मेतरेषु ऋतुषु दिवास्वप्नो निषिद्धो बोध्यः । तस्मादिति श्लेष्मपित्त-  
 प्रकोपात् । अन्येषु ग्रीष्मेतरेषु ऋतुषु । दिवा स्वाप्यानुत्वा दिवा न स्वाप्या-  
 नाह—मेदस्विन इत्यादि । एते कदाचन कस्मिंश्चित् कालेऽपि दिवा न शयी-  
 रन् । तेनैषां भुक्तेऽभुक्ते च ग्रीष्मे च ग्रीष्मेतरे च ॥ २६ ॥

सार्वकालिकमिति ग्रीष्मं परित्यज्यापि । ‘रात्रीणाञ्चातिसंक्षेपाद्’ इत्यनेनाल्पनिद्रत्वञ्च सूच-  
 यति ॥ २४।२५ ॥

चक्रपाणिः—“न शरीरन् कदाचन” इतिवचनात् ग्रीष्मेऽपि दिवास्वप्नं मेदस्विप्रभृतीनां  
 निषेधयति, गीतकर्षणादौ तु बलाबलं निरूप्य दिवास्वप्नप्रवृत्तिर्वा विधेया । विषवेगप्रवर्त्तनमिति

हलीमकं शिरःशूलं स्तैमित्यं गुरुगात्रता ।  
 अङ्गमर्दोऽग्निनाशश्च प्रलेपो हृदयस्य च ॥  
 शोफारोचकहृत्लास-पीनसार्द्धावभेदकाः ।  
 कोठोऽरुः पिडका कण्डूस्तन्द्रा कासो गलामयः ॥  
 स्मृतिबुद्धिप्रमोहश्च संरोधः स्रोतसां ज्वरः ।  
 इन्द्रियाणामसामर्थ्यं विषवेगप्रवर्त्तनम् ॥  
 भवेन्नृणां दिवास्वप्नस्याहितस्य निषेवणात् ।  
 तस्माद्धिताहितं स्वप्नं बुद्ध्या स्वप्यात् सुखं बुधः ॥ २७ ॥  
 रात्रौ जागरणं रुचं स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा ।  
 अरुक्षमनभिष्यन्दि त्वासीनप्रचलायितम् ॥ २८ ॥

गङ्गाधरः—अथाविहितदिवास्वप्ननिषेवणे दोषमाह—हलीमकमित्यादि ।  
 स्मृतिबुद्धिप्रमोहः स्मृतिभ्रंशो बुद्धिभ्रंशश्चेत्यर्थः । स्रोतसां संरोधो रसादि-  
 वहानां स्रोतसामन्तःशुषिररोधः । विषवेगप्रवर्त्तनं दूषीविषार्त्तानां सद्योविषं  
 भुक्तवताश्च विषवेगः पुनर्भवति । सुश्रुतेऽप्युक्तं—“विकृतिर्हि दिवास्वप्नो नाम ।  
 तत्र स्वपतामधम्मैः सर्व्वदोषप्रकोपश्च । तत्प्रकोपाच्च कासश्वासप्रतिश्यायशिरो-  
 गौरवाङ्गमर्दोचकज्वराग्निदौर्बल्यानि भवन्ति । रात्रावपि जागरितवतां वात-  
 पित्तनिमित्तास्त एवोपद्रवा भवन्ति । भवन्ति चात्र । तस्मान्न जागृत्याद्रात्रौ  
 दिवास्वप्नश्च वज्जयेत् । ज्ञात्वा दोषकरावेतौ बुधः स्वप्नं मितं चरेत् ॥ अरोगः  
 सुमना हेतुवं बलवर्णान्वितो वृषः । नातिस्थूलकृशः श्रीमान् नरो जीवेत् समाः  
 शतम् ॥” इति । तस्मात् गीतकपितादीनामभुक्तवतां ग्रीष्मे च दिवास्वप्नेन धातु-  
 साम्यादिसद्भावात् तदितरथा दिवास्वप्ननिषेवणेन हलीमकादिसम्भवात् हिता-  
 हितं स्वप्नं बुद्ध्या बुधः सुखं स्वप्यात् । इह स्वप्नो ह्यसुखं भवतीति । हितं स्वप्न-  
 माचरेदित्यर्थः । एतेन दिवास्वप्नस्य विशेषेणोक्त्या रात्रिस्वप्नश्च लभ्यते ॥ २७

गङ्गाधरः—ननु रात्रौ जागरणे दिवा स्वप्ने च को दोषो गुणो वेति ? अत  
 दूषीविषार्त्तानां बोद्धव्यम् ; स्वप्यात् सुखमिति सुखं यथा भवति तथा स्वप्यात्, तच्चाहित-  
 स्वप्नपरित्यागेन हितस्वप्नसेवया च ॥ २६।२७ ॥

चक्रपाणिः—रात्रावित्यादिना जागरणस्य स्वप्नस्य च रुक्षत्वं स्निग्धत्वञ्च तत्कार्यकर्तृत्वात्

देहवृत्तौ यथाहारस्तथा स्वप्नः सुखो मतः ।  
 स्वप्नाहारसमुत्थे तु स्थौल्यकार्श्ये विशेषतः ॥ २६ ॥  
 अभ्यङ्गोत्सादनं स्नानं ग्राभ्यान्पौदका रसाः ।  
 शाल्यन्नं सदधि क्षीरं स्नेहो मद्यं मनःसुखम् ॥  
 मनसोऽनुगुणा गन्धाः शब्दाः संवाहनानि च ।  
 चक्षुषोस्तर्पणं लेपः शिरसो वदनस्य च ॥

आह—रात्रावित्यादि । रुक्षं रुक्षयतीति रुक्षत्वगुणजनकम् । एवं स्निग्धं स्निग्ध-  
 गुणो जन्यतया विद्यतेऽस्य तत् तथा । एतेन भुक्तवतामभुक्तवतां दिवास्वप्न-  
 रात्रिजागरणयोर्मिथो विपरीतत्वं ज्ञापितम् । स्वप्नविशेषत्वादासीनप्रचलायि-  
 तस्य उपविष्टस्य किञ्चिन्निद्रारूपस्य गुणमाह—अरुक्षेत्यादि । अनभिष्यन्दि  
 अस्निग्धम् ॥ २८ ॥

गङ्गाधरः—विहारेषु स्वप्नस्य प्राधान्यमाह—देहेत्यादि । देहस्य वृत्तौ सुख  
 इति मिथ्यायोगायोगातियोगभिन्नयोगयुक्तः । स्वप्नाहारेति अतियोगादि-  
 युक्ताभ्यां स्वप्नाहाराभ्यां समुत्थं स्थौल्यम् अयोगादियुक्ताभ्यां स्वप्नाहाराभ्यां  
 समुत्थं कार्श्यं विशेषतो भवति । स्थौल्यकार्श्ययोर्विशेषहेतुत्वेनोक्तिरिहाष्टौ  
 निन्दिताः पुरुषा उक्तास्तेष्वतिनिन्दितत्वात् तदधिकाराच्च । एतेन समयोगयुक्ते-  
 नाहारेणेव स्वप्नेनापि नातिस्थूलकृशः स्यादिति सुश्रुतेन तुल्यवाक्यता  
 बोध्या ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—स्वप्नस्य निमित्ततो विनष्टस्य जनकान्याह—अभ्यङ्गेत्यादि ।  
 मनसोऽनुगुणा इति गन्धाः शब्दा इत्येताभ्यामन्वीयते । संवाहनानि सुखजनक-

उपचर्यते । किञ्च जागरणं रात्रौ दिने वा रुक्षमेव, परं दिवा जागरणं न विरुक्षणं शरीरे करोति  
 रात्रिस्वप्नप्रस्निग्धत्वात्, रात्रौ जागरणन्तु रौक्ष्यं करोति, तेन तत् रुक्षमुच्यते ; एवं दिवास्वप्नेऽपि  
 वाच्यम् । स्वप्नप्रसङ्गेन स्वप्नभेदगुणमाह—अरुक्षमित्यादि । अनभिष्यन्त्यस्निग्धमित्यर्थः ।  
 आसीनप्रचलायितमुपविष्टस्य किञ्चिन्निद्रासेवनम्, यदाहुर्जनाः प्रधानं विहारेषु । स्वप्नप्राधान्ये  
 हेतुमाह—देहवृत्तावित्यादि ।—॥२८॥२९॥

चक्रपाणिः—सुखहेतुस्वप्नजनकं हेतुमाह—अभ्यङ्गेत्यादि । कालस्तथोचितं इति यस्मिन्

स्वास्तीर्णं शयनं वेश्म सुखं कालस्तथोचितः ।  
 आनयन्त्यचिरान्निद्रां प्रनष्टा या निमित्ततः ॥ ३० ॥  
 कायस्य शिरसश्चैव विरेकश्छर्दनं भयम् ।  
 चिन्ता क्रोधस्तथा धूमो व्यायामो \* रक्तमोक्षणम् ॥  
 उपवासोऽसुखा शय्या सत्त्वौदार्यं तमोजयः ।  
 निद्राप्रसङ्गमहितं वारयन्ति समुत्थितम् ॥

वाहनानि शरीरप्रदेशविशेषे सुष्ठुमर्दनानि । स्वास्तीर्णं शयनं सुखम् । वेश्म च सुखमिति बोध्यम् । कालस्तथोचित इति—यस्य पुरुषस्य यः कालो निद्रायामभ्यस्तः स कालस्तस्योचित इत्यर्थः । निमित्ततः इति निद्राया अनिमित्ततो विनष्टाया व्यवच्छेदः । सुश्रुते ह्युक्तं—“निद्रानाशोऽनिलात् पित्तान्मनस्तापात् क्षयादपि । सम्भवत्यभिघाताच्च प्रत्यनीकैः प्रशाम्यति ॥ निद्रानाशेऽभ्यङ्गयोगो मूर्द्ध्नि तैलनिषेवणम् । गात्रस्योद्वर्त्तनञ्चैव हितं संवाहनानि च ॥ शालिगोधूम-पिष्टान्न-भक्ष्यैरैक्षवसंस्कृतैः । भोजनं मधुरं स्निग्धं क्षीरमांसरसादिभिः ॥ रसैर्विलेशयानाञ्च विष्किराणां तथैव च । द्राक्षासितेश्चुद्रव्याणामुपयोगो भवेन्निशि ॥ शयनासनयानानि मनोज्ञानि मृदूनि च । निद्रानाशे तु कुर्वीत तथान्यान्यपि बुद्धिमान् ॥” इति ॥ ३० ॥

गङ्गाधरः—अथ निद्रानाशस्य हेतूपदेशादतियोगयुक्तनिद्राप्रतिषेधमाह—कायस्येत्यादि । असुखा शय्या सुखस्याजनिका शय्या । सत्त्वौदार्यं सत्त्वगुणभूयिष्ठता । तमोजयस्तमोगुणस्य योगाभ्यासादिना जयः । निद्राप्रसङ्गमहितमिति अहितनिद्राप्रसङ्गोऽतियोगयुक्तनिद्रा । सुश्रुतेऽप्यति-निद्राप्रतिषेध उक्तस्तद्वत्तथा—“वमेन्निद्रातियोगे तु कुर्यात् संशोधनानि च । लङ्घनं रक्तमोक्षश्च मनोव्याकुलनानि च ॥” इति ॥ अतियोग-

काले निद्रा पुरुषेणाभ्यस्ता, स कालस्तस्योचितः । निमित्ततः प्रनष्टेति वचनमरिष्टजनितनिद्राभाव-प्रतिषेधार्थम्, अरिष्टं ह्यनिमित्तमुच्यते ॥ ३० ॥

चक्रपाणिः—३.त्र निद्राप्रतिषेधहेतुमाह—कायस्येत्यादि । सत्त्वौदार्यम् सत्त्वभूरित्वम् ;

\* तथा इत्यत्र कथा इति एवं व्यायाम इत्यत्र व्यवाय इति चक्रसम्मतः पाठः ।

एत एव च विज्ञेया निद्रानाशस्य हेतवः ।

कार्यं कालो विकारश्च प्रकृतिर्वायुरेव च ॥ ३१ ॥

तमोभवा श्लेष्मसमुद्भवा च मनःशरीरश्रमसम्भवा च ।

आगन्तुकी व्याध्यनुवर्त्तिनी च रात्रिस्वभावप्रभवा च निद्रा ॥

युक्तनिद्रावारकस्य समयोगयुक्तनिद्रानाशकत्वं दर्शयति—एत एव चेत्यादि । निद्रानाशस्य स्वस्थपुरुषस्य [समयोगेन सेव्याया अपि निद्राया नाशस्येत्यर्थः । आतुरस्य तु सुश्रुतोक्तनिद्रानाशोऽनिलादिना दशितः । आचार्येणापि दर्श्यते—कार्यमित्यादि । स्वस्थातुरोभयपरतया कार्यकालप्रकृतयो बोध्याः । कार्यं कर्म । क्रियासक्तो हि न निद्राति । कालो वार्द्धक्यम् । तमोभूयिष्ठस्य श्लेष्मजये । विकारो ज्वरादिः । वृद्धो हि वार्द्धक्यावस्थास्वभावान्न निद्राति । प्रकृतिः स्वभावः, वायुर्वायुप्रकृतिः, न तु समावस्थो वायुर्निद्रानाशहेतुः ; विषमस्य तु वायोर्विकारपदेन लाभात् । वायुप्रकृतिको हि जागरूकः स्फुटितकरचरणादिक उक्त इति । एतेन प्रकृतिः स्वभावः वायुर्विशेषेण निद्रापहारक इति ज्ञापनार्थं पुनरुक्त इति यद्व्याख्यातं तददूषितं भवति । जागरूकत्वस्वभावस्तु पुंसां न निसर्गतः स्यात्, प्रकृति-भूतवायुना हि भवति । सुश्रुते दिवानिद्रावद्रात्रिजागरणमपि रोगविशेषे हितमुक्तम् । तद्यथा—“कफमेदोविषाक्तानां रात्रौ जागरणं हितम् । दिवा-स्वप्नश्च तृद्शूल-हिकाजीर्णातिसारिणाम् ॥” इति ॥ ३१ ॥

गङ्गाधरः—निद्राविधिमुक्त्वा निद्रायाः कारणभेदेन भेदानाह—तमो-भवेत्यादि । तमोभवेति आत्ममनःस्थानहृदयपद्मस्य तमोगुणावरणमन्तरेण

तमोजयस्तमोगुणजयः, स च योगाभ्यासादिना भवति । एत एव चेति स्वस्थे क्रियमाणा हात बोद्धव्यम् । निद्रातिप्रसङ्गे सति क्रियमाणा अतिप्रसङ्गनिषेधका भवन्त । अपरानपि निद्रानाश-हेतूनाह—कार्यमित्यादि । कार्यमिति कार्यसक्तो न निद्रां याति । काल इति वार्द्धक्यं, वृद्धा हि स्वभावत एव जागरूका भवन्ति । विकारो व्याधिः शूलादिः । प्रकृतिः स्वभावः, स्वभावा-देव केचिदनिद्रा भवन्त । विकारग्रहणेनैव वाते लब्धे पुनर्वातग्रहणं विशेषेण वायोर्निद्राप-हारकत्वप्रतिपादनार्थम् ॥ ३१ ॥

चक्रपाणिः—निद्राविशेषानाह—तमोभवेत्यादि । तमोभवा इति तमोगुणोद्रेकभवा, मनः-



रात्रिस्वभावप्रभवा मता या तां भूतरात्रीं \* प्रवदन्ति निद्राम् ।  
तमोभवामाहुरघस्य मूलं शेषाः पुनर्व्याधिषु निर्दिशन्ति ॥ ३२ ॥

निद्रा कापि न भवतीति, तस्य तमसो निद्रासाधारणकारणस्य श्लेष्मादि-  
हेतुव्यतिरेकेण यः स्वतो भवत्युद्वेकस्तस्य यन्निद्राजनकत्वं सा निद्रा तमोभवा ।  
एषा पुनरघस्य मूलतयाऽत्रैव वक्ष्यते । सुश्रुते तु—“तामसी नामोक्ता सा  
प्रलयकाले भवति । तदन्या चेयं श्लेष्मसमुद्भवा केवलवृद्धेन श्लेष्मणा  
द्वितीया निद्रा । मनःशरीरश्रमसम्भवा तु मनसो वा शरीरस्य वा श्रमेण यदा  
न च मनो न वेन्द्रियाणि स्वस्वविषयेषु प्रवचन्ते तर्हि ततो निद्राति, न तु  
श्रमेण । वायुवृद्ध्या निद्रानाशः स्यात् तात्कालिकः । कालान्तरे तु ततो  
वातान्निद्रानाश एवोच्यते । आगन्तुकी रिष्टरूपा निद्रा, न तत्र तमःश्लेष्मा-  
दिको हेतुः । ज्वरारिष्टादिलक्षणं हि—“शेते निपतितोऽपि वा” इत्यादि  
व्याध्यनुवर्त्तिनी सन्निपातिकज्वरादौ । रात्रिस्वभावात् प्रभवति या सा  
रात्रिस्वभावप्रभवा । सा तु न तमसा न वा श्लेष्मणा न वा मनःशरीरश्रम-  
सम्भवा न वा आगन्तुकी नापि व्याध्यनुवर्त्तिनी । दिवा तु या निद्रा सा  
तमःश्लेष्मादिसम्भवा । हेतुव्यतिरेकेण न भवतीति भावः ।

एतासु च निद्रासु प्रशस्तां निद्रामाह—रात्रिस्वभावेत्यादि । भूतानि रात्रि  
ददातीति भूतरात्री, तां तथा । आसु चातिनिन्दितनिद्रामाह—तमोभवा-  
मित्यादि । अघस्य मूलमिति तमोगुणबाहुल्येन सदैव निद्राकालान्तस्य सद्वृत्ताद्य-  
नुष्ठानाभावेन पाप जायते इति भावः । शेषा इति व्याधिषु स्वभावप्रवृत्तादि-  
व्याधिषु । रात्रिस्वभावप्रभवाया हि निद्रायाः स्वभावव्याधित्वात् क्षुत्पिपासा-

शरीरश्रमसम्भवा तु निद्रा मनःशरीरयोः श्रमेण क्रियोपरमे सति नेन्द्रियाणि न च मनो विषयेषु  
प्रवचन्ते, ततश्च निद्रा स्यात्, श्रमश्चायमनतिवृद्धो भूरिवाताप्रकोपकोऽभिप्रेतः, तेन श्रमस्य वात-  
जनकत्वेन निद्रानाशः किमिति न भवतीति न वाच्यम्, दृष्टञ्चैतत् यत्—श्रान्तानामनिद्रा न  
भवतीति । आगन्तुकी रिष्टभूता, व्याध्यनुवर्त्तिनी सन्निपातज्वरादिकार्या; रात्रिस्वभावात्  
प्रभवतीति रात्रिस्वभावप्रभवा । दिवाप्रभवन्ती तु निद्रा तमःप्रभृतिभ्यस्त्रिभ्य एव स्यात् ।

आसु निद्रासु प्रशस्तां निद्राञ्चाह—रात्रीत्यादि । भूतानि प्राणिनो दधाति पुष्णा-  
तीति भूतधात्री, धात्रीव धात्री । अघस्य पापस्य मूलमिति कारणम् । तमोगृहीतो हि

\* भूतधात्रीमिति वा पाठः ।

तत्र श्लोकाः ।

निन्दिताः पुरुषास्तेषां यौ विशेषेण निन्दितौ ।  
 निन्दिते कारणं दोषास्तयोर्निन्दितभेषजम् ॥  
 येभ्यो यदा हिता निद्रा येभ्यश्चाप्यहिता यदा ।  
 अतिनिद्रानिद्रयोश्च \* भेषजं यद्गवा च या ॥

जन्ममरणादीनामिव । मनःशरीरश्रमभवापि हि निद्रा व्याधिरूपा भवत्येव ।  
 तदा धातुवैषम्यात् ॥ ३२ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थसंग्रहाय श्लोकानाह—तत्रेत्यादि । इह खल्वित्या-  
 रभ्यातिकृशश्चेत्यन्तेन निन्दिताः पुरुषाः । तत्रातिस्थूलस्येत्यारभ्य भवन्तीत्यन्तेन  
 तेषां यौ विशेषेण निन्दितौ । अतिस्थूलस्येत्यादिना दोषा इत्यन्तेनातिस्थूलस्य  
 दोषाः । तदिदमित्यादिना निर्दिष्टमित्यन्तेन कारणम् । वक्ष्यते वाच्य-  
 मित्यादिनातिकृशं नरमित्यन्तेन कारणम् । व्यायाममित्यादिना मत  
 इत्यन्तेनातिकृशस्य दोषाः । सततमित्यादिना प्रयोजयेदित्यन्तेन स्थौल्य-  
 भेषजम् । अस्वप्नमित्यादिना पुण्यतीत्यन्तेन कृशस्य भेषजम् । यदा त्वित्या-  
 दिना बुद्धिरिवागतेत्यन्तेन निद्रायाः सामान्यतो हितत्वमुक्त्वा गीताध्ययनेत्या-  
 दिना नेप्यत इत्यन्तेन येभ्यो यदा हिता निद्रा । मेदस्विन इत्यादिना कदा-  
 चनेत्यन्तेन येभ्यो यदा अहिता सा सदोषा । हलीमकेत्यादिना विशेषत  
 इत्यन्तेन अभ्यङ्गादित्यादिना निमित्तत इत्यन्तेन अनिद्राय अनिद्रपुरुषाय  
 भेषजं निद्राजननाय इति । कायस्येत्यादिना अतिनिद्राय पुरुषाय भेषजम् ।

सदा निद्रात्मकत्वेनानुष्ठेयं सद्वृत्तं न करोति, ततश्चाधर्मोत्पादः । व्याधिष्विति शरीरव्याधिषु,  
 श्लेष्मादयो व्याधय एव, तेषु च भूता निद्रा व्याधिरूपैव ; आगतुक्ती चासाध्यव्याधिभवा च  
 स्वयमप्यसाध्यभूता व्याधिरूपा, तेन ताञ्च व्याधिषु मध्ये निदिशन्ति ; किंवा व्याधिषु  
 आधारेषु निर्दिशन्तीत्यर्थो ज्ञेयः ॥ ३२ ॥

\* अतिनिद्रानिद्रयोश्चेत्यत्र अतिनिद्रायानिद्राय तथा या या यथा यत्प्रभवा इत्यत्र या या  
 यथाप्रभवा च इति चक्रवृत्तः पाठः ।

या या यथा यत्प्रभवा निद्रा तत्सर्वमत्रिजः ।

अष्टौनिन्दितसंख्याते व्याजहार पुनर्वसुः ॥ ३३ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चक्रप्रतिसंस्कृते श्लोकस्थानेऽष्टौ  
निन्दितीयो नामैकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

तमोभवेत्यादिना यद्भवा पुरुषाय या या निद्रा । रात्रिस्वभावप्रभवेत्यादिना  
यथाप्रभवा या निद्रा तत्सर्वं सामान्यत उक्तम् ॥ ३३ ॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि । सर्वं पूर्ववद्व्याख्येयम् ।

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ  
सूत्रस्थानीयाष्टौनिन्दितीयाख्यैकविंशाध्यायजलपाख्या  
एकविंशी शाखा ॥ २१ ॥

चक्रपाणिः—संग्रहे अनिद्रायेति अविद्यमाननिद्राय पुरुषाय । यथाप्रभवा चेति भूतधात्री-  
त्यादिवर्णितप्रभवा ॥ ३३ ॥

इति चरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्वेददीपिकायां सूत्रस्थान-  
व्याख्यायाम् अष्टौनिन्दितीयो नाम एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

## द्वाविंशोऽध्यायः ।

अथातो लङ्घनवृंहणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

तपःस्वाध्यायनिरतानात्रेयः शिष्यसत्तमान् ।

षड्ग्निवेशप्रमुखानुक्तवान् परिचोदयन् ॥

लङ्घनं वृंहणं काले रुचणं स्नेहनं तथा ।

स्वेदनं स्तम्भनञ्चैव जानीयात् स भवेद् भिषक् ॥ २ ॥

तमुक्तवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच ह ।

भगवन् लङ्घनं किं तल्लङ्घनीयाश्च कीदृशाः ॥

वृंहणं वृंहणीयाश्च रुचणीयाश्च रुचणम् ।

के स्नेहाः स्नेहनीयाश्च स्वेदाः स्वेद्याश्च के मताः ॥

स्तम्भनं स्तम्भनीयाश्च वक्तुमर्हसि तद् गुरो ।

अथ पुरुषे भेषजयोजनायां शरीरदैर्घ्यस्थौल्याद्यपेक्षावत्क्रियाविशेषलङ्घन-  
वृंहणादिषु योग्यताऽयोग्यताज्ञानमप्यपेक्षणीयं भवतीत्यतोऽष्टोनिन्दितीयानन्तरं  
लङ्घनवृंहणीयोऽभिधीयते—अथात इत्यादि । लङ्घनं वृंहणमितिपदद्वयार्थ-  
मधिकृत्य कृत इति लङ्घनवृंहणीयः ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—तप इत्यादि । तपःस्वाध्यायनिरतानग्निवेशप्रमुखान् षट् शिष्य-  
सत्तमान् अग्निवेशभेलजतूकर्णपराशरहारीतक्षारपाणीन् परिचोदयन्नध्यापनविधौ  
पूर्वं गुरुब्रूयात् शिष्यं प्रति पठेति प्रेरणवाक्यम्, इति प्रेरणवाक्यं ब्रवन्नुक्त-  
वान् । किमुक्तवान् तदाह—यदुक्तं लङ्घनमित्यादि । काले इत्यस्य लङ्घनादिभिः  
प्रत्येकमन्वयः ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—तमित्यादि । अग्निवेशस्य षट्सु शिष्येषु विशिष्टबुद्धिमत्त्वादग्रे

चक्रपाणिः—योजनापेक्षणीयशरीरमभिधाय लङ्घनादिविषयत्वात् योजनाया लङ्घना-  
दीनि एव विषयतः स्वरूपतश्च वक्तुं लङ्घनवृंहणीयोऽभिधीयते ॥ १ ॥

लङ्घनप्रभृतीनाञ्च षण्णामेषां समासतः ।

कृताकृतातिवृत्तानां \* लक्षणं वक्तुमर्हति ॥ ३ ॥

तदग्निवेशस्य वचो निशम्य गुरुरब्रवीत् ।

यत् किञ्चिल्लाघवकरं देहे तल्लङ्घनं स्मृतम् ॥

बृहत्त्वं यच्छरीरस्य जनयेत् तच्च वृंहणम् ।

रौक्ष्यं खरत्वं वैशद्यं यत् कुर्यात् तद्धि रुक्षणम् ॥

स्नेहनं स्नेहविष्यन्द-मार्दववलेदकृन्मतम् ।

स्तम्भगौरवशातघ्नं स्वेदनं स्वेदकारकम् ।

स्तम्भनं स्तम्भयति यत् गतिमन्तं चलं द्रवम् ॥ ४ ॥

तत्प्रश्नेनैवान्येषां प्रश्नसिद्धेर्न प्रश्नान्तरं तेषां दशितम् । कृताकृतातिवृत्तानामिति कृतं सम्यक् कृतम् । अकृतमसम्पङ्मिथ्याभ्यां कृतम् । अतिवृत्तमिति योगयुक्तम् ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—क्रमिकप्रश्नोत्तरमाह—यत्किञ्चिदित्यादि । देहे लाघवकरमित्युक्तौ सिद्धौ यत् पुनर्यत्किञ्चित्पदं तदयोगातियोगमिथ्यायोगयुक्तत्वेऽपि लङ्घनलक्ष्यापनार्थमिति बोध्यम् । यत्किञ्चित्पदं बृहत्त्वादिभिः सर्वैः सम्बध्यते । तेन यत् शरीरस्य यत्किञ्चिद्बृहत्त्वं जनयेत् तच्च वृंहणमित्यादिरूपेण केचिद्वाच्यते, तन्न ; यत्किञ्चिद्बृहत्त्वं देहे लाघवकरं भवति तल्लङ्घनं स्मृतमित्यर्थः । तेनैवायोगादेर्लाभात् । रौक्ष्यमित्यादि प्राधान्येन रौक्ष्यम् । खरत्ववैशदेः तनुगते इति कश्चिद्वाच्यते । रौक्ष्यमिति मात्रोक्त्यैव रुक्षणलक्षणसिद्धौ खरत्ववैशदेः पुनर्यदुक्ते तद्रौक्ष्यानुमानार्थं लिङ्गत्वलक्ष्यापनार्थम् । देहे हि रौक्ष्यं खरत्ववैशद्याभ्यामनुमीयते, न तु प्रत्यक्षमुपलभ्यते । न च रौक्ष्यं स्निग्धत्वाभावो देहे प्रत्यक्षमेव हि दृश्यते : खरत्वं वैशद्यञ्च रौक्ष्यकार्यमिति । स्नेहविष्यन्दः शरीरस्य स्नेहविलयनं शरीरात् स्नेहक्षरणमिव । स्नेहविष्यन्दादिभिर्नुमीयते देहे स्निग्धत्वमिति । स्वेदकारकमिति घर्षकारकमित्यर्थः ।

चक्रपाणिः—परिचोदयन्निति ज्ञानार्थं प्रेरयन् । कृतेत्यादौ कृतं सम्यक्कृतम् ॥ २।३ ॥

चक्रपाणिः—रौक्ष्यमित्यादौ रौक्ष्यमेव प्रधानं बोद्धव्यम् ; खरत्ववैशदेः तु तदनुगते । विष्यन्दो

\* कृताकृतातिरिक्तानामिति पाठश्चक्रेतः ।

लघुष्णतीक्ष्णविशदं रुचं सूक्ष्मं सरं खरम् ।  
 कठिनञ्चैव यद्द्रव्यं प्रायस्तल्लङ्घनं स्मृतम् ॥ ५ ॥  
 गुरु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं स्थूलपिच्छिलम् ।  
 प्रायो मन्दं स्थिरं श्लक्ष्णं द्रव्यं वृंहणमुच्यते ॥ ६ ॥  
 रुचं लघु खरं तीक्ष्णमुष्णं स्थिरमपिच्छिलम् ।  
 प्रायशः कठिनञ्चैव यद्द्रव्यं तद्धि रुचणम् ॥ ७ ॥

स्तम्भगौरवशीताभावधम्मरनुमीयते दह स्वेदः । स्तम्भयतीति स्थिरीकरोति ।  
 गतिमन्तमिति प्रव्यक्तगतियुक्तम् । चलं किञ्चिद्गतिमन्तम् । द्रवमकठिनं  
 मूर्त्तिमन्तम् । तेन वातस्य प्रव्यक्तगतिमतस्तु चलद्रवसहचरितस्य स्तम्भक-  
 द्रव्यं स्तम्भनं भवति । न तु कैवल्ये । किंवा स्तम्भनलक्षणमेवैतत् । तन्न ।  
 तस्मात् केवलवातसम्भवे वातस्य वृद्धो क्षतिः । एषां हि लङ्घनादीनां सम्यक्-  
 प्रयोगादिभिः शुभाशुभे क्रियेते । तदर्थं भिषगवहितो भवति । तस्मात् यत्-  
 किञ्चित् वस्तु प्रव्यक्तगतिमत् वा किञ्चिद्गतिमन्तं द्रव्यं वा भावं स्तम्भयति  
 रुणद्धि तद्वस्तु स्तम्भनमित्यर्थः । लङ्घनादिपदसिद्धिस्तु कत्तेरि कृत्प्रत्ययेन  
 बोध्या न तु भावे लुप्टा । लाघवकरमिति स्तम्भयतीत्यादि कृञ्णिचोः  
 प्रयोगदर्शनात् ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—लङ्घनादिद्रव्यं क्रमेण विवृणोति—लघ्वित्यादि । लघ्वादिनव-  
 गुणयुक्तद्रव्यं देहे लाघवकरत्वालङ्घनं स्मृतम् ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—गुरु शीतमित्यादि । एतल्लघ्वादिनवगुणविपरीतगुरुशीतादिनव-  
 गुणवद् द्रव्यं वृंहणम् । लघोर्विपरीतो हि गुणो गुरुः । उष्णस्य शीतः । तीक्ष्णस्य  
 मन्दः । विशदस्य पिच्छिलः । रुक्षस्य स्निग्धः । सूक्ष्मस्य स्थूलः सान्द्रश्च ।  
 सरस्य स्थिरः । खरस्य श्लक्ष्णः । कठिनस्य मृदुः । प्राय इत्यनेन मन्दगुणस्य  
 आधिक्यं यस्मिन् द्रव्ये तद्द्रव्यं चिरकारित्वाद् वृंहणम् । कचितीक्ष्णगुणवद्-  
 द्रव्यस्यापि पिप्पल्यादेर्वृंहणत्वं ख्यापितमित्यर्थः ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—रुक्षमित्यादि । रुक्षमित्याद्यष्टगुणयुक्तं द्रव्यं रुक्षणम् । लङ्घनं  
 विलयनम् । स्वेदकारकं वर्म्मकारकम् । स्तम्भयतीति विहणद्धि ; चलमिति किञ्चिद्गतिमत्,  
 गतिमन्तमिति प्रव्यक्तगतिमन्तम्, एतच्चातिसारशोणितस्तुतिविषदाहवेदनादिषु बोद्धव्यम् न तु  
 केवलवाते गतिमन्तं प्रति, स्तम्भकस्य वर्द्धकत्वात् । गुर्वित्यादौ बहलं घनम्, मन्दमिति

द्रवं स्निग्धं सरं स्थूलं \* पिच्छिलं गुरु शीतलम् ।  
 प्रायो मन्दं मृदु च यद् द्रव्यं तत् स्नेहनं मतम् ॥ ८ ॥  
 उष्णं तीक्ष्णं सरं स्निग्धं रुचं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम् ।  
 द्रव्यं गुरु च यत् प्रायस्तद् वै स्वेदनमुच्यते ॥ ९ ॥  
 शीतं मन्दं मृदु श्लक्ष्णं सूक्ष्मं रुचं द्रवं स्थिरम् ।  
 यद् द्रव्यं लघु चोद्दिष्टं प्रायस्तत् स्तम्भनं स्मृतम् ॥ १० ॥

हि सरगुणयुक्तम्, रुक्षणन्तु स्थिरगुणयुक्तमिति भेदः । भेदश्च लघुरुक्षणगुणाधिक्येन लङ्घनरुक्षणयोरिति बोध्यम् । बोध्यश्च लङ्घनेनापि रौक्ष्यमल्पं देहे लाघवमधिकं रुक्षणेन रौक्ष्यमधिकं लाघवमल्पमिति । तथा द्रव्याद्रव्यभूतत्वं लङ्घनस्य । रुक्षणस्य तु द्रव्यभूतत्वमिति ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—द्रवमित्यादि । द्रवादिनवगुणयुक्तं द्रव्यं स्नेहनम् । अत्रापि मन्दगुणस्याधिक्येन स्नेहनं कचित् किञ्चित्तीक्ष्णत्वेऽपि स्नेहनत्वस्य न व्यवच्छेदः ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—उष्णमित्यादि । उष्णादिभिः सप्तभिर्गुणैः रवेदनम् । उष्णादिसप्तगुणसहचरितः स्थिरो वा सरो वा स्थिरसरान्यतरसहितैः स्निग्धरुक्षान्यतरसहितैश्च स्निग्धो वा रुक्षो वा गुणो यस्य तद्द्रव्यं रवेदनमिति भावः ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—शीतमित्यादि । शीतादिनवगुणयुक्तं स्तम्भनम् । प्रायःपदेन प्रभावात् कचिदन्यस्यापि लङ्घनवृंहणत्वादिकं बोध्यं लक्षणतो लङ्घनादिकम् ॥ १० ॥

चिरकारि । स्थूलं संहतावयवं लड्डुकपिष्टकादि । विरुक्षणद्रव्यकथने यद्गुणमेव लङ्घनद्रव्यमुक्तं तद्गुणमेव विरुक्षणं यद्यप्युक्तं, तथापि रुक्षगुणस्यात्र प्राधान्यम्, लङ्घने तु लघुगुणप्राधान्यं ज्ञेयम्, तथा लङ्घनमद्रव्येणोपवासेनापि क्रियते, विरुक्षणन्तु द्रव्यकार्यतयैव प्राधान्यात् उक्तम्, तेन लङ्घनविरुक्षणयोरनैकता ; यत् तु वक्ष्यति—“कृतातिकृतलिङ्गं यल्लङ्घिते तद्विरुक्षिते” इति, तत् प्रायोवादात् । विरुक्षणस्य हि मुख्यः स्नेहाभावः, लङ्घनस्य तु गौरवाभाव इति स्फुट एव भेदः प्रतिभाति ॥ ४—७ ॥

चक्रपाणिः—स्वेदगुणकथने स्निग्धं रुक्षमिति स्निग्धं वा रुक्षं वेत्यर्थः । एवं सरस्थिरावपि विकल्पेन ज्ञेयौ । पिपासेति पिपासानिग्रहः ; मारुतो यद्यपि सोमसम्बन्धात् तथा लङ्घनं न भवति,

चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ ।

पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम् ॥ ११ ॥

प्रभूतश्लेष्मपित्तास्र-मलाः संसृष्टमारुताः ।

वृहच्छरीरा वलिनो लङ्घनीया विशुद्धिभिः ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—लङ्घनादिद्रव्यमुक्त्वा स्वरूपतो लङ्घनादिकं वक्तुमादौ लङ्घनस्य प्रभेदानाह—चतुस्त्रित्यादि । चतुष्प्रकारा संशुद्धिरिति वमनविरेचनास्थापन-शिरोविरेचनानीति । अनुवासनस्य वृंहणत्वात्तद्व्यवच्छेदाय चतुष्प्रकारेति । पिपासेति—पिपासानिग्रहस्तृष्णावेगधारणमित्यर्थः । मारुतेति—वायुर्वाह्यः प्राकृत एव लङ्घनं स्यात् देहे लाघवकरत्वात् । न तु विकृतः प्रागादि-दिग्बुध्यादिसोपसम्बन्धेन लाघवकरत्वाभावात् ग्रीष्मादौ चातपसम्बन्धेन वैकृतस्य देहलाघवं प्रत्यकुशलत्वाच्च । आतपश्च लङ्घनं सञ्चदैव देहलाघव-करत्वात् । पाचनानीति—आहारान् पचन्तं जाठरमग्निं सन्धुक्षयन्ति तद्वलं वर्द्धयन्ति च । यानि पाचयन्ति तानि पाचनानि वाय्वग्निगुणबहुलानि सैन्धव-मरिचादीनि द्रव्याणि । लौकिकोऽयश्च बहिरपि पाचनः । उपवासस्तु जाठराग्निसन्धुक्षणेन बलदानेन च आहारपाचनोऽपि द्रव्यमयत्वाभावात् पृथगुपदिष्टः । आतपान्तास्तु सप्त न पाचना जाठराग्निसन्धुक्षणत्वाभावेन, देह-लाघवकरत्वात् तु पृथगुक्ताः । एवञ्च व्यायामोऽप्यद्रव्यभूतत्वात् पृथगुक्तः न तु पाचनत्वेन संगृहीतः । अत एव लङ्घनस्य द्रव्याद्रव्यसाधानत्वख्यापनार्थं लङ्घ-नलक्षणे यत्किञ्चिदित्युक्तम् न तु द्रव्यमित्युक्तम् ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—शिष्यपृष्टलङ्घनीयोपदेशार्थं लङ्घनप्रभेदान् दशोक्त्वा तद्विशिध-लङ्घनेषु प्रतिलङ्घनयोगमाह—प्रभूतेत्यादि । विशुद्धिभिरिति चतुर्भिः संशोधनैः यथास्वाधिकारोक्तवर्ग्यविरेच्यास्थाप्यशिरोविरेच्यत्वेनोक्ता ये ते प्रभूतश्लेष्मा-दयः संशोधनीया इत्यर्थः ॥ १२ ॥

तथापि स्वरूपेण लङ्घनमेव । पचन्तमग्निं प्रतिपक्षक्षणेन बलदानेन च यत् पाचयति तत् पाचनं, तच्च वाय्वग्निगुणभूयिष्ठम् । चतुष्प्रकारा संशुद्धिरित्यनुवासनं वर्जयित्वा, तस्य वृंहण-त्वात् ॥ ८—११ ॥

चक्रपाणिः—उक्तस्य दशप्रकारलङ्घनस्य भिन्नं विषयमाह—प्रभूतेत्यादि । आदाविति वचन-



येषां मध्यबला रोगाः कफपित्तसमुत्थिताः ।

छर्द्दप्रतीसारहृद्रोग-विसूच्यलसकज्वराः ॥

विवन्धगौरवोद्गार-हृल्लासारोचकादयः ।

पाचनैस्तान् भिषक् प्राज्ञः प्रायेणादावुपाचरेत् ॥

एत एव यथोद्दिष्टा येषामल्पबला गदाः ।

पिपासानिग्रहैस्तेषामुपवासैश्च तान् जयेत् ॥ १३ ॥

रोगान् जयेन्मध्यबलान् व्यायामातपमारुतैः ।

बलिनां किं पुनर्येषां रोगाणामवरं बलम् ॥

गङ्गाधरः—अधिकबलदोषविषयकलङ्घनमुक्त्वा क्रमिकत्वात् मध्यबलदोष-विषयकलङ्घनयोग्यानाह—येषामित्यादि । मध्यबला इत्यादिविशेषणं छर्द्दप्रती-साराद्यरोचकादय इत्यन्तस्य । प्रायेणादाविति वचनेन मध्यबलपित्तश्लेष्मज-च्छर्द्दज्वरादिष्वदौ उपवासविधानं न विरुद्धमिति ख्यापितम् । न च लङ्घन-मत्र पाचनशब्देनोच्यते पृथगुक्तत्वात् । क्रमिकत्वादल्पबलदोषविषयकलङ्घन-योग्यानाह—एत एवेत्यादि । एत एव श्लेष्मपित्तसमुत्थिताश्छर्द्दप्रतीसारा-दयो यथोद्दिष्टा गदा अल्पबलाः । अल्पबलत्वेन येषां जायन्ते तेषां पिपासा-निग्रहरूपवासैश्च तान् श्लेष्मपित्तसमुत्थितान् छर्द्दप्रतीसारादीनल्पबलान् गदान् जयेत् संशमयेत् । जयेदित्युक्त्या प्रभूतश्लेष्मजादिच्छर्द्दप्रतीसारज्वरादीन् पुनरादावेवोपवासेनोपक्रम्य पश्चात् संशोधनपाचनादिभिर्जयेदिति ख्यापितम् । अल्पबलानामेषां पिपासानिग्रहोपवासाभ्यामेव जयः स्यात्, न संशोधनाद्य-पेक्षा भवतीति भावः ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—रोगानित्यादि । रोगानिति बलिनां पुंसां छर्द्दप्रतीसारादीन् मध्यबलानादावुपवासेन तथा पाचनैरुपक्रम्य पश्चात् व्यायामातपमारुतैर्जयेत् । पुनर्येषां रोगाणां बलमवरं बलिनां पुंसां तेषां रोगाणां व्यायामातपमारुतै-र्जये किम् ? अर्थादितिसुखेन तान् जयेदिति भावः ॥

मन्ते च्छर्द्दप्रतीदीनां निरात्माणां संशमनीयत्वात् । रोगानिति लङ्घनीयरोगान् ; बलिनामिति पदं बलवतामेव व्यायामादिसेवाविधानार्थं, मध्यबलानामप्येतेनाल्पबला एव गदा व्यायामादिविषया इति भावः ।

त्वग्दोषिणां प्रमीढानां \* स्निग्धाभिष्यन्दिवृंहिणाम् ।  
 शिशिरे लङ्घनं शस्तमपि वातविकारिणाम् ॥ १४ ॥  
 अदिग्धविद्धमक्लिष्टं वयःस्थं सात्म्यचारिणाम् ।  
 मृगमत्स्यविहङ्गानां मांसं वृंहणमिष्यते ॥ १५ ॥  
 क्षीणाः क्षताः कृशा वृद्धा दुर्व्वला नित्यमध्वगाः ।  
 स्त्रीमद्यनित्या ग्रीष्मे च वृंहणीया नराः स्मृताः ॥  
 शोषार्शोऽग्रहणीदोषैर्व्याधिभिः कर्षिताश्च ये ।  
 तेषां क्रव्यादमांसानां वृंहणा लघवो रसाः ॥

नन्वेवमस्त्वेषामन्येषां पुंसां त्वग्दोषप्रमेहवातजरोगादीनां किं न लङ्घन-  
 साध्यत्वमिति ? अत आह—त्वग्दोषिणामित्यादि । स्निग्धाभिष्यन्दि इति  
 अतिस्निग्धत्वे गुदादितोऽभिष्यन्दमानस्नेहानाम् । वृंहिणां वृंहणयुक्तानाम् ।  
 शिशिरे इति पौषमाघयोस्तत्र पुंसामतिबलत्वान् संशोधनेतरलङ्घनं, कात्तिक-  
 हायणयोस्तु संशोधनरूपं लङ्घनं, तयोः संशोधनकालत्वेनोक्तत्वात् । न तु  
 शिशिरगुणयुक्ते हेमन्तशिशिररूपतृद्वये चातुर्मासिकलङ्घनमिति दशविध-  
 मेवोक्तम् ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—लङ्घनानन्तर्यात् वृंहणं द्रव्यं पूर्व्व लक्षणत उत्तमधुना स्वरूपत  
 उपदिशति—अदिग्धेत्यादि । दिग्धेन विपाक्तशरादिना विद्धमिति दिग्ध-  
 विद्धम् । न तददिग्धविद्धमिति । अक्लिष्टं रोगाद्यविकृतम् । वयःस्थं यूनां  
 सम्बन्धे । किंवा वयःस्थामिति पाठः षष्ठीबहुवचनान्तत्वेन बोध्यः । सात्म्य-  
 चारिणामिति सात्म्यप्रदेशे ये चरन्ति ते सात्म्यचारिणस्तेषाम् ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—वृंहणीयाश्च कीदृशाः ? इति प्रश्नोत्तरमाह—क्षीणा इत्यादि ।  
 ग्रीष्मे चेति क्षीणादिभिन्ना अपि वृंहणीया इति बोध्यम् । शीघ्रवृंहणीयानाह—  
 शोषेत्यादि । क्रव्यादमांसानां मांसभक्षकमृगादीनां व्याघ्रकुम्भीरमृग्रादीनां

वृंहिणां वृंहणयुक्तानां, लङ्घनं शस्तमिति दशविधमपि । शिशिर इति शिशिरगुणयुक्ते हेमन्ते  
 शिशिरे च । अत्र च लङ्घनं बलवत्त्वात् प्राणिनां कार्यम् ॥ १२—१४ ॥

चक्रपाणिः—अदिग्धविद्धमिति विपाक्तशराविद्धम् । सात्म्यप्रदेशे चरन्तीति सात्म्यचारिणः ।

\* प्रमूढानामिति चक्रः ।

स्नानमुत्सादनं स्वप्नो मधुराः स्नेहवस्तयः ।  
 शर्कराक्षीरसर्पाणि सर्वेषां विद्धि वृंहणम् ॥ १६ ॥  
 कटुतिक्तकषायाणां सेवनं स्त्रीष्वसंयमः ।  
 खलिपिण्याकतक्राणां मध्वादीनाञ्च रुक्षणम् ॥  
 अभिष्यन्दा महादोषा मर्मस्था व्याधयश्च ये ।  
 ऊरुस्तम्भप्रभृतयो रुक्षणीया निदर्शिताः ॥ १७ ॥  
 स्नेहाः स्नेहयितव्याश्च स्वेदाः स्वेद्याश्च ये नराः ।  
 स्नेहाध्याये मयोक्तास्ते स्वेदाख्ये च सविस्तरम् ॥ १८ ॥  
 द्रवं तन्वसरं यावच्छीतीकरणमौषधम् ।  
 स्वादुतिक्तकषायश्च स्तम्भनं सर्वमेव तत् ॥

मांसानां रसा लघवः स्वभावतो लघवः । श्येनादीनां मांसानां रसाः स्वभावतो  
 गुरवश्च । संस्कारेण लघुकृता वृंहणाः शीघ्रं वृंहणा इत्यर्थः । सर्वपुरुष-  
 साधारणवृंहणान्याह—स्नानमित्यादि । सर्वेषां पुंसां सर्वमिदं वृंहणं  
 विद्धीत्यर्थः ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—अथ पूर्वं लक्षणत उक्तं रुक्षणद्रव्यं स्वरूपत आह—कटित्यादि ।  
 स्त्रीष्वसंयमः प्रायेण स्त्रीसेवनम् । खलिप्रभृतीनां मध्वादीनाञ्च सेवनमित्य-  
 न्वयः । खलिनिःस्नेहसर्पखलिः । पिण्याको निःस्नेहतिलखलिः, किंवा  
 पिण्याकशाकविशेषः । आदिना भृष्टचणकादयः । रुक्षणीयाश्च कीदृशाः ?  
 इति प्रश्नस्योत्तरमाह—अभिष्यन्दा इत्यादि । अभिष्यन्दाः स्रूयमाणाक्षि-  
 नासादयः, महादोषा व्याधयः । प्रभृतिशब्देन प्रमोहादयः ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—अथ के स्नेहाः ? इत्यादिप्रश्नचतुष्टयस्योत्तरे वक्तव्ये लक्षणतः  
 स्नेहस्वेदावृक्तौ प्रागिहाध्याये स्वरूपतः सविस्तरं तथा स्नेहाः स्वेद्याश्च के ?  
 इति प्रश्नस्योत्तरमाह—स्नेहा इत्यादि । स्वेदाख्ये चेति स्वेदाध्याये ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—अथ स्तम्भनं कीदृशम् इति प्रश्नोत्तरे वक्तव्ये पूर्वं लक्षणतः  
 लघव इति संस्कारेण लघवः ; किंवा क्रव्यादानां ये लघवः श्येनादयः, तस्मांसरसा  
 इत्यर्थः ॥ १५।१६ ॥

चक्रपाणिः—मध्वादीनाञ्च सेवनमिति समबन्धः ; खलिः सर्पखलिः ; पिण्याकं तिलखलिः,

पित्तचाराग्निदग्धा ये च्छर्द्दतीसारपीडिताः ।

विषस्वेदातियोगार्त्ताः स्तम्भनीयास्तथापरे ॥ १६ ॥

वातमूत्रपुरीषाणां विसर्गे गात्रलाघवे ।

हृदयोद्गारकण्ठास्य-शुद्धौ तन्द्राकृमे गते ॥

स्वेदे जाते रुचौ चापि क्षुत्पिपासाऽसहोदये ।

कृतं लङ्घनमादेश्यं निव्यथे चान्तरात्मनि ॥ २० ॥

स्तम्भनद्रव्ययुक्तमधुना स्वरूपत आह—द्रवमित्यादि । सान्द्रमपि द्रव्यं घृत-  
दुग्धादिकं द्रवं भवतीत्यत आह—तन्विति । तनु अवहलमसान्द्रमित्यर्थः ।  
असरमिति यन्न सरति तदसरं स्थिरगुणयुक्तम् । शीतीकरणं स्पर्शतो वीर्य्यतश्च  
यद्द्रव्यमशीतं शीतं करोति, यद्यपि पूर्वं शीतं मन्दमित्यादिभिर्गुणैर्लक्षणतो  
द्रव्यं स्तम्भनयुक्तम् । पुनश्चात्र द्रवतन्वादिरगुणैः स्वरूपतोऽत्र स्तम्भनद्रव्यमुप-  
संहारार्थमुक्तं तद्द्रव्याणामपरिसंख्येयत्वात् । स्वाद्वित्यादिरसनिर्देशेन वीर्य्यतो-  
ऽशीतीकरणस्वाद्वित्यादिरसद्रव्यं न स्तम्भनं भवतीति ज्ञापनार्थम् ॥

गङ्गाधरः—स्तम्भनीयाश्च कीदृशाः ? इति प्रश्नस्योत्तरमाह—पित्तेत्यादि ।  
पित्तादिदग्धानां दाहस्तम्भः काय्यः । विषार्त्तानां विषवेगस्तम्भः काय्यः । स्वेदो  
घम्मस्तस्यातियोगे स्तम्भः काय्यः । परे इति रक्तपित्तादय इति ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—अथ लङ्घनप्रभृतीनां षण्णां कृताकृतातिवृत्तानां लक्षणं वक्तु-  
मर्हसि, इति प्रश्नोत्तरं क्रमेणाह—वातमूत्रेत्यादि । तन्द्राकृमौ सुश्रुतेनोक्तौ ।  
रुचौ चापि जातायामिति लिङ्गविषय्येणान्वेतव्यम् । क्षुत्पिपासाऽसहोदये  
क्षुधातृष्णयोर्युग्मपदुदये इति कश्चिद्, तन्न ; “सृष्टमारुतविष्मूत्रं क्षुत्पिपासा-  
सहं लघुम्” इत्यादि सुश्रुतवचनदर्शनात् । क्षुधापिपासयोरसहोदयः । असह-  
त्वेन क्षुधातृष्णयोः समस्तयोरुदये इत्यर्थः । समाहारद्वन्द्वसमासात् । कृत-  
मिति सम्यक्कृतम् । अन्तरात्मनीति मनसि । इति सम्यक्कृतलङ्घनस्य  
लक्षणम् । इति लक्षणविपरीतलक्षणञ्च अकृतलङ्घनलक्षणं सुतरां बोध्य-  
मिति ॥ २० ॥

किंवा पिण्याकृशाकम् । प्रभृतिग्रहणादाव्यवातप्रमेहादयो ग्राह्याः । तन्वबहलम् । सरति  
गच्छतीति सरं, न सरमसरं स्थिरमित्यर्थः ॥ १७—१९ ॥

चक्रपाणिः—क्षुत्पिपासयोरसहः पीडाकरन्वेनोदयः क्षुत्पिपासहोदयः, न तु क्षुत्पिपासयोर्युग्म-

पठ्वभेदोऽङ्गमर्दश्च कासः शोषो मुखस्य च ।  
 क्षुत्प्रणाशोऽरुचिस्तृष्णा दौर्बल्यं श्रोत्रनेत्रयोः ॥  
 मनसः सम्भ्रमोऽभीक्ष्णमूर्ध्वातस्तमो हृदि ।  
 देहाग्निबलहानिश्च लङ्घनेऽतिकृते भवेत् ॥ २१ ॥  
 बलं पुष्टुपलम्भश्च कार्श्यदोषविवर्जनम् ।  
 लक्षणं वृंहिते स्थौल्यमति चात्यर्थवृंहिते ॥ २२ ॥  
 कृतातिकृतचिह्नं यल्लङ्घिते तद्विरुद्धिते । \*  
 स्तम्भितः स्याद् बले लब्धे यथोक्तैश्चामयैर्जितैः ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—अतो नोक्तातिकृतलङ्घनलक्षणमाह—पठ्वभेद इत्यादि । क्षुत्-  
 प्रणाशोऽत्र क्षुधोदयानन्तरं क्षुन्नाशः । अरुचिश्च । मनसः सम्भ्रमो भ्रान्ति-  
 रेव । ऊर्द्धदेहे वातो वायुः कुपितत्वेन लक्ष्यते इत्यूर्द्ध्वातः । ऊर्द्धगतिमान्  
 वातः । तमो हृदीत्यन्धकारप्रवेशवत् ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—अथ वृंहणस्य कृताकृतातिवृत्तस्य लक्षणमाह—बलमित्यादि ।  
 पुष्टुपलम्भः शरीरपोषणारम्भज्ञानम् । कार्श्यदोषविवर्ज्जेनमिति कार्श्यं ये  
 दोषा व्यायामाद्यसहत्वादीनि तेषां विवर्जनं विशेषेण सम्यग्वर्ज्जेनमित्यर्थः ।  
 वृंहिते सम्यग्वृंहिते । इति सम्यक्कृतवृंहणलक्षणमेतल्लक्षणविपरीतलक्षणन्तु  
 अकृतवृंहणलक्षणं सुतरामतो नोक्तवातिवृंहणलक्षणमाह—स्थौल्यमतीति ।  
 अतिस्थौल्यमत्यर्थवृंहणलक्षणमित्यर्थः ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—अथ रुक्षणस्य कृतादिलक्षणमतिदेशेनाह—कृतातीत्यादि ।  
 लङ्घनस्य मुक्तकण्ठेन कृतातिकृतचिह्नमुक्तम् । अतो रुक्षणस्यापि तथाविधेन  
 कृतातिकृतचिह्नेनार्थापत्त्याऽत्राप्यकृतरुक्षणलक्षणं बोध्यमिति न प्रश्नोत्तरोक्तौ  
 न्यूनता । एवं स्नेहाध्याये स्निग्धस्य, रवेदाध्याये स्वेदस्य कृताकृतातिवृत्तस्य  
 लक्षणमुक्तमिति । अतोऽत्र न पुनरुक्तमिति बोध्यम् । स्तम्भनस्य कृता-  
 कृतातिवृत्तस्य लक्षणमाह—स्तम्भित इत्यादि । स्तम्भित इति सम्यक्-  
 पददयः, अत एव सुश्रुते—“सृष्टमास्तविष्मूत्र-क्षुत्पिपासासहं लघुम्” इत्यादि । अन्तरात्मनीति  
 मनसि । मनसः सम्भ्रमो भ्रान्तिरेव, ऊर्द्धकाये वात ऊर्द्धवातः ॥ २०—२१ ॥

चक्रपाणिः—कार्श्यदोषविवर्जनमिति कार्श्यं ये दोषाः शीतोष्णासहत्वादयः, तेषां वर्जनम् ।  
 बले लब्धे इति बलवान् यदा पुरुषो भवति । यथोक्तैरिति “पित्तक्षाराग्निदग्धा ये” इत्याद्यभि-

\* कृताकृतस्य लिङ्गं यल्लङ्घिते तद्विरुद्धिते इति चक्रधृतः पाठः ।

श्यावता स्तब्धगात्रत्वमुद्वेगो हनुसंग्रहः ।

हृद्वर्चोनिग्रहश्च स्यादतिस्तम्भितलक्षणम् ॥ २४ ॥

लक्षणञ्चाकृतानां स्यात् षण्णामेवां समासतः ।

तदौषधानां धातूनामशमो वृद्धिरेव च ॥

इति षट् सव्वरोगाणां प्रोक्ताः सम्यगुपक्रमाः ।

साध्यानां साधने सिद्धा मात्राकालानुरोधिनः ॥ २५ ॥

भवति चात्र ।

दोषाणां बहुसंसर्गात् सङ्कीर्यन्तेऽप्युपक्रमाः ।

षट्त्वन्तु नातिवर्तन्ते त्रित्वं वातादयो यथा ॥ २६ ॥

स्तम्भितः । बले लब्धे इति स्तम्भनीया पित्तक्षाराग्निदग्धाद्यामयजयेन यदा पुरुषो बलवान् भवति तदा इत्यर्थः ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—एतत् सम्यक्स्तम्भितलक्षणविपरीतलक्षणन्तु अकृतस्तम्भनलक्षणं बोध्यमिति नोक्तवातिस्तम्भितलक्षणमाह—श्यावतेत्यादि । उद्वेगः सम्य-  
गात्मत्वाभावः ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—विस्तरेण सम्यक्कृतलङ्घनादीनां लक्षणेनार्थापत्त्या मिथ्याकृत-  
लङ्घनादीनां लक्षणलाभेऽपि शिष्यानुकम्पया समासेन षण्णामेकलक्षणम्  
अकृतानामाह—लक्षणमित्यादि । तदौषधानामिति तलङ्घनादिकं यद् यदौषधं  
येषां ते तदौषधा व्याधयः । धातूनामिति दोषाणाम्, दोषाश्च धातुसंज्ञका  
भवन्ति । तेन लङ्घनादिसाध्यतत्तद्वाध्यास्मभ्रकदोषाणामशमो न शान्तिश्च  
पुनरुद्विरेव भवति । अल्पमात्रकृतत्वे दोषक्षोभात् । उपसंहरति—इतीत्यादि ।  
इति षट् विदित्वा सव्वरोगाणां सम्यगुपक्रमाः किंवा यथायोग्यत्वेऽपि संशोधनस्य  
सव्वेव्याधिविषयत्वान्न सव्वरोगाणामिति वचनं विरुध्यते । साध्यानामित्यसाध्य-  
रोगव्यवच्छेदाय । सिद्धा इत्युपक्रमविशेषणम् । मात्राकालावननुरुध्य साध्या-  
नामपि व्याधीनां साधनाय न स्युरिति ज्ञापनार्थमाह—मात्रेत्यादि ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—ननु षण्णां लङ्घनादीनामेकैकेनोपक्रमेण किमेकैकव्याध्युपशमो  
भिधेयैः, उद्वेग ऊर्ध्व वातवेगः, किंवा भैषज्यानभिलाषः । तदौषधानामिति लङ्घनादिसाध्यानाम्,  
वृद्धिरेव चेति श्लोकमात्रकृतलङ्घनादिक्रियया, दोषक्षोभमात्रत्रय कृतत्वात्, धातूनामिति दोषाणाम्,  
“दोषा अपि धातुशब्दं लभन्ते” इति वचनात् ॥ २२—२५ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रत्युक्तलङ्घनादुपक्रमाणां विकारापेक्षया संसर्गमाह—दोषाणामित्यादि ।

तत्र श्लोकः ।

इत्यस्मिन् लङ्घनाध्याये व्याख्याताः षड् उपक्रमाः ।

यथाप्रश्नं भगवता चिकित्सा यैः प्रवर्त्तिता ॥ २७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते श्लोकस्थाने लङ्घन-  
वृंहणीयो नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

भवति ? भवति च किं व्यस्तसमस्तेन ? ततश्च षट्त्वमित्याशङ्क्याह—  
भवति चात्रेत्यादि । दोषाणां वातपित्तकृत्तानां बहुसंसर्गात् द्विशस्त्रिशश्च  
हीनाधिकमध्यक्षयवृद्धिभिः संसर्गात्, सुतरां बहुत्वम् त्रित्वन्तु नाति-  
वत्तेन्ते, तथा लङ्घनादीनामेकैकश उपयोगेन न व्याध्युपशमो भवतीति  
लङ्घनादयोऽप्युपक्रमाः सङ्कीर्यन्ते मिलिता भवन्त उपयोक्तव्या भवन्ति ।  
यथा कुत्रचित् सन्निपातज्वरादौ लङ्घनस्वेदने कुत्रचित् वृंहणस्वेदनादि  
कचिन् स्नेहनवमनादि इत्येवमादयः । एवञ्च लङ्घनादयः सङ्कीर्णा अपि षट्त्वं  
नातिवत्तेन्ते । यथा वातादयस्त्रयो दोषाः द्विषष्टिधा भवन्तोऽपि त्रित्वं  
नातिवत्तेन्ते । परस्परं संसृष्टा अपि मधुघृतवत् स्वस्वकार्यारम्भकत्वान्न तु  
स्वस्वकार्यातिरिक्तकार्यारम्भकत्वादतिवत्तेन्ते इति भावः ॥ २६ ॥

अध्यायार्थमुपसंहरति—तत्र श्लोक इत्यादि एकश्लोकेन । स्पष्टम् ॥ २७ ॥

अध्यायं समापयति अग्रेत्यादि । पूर्ववद् व्याख्यातव्यम् ।

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ सूत्रस्थानीय-  
द्वाविंशलङ्घनवृंहणीयाध्यायजल्पाख्या द्वाविंशी शाखा ॥ २२ ॥

दोषाणां यस्मात् संसर्गा बहवस्तस्मात् तत्साधनार्थमुपक्रमा अपि सङ्कीर्यन्ते मिश्रतां यान्ति ;  
यथा—कचिलङ्घनस्वेदने, कचिद् वृंहणस्वेदने, एवमादि । षट्त्वन्तु नातिवत्तेन्त इति संसृष्टा  
अपि लङ्घनादिस्वरूपं न जहति, लङ्घनादयः परस्परयुक्ता मधुसर्पिःसंयोगवन्न प्रकृतिगुणान-  
पेक्षकार्यान्तरमारभन्त इति भावः । अत्रैव दृष्टान्तमाह—त्रित्वमित्यादि । अयञ्च दृष्टान्तः  
संसर्गिसंख्याऽपरित्यागमात्रकः ॥ २६।२७ ॥

इति चरकचतुरानन-श्रीमच्छक्रपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्वेददीपिकायां सूत्रस्थान-

व्याख्यायां लङ्घनवृंहणीयो नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

## त्रयोविंशोऽध्यायः ।

अथातः सन्तर्पणीयमयं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

सन्तर्पयति यः स्निग्धैर्मधुरैर्गुरुपिच्छिलैः ।

नवान्नैर्नवमदैश्च मांसैश्चानूपवारिजैः ॥

गोरसैर्गौडिकैश्चान्यैः \* पैष्टिकैश्चातिमात्रशः ।

चेष्टाद्वेषी दिवास्वप्न-शय्यासनमुखे रतः ॥

रोगास्तस्थोपजायन्ते सन्तर्पणनिमित्तजाः ।

प्रमेहपिडकाकोठ-कण्डूपाण्डूमायज्वराः ॥

कुष्ठान्यामप्रदोषाश्च सूत्रकुच्छ्रमरोचकः ।

तन्त्रा व्रजैर्व्यनतिस्थौल्यमालस्यं गुरुगात्रता ॥

गङ्गाधरः—अथोक्तानां षण्णां लङ्घनादीनामुपक्रमाणां सन्तर्पणापतपणत्व-  
भेदेन पुनर्द्विध्यादनन्तरं सन्तर्पणीयोऽध्यायोऽभिधीयते—अथात इत्यादि ।  
सन्तर्पणमधिकृत्य कुत इति सन्तर्पणीयः ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—सन्तर्पयतीति तृपसन्दीपनप्रीणनयोरिति विभाषितचौरादिको  
धातुः सन्तृप्यतीत्यर्थः न तु सन्तर्पणमाचरतीत्यर्थः । तदर्थं प्रयोगासाधुत्वात् ।  
सन्तर्पणं हि द्विविधम् ; स्निग्धं रुक्षञ्च । “सक्तूनां षोडशगुणो भागः  
सन्तर्पणं पिवेत्” इति वक्ष्यमाणवचनदर्शनात् । तत्र स्निग्धसन्तर्पणोत्थ-  
व्याधीनाह—स्निग्धैरित्यादि । स्निग्धादिभिर्नवान्नादिभिर्द्रव्यैश्चेष्टादिभिः  
अद्रव्यैश्च यः सन्तृप्यति चेष्टाद्वेष्यादिश्च यः तस्य सन्तर्पणं शीघ्रमप्रतिकुर्वतः  
सन्तर्पणनिमित्तजाः प्रकरणात् स्निग्धसन्तर्पणनिमित्तजा रोगा उप-  
जायन्ते । ते रोगाः के इति ? अत आह—प्रमेहेत्यादि । आमप्रदोषा

चक्रपाणिः—व्याख्यातषडुपक्रमाणामेव सन्तर्पणापतर्पणभेदेन द्विविधानां द्विविधविषये  
प्रवृत्तिं दर्शयितुं सन्तर्पणीयोऽभिधीयते । सन्तर्पयति सन्तर्पणमाचरति । स्निग्धैरित्यादिवचनम्,  
अस्निग्धादिभिरपि शक्तप्रभृतिभिस्तृप्तिमात्रकारकत्वेन सन्तर्पणनिषेधार्थम् । भवति हि तृप्ति-  
कारके सन्तर्पणशब्दप्रयोगः, यथात्रैव सन्तर्पणप्रयोगे—“सक्तूनां षोडशगुणो भागः सन्तर्पणं



इन्द्रियस्रोतसां लेपो बुद्धेर्मोहः प्रमीलकः ।  
 शोथश्चैवंविधाश्चान्ये शीघ्रमप्रतिकुर्वतः ॥ २ ॥  
 शस्तमुल्लेखनं तत्र विरेको रक्तमोक्षणम् ।  
 व्यायामश्चोपवासश्च धूमाश्च स्वेदनानि च ॥  
 सक्षौद्रश्चाभयाप्राशः प्रायो रुद्धान्नसेवनम् ।  
 चूर्णप्रदेहा ये प्रोक्ताः कण्डूकोठविनाशनाः ॥ ३ ॥  
 त्रिफलारग्वधं पाठा सप्तपर्णं सवत्सकम् ।  
 मुस्तं निम्बं समदनं जलेनोत्कथितं पिवेत् ॥  
 तेन मेहादयो यान्ति नाशमभ्यस्यतो ध्रुवम् ।  
 मात्राकालप्रयुक्तेन सन्तर्पणसमुत्थिताः ॥ ४ ॥

विस्मृच्यादयः । इन्द्रियस्रोतसां चक्षरादीनामधिष्ठानगोलकादीनामतिमलेन तेषां स्रोतोलेपो बोध्यः । बुद्धेर्मोह इति मनोमोहः । बुद्धेरस्फूर्त्यनुमेयः । प्रमीलकः सर्वदा प्रध्यानम् । एवंविधाश्चान्ये प्रतिश्यायादयः ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—तेषां प्रमेहादीनां जन्मनः पूर्वं तत्प्रतीकारार्थं क्रियासूत्राण्याह—  
 शस्तमित्यादि । उल्लेखनं वमनम् । उल्लेखनविरेकरक्तमोक्षणव्यायामोपवास-  
 धूमस्वेदक्षौद्रान्विताभयाभक्षणरुक्षान्नसेवनादीनां स्निग्धसन्तर्पणविपरीतत्वात्  
 तन्निमित्तकप्रमेहादिप्रशमकत्ववचनेन अरुक्षसन्तर्पणनिमित्तकमूर्च्छाभ्रमादि-  
 व्याधिप्रशमकत्वं स्निग्धादीनामुक्तं भवतीति ये चोक्ता इत्यारग्वधीये ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—त्रिफलेत्यादि । समदनमिति मदनफलकल्कं वमनार्थं युक्त्या  
 प्रक्षिप्य पिवेदित्यर्थः । शमनार्थन्तु तुल्यमानेन ग्राह्यम् । तेनेति त्रिफलादि-  
 कथितपानेन । अयमुल्लेखनार्थमपि योगः ॥ ४ ॥

पिवेद्” इति । शय्यासनसुखेरतत्वेनैव चेष्टाद्वेषित्वे लब्धे पुनस्तद्वचनं शय्यासनस्थितस्यापि  
 गीताङ्गचालनादिचेष्टानिषेधार्थम्, आमप्रदोषा विस्मृचिकादयः, प्रमीलकः सततं प्रध्या-  
 नम् ॥ ११२ ॥

चक्रपाणिः—सक्षौद्रश्चाभयाप्राश इति क्षौद्रेण सह हरीतकीप्राशः, किंवा अगस्त्यहरीतवयादि-  
 प्राशः । ये चोक्ता इत्यारग्वधीये । तेनेति काथेन करणभूतेन अभ्यस्यतोऽभ्यासं कुर्वीणस्य, किंवा  
 तेन काथेन त्रिफलादीन्प्रभ्यस्यत इति योजना ॥ ३१४ ॥

मुस्तमारग्वधः पाठा त्रिफला देवदारु च ।  
 श्वदंष्ट्रा खदिरो निम्बो हरिद्रा \* त्वक् च वत्सकात् ॥  
 रसमेषां यथादोषं प्रातः प्रातः पिबेन्नरः ।  
 सन्तर्पणकृतैः सर्वैर्व्याधिभिः सम्प्रमुच्यते ॥  
 एभिश्चोद्वर्त्तनोद्धर्ष-स्नानयोगोपयोजितैः ।  
 त्वग्दोषाः प्रशमं यान्ति तथा स्नेहोपसंहितैः ॥ ५ ॥  
 कुष्ठं गोमेदको हिङ्गु, क्रौञ्चास्थि त्रूपणं वचा ।  
 वृषकैले श्वदंष्ट्रा च खराह्वा चाश्मभेदकः ॥  
 तक्रेण दधिमण्डेन वदराम्लरसेन वा ।  
 मूत्रकृच्छ्रं प्रमेहश्च पीतमेतद्वपोहति ॥ ६ ॥  
 तक्राभयप्रयोगैश्च त्रिफलायास्तथैव च ।  
 अरिष्टानां प्रयोगैश्च यान्ति मेहादयः क्षयम् ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—मुस्तमित्यादि । मुस्तेत्यादिर्विरेकाथ योगः । त्वक् च वत्सकात्  
 कुटजत्वगित्यर्थः । यथादोषमिति दोषमानापेक्षया मानेन । एभिरिति  
 मुस्तादिभिः । उद्वर्त्तनमभ्यक्तगात्रे अक्षणम् । उद्धर्षस्त्वनभ्यक्तगात्रे अक्षणम् ।  
 स्नानार्थकाथोऽपीत्येवंरूपयोगेनोपयोजितैः । त्वग्दोषाः कण्डादयः । स्नेहोप-  
 संहितैः स्नेहानां सर्पिस्तैलादीनां साधनरूपेणैवोपयुक्तैरेभिश्च मुस्तादिभिः कल्कैः  
 कटुतैलादिकं पतवाभ्यङ्गयोगेनेत्यर्थः ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—कुष्ठमित्यादि । गोमेदको मणिविशेषः । क्रौञ्चेति को च इति  
 ख्यातः पक्षी । खराह्वा खुरासिनी अजमोदा ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—तक्राभयेत्यादि स्पष्टम् ॥ ७ ॥

चक्रपाणिः—यथादोषमिति दोषप्रमाणापेक्षया गृहीतमात्रम् । उद्वर्त्तनमभ्यङ्गपूर्वकम्,  
 उद्धर्षस्त्वनभ्यङ्गपूर्वकः । स्नेहोपसंहितैरिति स्नेहसाधनेनोपयुक्तैः । गोमेदको मणिविशेषः,  
 क्रौञ्चः पक्षी, को च इति ख्यातः पक्षी । खराह्वाऽजमोदा । लोहोदकाष्टुतः इत्यगुरुदकाष्टुतः,

त्रूषणं त्रिफला क्षौद्रं क्रिमिघ्नमजमोदकः ।  
 मन्थोऽयं सक्तवः \* सर्पिर्हितो लोहोदकाप्लुतः ॥ ८ ॥  
 व्योषं विडङ्गं शिग्रूणि त्रिफलां कटुरोहिणीम् ।  
 वृहत्यौ द्वे हरिद्वे द्वे पाठामतिविषां स्थिराम् ॥  
 हिङ्गुकेवृकमूलानि यमानीधान्यचित्रकान् ।  
 सौवर्चलमजाजीश्च हवुषाञ्चेति चूर्णयेत् ॥  
 चूर्णतैलघृतक्षौद्र-भागाः स्युर्मानतः समाः ।  
 सक्तूनां षोडशगुणो भागः सन्तर्पणं पिबेत् ॥  
 प्रयोगादस्य शान्तिरिति रोगाः सन्तर्पणोत्थिताः ।  
 प्रमेहा मूढवाताश्च कुष्ठान्यशांसि कामलाः ॥

गङ्गाधरः—त्रूषणमित्यादि । लोहोदकाप्लुत इति षडङ्गपरिभाषया  
 अगुस्काथमर्द्धशृतं कृत्वा तदुदकोपहितः सन् मन्थो भवति । अत्रानन्तरव्योष-  
 मित्यादियोगनिर्दिष्टप्रमाणसाहचर्यात् त्रूषणादीनामपि मानं बोध्यम् । तेन  
 त्रूषणत्रिफलाक्रिमिघ्नजमोदानां मिलितानां यावन्मानं तावन्मानं क्षौद्रस्य  
 तावच्च सर्पिषः । चूर्णादीनां सर्वेषां षोडशगुणमानं सक्तूनामित्येवं सर्व-  
 मर्द्धशृतागुस्काथेनालोड्य पानं सन्तर्पणं रुक्षमिति बोध्यम् ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—व्योषमित्यादि । यमानीति वनयमानी । अजाजी जीरकम् ।  
 हवुषामिति खनामख्याताम् । चूर्णयेदिति व्योषादिहवुषान्तानां चूर्णानां  
 मिलितानां यावन्मानं तावन्मानं तिलतैलम् । तावच्च क्षौद्रम् । तावच्च घृतम् ।  
 सक्तूनान्तु चूर्णापेक्षया षोडशगुणो भाग इत्येवं सर्वं द्रवानुक्तयाद्धशृतजलेन  
 आलोड्य सन्तर्पणं पिबेत् । सन्तृप्यन्तं प्रयुङ्क्ते यत्तन् सन्तर्पणं सन्तृप्यतेऽनेन  
 वा तत्तथा । एतच्च रुक्षसन्तर्पणमप्यपतर्पणं बोध्यम् । स्निग्धसन्तर्पणप्रत्यनीक-  
 त्वेनोक्तत्वात् । सन्तर्पणोत्थिता इति स्निग्धसन्तर्पणोत्थिताः । चूर्णतैलेति  
 उदककरणञ्च षडङ्गविधानेन । इह प्रयोगे वक्ष्यमाणव्योषाद्युक्तप्रमाणेन साहचर्याच्चूर्णादिमानं  
 ज्ञेयम् ॥ ५—८ ॥

चक्रपाणिः—सन्तर्पणमिति जलालोडितशक्तरूपतया, तेन सन्तर्पणसंज्ञकस्याप्यपतर्पणता

प्रीहा पाण्डुमयः शोफो मूत्रकुच्छूमरोचकः ।  
 हृद्रोगो राजयक्ष्मा च कासश्वासगलग्रहाः ॥  
 क्रिमयो ग्रहणीदोषाः श्वेत्राः स्थौल्यमतीव च ।  
 नराणां दीप्यते चाग्निः स्मृतिर्युद्धिश्च वर्द्धते ॥ ६ ॥  
 व्यायामनित्यो जीर्णाशी यवगोधूमभोजनः ।  
 सन्तर्पणकृतैर्दोषैः स्थौल्यं मुत्तवा विमुच्यते ॥ १० ॥  
 उक्तं सन्तर्पणोत्थानामपतर्पणमौषधम् ।  
 वक्ष्यन्ते सौषधाश्चाद्धमपतर्पणजा गदाः ॥ ११ ॥  
 देहाग्निबलवर्णोजः-शुक्रमांसपरिचयः ।  
 ज्वरः कासानुबन्धश्च पार्श्वशूलमरोचकः ॥  
 श्रोत्रदौर्बल्यमुन्मादः प्रलापो हृदयव्यथा ।  
 विण्मूत्रसंग्रहः शूलं जङ्घोदत्रिकसंश्रयम् ॥  
 पृष्ठास्थिसन्धिभेदश्च ये चान्ये वातजा गदाः ।  
 ऊर्ध्ववातादयः सर्वे जायन्ते तैःपतर्पणात् ॥ १२ ॥

वचनन्तु अपतर्पणरूपरुक्षतन्तर्पणार्थं परिभाषारूपं बोध्यम् । तेन सर्वत्र  
 सन्तर्पणमेतयैव दिशा कार्यमिति । श्वेत्रं श्वित्रित्वम् ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—संग्रहेण सन्तर्पणप्रतीकारमाह—व्यायामेत्यादि । उक्तमित्यादि ।  
 सन्तर्पणोत्थानामिति स्निग्धसन्तर्पणोत्थानाद्, अपतर्पणमिति स्निग्धसन्तर्पण-  
 विपरीतं तर्पणमपतर्पणमित्यर्थः, न तु तर्पणमात्रविपरीतमपतर्पणम् ।  
 तृषणादिव्योषादियोगयोः सन्तर्पणाख्यया स्वयमुक्तत्वात् । अपतर्पणजा  
 इति रुक्षसन्तर्पणजाः स्निग्धसन्तर्पणविपरीततर्पणजा इत्यर्थः । स्निग्धतर्पण-  
 विपरीततर्पणन्तु द्विविधम्, उपवासाद्यद्रव्यभूतं रुक्षादिद्रव्यभूतञ्च ॥ १०।११ ॥

गङ्गाधरः—अपतर्पणजाः के गदा इति ? अत आह—देहाग्नीत्यादि । ऊर्ध्व-  
 वातादय इति श्वासादयः, किंवा “अयः प्रतिहतो वायुः श्लेष्मणा कुपितेन च ।  
 ज्ञेया । श्वेत्रं श्वित्रित्वम्, श्वैत्यमिति पाठे श्वेतावभासता । ऊर्ध्ववातादय इति पृष्ठा-  
 ध्यायोक्ताः—“ऊर्ध्ववातात्तमो हृदि” इत्यादि, ऊर्ध्ववातः श्वासादिर्यत्रोर्ध्वं वायुरीति, किंवा

तेषां सन्तर्पणं तज्ज्ञैः पुनराख्यातमौषधम् ।  
 यत् तदर्थे \* समर्थं स्यादभ्यासे वा तदिष्यते ॥  
 सद्यःक्षीणो हि सद्यो वै तर्पणेनोपचीयते ।  
 नर्त्ते सन्तर्पणाभ्यासाच्चिरक्षीणस्तु पुष्यति ॥ १३ ॥  
 देहान्निदोषभैषज्य-मात्राकालानुवृत्तिना ।  
 कार्य्यमत्वरमाणेन भेषजं चिरदुर्बले ॥  
 हिता मांसरसास्तस्मै प्यांसि च घृतानि च ।  
 स्नानानि वस्तयोऽभ्यङ्गास्तर्पणास्तर्पणाश्च ये ॥ १४ ॥

करोत्यनिशमुद्गारमूर्द्धवातः स उच्यते ॥” इति तन्त्रान्तरोक्त ऊर्द्धवातः । आदिना  
 भ्रमादयः । अपतर्पणात् स्निग्धसन्तर्पणविपरीतलङ्घनादिरुक्षसन्तर्पणात् ॥१२॥

गङ्गाधरः—अपतर्पणजव्याधिप्रशान्त्यर्थं चिकित्सासूत्राण्याह—तेषामित्यादि ।  
 सन्तर्पणं स्निग्धसन्तर्पणं यदौषधमाख्यातमुक्तं तद्वत् तत्तद्व्याधिं प्रशमयितुं  
 सद्यः समर्थं स्यात् तदर्थं तद्व्याधिप्रशमहेतुसन्तर्पणार्थं तदिष्यते । अथ सद्यः  
 प्रशमने समर्थं न स्यात् तत्र व्याधौ तदेवौषधमभ्यासे इष्यते । सद्यस्तर्पणाभ्या-  
 सयोर्विषयमाह—सद्यः इत्यादि । सद्यःपदं सप्ताहाद्यन्तपरं तर्पणेन सद्यः  
 उपचीयते । किं पुनः सद्यः सन्तर्पणेनेत्युभयत्र तर्पणोपचययोः सद्यः-  
 पदान्वयः । नर्त्ते इति वचनेन सद्यस्तर्पणस्य चिरक्षीणतर्पणकरणव्यवच्छेदा-  
 दित्यर्थः । तस्माद्देहाद्यनुवृत्तिना सन्तर्पणेन अभ्यस्यमानेन चिरनिषेव्यमाणेन  
 चिरदुर्बले भेषजं चिकित्सनं कार्य्यम्, न तु शीघ्रसेव्यमानेन । शीघ्रसेव्य-  
 मानं हि सन्तर्पणं देहाग्न्यादुत्पत्तापाय भवतीति भावः ।

सन्तर्पणमाह—हिता इत्यादि । तस्मा इति चिरक्षीणाय । वस्तय इति  
 स्नेहवस्तयः । तर्पणास्तर्पणा इति तर्पणसंज्ञा, ये स्निग्धतर्पणाः शर्करापिप्पली-

तन्त्रान्तरोक्ता रोगविशेषा एव यथा—‘अधः प्रतिहतो वायुः श्लेष्मणा कुपितेन च । करोत्यनिश-  
 मुद्गारमूर्द्धवातः स उच्यते” इति ॥ ९—१२ ॥

चक्रपाणिः—सद्यस्तर्पणतर्पणाभ्यासयोर्विषयभेदमाह—सद्य इत्यादि । अत्वरमाणेनेति वचनेन

ज्वरकासप्रसक्तानां कृशानां मूत्रकृच्छ्रिणाम् ।  
 तृष्यतामूर्द्धवातानां वक्ष्यन्ते तर्पणा हिताः ॥ १५ ॥  
 शर्करापिप्पलीतैल-घृतक्षौद्रैः समांशकैः \* ।  
 सक्तुर्द्विगुणितो वृष्यस्तेषां मन्यः प्रशस्यते ॥ १६ ॥  
 सक्तवो मदिरा क्षौद्रं शर्करा चेति तर्पणम् ।  
 पिवेन्मारुतविण्मूत्र-कफपित्तानुलोमनम् ॥ १७ ॥  
 फाणितं सक्तवः सर्पिर्दधिमण्डोऽम्लकाञ्जिकम् ।  
 तर्पणं मूत्रकृच्छ्रमुदावर्त्तहरं पिवेत् ॥ १८ ॥  
 मन्यः खज्जूरमृद्रोका-वृक्षाम्लाम्लीकदाडिमैः ।  
 परुषकैः सामलकैर्युक्तो मय्यविकारनुत् ॥ १९ ॥

त्यादिनात्रैव वक्ष्यन्ते । न त्वपतर्पणाः, ये रुजसन्तर्पणत्वात् तर्पणसंज्ञकाः  
 पूर्वं त्रूषणमित्यादिना व्योषमित्यादिना चोक्ताः ॥ १३।१४ ॥

गङ्गाधरः—इति तर्पणांस्तर्पणान् वक्तुं विषयोपदेशपूर्वकमाह—ज्वरेत्यादि ।  
 तर्पणा इति स्निग्धतर्पणत्वेन तर्पणसंज्ञकाः ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—शर्करेत्यादि । शर्करादिसर्व्वद्रव्याद् द्विगुणितः सक्तुर्मन्यः ।  
 अत्राप्यालोडनार्थम् अनुक्तं केवलार्द्धशृतजलं बोध्यम् । सक्तवस्तु सर्व्वत्रैव  
 दोषापेक्षया भृष्टयवलाजादीनां बोध्याः । एतच्च वचनं स्निग्धसन्तर्पणरूप-  
 तर्पणसाधनार्थं परिभाषारूपं बोध्यम् । तेन सर्व्वत्रैवानेन वचनेनोक्तमानेन  
 यत् स्नेहद्रव्यप्रधानं साध्यते तत् स्निग्धसन्तर्पणं भवति मन्यसंज्ञा । तेषामिति  
 ज्वरकासादीनामुक्तानाम् ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—अपरमाह—सक्तव इत्यादि । अत्र मदिरादिभ्यस्त्रिभ्यो द्विगुणाः  
 सक्तवः ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—अपरं तर्पणमाह—फाणितमित्यादि । अत्र प्रत्येकसमफाणि-  
 तादिसर्व्वद्विगुणाः सक्तवः । किंवा प्रत्येकं समं समफाणितसर्पिर्भ्यां द्वाभ्यां  
 द्विगुणः सक्तुः, सर्पिर्दधिमण्डाम्लकाञ्जिकैरालोडनं बोध्यम् ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—मन्य इत्यादि । मन्य इत्यादिनापरं तर्पणम् । खज्जूराम्लीकानां  
 चिरदुर्बले त्वरया क्रियमाणमग्निबधादिदोषं करोतीति सूचयति । तर्पणास्तर्पणाश्चेति सन्तर्पण-

\* शर्करापिप्पलीमूल-घृतक्षौद्रसमांशकैरिति चक्रपाणिसम्मतः पाठः ।

स्वादुरम्लो जलकृतः सस्नेहो रुक्ष एव वा ।

सद्यः सन्तर्पणो मन्थः स्थैर्य्यवर्णबलप्रदः ॥ २० ॥

तत्र श्लोकः ।

सन्तर्पणोत्था ये रोगा रोगा ये चापतर्पणात् ।

सन्तर्पणीये तेऽध्याये सौषधाः परिकीर्त्तिताः ॥ २१ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रं चरकप्रतिसंस्कृते श्लोकस्थाने

सन्तर्पणीयो नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

प्रत्येकं समानानां पिष्टानां कल्कैर्युक्तः सर्वद्विगुणसक्तरिति सन्तर्पणानां सक्त-  
योनिबालभ्यते ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—सद्यस्तर्पणमाह—स्वादुरित्यादि । स्वादुः शर्करामध्वादियोगात् ।  
अम्ल इति दाडिमामलकादियोगात् । जलकृत इति जलेनालोडितः । सस्नेहो  
घृतादियोगात् स्नेहसक्तुमयो मन्थः । रुक्ष एव वेति घृतादियोगं विनापि रुक्ष-  
सक्तुमयो वा मन्थः द्रवशैत्यविकाशित्वैः सद्यः सन्तर्पयतीति भावः । एवञ्च  
लङ्घनादीनां षण्णामुपक्रमाणामरोगत्वे सेव्यमानानां व्याधिहेतुत्वमुक्तं भवति ।  
यतस्तु वृंहणस्नेहनयोः सन्तर्पणत्वमुक्तं, तज्जातानाञ्च व्याधीनामपतर्पणं वमन-  
विरेचनव्यायामोपवासरुक्षान्नस्वेदनादिकमुक्तम् । अत एव वृंहणस्नेहने द्वे  
सन्तर्पणे भवतश्चत्वारि लङ्घनादीन्यपतर्पणानि भवन्तीति द्वैविध्यं षण्णामिति  
बोध्यम् ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थमुपसंहर्त्तुमाह—तत्रेत्यादि । स्पष्टम् ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—अग्निवेशेत्यादि ॥

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरु सूत्रस्थानीय-  
त्रयोविंशोऽध्यायसन्तर्पणीयजलपाख्या त्रयोविंशी शाखा ॥ २३ ॥

कारकमन्थादयः, तेन इह संज्ञामात्रेण ये तर्पणा अपतर्पणकारका व्योषादयस्ते न ग्राह्याः, किन्तु  
शर्करापिप्पलीत्यादिग्रन्थाव्याः शर्करादिमन्थोक्तमानेनापरेऽपीह मन्था ग्राह्याः ॥ १३—१९ ॥

चक्रपाणिः—स्वादुरम्लेत्यादिना सद्यस्तर्पणमाह—अम्ल इति अम्लदाडिमामदियोगात् ; अत्र  
रुक्षसक्तु कृतस्यापि मन्थस्य द्रवत्वशैत्यदेहानुसारित्वैः सद्यस्तर्पकत्वं भवत्येवम्, अत एव सद्य  
इत्युक्तम् ; स्नेहादिवृंहणद्रव्ययोगात् तु कालान्तरतर्पकत्वमपि भवति ॥ २०।२१ ॥

इति चरकचतुराननश्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्वेददीपिकायां सूत्रस्थान-

व्याख्यायां सन्तर्पणीयो नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

## चतुर्विंशोऽध्यायः ।

अथातो विधिशोणित्तीयमध्यायं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

विधिना शोणितं जातं शुद्धं भवति देहिनाम् ।

देशकालौकसात्म्यानां विधिर्यः सम्प्रकाशितः ॥ २ ॥

तद्विशुद्धञ्च रुधिरं बलवर्णसुखायुषा ।

युनक्ति प्राणिनां \* प्राणः शोणितं ह्यनुवर्त्तते ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—अथ भेषजयोजनाकर्त्तव्यतायां पुंसां देहे शोणितमपि धातुषु प्रधानत्वादपेक्षणीयं भवतीत्यतोऽनन्तरं विधिशोणित्तीयमध्यायमाह—अथात इत्यादि । अध्यायादौ विधिना शोणितमिति पदस्यार्थतो विधिशोणितेति-शब्दमधिकृत्य कृतोऽध्याय इति विधिशोणित्तीयस्तं तथा । सर्व्वं पूर्व्ववत् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—विधिनेत्यादि ।—विधिना तेन सम्यगाहाराचाराभ्यां देहिनां देहे जातं शोणितं शुद्धमदुष्टमेव भवति । केन विधिना तदाह—देशेत्यादि देहिनां विशेषणम् । विधिर्यः संप्रकाशित इति तस्याशीतीये देशकालौकसात्म्यानां देहिनामाहाराचारयोर्यो विधिः सम्यक् प्रकाशितस्तेनैव विधिना कृताहारज-रसाज्ज्ञानमिति योज्यम् ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—ननु तस्य च विशुद्धरुधिरस्य किं फलमिति ? अत आह—तद्-

चक्रपाणिः—सम्प्रति वातादिवद्बहुविकारकर्तृत्वेन शोणितस्य शोणितविकाराणां पूर्व्वोक्तान् एवोपक्रमान् लङ्घनवृंहणादीन् विशेषेण दर्शयितुं विधिशोणित्तीयोऽभिधीयते ; इयमप्यर्थ-परा संज्ञा । विधिनेति सम्यगाहाराचारविधिना । शुद्धं भवतीत्यत्र भवति विद्यत इत्यर्थः, उत्पादस्य जातशब्देनैवोक्तत्वात् । केन विधिनेत्याह—देशेत्यादि । सात्म्यशब्दस्य देशादिभिः प्रत्येकमन्वयः । ओकसात्म्यमभ्याससात्म्यम् । संप्रकाशित इति तस्याशीतीये ; संप्रकाशित इत्यत्र तेनेति शेषः, अतो यः संप्रकाशितो विधिस्तेन विधिनेति सम्बन्धः । अन्ये व्याख्यानयान्त—शोणितं जातं तावद् भवति, तच्च कारणान्तरदृष्टं सद् विधिना यथोक्तेन पुनः शुद्धं भवतीति योजनीयम् । विशुद्धं शोणितं किं करोतीत्याह—तद्विशुद्धमित्यादि । तेन विधिना विशुद्धं



प्रदुष्टं बहुतीक्ष्णोष्णमद्यैरन्यैश्च तद्विधैः ।

तथातिलवणक्षारैरम्लैः कटुभिरेव च ॥

इत्यादि । विशुद्धश्च तद्रधिरं बलादिभिर्युनक्ति । हि यतः प्राणिनां प्राणः शुद्धमशुद्ध वा शोणितमनुवर्त्तते । शोणितव्यतिरेकेण प्राणो नानुवर्त्तते इत्यर्थः । वक्ष्यते च “दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः । शङ्खौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौ-जसी गुदम् ॥” इति । सुश्रुतेऽपि सूत्रस्थाने शोणितवर्णनीयाध्याये प्रोक्तं— “तत्र पाञ्चभौतिकस्य चतुर्विधस्य षड्रसस्य द्विविधवीर्यस्याष्टविधवीर्यस्य वानेकगुणस्योपयुक्तस्याहारस्य सम्यक् परिणतस्य यस्तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः स रस इत्युच्यते । तस्य च हृदयं स्थानम् । स हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनु-प्रविश्योद्धर्वा दश दश चाधोगामिनीश्चतस्रस्तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरमहरह-स्तर्पयति वर्द्धयति धारयति यापयति जीवयति चादृष्टहेतुकेन कर्मणा । तस्य शरीरमनुधावतोऽनुमानाद्गतिरुपलक्षयितव्या क्षयवृद्धिवैकृतैः । तस्मिन् सर्व-शरीरावयवदोषधातुमलाशयानुसारिणि रसे जिज्ञासा—किमयं तैजसः सौम्य इति ? अत्रोच्यते ; स खलु द्रवानुसारी स्नेहनजीवनतर्पणधारणादिभिर्विशेषैः सौम्य इत्यवगम्यते । स खल्वाप्यो रसो यकृतप्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति । भवत-श्चात्र—रञ्जितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम् । अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते ॥ रसादेव स्त्रिया रक्तं रजःसंज्ञं प्रवर्त्तते । तद्वर्पाद्द्वादशा-दूढं याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥ आर्त्तवं शोणितत्वाग्नेयमग्नीषोमीयत्वाद् गर्भस्य पाञ्चभौतिकश्चापरे जीवरक्तमाहुराचार्याः । विस्त्रता द्रवता रागः स्पन्दनं लघुता तथा । भूम्यादीनां गुणा ह्यत्र ते दृश्यन्ते चात्र शोणिते ॥ रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते । मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्ज्ञः शुक्रस्य सम्भवः ॥” इत्यादि ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—विशुद्धिहेतुमुक्त्वा शोणितस्य दुष्टिहेतुमाह—प्रदुष्टमित्यादि । प्रदुष्टता शोणितस्य वस्तुनः प्रकृतिविपर्ययः । अन्यैश्च तद्विधैरिति प्रदुष्टं बहु-तीक्ष्णोष्णैः । अन्यैरिति पानकादिभिः । अन्नैरिति पाठो वा । अतिलवणक्षारैः

तद्विशुद्धम्, किंवा तदिति शोणितम् । प्राणः शोणितं ह्यनुवर्त्तत इति शोणितान्वयव्यतिरेक-मनुविधीयते, यदुक्तं—“दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः । शङ्खौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम्” इति ॥ १—३ ॥

चक्रपाणिः—शुद्धिहेतुमभिधाय दुष्टिहेतुमाह—प्रदुष्टेत्यादि । प्रदुष्टं स्वप्रकृतिविपरीतम् ।

कुलत्थमापनिष्पाव-तिलतैलनिषेवणात् ।  
 पिण्डालुमूलकादीनां हरितानाञ्च सर्व्वशः ॥  
 जलजानूपवैलानां प्रसहानाञ्च सेवनात् ।  
 दध्यम्लमस्तुशुक्तानां सुरासौवीरकस्य च ॥  
 विरुद्धानामुपक्लिन्न-पूतीनां भक्षणोऽपि च ।  
 भुक्त्वा दिवा प्रस्रपतां द्रवस्निग्धगुरुणि च ॥  
 अत्यादानं तथा क्रोधं भजताञ्चातपानलौ ।  
 छर्द्दिवेगप्रतीघातात् काले चानवसेवनात् ॥  
 श्रमाभिघातात् सन्तापादजीर्णाध्यशनात् तथा ।  
 शरत्कालस्वभावाच्च शोणितं सम्प्रदुष्यति ॥ ४ ॥

इति केचिद्भेषजतया व्याचक्षते तन्न, अन्नप्रकरणात् । अन्नैरित्यस्य विशेषणं  
 कटुभिरित्यन्तम् । निष्पावः श्वेतशिम्बा । पिण्डालुः पिण्डाकारालुकः ।  
 हरितानां मरिचादीनाम् । वैलानामिति विलेशयानाम् । विरुद्धानां संयोग-  
 विरुद्धानाम् । उपक्लिन्नपूतीनां क्लेदीभूतानां पूतिगन्धीनां द्रव्याणाम् । द्रव-  
 स्निग्धगुरुणि भजतामित्यनेनान्वयः । अत्यादानमित्यर्थादाहारद्रव्याणामति-  
 भोजनम् । भजतां क्रोधमातपानलौ च भजतामित्यन्वयः । अयुक्त्या क्रोधादि-  
 सेवनादित्यर्थः । काले चेति शोणितस्य दुष्टस्य यदावसेवनं कर्त्तव्यं तदानीम् ।  
 अनव सेवनात् अमोक्षणात् । अजीर्णं सति अधि चाशनमजीर्णाध्यशनम्  
 अजीर्णं भोजनम् । अध्यशनञ्च पूर्वाह्णभुक्तशेषे यत् भोजनम् । तदुक्तं—  
 “भुक्तस्योपरि यद् भुङ्क्ते तदध्यशनमुच्यते ।” सम्प्रदुष्यतीति शोणितस्य  
 दुष्टिः स्वभावान्यथात्वं क्षयो वृद्धिश्चेति ॥ ४ ॥

अन्यैश्च तद्विधैरिति प्रदृष्टपानकादिभिः, किंवा “अन्नैः” इति पाठः । “तथाऽतिलवणक्षारैः”  
 इत्यादि केचिद् भेषजविषयं वर्णयन्ति । तद्विधैरिति वचनेनान्नपानस्यातिलवणादेर्गृहीतत्वात् ।  
 निष्पावः श्वेतशिम्बा ; अत्यादानं तृप्तिमतिक्रम्य भोजनम्, काले चेति शोणितदृष्टियुक्ते शरत्काले ।  
 अजीर्णैऽध्यशनमजीर्णाध्यशनम्, किंवा अजीर्णस्यापक्वस्याशनम्, अध्यशनन्तु पूर्वाह्णशेषे यद्-  
 भुज्यते, यदाह—“भुक्तस्योपरि यद् भुक्तं तदध्यशनमुच्यते” ॥ ४ ॥

ततः शोणितजा रोगाः प्रजायन्ते पृथग्विधाः ।  
 मुखनासाक्षिपाकश्च \* पूतिघ्राणास्यगन्धता ॥  
 गुल्मोपकुशवीसर्प-रक्तपित्तप्रमीलकाः ।  
 विद्रधी रक्तमेहश्च प्रदरो वातशोणितम् ॥  
 वैरस्यम् † अग्निनाशश्च पिपासा गुरुगात्रता ।  
 सन्तापश्चातिदौर्बल्यमरुचिः शिरसोऽतिरुक् ॥  
 विदाहश्चान्नपानस्य तित्ताम्लोद्गिरणं क्लमः ।  
 क्रोधप्रचुरैता बुद्धेः सम्मोहो लवणास्यता ॥  
 स्वेदः शरीरदौर्गन्ध्यं मदः कम्पः स्वरक्षयः ।  
 तन्द्रानिद्रातियोगश्च तमसश्चातिदर्शनम् ॥

गङ्गाधरः—तत इत्यादि । उपकुशो मुखरोगविशेषः । उक्तं हि सुश्रुते—“वेष्टेषु दाहो भवति तेन दन्ताश्चलन्ति च । यस्मिन्नुपकुशो नाम पित्तरक्तकृतो गदः ॥” इति । प्रमीलका इति सततप्रधानम् । क्लम इति सौश्रुतो—“योऽनायासश्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः । क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रवाधकः ॥” इति । बुद्धेः सम्मोहो मनःसम्मोहः । लवणास्यता यद्यपि लवणो रसः कफकर्म तथापि रक्तस्यापि पाञ्चभौतिकत्वेन लवणरसस्य प्रत्यक्षोपलब्ध्या कफकर्मलवद्रक्तकर्मत्वं न विरुद्धम् । स्वेदो घर्मः । मदो मत्तता । तन्त्रा निद्रातियोगश्चेति । तत्र तन्द्रा तु—“इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः । निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् । तमोवातकफात् तन्द्रा निद्रा श्लेष्मतमोभवा ॥” इत्यन्यत्र दर्शनात् । रक्तस्य च तमोबहुलत्वात् तमो गुणबहुलतन्द्रानिद्रयोरतियोगः स्यात् । अत एव च तमसोऽन्धकारस्यातिमात्रस्य दर्शनं भवति । कण्डूः कण्डूयना । उत्कोठः । पिङ्गका त्रिशोथीये दर्शिता ।

चक्रपाणिः—उपकुशो मुखरोगविशेषः, यदुक्तं सुश्रुते—“वेष्टेषु दाहो भवति तेषु दन्ताश्चलन्ति च । यस्मिन्नुपकुशो नाम पित्तरक्तकृतो गदः ॥” इति । कुष्ठ इत्युक्तेऽपि चर्मदलाभिधानं विशेषार्थम् । शोणितश्रया इति भाषया शोणितस्य वातादिवत् स्वातन्त्र्येण रोगकृतृत्वं निरा-

कण्डूस्तुकोठपिड्का-कुष्ठचर्मदलादयः ।

विकाराः सर्व एवैते विज्ञेयाः शोणिताश्रयाः ॥ ५ ॥

शीतोष्णस्निग्धरुक्षार्थरूपक्रान्ताश्च ये गदाः ।

सम्यक्साध्या न सिध्यन्ति रक्तजास्तान् विनिर्दिशेत् ॥

कुर्याच्छोणितरोगेषु रक्तपित्तहरीं क्रियम् ।

विरेकमनुवासश्च स्त्रावणं शोणितस्य च ॥ ६ ॥

कुष्ठचर्मदलादय इति कुष्ठोक्तौ पुनश्चर्मदलादय इति विशेषेण रक्तदुष्टिख्याप-  
नार्थं क्षुद्रकुष्ठचर्मदलादीनामस्मिन् संग्रहे ह्यनुक्तत्वेन सप्तकुष्ठातिरिक्तानां तेषाम्  
अलाभापत्या लाभार्थश्च । शोणिताश्रया इति वचनेन शोणितस्य वातादिवत्-  
कर्त्तृत्वाभावः ख्यापितः ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—अनुक्तभूरिशोणिताश्रयव्याध्युपसंहारार्थमाह—शीतेत्यादि । आदि-  
ग्रहणात् वक्ष्यमाणशोणितव्याधिप्रतीकारोपक्रमभिन्नलङ्घनवृंहणादुपक्रमाणां  
ग्रहणम् । सम्यगुपक्रान्ता इति सम्बन्धः । ननु शीतोष्णादुपक्रमैः  
किं न रक्तप्रशमः स्यादिति ? अत आह—कुर्यादित्यादि । अत्रायं  
भावः, शोणिताश्रयव्याधीनां वातादिजन्यत्वेऽप्याश्रयस्य शोणितस्य  
प्राधान्यात् तन्निर्हरणं विनादितो येषां साध्यानां रोगाणां केवलवातादि-  
प्रशमनशीतोष्णादुपक्रमैर्न सम्यक् सिद्धिर्भवति तान् रक्तजान्  
व्याधीनादिशेत् । रक्तस्य स्त्रावणं ततो विरेचनं ततोऽनुवासनं ततो रक्तपित्त-  
हरीं रक्तपित्तसंशमनीं क्रियां कुर्यात् । न त्वग्नोरक्तपित्तहरणवमनक्रियाम् ।  
न त्वादितो रक्तपित्तसंशमनीं क्रियां ततो विरेचनं ततोऽनुवासनं ततो रक्त-  
विस्त्रावणमिति ॥ ६ ॥

करोति । अनुक्तभूरिशोणितरोगग्रहणार्थमाह—शीतोष्ण्यादि । आद्यग्रहणात् तीक्ष्णमृद्वादीनां  
ग्रहणम् ; सम्यगिति पूर्वैर्ण योजनीयम् ; तत्र शीतोष्णस्निग्धरुक्षादैरिति शोणितवृद्धिमनपेक्ष्य  
वातादिजयार्थमात्रप्रयुक्तेरिति मन्तव्यम्, येन शोणितव्याधेरपि शान्तिर्वक्ष्यमाणरक्तपित्तहर-  
क्रियादिभिः शीतोष्णस्निग्धादिक्रियाप्रविष्टैव, ततश्च शोणितरोगस्यापि शीतादिक्रियाभिरेव  
शोणितप्रतिकूलाभिः प्रशमो भवति ; प्रवृद्धशोणिताश्रयास्तु वातादयः स्वाश्रयप्रभावाः स्वचिकित्सा-  
मात्रेण न प्रशाम्यन्ति । रक्तपित्तहरक्रियादयो यथायोग्यतया बोद्धव्याः ॥ ५ । ६ ॥

बलदोषप्रमाणाद्वा विशुद्धा रुधिरस्य वा ।  
 रुधिरं स्त्रावयेज्जन्तोरशयं प्रसमीक्ष्य वा ॥ ७ ॥  
 अरुणाभं भवेद्वातात् फेनिलं विशदं तनु ।  
 पित्तात् पीतासितं रक्तं स्त्यायत्यौष्णाच्चिरेण च ॥  
 ईषत्पाण्डु कफाद् दुष्टं पिच्छिलं तन्तुमद् घनम् ।  
 संसृष्टलिङ्गं संसर्गात् त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम् ॥ ८ ॥  
 तपनीयेन्द्रगोपाभं पद्मालक्तकसन्निभम् ।  
 गुञ्जाफलसवर्णञ्च विशुद्धं विद्धि शोणितम् ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—शोणितस्य विस्रावणं यथा कर्त्तव्यं तदाह—बलदोषेत्यादि । बलस्यातुल्यस्य शोणितरूपदोषस्य च प्रमाणात् परिमाणमनुसृत्य जन्तो रुधिरं स्त्रावयेत् । किंवा रुधिरस्य दुष्टस्य विशुद्ध्या विशुद्धिं यावत् वीक्ष्य विस्रावयेत् । यावद्दुष्टरक्तनिर्गमः स्यात् तावत् विस्रावयेत् । विशुद्धरक्तदर्शने तु सति रक्तं स्तम्भयेदिति भावः । आशयरक्तजव्याधिस्थानं समीक्ष्य वा रक्तं विस्रावयेत् तद्वाध्याश्रयस्थानस्य रक्तवर्णतादौ विनष्टे रक्तं स्तम्भयेदिति भावः ॥ ७

गङ्गाधरः—विशुद्ध्या रुधिरस्य वेति यदुक्तं कथं रक्तं दुष्टत्वेन विशुद्धत्वेन वा ज्ञेयं स्यादिति ? अतः शोणितदुष्टविशुद्धिलक्षणानि क्रमेणाह—अरुणाभमित्यादि । स्त्रावत्यौष्णाच्चिरेण चेति पित्तदुष्टरक्तमौष्ण्यादधिकोष्णत्वाच्चिरेण स्त्यायति घनीभवति ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—विशुद्धरक्तलिङ्गमाह—तपनीयेत्यादि । तपनीयं वह्निना द्रवत्-सुवर्णः । इन्द्रगोपः खनाम्ना प्रसिद्धः कीटविशेषः । अत्र नानावर्णता रक्तस्य वातादिनानाप्रकृतिपुरुषीयत्वात् । शोणितस्य दुष्टविशुद्धयोः सुश्रुतवचनानि

चक्रपाणिः—उक्तशोणितस्त्रावणप्रमाणमाह—बलेत्यादि । बलदोषप्रमाणादिति बलस्य तथा दोषस्य शोणितव्याधिरूपस्य प्रमाणं वीक्ष्य, दोषशब्दो ह्ययं रोगो वर्त्तते । विशुद्ध्या रुधिरस्य चेति यावता स्त्रावणेन शोणितं शुद्धं स्यात् । आशयं स्थानं दुष्टशोणिताशयमिति यावत्, यथा—स्वल्पे कुष्ठे स्तोक्मेव विशुद्धर्यमुपादेयम्, महति कुष्ठे बहु स्त्रावणीयम्, यदुक्तम्—“प्रच्छनमल्पे कुष्ठे महति च शैस्तं सिराव्यधनम्” । एषु च पक्षेषु यद् यत्रानत्ययं भवति तत् तत्र ग्राह्यम् ॥ ७ ॥

चक्रपाणिः—दुष्टरक्तलक्षणमाह—अरुणाभमित्यादि । स्त्यायति घनं भवति । विशुद्ध-

च यथा शोणितवर्णनीये — “तत्र फेनिलमरुणं कृष्णं परुषं तनु शीघ्रगमस्कन्दि  
च वातेन दुष्टम् । नीलं पीतं हरितं श्यावं विस्रग्निष्टं पिपीलिकामक्षिकाणा-  
मस्कन्दि च पित्तदुष्टम् । गैरिकोदकप्रतीकाशं स्निग्धशीतलं बहलं पिच्छिलं  
चिरस्त्रात्रि मांसपेशीप्रभं श्लेष्मदुष्टम् । पित्तवद्वक्तनातिकृष्णम् । द्विदोषलिङ्गं  
संलुप्तम् । जीवशोणितमन्यत्र वक्ष्यामः । इन्द्रगापप्रतीकाशमसंहतमविश्वंश्च  
प्रकृतिस्थं जानीयात् । विस्राव्याप्यन्यत्र वक्ष्यामः । अथाविस्राव्या सन्वाङ्ग-  
शक्रः क्षीणस्य चाम्लभोजननिमित्तः । पाण्डुरोग्यशोदरिशोषिगभिणी-  
नाश्च श्वयथवः ।” अथान्यत्रेति अष्टविंशसूत्रकम्पण्येऽध्याये, तद्यथा—  
“स्राव्या विद्रव्यः पञ्च भवेयुः सव्वेजादते” इति । “तत्र शस्त्रविस्त्रावणं  
द्विविधम् । प्रच्छानं सिराव्ययनम् । तत्र ऋज्वसङ्कीर्णं सूक्ष्मं सममनवगाढ-  
मनुत्तानमाशु च शस्त्रं पातयेन्ममेसिरास्नायुसन्धीनाश्चानुपघाति । तत्र  
दुर्द्दिने दुर्व्वेद्धे शीतवातयोरस्विन्नेऽभ्युक्तवतः स्कन्नत्वाच्छोणितं न स्रवत्यल्पं  
वा स्रवति । भवति चात्र । मदमूर्च्छाश्रमात्तानां वातविमूत्रसङ्गिनाम् ।  
निद्राभिभूतभीतानां नृणां नासृक् प्रवर्त्तते ॥ तददुष्टं शोणितमनिद्रियमाणं  
कङ्कशोकरागदाहपाकवेदनां जनयेत् । अत्युष्णातिस्विन्नातिविट्प्वर्णं विस्रा-  
वितमतिप्रवर्त्तते । तदतिप्रवृत्तं शिरोऽभितापमान्ध्यमधिमन्थं तिमिरप्रादुर्भावं  
धातुक्षयमाक्षेपकं पक्षाघातमेकाङ्गविकारं तृष्णादाहौ हिकां कासं श्वासं पाण्डु-  
रोगं मरणञ्चापादयति । भवन्ति चात्र । तस्मान्न शीते नात्युष्णे नास्विन्ने  
नातितापिते । यवा प्रतिपीतस्य शोणितं मोक्षयेद्विपक्वम् ॥ सम्यग् गत्वा  
यदा रक्तं स्वयमेवावतिष्ठते । शुद्धं तदा विजानीयात् सम्यग्विस्रावितञ्च तत् ॥  
लाघवं वेदनाशान्तिर्व्याधिवेगपरिक्षयः । सम्यग्विस्राविते लिङ्गं प्रसादो  
मनसस्तथा ॥ खग्दोषा ग्रन्थयः शोका रोगाः शोणितजाश्च ये । रक्तमोक्षण-  
शीलानां न भवन्ति कदाचन ॥

अथ खल्वप्रवर्त्तमाने रक्ते एलाशीतशिवकुष्ठतगरपाठाभद्रदारुविडङ्गचित्रक-  
त्रिकटुकागारधूमहरिद्राकाङ्क रनक्तमालकलैयंथालाभं त्रिभिश्चतुभिः समस्तैर्वा  
चूर्णीकृतैः सर्षपतैललवणप्रगाढव्रणमुखमवघषयेदेवं सम्यक् प्रवर्त्तते । अथाति-  
प्रवृत्ते लोभ्रमधुकप्रियङ्गुपत्तङ्गगैरिकसज्जरसरसाञ्जनशाल्मलीपुष्पशङ्खशुक्तिमाष

रक्तलिङ्गे नानावर्णता नानावातादिप्रकृतित्वाद् मनुष्याणाम् ; तपनीयं लोहितसुवर्णम्, इन्द्रगोपः  
स्वनामप्रसिद्धः कीटविशेषः ॥ ५१९ ॥

यवगोधूमचूणः शनैः शनैर्व्रणमुखमवचर्ण्याङ्गुल्यग्रेणावपीडयेत् । सालसर्ज्जाज्जु-  
नारिमेदमेषशृङ्गधवधन्वनलग्भिर्वा चूणिताभिः क्षौमेण वा ध्मापितेन समुद्रफेन-  
लाक्षाचूर्णैर्वा यथोक्तैर्व्रणवन्धनद्रव्यैर्गाढं बध्नीयात् । शीताच्छादनभोजनागारैः-  
शीतैः परिषेकप्रदेहैश्चोपाचरेत् । क्षारेणाग्निना वा दहेत् । यथोक्तव्यधनादनन्तरं  
वा तामेवातिप्रवृत्तां सिरां विध्येत् । काकोल्यादिकाथं वा शकरामधुमधुरं  
पाययेत् । एणहरणोरभ्रशशमहिषवराहाणां वा रुधिरं क्षीरयूपरसैः सुस्निग्धैश्च  
अश्नीयात् । उपद्रवांश्च यथास्वमुपाचरेत् । भवन्ति चात्र । धातुक्षयात् स्रुते  
रक्ते मन्दः सञ्जायतेऽनलः । पवनश्च परं कोपं याति तस्मात् प्रयत्नतः । तं  
नातिशीतैलेघुभिः स्निग्धैः शोणितवर्द्धनैः । ईषदम्लैरनम्लैर्वा भोजनैः समुपा-  
चरेत् ॥ चतुर्विधं यदेतद्धि रुधिरस्य निवारणम् । सन्धानं स्कन्दनञ्चैव पाचनं  
दहनं तथा ॥ व्रणं कषायः सन्धत्ते रक्तं स्कन्दयते हिमम् । तथा सम्पाचयेद्भस्म  
दाहः सङ्कोचयेत् सिराः ॥ अस्कन्दमाने रुधिरे सन्धानानि प्रयोजयेत् । सन्धाने  
भ्रश्यमाने तु पाचनैः समुपाचरेत् ॥ क्लृपरेतैस्त्रिभिर्विधैः प्रयतेत यथाविधि ।  
अंसिद्धिस्तु चतेषु दाहः परम इष्यते ॥ सशेषदोषे रुधिरे न व्याधिरति-  
वर्त्तते । सावशेषे ततः स्थेयं न च कुर्यादतिक्रमम् ॥ देहस्य रुधिरं मूलं  
रुधिरेणैव धार्यते । तस्माद् यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः ॥ स्रुतस्तस्य  
सेकादैः शीतैः प्रकुपितेऽनिले । शोफं सतादं कोष्णेन सर्पिणा परिषेचयेत् ॥  
इति ।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि न विध्येद् याः सिरा भिषक् । वैकल्यं मरण-  
श्चापि व्यधात् तासां ध्रुवं भवेत् ॥ सिराशतानि चत्वारि विद्याच्छाखासु बुद्धि-  
मान् । षट्त्रिंशच्च शतं कोष्ठे चतुर्षष्टिश्च मूर्ध्नि ॥ शाखासु षोडश सिराः  
कोष्ठे द्वात्रिंशदेव तु । पञ्चाशज्जत्रुणश्चोद्धमवेध्याः परिकीर्त्तिताः । तत्र  
सिराशतमेकैकस्मिन् सकृन्धिन भवति तासां जालधरात्वेका । तिस्रश्चाभ्यन्तराः ।  
तत्रोर्व्वीसंबे द्वे लोहिताक्षसंज्ञा चैका । एतास्त्ववेध्याः । एतेनंतरसकृत्थिवाहू च  
व्याख्यातौ । एवमशस्त्रकृत्याः षोडश शाखासु । द्वात्रिंशत् श्रोण्याम् । तासामष्टौ  
अशस्त्रकृत्याः—द्वे द्वे विटपयोः कटीकतरुणयोश्च । अष्टावष्टावेककस्मिन् पाश्वे,  
तासामेकैकामूर्ध्नि गां परिहरेत् पाश्वेसन्धिगते च द्वे । चतस्रो विंशतिश्च  
पृष्ठवंशमुभयतः । तासामूर्ध्नि गामिन्यौ द्वे द्वे परिहरेद् वृहती सिरि । तावत्य एवो  
दरे । तासां मेढ्रोपरि रोमराजीमुभयतो द्वे द्वे परिहरेत् । चत्वारिंशद्वक्षसि  
तसां चतुदशशस्त्रकृत्याः—हृदये द्वे । द्वे द्वे स्तनमूले । स्तनरोहितापलाप-

स्तम्भेषूभयतोऽष्टौ । एवं द्वात्रिंशदशस्त्रकृत्याः पृष्ठोदरोरःसु भवन्ति । चतुःषष्टि-  
सिराशतं जत्रुण ऊर्द्धं भवति । तत्र षट्पञ्चाशच्छिरोधरायाम् । तासामष्टौ  
चतस्रश्च मर्मसंज्ञाः परिहरेत् । द्वे कृकाटिकयोर्द्वे विधुरयोः । एवं ग्रीवायां  
षोडशाव्याध्याः । हन्वोरुभयतोऽष्टावष्टौ । तासान्तु सन्धिधमन्यौ द्वे द्वे परिहरेत् ।  
षट्त्रिंशज्जिह्वायाम् । तासामधः षोडशाशस्त्रीकृत्याः—रसबहे द्वे, वाग्वहे च द्वे ।  
द्विर्द्वादश नासायाम् । तासामौपनासिक्यश्चतस्रः परिहरेत् । तासामेव च तालु-  
न्येकां मृदाबुद्देशे । अष्टात्रिंशदुभयोर्नेत्रयोः । तासामेकैकामपाङ्गयोः परिहरेत् ।  
कर्णेयांर्दश । तासां शब्दवाहिनीनामेकैकां परिहरेत् । नासानेत्रगतास्तु  
ललाटे षष्टिः । तासां केशान्तानुगताश्चतस्रः । आवत्तयोरेकैका, स्थपन्या-  
ञ्चैका परिहृत्तव्या । द्वादश मद्धि । तासामुक्षेपयोर्द्वे परिहरेत्, सीमन्तेष्वेकैका-  
मकामधिपताविति । एवमशस्त्रकृत्याः पञ्चाशज्जत्रुण ऊर्द्धं मिति । भवति चात्र ।  
व्याप्नुवन्त्यभितो देहं नाभितः प्रसृताः सिराः । प्रतानाः पद्मिनीकन्दादिसा-  
दीनां यथा जलम् ॥

अथातः सिराव्यधिविधिशारीरं व्याख्यास्यामः । बालस्थविररुक्षतक्षीण-  
भीरुपरिश्रान्तस्त्रीमद्याध्वकषितमत्तवान्तविरिक्तास्थापितानुवासितजागरितक्लीव-  
कुशगर्भिणीनां कासश्वासशोषप्रवृद्धज्वराक्षेपकपक्षाघातोपवासपिपासामूर्च्छा-  
प्रपीडितानाञ्च सिरा न विध्येत् । याश्चाव्यध्याः व्यध्याश्चादृष्टा दृष्टाश्चायन्त्रिता  
यन्त्रिताश्चानुत्थिता इति । शोणितावसेकसाध्यास्तु विकाराः प्रागभिहितास्तेषु  
चापकेष्वन्येषु चानुक्तेषु यथाभ्यासं यथान्यायश्च सिरां विध्येत् । प्रतिषिद्धाना-  
मपि च त्रिषोपसर्ग आत्ययिकेषु सिराव्यधनमप्रतिषिद्धम् । तत्र स्निग्धस्निग्ध-  
मातुरं यथादोषप्रत्यनीकद्रवप्रायमन्नं भुक्तवन्तं यवाण् पीतवन्तं वा यथाकाल-  
मुपस्थाप्यासीनं स्थितं वा प्राणानवाधमानो वस्त्रपट्टचर्मन्तर्वल्कललतानामन्य-  
तमेन यन्नयित्वा नातिगाढं नातिशिथिलं शरीरप्रदेशमासाद्य यथोक्तं शस्त्रं  
गृहीत्वा सिरां विध्येत् । नैवातिशीते नात्युष्णे न प्रवाते न चाभ्रिते ।  
सिराणां व्यधनं कार्यमरोगे वा कदाचन ॥ तत्र व्यध्यसिरं पुरुषं प्रत्यादित्य  
मुखमग्निमात्रोच्छ्रिते उपवेश्यासने सक्थनोराकुञ्चितयोर्निवेश्य कूर्परसन्धिद्वय-  
स्योपरि हस्तावन्तद्वाङ्गुष्ठकृतमुष्टी मन्ययोः स्थापयित्वा यन्नणशट्कं ग्रीवा-  
मुष्ट्योरुपरि परिक्षिप्यान्येन पुरुषेण पश्चात्स्थितेन वामहस्तेनोत्तानेन शट्का-  
न्तद्वयं ग्राहयित्वा वैद्यो ब्रूयाद्दक्षिणहस्तेन सिरात्थापनार्थं नात्यायतशिथिलं  
यन्नमावेष्टय इति । असृक्सावणार्थं यन्त्रं पृष्ठमध्ये च पीडय इति । - कर्म-



पुरुषश्च वायुपूर्णमुखं स्थापयेत् । एष उत्तमाङ्गगतानामन्तर्मुखवज्ज्यानां सिराणां व्यधने यन्नविधिः ॥

तत्र पादव्यधिसिरस्य पादं समे स्थाने सुस्थिरं स्थापयित्वान्यं पादमीषत् सङ्घचितमुच्चैः कृत्वा व्यध्यपादं जानुगन्धेरधःशाटकेनावेष्ट्य हस्ताभ्यां प्रपी-  
ड्यागुल्फं व्यध्यप्रदेशस्योपरि चतुरङ्गलं श्लोतादीनामन्यतमेन बद्धां पादसिरां  
विध्येत् । अथोपरिष्ठादस्तौ दाङ्गष्ठकृतमुष्टी सम्यगासने स्थापयित्वा सुखोप-  
विष्टस्य पूर्ववद्व्यन्नं बद्धा हस्तसिरां विध्यत् । शृङ्गसीविश्वच्योः सङ्घचित-  
जानुकूपरः स्यात् । श्रोणपृष्ठस्कन्धं न्नमित्तृष्टस्यावाक्शिरस्कस्योपविष्टस्य  
विस्फुज्जिततृष्टस्य विध्यत् । उदरोरसोः प्रसारितोरस्कस्योन्नमितशिरस्कस्य  
विस्फुज्जितदेहस्य । बाहुभ्यामवलम्ब्यमानदेहस्य पार्श्वयोः । अवनामितमेद्वस्य  
मेद्वे । उन्नमितविदष्टाजह्वाग्रस्याधोजिह्वायाम् । अतिव्यात्ताननस्य तालुनि  
दन्तमूलेषु च । एवं यत्रोपायानन्यांश्च सिरास्थापनहेतून् बुद्ध्यावेक्ष्य शरीर-  
वशेन व्याधिवशेन च विदध्यात् । मांसध्ववकाशेषु यवमात्रं शस्त्रं निदध्यात् ।  
अतोऽन्येष्वद्वयवमात्रं ब्रीहिमात्रं वा ब्रीहिमुखेन । अस्यामुपरि कुठारिकया  
विध्यद्वयवमात्रम् । भवन्ति चात्र । व्यध्नौ वर्षासु विध्येत ग्रीष्मकाले तु  
शीतले । ह्रस्वकाष्ठे मध्याह्ने शस्त्रकालास्त्रयः स्मृताः ॥ सम्यक्गन्धनिपातेन  
धारया या सवेदसृक् । सुहृत्तमूर्द्धात् तिष्ठेच्च सुविद्धां तां विनिर्दिशेत् ॥ यथा  
कुमुम्भपुष्पेभ्यः पूर्वं स्रवति पीतिका । तथा सिरासु विद्धासु दुष्टमग्रे प्रवर्तते ॥  
मूर्च्छितस्यातिभीतस्य श्रान्तस्य तृपितस्य च । न वहन्ति सिरा विद्धास्तथा-  
नुत्थितयन्त्रिताः ॥ क्षीणस्य बहुदोषस्य मूर्च्छेयाभिद्रुतस्य च । भूयोऽपराह्णे  
विस्राव्या सापरेदुःस्त्राहंऽपि वा ॥ रक्तं सशेषदोषन्तु कुर्व्यादपि विचक्षणः ।  
न चातिप्रसृतं कुर्व्याच्छेषं संशमनैजेयेत् ॥ बलिनो बहुदोषस्य वयःस्थस्य  
शरीरिणः । पर प्रमाणमिच्छन्ति प्रस्थं शार्णतमोक्षणे ॥

तत्र पाददाहपादहर्षावबाहुकचिप्पविसर्पेवातश्रोणतवातकृष्टकविचर्चिका-  
पाददारीप्रभृतिषु क्षिप्रमग्नेन उपरिष्ठात् द्वाङ्गुले ब्रीहिमुखेन सिरां विध्येत् ।  
श्लीपदे तच्चिकित्सिते यथा वक्ष्यते । क्रोष्टुकशिरःखड्गपङ्कजलवातवेदनासु  
जङ्घायां गुल्फस्योपरि चतुरङ्गुले । अपच्यामिन्द्रवस्तेरधस्तात् द्वाङ्गुले । जानु-  
सन्धेरुपर्यधो वा चतुरङ्गुले दृष्टस्याम् । ऊरुमूलसांश्रितानां तु गलगण्डे । एतेने-  
तरसक्थिवाहू च व्याख्याता । विशेषतस्तु वामबाहौ कूपेरसन्धेरभ्यन्तरतो  
बाहुमध्ये श्लीहि कर्नाष्ठकानामिकयोर्मध्ये वा । एवं दक्षिणबाहौ यकृद्वात्ये

कफोदरे चैतामेव च कासश्वासयोरप्यादिशन्ति । शृग्रस्यामिव विश्वच्याम् । श्रोणिं प्रतिसमन्ताद् दृष्ट्वा प्रवाहिकायां शूलिन्याम् । परिकर्त्तिकोपदेश-  
शकदोषशुक्रव्यापत्सु मेदुमध्ये । वृषणयोः पार्श्वे मूत्रवृद्ध्याम् । नाभेरधश्चतुरङ्गले  
सेवन्या वामपार्श्वे दकोदरे । वामपार्श्वे कक्षास्तनयोरन्तरेऽन्तर्विद्रव्यौ पार्श्व-  
शूत्रे च । बाहुशोपावबाहुकारप्येके वदन्त्यन्तयोरन्तरे । त्रिकसन्धिमध्यगतां  
तृतीयके । अधःस्कन्धसन्धिगतामन्यतरपाश्वसंस्थितां चातुथके । हनुसन्धि-  
मध्यगतामपस्वारे । शङ्खके केशान्तसन्धिगतामुरोऽपाङ्गललाटेषु चोन्मादेऽपस्मारे  
च । जिह्वारोगेऽधोजिह्वायां दन्तव्याधिषु च । तालुनि तालव्येषु । कर्णयो-  
रुपरि समन्ता । कर्णशूत्रे तद्रोगेषु च । गन्धाग्रहणे नासारोगेषु च नासाग्रे ।  
तिमिराक्षिपाकप्रभृतिष्वामधेषूपनासिके लालाध्यामपाङ्गान्चैता एव शिरो-  
रोगाधिमन्थप्रभृतिषु रोगेष्विति ।

अत ऊर्ध्वं दुष्टव्यधनमनुव्याख्यास्यामः । तत्र दुर्विद्धातिविद्धा कुञ्चिता  
पिच्छिता कुटिता अप्रसृता अत्युदीर्णा अन्तेऽभिहता परिशुष्का कूणिता वेपिता-  
ऽनुत्थितविद्धा शस्त्रहता निय्यग्विद्धाऽपविद्धाऽव्याध्याविद्धा धेनुका पुनःपुन-  
विद्धा सिरास्त्रायवस्थिमन्थिमम्मेसु चेति विंशतिर्दुष्टव्यधाः । तत्र या सूक्ष्म-  
शस्त्रविद्धा न व्यक्तमसृक् स्रवति रुजाशोकवती च सा दुर्विद्धा (१) प्रमाणाति-  
रिक्तविद्धायामन्तःप्रविशति शोणितं शोणितातिप्रवृत्तिर्वाप्यतिविद्धा (२)  
कुञ्चितायामप्येवम् (३) । कुठशस्त्रप्रमथिता पृथ्वीभावमापन्ना पिच्छिता (४) ।  
अनासादिता पुनःपुनरन्तयाश्च बहुशः शस्त्राभिहता कुटिता (५) । शीतभय-  
मूर्च्छाभिरप्रवृत्तशोणिता अप्रसृता (६) । तीक्ष्णमहामुखशस्त्रविद्धा अत्युदीर्णा  
(७) । अल्परक्तस्त्राविण्यन्तेऽभिहताविद्धा (८) । क्षीणशोणितस्यानिलपूर्णा  
परिशुष्का (९) । चतुर्भागावसादिता किञ्चित्प्रवृत्तशोणिता कूणिता (१०) ।  
दुःस्थानबन्धनाद्भेपमानायाः शोणितसम्भोहो भवति सा वेपिता (११) ।  
अनुत्थितविद्धायामप्येवम् (१२) । छिन्नातिप्रवृत्तशोणिता क्रियासङ्गकरी  
शस्त्रहता (१३) । तिद्यर्क्प्राणहितशस्त्रा किञ्चित्च्छेया तिद्यग्विद्धा (१४) ।  
बहुशःक्षता हीनशस्त्रप्रणिशाननापविद्धा (१५) । अशस्त्रकृत्या अव्याध्या (१६) ।  
अनवस्थितविद्धा विद्धता (१७) । प्रदेशस्य बहुशोऽवघट्टनादारोहव्यथा मुहुम्मुहुः  
शोणितस्त्रावा धेनुका (१८) । सूक्ष्मशस्त्रव्यधनाद्बहुशः विच्छिन्ना पुनःपुनर्विद्धा  
(१९) । स्नायवस्थिसिरासन्थिमम्मेसु विद्धा वा रुजां शोषं वृकल्यं मरणं  
वापादयति (२०) । भवन्ति चात्र । सिरासु शिक्षितो नास्ति चला हेयताः

स्वभावतः । मत्स्यवत् परिवर्तन्ते तस्माद्यत्नेन ताडयेत् ॥ अजानता गृहीते तु शस्त्रे कायनिपातिते । भवन्ति व्यापदश्चैता बहवश्चाप्युद्रवाः ॥ स्नेहादिभिः क्रियायोगैर्न तथा लेपनैरपि । यान्त्याशु व्याधयः शान्तिं यथा सम्यक् सिरा-  
व्यशः ॥ सिराव्यधश्चिकित्साद्धं शल्यतन्त्रे प्रकीर्तितः । यथा प्रणिहितः सम्यग् वस्तिः कायचिकित्सिते ॥ तत्र स्निग्धस्निग्धनवान्तविरिक्तास्थापितानुवासित-  
सिराविद्धैः परिहृत्तव्यानि क्रोधायासमैथननिवास्वप्नवाग्व्यायाप्रयानोत्थाना-  
सनचक्रमणशीतवातातपविरुद्धासात्म्याजीर्णान्या बललाभान्पासमेके मन्यन्ते । एतेषां विस्तरमुपरिष्ठाद्वक्ष्यन्ते । भवतश्चात्र । सिराविषाणाम्ब्वैस्तु जलौकाप्रच्छन्नै-  
स्तथा । अवगाहं यथापूर्वं निहरेद्दुष्टशोणितम् ॥ अवगाहे जलौका स्यात् प्रच्छन्नं पिण्डिते हितम् । सिराङ्गव्यापके रक्ते शृङ्गोऽलावस्त्वचि स्थिते ॥” इत्येवं शोणित-  
स्त्रावणाय वैद्यः स्वधिगतसर्व्वशास्त्रार्थोऽपि शस्त्रावचारणे योग्यां कुर्यात् । उक्तं हि सुश्रुते—“सुबहुश्रुतोऽप्यकृतयोग्यः कर्मस्वयोग्यो भवति । तत्र पुष्प-  
फलालाब्कालिन्दकत्रपुषैर्व्वारुकककारुकप्रभृतिषु च्छेद्यविशेषान् दर्शयेदुत्कर्त्तन-  
परिकर्त्तनानि चोपदिशेत् । दृतिवस्तिप्रसेकप्रभृतिषूदकपङ्कपूर्णेषु भेद्ययोग्याम् । सरोणिण चर्मण्यताते लेख्यस्य । मृतपशुसिरामृतपलनालेषु च व्यध्यस्य । घृणोपहतकाष्ठवेणुवं(नल)शनालीशुष्कालाबूमुखेध्वेष्यस्य । पनसविम्बीबिल्वफल-  
मज्जमृतपशुदन्तेष्वाहार्य्यस्य । मधूच्छिष्टोपलिप्ते शालमलीफलके विस्त्राव्यस्य । सूक्ष्मघनवस्त्रान्तयोर्मृदुचम्मान्तयोश्च सीव्यस्य । पुस्तमयपुरुषाङ्गप्रत्यङ्गविशेषेषु बन्धयोग्याम् । मृदुमांसपेशीषूत्पलनालेषु च कर्णसन्धिवन्धयोग्याम् । मृदुषु मांस-  
खण्डेष्वपिक्षारयोग्याम् । उदकपूणघटाश्वंस्रोतस्पलावूमुखदिषु च नेत्रप्रणि-  
धानवस्तिव्रणवस्तिपीडनयोग्यामिति । भवतश्चात्र । एवमादिषु मेधावो योग्या-  
हेषु यथाविधि । द्रव्येषु योग्यां कुर्वाणो न प्रमुह्यति कर्मसु ॥ तस्मात् कौशल-  
मन्विच्छन् शस्त्रक्षाराग्निकर्मसु । यस्य यत्रेह साधर्म्यं तत्र योग्यां समाचरेत् ॥”  
इति । एवं कृतयोग्यो वैद्योऽष्टविधशस्त्रावचारणाय शस्त्राणि विंशतिं जानीयात् । उक्तं हि सुश्रुते—“विंशतिः शस्त्राणि । तद्यथा—मण्डलाग्रकरपत्रवृद्धिपत्रनख-  
शस्त्रमुद्रिकोत्पलपत्रकाद्धं धारमूचीकुशपत्राटीमुखशरारीमुखान्तम्मुखत्रिकूचचक-  
कुठारिकात्रीहिमुखारावेतसपत्रकवडिशदन्तशङ्खेऽप्य इति । तत्र मण्डलाग्र-  
करपत्रे स्यातां च्छेदने लेखने च । वृद्धिपत्रनखशस्त्रमुद्रिकोत्पलपत्रकाद्धं धाराणि च्छेदने भेदने च । मूचीकुशपत्राटीमुखशरारीमुखान्तम्मुखत्रिकूचचकानि विस्त्रावणे । कुठारिकात्रीहिमुखारावेतसपत्रकाणि व्यधने सूची च । वडिशोदन्त-

शङ्खश्चाहरणे । एषण्येषणे आनुलोम्ये च । सूच्यः सेवने । इत्यष्टविधे कर्म-  
 प्युपयोगः शस्त्राणां व्याख्यातः । तेषामथ यथायोगग्रहणसमासोपायः कर्मसु  
 वक्ष्यते । तत्र वृद्धिपत्रं वृन्तफलसाधारणे भागे गृहीयाद्देनान्येवं सर्वानि ।  
 वृद्धिपत्रं मण्डलाग्रश्च किञ्चिदुत्तानपाणिना लेखने बहुशोऽवचाय्यम् । वृन्ताग्रे  
 विस्रावणानि । विशेषेण बालवृद्धकुमारभीरुनारीणां राज्ञां राजपुत्राणाञ्च  
 त्रिकूचकेन विस्रावरेत् । तलप्रच्छादितवृन्तमङ्गुष्ठप्रदेशिनीभ्यां त्रीहमुखम् ।  
 कुठारिकां वामहस्तन्यस्तामितरहस्तमध्यमाङ्गुल्यङ्गुलिष्विष्टव्ययाऽभिहन्यात् ।  
 आराकरपत्रैष्यो मूले । शेषाणि तु यथायोगं गृहीयात् । तेषां नामभिरेवा-  
 कृतयः प्रायेण व्याख्याताः । तत्र नखशस्त्रैष्य्यावष्टङ्गले । सूच्यो वक्ष्यन्ते ।  
 वडिशो दन्तशङ्खश्चानताग्रे तीक्ष्णकण्टकप्रथमयवपत्रमुखे । एषणी गण्डपूदा-  
 कारमुखी । प्रदेशिन्यग्रवर्षप्रदेशसमाना मुद्रिका । दशाङ्गुला शरारीमुखी सा  
 कत्तेरीति कथ्यते । शेषाणि तु षडङ्गुलानि । तानि सुग्रहाणि सुलोहानि  
 सुधाराणि सुरूपाणि सुसमाहितमुखाग्राणि अकरालानि चेति शस्त्रसम्पत् ।  
 तत्र वक्रं कुण्डं खण्डं खरधारमतिस्थूलमत्यल्पमतिदीर्घमतिह्रस्वमित्यष्टौ शस्त्र-  
 दोषाः । अतो विपरीतगुणमाददीत अन्यत्र करपत्रात् तद्वि खरधारमस्थि-  
 च्छेदनार्थम् । तत्र धारा भेदनानां मासूरी । लेखनानामद्धमासूरी । व्यधनानां  
 विस्रावणानाञ्च कैशिकी । छेदनानामद्धकैशिकीति । तेषां पायना त्रिविधा,  
 क्षारोदकतैलेषु । तत्र क्षारपायितं शरशल्यार्थस्थच्छेदनेषु । उदकपायितं मांस-  
 च्छेदनभेदनपाटनेषु । तैलपायितं सिराव्यधनस्नायुच्छेदनेषु । तेषां निशाणार्थं  
 श्लक्ष्णशिला मापवर्णा । धारासंस्थापनार्थं शाल्मलीफलकमिति । भवति चात्र ।  
 यदा सुनिशितं शस्त्रं रोमच्छेदि सुसंस्थितम् । सुगृहीतं प्रमाणेन तदा कम्मसु  
 योजयेत् ॥ अनुशस्त्राणि तु त्वक्सारस्फटिककाचकुहविन्दजलौकाग्निक्षारनख-  
 गोजीशैफालिकाशकपत्रकरीरबालाङ्गुलय इति । शिशूनां शस्त्रभीरूणां शस्त्रा-  
 भावे तु योजयेत् । त्वक्सारादिचतुर्वर्गं छेदे भेदे च बुद्धिमान् ॥ आहार्ये-  
 च्छेद्यभेदेषु नखं शस्त्रेषु योजयेत् । विधिः प्रवक्ष्यते पश्चात् क्षारवह्निजलौक-  
 साम् ॥ ये स्युर्मुखगता रोगा नेत्रवर्त्मगताश्च ये । गोजीशफालिकाशक-पत्रै-  
 विस्रावयेत् तु तान् ॥ एष्येषु त्वपणालाभे बालाङ्गुल्यङ्कुरा हिताः । शस्त्राप्येतानि  
 मतिमान् शुद्धशैक्यायसानि तु ॥ कारयेत् करणैः प्राप्तं कर्म्मार् कर्म्मकोविदम् ।  
 प्रयोगज्ञस्य वैद्यस्य सिद्धिर्भवाति नित्यशः । तस्मात् परिचयः काय्यैः शस्त्राणा-  
 मादितः सदा ॥” इति ।

अथातो जलौकावचारणीयाध्यायो व्याख्यायते । तदुक्तं सुश्रुतेन—  
 “नृपाढ्यत्रालस्यविरभीरुदुर्बलनारीशुक्रपाराणामनुग्रहार्थं परमसुकुमारोऽयं  
 शोणितावसेचनोपायोऽभिहितो जलौकसः । तत्र वातपित्तकटुदुष्टशोणितं  
 यथासङ्घं शृङ्गजलौकालाबूधिरवसेचयेत् । स्निग्धशीतरुक्षत्वात् सर्वाणि  
 सर्व्वर्वा । धर्मान्तं चात्र । उष्णं समधुरं स्निग्धं गवां शृङ्गं प्रकीर्त्तितम् । तस्माद्  
 वातोपसृष्टे तु हितं तदवसेचनं ॥ शीताग्निवासा मथुरा जलौका वारिसम्भवा ।  
 तस्मात् पित्तोपसृष्टे तु हितं सा त्ववसेचन ॥ अलाबु कटुकं रुक्षं तीक्ष्णञ्च  
 परिकीर्त्तितम् । तस्मात् श्लेष्मोपसृष्टे तु हितं तदवसेचनं ॥ तत्र प्रच्छिते तनु-  
 वस्त्रपटलावनद्वेन शृङ्गेण शोणितमवसेचयेदा चूषणात् । सान्तर्दीपयाऽलाब्वा ।

अथ जलायुका वक्ष्यन्ते । जलमासामायुरति जलायुकाः, जलमासा-  
 मोक इति जलौकसः । ता द्वादश । तासां सविषाः षड्, तावत्य एव  
 निर्व्विषाः । तत्र सविषाः कृष्णाः कब्बुरा अलगर्दा इन्द्रायुधाः सामुद्रिका  
 गोचन्दनाश्चेति । तासु अञ्जनचूणेवर्णा पृथुशिराः कृष्णा वाम्भेमत्स्यवदायता  
 छिन्नोन्नतकुक्षिः कब्बुरा । रोमशा महापार्श्वा कृष्णमुख्यलगर्दा । इन्द्रायुध-  
 वदूर्द्धराजिर्भाश्चत्रिता इन्द्रायुधा । ईपदसितपीतिका विचित्रपुष्पाकृतिचित्रा  
 सामुद्रिका । गोवृषणवदधोभागे द्विधाभूताकृतिरणमुखी गोचन्दनेति । ताभि-  
 र्दृष्टे पुरुषे दंशे श्वयथुरतिमात्रं कण्डूमूर्च्छा ज्वरो दाहश्छाद्दिमेदः सदनमिति  
 लिङ्गानि भवन्ति । तत्र महागदः पानालेपननस्यकर्म्मदिषूपयोज्यः । इन्द्रायुधा-  
 दष्टमसाध्यम् । इत्येताः सविषाः सचिकित्सिता व्याख्याताः ।

अथ निर्व्विषाः । कपिला पिङ्गला शङ्खुमुखी मूषिका पुण्डरीकमुखी साव-  
 रिका चेति । तत्र मनःशिलारञ्जिताभ्यामिव पार्श्वाभ्यां पृष्ठे स्निग्धमुद्रवर्णा  
 कपिला । किञ्चिद्रक्ता वृत्तकाया पिङ्गलाशुगा च पिङ्गला । यकृद्वर्णा शीघ्र-  
 पायिणी दीर्घतीक्ष्णमुखी शङ्खुमुखी । मूषिकाकृतिवर्णाऽनिष्टगन्धा च मूषिका ।  
 मुद्रवर्णा पुण्डरीकतुल्यवक्त्रा पुण्डरीकमुखी । स्निग्धा पद्मपत्रवर्णा दशाङ्गुल-  
 प्रमाणा च सावरिका, सा च पश्वर्थे । इत्येता अविषा व्याख्याताः । तासां  
 यवनपाण्ड्रसह्यपोतनादीनि क्षेत्राणि । तेषु महाशरीरा बलवत्यः शीघ्रपायिण्यो  
 महाशना निर्व्विषाश्च विशेषेण भवन्ति । तत्र सविषमत्स्यकीटदुर्दुर्मूत्रपुरीष-  
 कोथजाताः कलुषेष्वम्भःसु च सविषाः । पद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगन्धिक-  
 कुवलयपुण्डरीकशैवालकोथजाता विमलेष्वम्भःसु च निर्व्विषाः । भवति  
 चात्र । क्षेत्रेषु विचरन्त्येताः सलिलेषु सुगन्धिषु । न च सङ्कीर्णचारिण्यो

नात्युष्णशीतं लघु दीपनीयं रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम् ।

तदा शरीरं ह्यनवस्थितास्तृगन्निविशेषेण च रज्जितव्यः ॥ १० ॥

न च पक्वशयाः सुखाः ॥ तासां प्रग्रहणमार्द्रचर्मणान्येवा प्रयोगैर्गृहीयात् ।  
अथैनां नवे महति घटे सरस्तङ्गागोदकपक्वमावाप्य निदध्यात् । भक्ष्यार्थं चासा-  
मुपहरेच्छैवालं बल्लूरमौदकांश्च कन्दांश्चूर्णीकृत्य । शय्यार्थं तृणमौदकानि च  
पत्राणि । द्रवहात् त्रहाच्चाभ्योऽन्यज्जलं भक्ष्यञ्च दद्यात् । सप्तरात्रात् सप्तरात्राच्च  
घटमन्यं संक्रामयेत् । भवति चात्र । स्थूलमध्याः परिकृष्टाः पृथ्व्यो मन्द-  
विचेष्टिताः । अग्राहिण्योऽल्पपायिन्यः सविषाश्च न पूजिताः ॥

अथ जलौकोऽवसेकसाध्यव्याधितमुपवेश्य संवेश्य वा विरुक्ष्य चास्य तमव-  
काशं मृद्गोमयवूर्णैर्यत्ररुजं स्यात् । गृहीताश्च ताः सर्षपरजनीकल्कोदकप्रदिग्ध-  
गात्रीः सलिलसरकमध्ये मुहूर्त्तस्थिता विगतक्लमा ज्ञात्वा ताभी रोगं ग्राहयेत् ।  
श्लक्ष्णशुक्लाद्रिपिच्छोतावच्छन्नां कृत्वा मुखमपावृणुयात् । अगृह्णन्त्यै क्षीरविन्दु  
शोणितविन्दुं वा दद्यात् । शल्यपदानि वा कुर्वीत । यदेवमपि न गृहीयात्  
तदान्यां ग्राहयेत् । यदा च निविशते अश्वक्षुरवदाननं कृत्वा न्नम्य च स्कन्धं  
तदा जानीयात् गृह्णातीति । गृह्णन्तीश्चाद्रवस्त्रावच्छन्नां धारयेत् सेचयेच्च ।  
दंशे तोदकण्डूप्रादुर्भावैर्जानीयात् शुद्धमियमादत्त इति । शुद्धमाददानामप-  
नयेत् । अथ शोणितगन्धन न मुञ्चेन्मुखमस्याः सैन्यवचूर्णनावकिरेत् । अथ  
पतितानां तण्डुलकण्डनप्रदिग्धगात्रीं तैललवणाभ्यक्तमुखीं वामहस्ताङ्गुष्ठाङ्गुलीभ्यां  
गृहीतपुच्छां दक्षिणहस्ताङ्गुष्ठाङ्गुलीभ्यां शनैः शनैरनुलोममनुमार्जयेत्  
आ मुखात् । वामयेत् तावत् यावत् सम्यग्वान्तलिङ्गानि । सम्मग्वान्ता  
सलिलसरकन्यस्ता भोक्तुकामा सती चरेत् । या सीदति न चेष्टते सा दुर्वान्ता,  
तां पुनः सम्यग्वामयेत् । दुर्वान्ताया व्याधिरसाध्य इन्द्रमदो नाम भवति । अथ  
सुवान्तां पूर्ववत् सन्निदध्यात् । शोणितस्य च योगायोगानवेक्ष्य जलोकाव्रणान्  
मधुनावघट्टयेत् । शीताभिरद्भिश्च परिषेचयेत् । वघ्नीत वा व्रणं कषायमधुर-  
स्निग्धशीतैश्च प्रदेहैः प्रदिह्यादिति । भवति चात्र । क्षेत्राणि ग्रहणं जातीः पोषणं  
सावचारणम् । जलौकसाश्च यो वेत्ति तत्साध्यान् स जयेद्ददानिति ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—अथापनीतरक्तपुरुषस्य हितान्नमाह—नात्युष्णेत्यादि । ननु  
कुतो हेतोर्नात्युष्णशीतलघुदीपनीयान्नमवसेचितरक्तस्य हितमिति ? अतस्तत्र

चक्रपाणिः—नात्युष्णादिभोजने हेतुमाह—तदेत्यादि । अतिशीतमग्निमान्द्यं करोति,

प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्थमिच्छन्तमव्याहतपक्तिवेगम् ।

सुखान्वितं पुष्टि\*बलोपपन्नं विशुद्धरक्तं पुरुषं वदन्ति ॥११॥

यदा तु रक्तवाहीनि रससंज्ञावहानि च ।

पृथक् पृथक् समस्ता वा स्रोतांसि कुपिता मलाः ॥

हेतुमाह—तदेत्यादि । हि यस्मात् तदा तात्कालिकं शोणितावसेचने कृते सति तस्मिन् काले तत्पुरुषस्य शरीरमनवस्थितासृक् प्रचलद्रक्तम् । तत्रात्युष्णमन्नं पानञ्च प्रचलद्रक्तं प्रचालयति । अतिशीतमन्नपानमाशु स्तम्भयति । तदा कोष्ठाग्निश्च दुर्बलः स्यात्, स च विशेषेण रक्षणीयः । तश्चातिशीतगुर्वदीपनीयान्नपानं मन्दीकरोति । तस्मात् नात्युष्णं नातिशीतं लघु दीपनीयश्चान्नं पानञ्च हितमित्यर्थः । ततः प्रचलद्रक्तमाक्रमेण स्तम्भनं बह्विबलवर्द्धनञ्चेति बोध्यम् । पूर्वं तपनीयेत्यादिना शोणितमोक्षणकाले विशुद्धरक्तदर्शनं यावत् रक्तमोक्षणं कर्त्तव्यमुक्तं तदर्थं रक्तविशुद्धिलक्षण-मुक्तम् ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—सम्प्रति शोणितविशुद्ध्या अनुमानलक्षणमाह—प्रसन्नेत्यादि । अव्याहतः पक्वुराहारपाको वेगश्च सूत्रपुरीषादीनां यस्य तं तथा । पुष्टिर्देहस्य ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—अथ शोणितदुष्टिजव्याधिप्रसङ्गतः शोणितवहस्रोतोदुष्टिजरोगान् आह—यदेत्यादि । रस आहारजनित आद्यधातुः । संज्ञा बुद्धिः । तदाश्रयत्वात् केवलबुद्धिः स्रोतसाश्चाभावादत्र संज्ञाशब्देन मन उच्यते । यत् तु रससंज्ञाधातु-मावहन्तीति रससंज्ञावहानि रसवहधमनीस्थानं हृदयम्, तदुपधाताच्च मनो-विक्षोभात् संज्ञाया अपि मोहाकुलतादिकमुपपद्यते इति तन्न । सन्न्यासे प्राणायतनमाश्रिता इत्युक्त्या सर्वत्रैव बुद्ध्यायतनाश्रयं विना मनःक्षोभद्वि-अत्युष्णञ्च प्रचलस्यासृजो नितरां प्रचलतां करोति, तस्मान्नात्युष्णशीतम् । लघु दीपनीयश्चाग्नि-दीप्यर्थमेव ॥ १० ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति शोणितादर्शनेनापि विशुद्धरक्तज्ञानार्थं लक्षणमाह—प्रसन्नेत्यादि । अव्याहतौ पक्तिश्च वेगश्च पुरीषादीनां यस्य स तथा । सम्प्रति रक्तवाहिधमनीदुष्ट्या ये व्याधयो भवन्ति, तानाह—यदा त्वित्यादि । संज्ञावहानीति संज्ञाहेतुमनोवहानि, मनसस्तु केवलशरीरम्

\* पुष्टीत्यत्र तुष्टीति वा पाठः ।



मलिनाहारशीलस्य रजोमोहावृतात्मनः ।  
 प्रतिहत्यावतिष्ठन्ते जायन्ते व्याधयस्तदा ॥  
 मदमूर्च्छासंन्यासास्तेषां विद्याद् विचक्षणः ।  
 यथोत्तरं बलाधिक्यं हेतुलिङ्गोपशान्तिषु ॥ १२ ॥  
 दुर्बलं चेतसः स्थानं यदा वायुः प्रपद्यते ।  
 मनो विक्षोभयन् जन्तोः संज्ञां संमोहयेत् तदा ॥  
 पित्तमेवं कफश्चवं मनो विक्षोभयन्नृणाम् ।  
 संज्ञां नयत्याकुलतां विशेषश्चात्र कथ्यते ॥ १३ ॥

मोहाद्यसम्भवात् । हृदयमात्रोपघाते हि चतन्याभावो न सम्भवति, सम्भवति च चैतन्याल्पता । मला इति दुष्टवातपित्तकफानां संज्ञा । यदुक्तं—“शरीर-  
 दूषणाद्विषा मलिनीकरणान्मलाः । धारणाद्धातवो ज्ञेया वातपित्तकफास्त्रयः ॥”  
 इति ।

वातादीनां दुष्टिहेतुमाह—मलिनेत्यादि । मलहेतवो मलिनाः, ते च रज-  
 स्तमोवातादिदुष्टिजनका ये आहारा भवन्ति तच्छीलस्य । रजोमोहेति रज-  
 स्तमोभ्यामावृत आत्मा मनो यस्य तस्य तथा । मोहहेतुत्वात् मोहशब्देन तम  
 उच्यते । मानसदोषौ हि रजस्तमश्च । स्वस्वहेत्वाहाराद् दुष्टाभ्यान्तु ताभ्यां  
 दूषितमनसः पुनर्वातादिहेत्वाहारात् पृथक् पृथक् वातादयः समस्ता वा मलाः  
 सरक्तमनोवहस्रोतांसि प्रतिहत्यावतिष्ठन्ते यदा तदा मदमूर्च्छासंन्यासा  
 व्याधयो जायन्ते । तेषां मदादीनां हेतुलिङ्गोपशान्तिषु एकरूपासु यथोत्तरं  
 बलाधिक्यं विचक्षणो विद्यात् । मदे तु हेतुल्पबलत्वाल्लिङ्गाल्पबलत्वं ततश्च  
 शान्तिक्रियाया अप्यल्पबलद्रव्यसाध्यत्वं नाधिकद्रव्यसाध्यभेषजापेक्षा । ततो  
 मूर्च्छाये हेतुबलाधिक्याल्लिङ्गबलाधिक्यम् । ततः शान्तिक्रियायामधिकबल-  
 भेषजापेक्षा ततोऽपि संन्यासे इति ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—एतच्च सूत्ररूपं भाष्येण स्वयं व्याकरोति—दुर्बलमित्यादि ।  
 दुर्बलमिति रजोमोहावृतत्वेन, चेतसः स्थानं हृदयं दुर्बलं यदा कुपितो वायुः  
 प्रतिपद्यते तदा जन्तोमेनो विक्षोभयन् संज्ञां मोहयेत् । पित्तमेवमिति  
 अयनीभूतम्, यदुक्तम्—“सत्त्वादीनां पुनः केवलं शरीरमयनीभूतम्” इत्यादि; किंवा रससंज्ञं



सक्तानल्पद्रुताभाषं चलस्खलितचञ्चितम् ।  
 विद्याद्वातमदाविष्टं रुक्षश्यावाहणाकृतिम् ॥  
 सक्रोधं परुषाभाषं सम्प्रहारकलिप्रियम् ।  
 विद्यात् पित्तमदाविष्टं रक्तपीतासिताकृतिम् ॥  
 स्वल्पसम्बन्धवचनं \* निद्रालस्यसमन्वितम् ।  
 विद्यात् कफमदाविष्टं पाण्डुं प्रथानतत्परम् ॥  
 सर्वाण्येतानि लिङ्गानि सन्निपातकृते मदे ।  
 जायन्ते शाम्यति क्षिप्रं मदो मद्यमदाकृतिः ॥  
 यश्च मद्यकृतः प्रोक्तो विषजो रौधिरश्च यः ।  
 सर्वे एते मदा नर्ते वातपित्तकफाश्रयात् † ॥ १४ ॥

दुर्बलं चेतसः स्थानं यदा कुपितं पित्तं पक्तिं प्रपद्यते तदा जन्तोर्मनो  
 विक्षोभयत् संज्ञां मोहयेत् । कफश्चैवमिति दुर्बलं चेतसः स्थानं यदा कफः  
 प्रतिपद्यते तदा नृणां मनो विक्षोभयन् संज्ञामाकुलतां नयति ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—तत्र विशेषमाह—सक्तेत्यादि । सक्तमव्यक्तमनल्पं बहु द्रुतं  
 शीघ्रम् आभाषते यस्तम् । पित्तमदे परुषाभाषं परुषं कक्रेशं व्रते यस्तम् । कफजे  
 मदे स्वल्पसंज्ञामाकुलतां नयेत्, असम्बन्धवचनं स्वल्पमालापः । सर्वाणीत्यादि ।  
 मदस्य स्वरूपमाह—जायते इत्यादि । मदः क्षिप्रन्तु जायते क्षिप्रं शाम्यति  
 यथा मदो मद्यमदाकृतिरिति । अथ रौधिरमदप्रसङ्गात् मद्यविषजयोरपि  
 मदयोर्भेदमाह—यश्चेत्यादि । यश्च मद्यकृतो यश्च विषजो यश्च रौधिरः मदः ।  
 एते सर्वे मदा वातपित्तकफाश्रयात् वातात् पित्तात् कफादृते न भवन्ति ।

धातुमावहन्तीति रससंज्ञावहानि । रसवहधमनीनान्तु हृदयं स्थानं, तदुपवाताच्च मोह उपपन्न-  
 एव । मला इति दुष्टदोषसंज्ञा, यदुक्तम्—“मलिनीकरणामलाः” इति । यथोत्तरं लिङ्गाधिक्यं  
 मदमूर्च्छासन्न्यासेषु मोहरूपं ज्ञेयम्, मदेऽपि हि स्तोको मोहोऽस्ति, उत्तरयोस्तु व्यक्तं एव  
 मोहः ॥ ११ - १३ ॥

चक्रपाणिः—परुषं द्रुतं इति परुषाभाषः । मदस्वरूपमाह—जायते इत्यादि । मद्य-  
 प्रसङ्गेन मद्यविषजयोरपि । मदयोश्चातुर्विध्यमाह—यश्चेत्यादि । वातपित्तकफत्रयादिति वातात्

\* स्वल्पसम्बन्धवचनमिति चक्रः ।

† वातपित्तकफत्रयादिति चक्रः ।

नीलं वा यदि वा कृष्णमाकाशमथवारुणम् ।

पश्यंस्तमः प्रविशति शीघ्रञ्च प्रतिबुध्यते ॥

वेपथुश्चाङ्गमङ्गश्च प्रपीडा हृदयरय च ।

कार्श्यं श्यावारुणा च्छाया मूर्च्छाये वातसम्भवे ॥ १५ ॥

रक्तं हरितवर्णं वा वियत् पीतमथापि वा ।

पश्यंस्तमः प्रविशति सस्वेदः प्रतिबुध्यते ॥

सर्पिपासः ससन्तापो रक्तपीताकुलेक्षणः ।

संभिन्नवर्च्चाः पीताभो मूर्च्छाये पित्तसम्भवे ॥ १६ ॥

एते-इति-पदेन पूगकोट्वादिभद्रव्यवच्छेदः, तेषां न त्रैविध्यमिति भावः ।  
एतेन मद्यविपजयोरपि मद्ययोरस्य रौधिरस्य लक्षणवत् लक्षणानीति  
सूचितम् ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—कृमिकत्वात् मूर्च्छायलक्षणान्याह—नीलमित्यादि । यद्यपि-  
आकाशस्य वस्तुतो रूपाभावान्न चाक्षुषं भवति तथापि वातादिदुष्ट्या नयने जातं  
नीलादिरूपमधिकं तदधिकं नीलादिरूपमाकाशं व्याप्नोतीत्याकाशं नीलादिकं  
पश्यति । यथा ज्योत्स्नातपतमांस्याकाशं व्याप्नुवन्तीति ज्योत्स्नाद्यन्वित-  
माकाशं पश्यति तथा । न तु शुक्तौ रजतदर्शनवद् रज्ज्वां सर्पदर्शनवद्वा ।  
पैत्तिके कफजे चैवं बोध्यम् । वायोश्चलत्वेन शीघ्रं प्रतिबोधः । श्यावा-  
रुणा च्छायेति श्यावच्छायावरुणच्छाया । वातजा चेयं मूर्च्छा श्यावारुणा च्छाया  
क्लेशमरणाय भवतीति कश्चिदाह—“वायवी तु विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि  
वा” इति वचनात्, तन्न । वायुकृतश्यावारुणच्छाया नारिष्टम् । किन्तु  
या श्यावारुणप्रतिच्छायाः स्यादनिमित्ता तस्या अरिष्टत्वमेवेति बोध्यम् ।

पित्तात् कफात् वातपित्तकफाच्च, एतेन तेषामप्येतदेव लक्षणं वातादिकृतं भवतीति  
भावः ॥ १४ ॥

चक्रपाणिः—मूर्च्छायलक्षणमाह—नीलं वेत्यादि । तत्र वातमूर्च्छाये श्यावारुणा च्छाया  
रिष्टरूपत्वमेरेणाय स्याद् वायव्यत्वादिति चोदं कुर्वन्त, उक्तं हि—“वायव्या सा विनाशाय  
क्लेशाय महतेऽपि वा” इति, तन्न, अनिमित्ता हि च्छाया रिष्टं विनाशयति, न तु दृश्यमान-  
निमित्ता, इह च वातसम्बन्धो दृश्यत एव निमित्तम् ; किंवा “क्लेशाय महतेऽपि वा” इति

मेघसङ्काशमाकाशमावृतं वा तमोघनैः ।

पश्यंस्तमः प्रविशति चिराच्च प्रतिबुध्यते ॥

गुरुभिः प्रावृतैरङ्गैर्यथैवाद्ग्रेण चर्मणा ।

सप्रसेकः सहस्रासो मूर्च्छाये कफसम्भवे ॥ १७ ॥

सर्वाकृतिः सन्निपातादपस्मार इवागतः ।

स जन्तुं पातयत्याशु विना बीभत्सचेष्टितैः ॥ १८ ॥

दोषेषु मदमूर्च्छाया गतवेगेषु \* देहिनाम् ।

स्वयमेवोपशाम्यन्ति संन्यासो नौषधैर्विना ॥ १९ ॥

रक्तमित्यादि पित्तमूर्च्छायलक्षणम् । मेघेत्यादि । मेघसङ्काशमित्यादिकफज-  
मूर्च्छायलक्षणम् । अत्र तमोघनैरिति तमोभिश्च घनैश्च तमोवद्घनैर्वा ।  
चिरादिति कफस्य चिरकर्तृत्वात् । सर्वाकृतिरित्यादिना सन्निपातज-  
मूर्च्छायलक्षणम् । अपस्मार इवागतस्तमःप्रवेशकालेऽपस्मारे यथा भवति  
तथा सान्निपातिकमूर्च्छाये स्यात् । विशेषमाह—विनेत्यादि । बीभत्स-  
चेष्टितानि फेनोद्वमनदन्तखादनाङ्गविक्षेपणनेत्रवैकृतादीनि भवन्त्यपस्मारे तानि  
तु न सान्निपातिकमूर्च्छाये भवन्तीति भेदः । स सन्निपातजमूर्च्छायः ।  
एतेनास्यासाध्यत्ववचनेनान्येषां साध्यत्वं बोध्यम् । मदस्य मद्यमदाकृतित्वेन  
अल्पतमःप्रवेशो मदे भवति मूर्च्छाये च तमःप्रवेश एव भवतीति भेदो  
दर्शितः ॥ १५—१८ ॥

गङ्गाधरः—मदमूर्च्छाययोः साध्यत्वादि साधर्म्यं च दर्शयन् सन्न्यासे वैधर्म्यं  
दर्शयति—दोषेष्वित्यादि । गतवेगेषु अतीतवेगेषु । कृतवेगानां दोषाणां  
वेगकरणकाले अल्पबलत्वेन स्वल्पबहुतमःप्रवेशनकारित्वं वेगापगमे तु दोषाणां  
श्रान्तक्रद्धपुरुषवत् दुर्बलत्वात् मदाश्च मूर्च्छायाश्च स्वयमेवोपशाम्यन्ति ।  
दौर्बल्ये हि न वेगहेतुर्दृश्यते लोके इति मदमूर्च्छाययोः साधर्म्यं, सन्न्यासे  
त्वनयोर्वैधर्म्यमाह—सन्न्यासो नौषधैर्विनेति ॥ १९ ॥

वचनादेव वायव्यच्छायाया मारकत्वं व्यभिचरितम् । तमोभिर्घनैश्चेति तमोघनैः, किंवा तमोभि-  
रेव घनैः । विना बीभत्सचेष्टितैरिति दन्तखादनाङ्गविक्षेपणादिकं विना ॥ १५—१८ ॥

चक्रपाणिः—सन्न्यासस्य मूर्च्छादिभ्यो भेदकं लक्षणमाह—दोषेष्वित्यादि । कृतवेगेष्विति

\* हतवेगेषु तथा कृतवेगेषु इति वा पाठः ।

वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिप्यातिबला मलाः ।

संन्यस्यन्त्यबलं जन्तुं प्राणायतनमाश्रिताः ॥

स ना संन्याससंन्यस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः ।

प्राणैर्विमुच्यते शीघ्रं मुत्तवा सद्यःफलाः क्रियाः ॥ २० ॥

दुर्गेऽम्भसि यथा मज्जन्नाजनं त्वरया बुधः ।

गृह्णीयात् तलमप्रातं तथा संन्यासपीडितम् ॥ २१ ॥

अञ्जनान्यवपीडाश्च धूमाः प्रधमनानि च ।

सूचीभिस्तोदनं शस्त्रैर्दाहः पीडा नखान्तरे ॥

ननु विनौषधैः संन्यासः किं स्वभावादेवातीतवेगेषु दोषेषु स्वयं नोपशम्यति इति ? अतस्तत्र स्वभावो न हेतुरित्यभिप्रायेणाह—हेतुं वाग्देहेत्यादिकम् । अतिबला इति मला वातादयो दोषा मदमूर्च्छायकरा यादृशबलेन भवन्ति—तदधिकबलेन कुपिताः सुतरां वाग्देहमनसां त्रयाणामेव चेष्टामाक्षिप्य निरस्याबलं दुर्बलं पुरुषं संन्यस्यन्ति सन्निक्षिपन्ति सम्यक् तमसि प्रवेशयन्ति । न तु बलवन्तं पुरुषम् । अतः सोऽधिकबलोन्नद्धकुपितप्राणायतनाश्रितदोषवान् दुर्बलो ना पुमान् संन्याससंन्यस्तः सन् सुतरां काष्ठीभूतो निस्पन्दमानो भवति च मृतोपमो मृतवत् । श्वासोच्छ्वासादिप्राणलिङ्गैर्नोपलभ्यते । ननु तर्हि किं मृत एव भवतीति ? अत आह—प्राणैरित्यादि । संन्यासकाल एव यदि सद्यःफलाः प्रयोगमात्रेण प्रबोधरूपफलजनिकाः क्रिया न कुर्यात् तदा प्राणैर्विमुच्यत एव इति मृतोपम इत्युच्यते । अत एव दोषाणामतिबलवतां वेगापगमो न भवति । जन्तोर्दुर्बलत्वेनातिप्रबलकुपितदोषाश्रितप्राणायतनत्वात् अतिक्रान्त्या स्वयं न प्रतिबोधो भवति । मदमूर्च्छाययोश्च दोषा नेदृशप्रबला न च जन्तुरबल इत्यतः स्वयं प्रतिबोधः स्यात् ।

ननु प्राणविमोचनजनकदोषवेगोपहतपुरुषाः किं क्रियाविशेषेण प्राणान् न त्यजन्तीति ? अत आह—दुर्गेत्यादि । एतेन प्राणमोचनात् पूर्वं सद्यःफलाः क्रियाः कार्य्या इति ज्ञापितम् । सद्यःफलाः क्रिया आह—अञ्जनानीत्यादि । वेगं कृत्वा क्षीणबलेषु ; वेगो हि दोषाणां बलक्षयकारणं भवति, यद्वक्तं विषमज्वरे—“कृत्वा वेगं गतबलाः” इत्यादि ; संन्यस्यन्त्यचेष्टं कुर्वन्ति ; प्राणायतनमिति हृदयम्, मुक्तुं त्यप्राप्य, सद्यःफलमिति सद्यःप्रबोधनकारिकां तीक्ष्णाञ्जनादिकाम्, शस्त्रैरिति च तोदनेन सम्बध्यते ।

लुञ्चनं केशलोम्नाश्च दन्तेर्दशनमेव च ।  
 आत्मगुसाग्धर्षश्च हितस्तस्यावबोधने ॥  
 संमूर्च्छितानि तीक्ष्णानि मद्यानि विविधानि च ।  
 प्रभूतकटुयुक्तानि तस्यास्ये गालयेन्मुहुः ॥ २२ ॥  
 मातुलुङ्गरसं तद्रन्महौषधसमायुतम् ।  
 तद्रत् सौवर्चलं दशाद् युक्तं मद्याम्लकाञ्जिकैः ॥  
 हिङ्गुषणसमायुक्तं यावत् संज्ञाप्रबोधनम् ।  
 प्रबुद्धसंज्ञमन्नेश्च लघुभिस्तमुपाचरेत् ॥ २३ ॥  
 विस्मार्गनैः संस्मरणैः प्रियश्रुतिभिरेव च ।  
 पटुभिर्गीतवादित्रैः शब्दैश्चित्रैश्च दर्शनैः ॥  
 स्वसनोल्लेखनैर्धूमैरञ्जनैः कवडग्रहैः ।  
 शाणितस्यावसेकैश्च वथायामोद्घर्षणैस्तथा ॥

अञ्जनानीति प्रबोधफलकत्वात् तीक्ष्णानि । मूर्चीभिस्तोदनं शस्त्रैश्च तोदनमित्य-  
 न्वयः । दाहो वह्निना । पीडा नखान्तरे । लुञ्छनमुत्पाटनं केशानां लोम्नाश्च ।  
 तस्यावबोधने संन्याससंन्यस्तस्य सद्यः प्रबोधने । सद्यःफलयोगान्तराप्याह—  
 संमूर्च्छितानीत्यादि । तीक्ष्णानि विविधानि मद्यानि संमूर्च्छितानि  
 मिलितानि कृत्वा तस्यास्ये यत्नेन मुहुर्गालयेत् । प्रभूतकटुयुक्तानि च  
 संमूर्च्छितानि तस्यास्ये मुहुर्गालयेत् ॥ २०—२२ ॥

गङ्गाधरः—मातुलुङ्गेत्यादि । मातुलुङ्गरसं महौषधयुक्तमित्यास्ये गालयेत् ।  
 तद्रदित्यादिकमप्यास्ये मुहुर्गालयेत् । सौवर्चलमित्यत्र सौवीरमिति केचित् ।  
 हिङ्गिति क्लीबलिङ्गम्, ऊषणसमायुक्तं हिङ्गु मद्याम्लकाञ्जिक इत्यथः । अथवा  
 हिङ्गुषणयुक्तं मद्याम्लकाञ्जिकैश्च युक्तं सौवर्चलमित्येको योगः । प्रबुद्धसंज्ञं  
 प्रबोधयुक्तमनसं लघुभिरन्नैरुपाचरेत् ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—विस्मार्गनैरित्यादि । तथा विस्मार्गनैरित्यादिभिस्तमुपाचरेत् ।

संमूर्च्छितानीति मिलितानि ; गालयेदिति यत्नेन मुखे प्रक्षिपेत् । सौवर्चलं केचित् सौवीरमाहुः ।

प्रबुद्धसंज्ञं मतिमाननुबन्धमुपाचरेत् ।

ततः संरक्षितव्यो \* हि मनःप्रलयहेतुतः ॥ २४ ॥

स्नेहस्वेदोष्णानां यथादोषं यथाबलम् ।

पञ्च कर्माणि कुर्वीत मूर्च्छायेषु मदेषु च ॥ २५ ॥

अष्टाविंशत्यौषधस्य तथा तिक्तस्य सर्पिषः ।

प्रयोगः शस्यते तद्वन्महतः षट्पलस्य च ॥

त्रिकलायाः प्रयोगो वा सघृतक्षौद्रशर्करः ।

शिलाजतुप्रयोगो वा प्रयोगः पयसो पि वा ॥

पिप्पलीनां प्रयोगो वा पयसा चिकित्स्य वा ।

रसायनानां कौम्भस्य सर्पिषो वा प्रशस्यते ॥

ननु प्रबुद्धचित्तं संन्यासिनं कुतः पुनरेतैरुपाचरदिति ? अत आह—प्रबुद्धे-  
त्यादि । संन्याससंन्यस्तः पुमान् प्रतिबुद्धोऽपि संन्यासकरदोषानुबन्धवान्  
तस्मात् तदनुबन्धदोषप्रशमनार्थं प्रबुद्धसंज्ञमपि विस्मापनादिभिरुपाचरेत् । नन्वस्तु  
अनुबन्धो दोषाणां तेन किमिति ? अत आह—तत इति । ततोऽनन्तर-  
मपि सन्यस्तो भवितुमर्हति तदारम्भकदोषानुबन्धात् । अतो हि यस्मात् ततो-  
ऽनन्तरं मनःप्रलयस्य हेतुतः संन्यासरूपमाहतः स पुमान् रक्षितव्यः  
पुनर्मनःप्रलयो यथा न भवितुमर्हतीति भावः ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—मदमूर्च्छयोः संन्यासस्य दोषनिर्मूलताहेतुक्रिया आह—स्नेहे-  
त्यादि । पञ्च कर्माणि वर्मनादीनि प्रकरणात् । संन्यासे लब्धे मदमूर्च्छाययो-  
रप्येकविधत्वात् तुल्या क्रिया योग्येत्यत आह—मूर्च्छायेषु मदेषु चेति ।  
अष्टाविंशत्यौषधस्य पानीयकल्याणघृतस्य । तिक्तस्य सर्पिष इत्यस्य महतः  
षट्पलस्येति चान्वयः । तेन महातिक्तघृतस्य षट्पलतिक्तघृतस्य च प्रयोग-  
स्तद्वत् अष्टाविंशत्यौषधस्य प्रयोगवत् शस्यते । तिक्तषट्पलमहातिक्तघृते कुष्ठ-  
चिकित्सिते वक्ष्यमाणे । सघृतक्षौद्रशर्करस्त्रिकलायाः प्रयोगः । शिलाजतुनः  
केवलस्य शुद्धस्य प्रयोगः रक्तिद्रयादिक्रमेणोपयोगः सघृतक्षौद्रशर्कर एव ।  
पयसोऽपि सघृतक्षौद्रशर्करः प्रयोगः क्रमेणोपयोगः । पलमानमारभ्येति बोध्यम्  
अनुबन्धं सततम्, प्रलयहेतुत इति मोहहेतुतः । अष्टाविंशत्यौषधस्येति पानीयकल्याणस्य ;

रक्तावसेकाञ्छास्त्राणां सतां सत्त्ववतामपि ।

सेवनान्मदमूर्च्छायाः प्रशाम्यन्ति शरीरिणाम् ॥ २६ ॥

तत्र श्लोकौ ।

विशुद्धश्चाविशुद्धश्च शोणितं तस्य हेतवः ।

रक्तप्रदोषजा रोगास्तेषु रोगेषु चौषधम् ॥

मदमूर्च्छासन्न्यास-हेतुलक्षणभेषजम् ।

विधिशोणितिकेऽध्याये सव्वमेतत् प्रकाशितम् ॥ २७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते श्लोकस्थाने

विधिशोणितीयो नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इति योजनाचतुष्कः ।

आहारद्रव्यत्वात् । पिप्पलीनां प्रयोगः पयसा पिप्पलीवर्द्धमानयोगः । चित्रकस्य वा पयसा रक्तिद्वयादिक्रमेण पिप्पलीवर्द्धमानवद्वा प्रयोगः । रसायनानाम् अभयामलकादीनां प्रयोगः । कौम्भस्य दशाब्दिकस्य शताब्दिकस्य वा । रक्तावसेकादिति पुनर्मदमूर्च्छायामित्यभिप्रायेण सुश्रुते रक्तमोक्षणे मूर्च्छितस्य यः प्रतिषेधः कृतस्तत् रक्तमोक्षणे यो मूर्च्छति तस्यैव बोध्यः । सतां शास्त्राणां वेदपुराणादीनां पुण्यजनकानां सेवनादिति श्रवणपठनपाठनादितः । सतां सत्त्ववतामपि सात्त्विकसत्पुरुषाणां सेवनात् शुश्रूषणसङ्गादित इति ॥ २५।२६ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थोपसंहारार्थमाह—तत्र श्लोकावित्यादि । स्पष्टम् । योजनाचतुष्क इति चिकित्सायां भेषजयोजनायै चतुष्कश्चतुर्भिर्ध्यायैर्निष्पादित इत्येकः प्रकारः ॥ २७ ॥

अग्नीत्यादि पूर्ववत् ।

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजकृते चरकजल्पकल्पतरौ सूत्रस्थानीय-  
चतुर्विंशविधिशोणितीयाध्यायजलपाख्या चतुर्विंशी शाखा ॥ २४ ॥

तिक्तस्य महत्तत्त्वात् तिक्तस्य षट्पलस्येति सम्बन्धः, एते च तिक्तषट्पलमहत्तिक्तकघृते कुष्ठ-  
चिकित्सिते वक्तव्ये । कौम्भं दशाब्दिकम् ॥ १९—२७ ॥

इति योजनाचतुष्कः ।

इति चरकचतुरात्मन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्वेददीपिकायां सूत्रस्थान-  
न्याख्यायां विधिशोणितीयो नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

## पञ्चविंशोऽध्यायः ।

अथातो यजःपुरुषीयमध्यायं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

पुरा प्रत्यक्षधर्माणं भगवन्तं पुनर्व्वसुम् ।

उपासतां \* महर्षीणां प्रादुरासीदियं कथा ॥

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां योऽयं पुरुषसंज्ञकः ।

राशिरस्यामयानाञ्च प्रागुत्पत्तिविनिश्चये ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—अथ भेषजयोजनायां लङ्घनवृंहणादुपक्रमा न विना हिताहार सिध्यन्तीत्यतो योजनाचतुष्कान्तरमाहारस्य हितत्वाहितत्वविज्ञानार्थम् अन्नपानचतुष्क आरभ्यमाणे समासेनान्नपानगुणोपदेशार्थं यजःपुरुषीयोऽभिधीयते—अथात इत्यादि । अत्र प्रश्नादौ किन्तु भोः पुरुषो यज इति पदस्यार्थं यजःपुरुष इति अधिकृत्य कृतोऽध्याय इति यजःपुरुषीयोऽध्यायः । शेषं सर्व्वं पूर्व्ववद्वाख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—प्रश्नावतारार्थमाह—पुरेत्यादि । प्रत्यक्षधर्माणमिति तपः-प्रभावात् साक्षात्कृतो धर्मो यस्य तम् । उपासतां उपासीनानां, तिङ्ः परस्मै-पदसंज्ञाविधानसामर्थ्यात् तङामपि परस्मैपदत्वादिह शतप्रत्ययः । प्रादुरासीत् प्रादुरभूत् । इयं कथा वक्ष्यमाणरूपा । किंविषया सा कथा ? तदाह—आत्मेन्द्रियेत्यादि । आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां योऽयं प्रत्यक्षभूतो राशिः

चक्रपाणिः—य इमे योजनाचतुष्के षडुपक्रमा अभिहितास्तेऽन्नपानापेक्षयैव व्याधिहरणे समर्थाः, अतोऽन्नपानचतुष्कोऽभिधीयते, तत्रापि सङ्क्षेपेणान्नपानगुणाभिधायको यजःपुरुषीयोऽभिधीयते । तत्रादौ पुरुषव्याधिकारणनिश्चायकप्रकरणन्त्वाहारगुणप्रश्नावतारार्थं तथा पूर्व्वोक्त-षडुपक्रमणीयरोगकारणज्ञानार्थञ्च 'यजः पुरुष' इति प्रश्नं प्राधान्येनाधिकृत्य कृतोऽध्यायो यजः-पुरुषीयो ज्ञेयः । यद्यपि "पुरुषो यजः" इति प्रश्नक्रमः, तथापि प्रश्नार्थाऽत्र गृहीतः ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—प्रत्यक्षधर्मत्वं तपःप्रभावात्, इयमित्यग्रे वक्ष्यमाणा, कथा तत्त्वजिज्ञासार्थम् अन्योन्यपृच्छा । राशिर्मेलेक आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसमुदय इत्यर्थः ; अस्य राशेरामयानाञ्चोत्पत्ति-विनिश्चये उत्पत्तिविनिश्चयविषयिणी कथा प्रादुरासीदिति सम्बन्धः ॥ २ ॥



तदन्तरं काशिपतिर्वामको वाचमर्थवित् ।

व्याजहारर्षिसमितिमभिष्टुत्याभिवाद्य च ॥

किं नु भोः पुरुषो यजस्तज्जास्तस्यामयाः स्मृताः ।

न वेत्युक्ते नरेन्द्रेण प्रोवाचर्षीन् पुनर्व्वसुः ॥

सर्व्व एवामितज्ञान-विज्ञानच्छिन्नसंशयाः ।

भवन्तश्छेत्तुमर्हन्ति काशिराजस्य संशयम् ॥ ३ ॥

संघातः खलु पुरुषसंज्ञो देवनरादिसाधारणस्तस्य प्रागुत्पत्तिविनिश्चयेऽस्या-  
मयानाश्च प्रागुत्पत्तिविनिश्चये ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—कस्तां कथां पप्रच्छेति ? अत आह—तदन्तरमित्यादि ।  
तदन्तरं राशिपुरुषस्य तस्य चामयानां प्रागुत्पत्तिविनिश्चये कथायामुप-  
स्थितायां मध्येऽर्थवित् काशिपतिर्वामको नाम राजर्षिर्ऋषिसमितिमृषीणां  
समवायं समूहमभिवाद्याभिष्टुत्य च वाचं व्याजहार । कां वाचमिति ? अत  
आह—किं न्वित्यादि । नु भो यजः पुरुषो यस्मात् कारणात् पुरुषो राशि-  
संज्ञको देवनरादिर्जायते तस्य पुरुषस्यामयाश्च तज्जास्तस्मात् कारणाज्जाताः  
किं न वेति भवद्भिः स्मृता इति नरेन्द्रेण वामकेन काशिराजेनोक्तः पुनर्व्वसु-  
र्ऋषीनन्यान् तत्र समवेतान् प्रोवाच । किं प्रोवाचेति ? अत उच्यते—सर्व्व  
एवेत्यादि । भवन्त ऋषयः सर्व्व एवामितज्ञानविज्ञानाभ्यां छिन्नसंशयाः  
काशिराजस्य संशयं छेत्तुमर्हन्ति । इति ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—तामेव परस्परप्रश्नरूपां कथां दर्शयति—तदन्तरमित्यादि । अन्तरशब्दः  
कालवचनः, यथा—“अपस्माराय कुर्व्वान्त वेगं किञ्चिदथान्तरम्” इति, किञ्चित्कालमित्यर्थः,  
तेन तदन्तरमिति कथारम्भकाल इत्यर्थः ; काशी वाराणसी, तस्याः पतिः ; तेषां बहुत्वाद्  
विशेषणं ‘वामकः’ इति । यस्माज्जातो यजः, तत एव पुरुषजनकात् कारणाज्जातास्तज्जाः ;  
न वेति अन्यतः पुरुषो जायतेऽन्यतश्च तस्य रोगा इत्यर्थः ; नरेन्द्रेणेति काशिपतिनाम्ना  
राजर्षिणा ।

अमिताभ्यां ज्ञानविज्ञानाभ्यां छिन्नः संशयो येषां ते तथा ; “भवन्तश्छेत्तुमर्हन्ति  
काशिराजस्य संशयम्” इति पाठः सुगमः ; “भवन्तोऽर्हन्त नश्छेत्तुं काशिराजे च संशयम्”  
इति तु पाठे,—नोऽस्माकं काशिराजेऽस्मन्मध्यगत इत्यर्थः, एतेन स्वपक्षे काशिराजे न व्याप्तोद्भ-  
वचनं वक्तव्यमिति शिक्षयति ; चकारेणान्येषाञ्च ऋषीणां संशयं समुच्चिनोति ; अन्ये तु,—

पारीक्षिस्तत्परीक्ष्याप्रे मौद्गल्यो वाक्यमब्रवीत् ।

आत्मजः पुरुषो रोगा आत्मजाः कारणं हि सः ॥

स चिनोत्युपभुङ्क्ते च कर्म कर्मफलानि च ।

न ह्यते चेतनाधातोः प्रवृत्तिः सुखदुःखयोः ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—तद्वचनं श्रुत्वा यो य ऋषिर्यदुवाच तद्वशेयति—पारीक्षि-  
रित्यादि । राशिपुरुषस्य देवनरादेश्वतुर्विंशतितत्त्वविकारसमुदायस्य प्रागुत्प-  
त्तौ यावन्ति कारणानि तस्य पुरुषस्य रोगाणाञ्च प्रागुत्पत्तौ यावन्ति कार-  
णानि तावतां कारणानामेकैककारणवादमाश्रित्य शेषा ऋषयः प्रत्यूचुः । तत्र  
तेषु ऋषिषु मध्येऽप्रे मौद्गल्यः पारीक्षिस्तत्पुरुषरोगयोः प्रागुत्पत्तौ कारणं  
परीक्ष्य विचार्य वाक्यमब्रवीत् । यदब्रवीत् तदाह—आत्मज इत्यादि । आत्मा  
चेतनाधातुरव्यक्तं नाम महता जीवेनात्मना प्रहयोपाहितः प्राज्ञः, स खलु-  
अहङ्कारादिभिर्द्वाविंशत्या सूक्ष्मैस्तावद्भिरुपाहितः सूक्ष्मशरीरी तैजसः, स पुनः  
पूर्वपूर्वभूतानुप्रविष्टपञ्चभूतोपाहित एव वैश्वानर इति त्रिधा । तस्मा-  
देवात्मनः एष एष देवनरादिराशिपुरुषो जायत इत्यात्मजः पुरुषः । तस्य  
पुरुषस्य रोगाश्चात्मजास्तस्मादेवात्मनोऽजायन्त इत्यात्मजा इति यज्जःपुरुष-  
स्तज्जा एव तस्यामयाः । कस्मात् ? कारणं हि स इति । हि यस्मात् स  
आत्मैव कारणं भवति । कथं ? स चिनोतीत्यादि । स आत्माऽव्यक्तं  
चेतनाधातुस्थूलपञ्चभूतोपाहितः सन् वैश्वानरो नाम जागरितस्थानः सप्ताङ्ग  
एकोनविंशतिमुखः स्थूलमिदं शरीरं गृहीत्वा कर्म धर्माधर्मेसाधनं कर्म  
वाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिमयोगातियोगमिध्यायोगसमयोगैर्बुद्धियागेन चिनोति  
चयं करोति । तत् कर्मफलानि चोपभुङ्क्ते । जागरितः स्थूलं सर्वं विषयं  
सुखासुखानि बुद्धिसमयोगेन वाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिं समां कराति तेन धर्मः  
नोऽस्माकं संशयं काशिराजे च संशयमिति व्याख्यानयन्ति ;—संशयद्वये चैकोऽत्र ऋषीणाम्  
“आत्मेन्द्रिय” इत्यादिना श्लोकेन दर्शितः संशयः, स च पुरुषस्यामयानाञ्च प्रागुत्पत्तिं प्रथमो-  
त्पत्तिं प्रतीति व्याख्यानयन्ति ; द्वितीयस्तु काशिपतेर्यथोक्त एव ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—आत्मजः पुरुष इत्याद्यापि प्रश्नद्वयस्योत्तरम्, तत्र पूर्वप्रश्नस्य, पुरुषस्यामया-  
नाञ्च कुत उत्पत्तिरित्येवंरूपस्य प्रश्नस्योत्तरम्—आत्मजः पुरुषो रोगाश्चेति, काशिपतिप्रश्नमात्रे-  
ऽप्युत्तरमेतत्—यत् एवात्मतः पुरुषो जायते तत् एव रोगा इत्यनुरूपमेव ; प्रश्नोत्तरता त्वस्य  
संगमैव । कारणत्वे हेतुमाह—स चिनोतीत्यादि । चिनोति कर्म, कर्मफलानि च

शरलोमा तु नेत्याह न ह्यात्मात्मानमात्मना ।

योजयेद्व्याधिभिर्दुःखैर्दुःखद्वेषी कदाचन ॥

रजस्तमोभ्यान्तु मनः परीतं सत्त्वसंज्ञकम् ।

शरीरस्य समुत्पत्तौ विकाराणाञ्च कारणम् ॥ ५ ॥

स्यात् तत्फलानि सुखादीनि उपभुङ्क्त । बुद्धिविषमयोगेण यां वाङ्मनः-  
शरीरप्रवृत्तिमाचरति तद्विषमयोगकृतकर्मफलमधर्मैः शरीरमानसदोषवैषम्यञ्च  
रोगस्तत्फलानि दुःखान्युपभुङ्क्ते । एवं तत्फलानि स्वप्नेऽपि स एवा-  
व्यक्ताख्यश्चेतनाधातुरात्मा त्रयोविंशतितत्त्वोपाहितस्तैजसो नामान्तःप्रज्ञः  
सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तः सुखानि दुःखानि चोपभुङ्क्ते इति ।  
नन्वहिताहाराचारादितो दुःखानि हिताहाराचारादितः सुखानि भवन्ति,  
कुत आत्मजानि भवन्तीति ? अत आह—न ह्यत इत्यादि । हि यस्मात्  
चेतनाधातुरात्मन ऋते सुखदुःखयोः प्रवृत्तिरुत्पत्तिर्न भवति । यदि बुद्धि-  
समयोगात् कर्म करोति ततो धर्मश्चाराग्यञ्च सुखं जायते । यदि विषम-  
योगेण बुद्ध्या कर्म चाचरति तदा कर्मणां वैषम्यादधर्मो धातुवैषम्यं  
चातुर्यं दुःखं जायत इति ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—शरलोमेत्यादि । तच्छ्रुत्वा पारीक्षिवचनं नेत्याह शरलोमा  
ऋषिः । आत्मजः पुरुष इति यदुक्तं तदसम्यक् । तस्य रोगाश्चात्मजा इति  
यदुक्तं तन्न । कस्मात् ? न ह्यात्मेत्यादि । हि यस्मादात्मा दुःखद्वेषी स  
आत्मना निजेनात्मानं स्वं दुःखैर्व्याधिभिः कदाचन न योजयेत् । तस्मात्  
नात्मजा रोगा इष्यन्ते न च पुरुष आत्मज इति । तर्हि भवता कुतः पुरुष-  
प्राशुत्पत्तिः कुतस्तस्य रोगाणामुच्यत इति ? अत आह—रजस्तमोभ्या-  
मित्यादि । सत्त्वसंज्ञकं मनो रजस्तमोभ्यां परीतं सत् पुरुषशरीरस्य समुत्-  
पत्तौ कारणं तस्य विकाराणाञ्च समुत्पत्तौ कारणं भवति । रजो हि  
प्रवर्तकं तमो मोहात्मकम् । यदा तु रज उद्रिक्तं भवति तदा

शरीरारोग्यविकारादीनि भुङ्क्त इति योजना, कर्मसहायस्यात्मनः शरीरविकारादिकर्तृत्वात्  
कारणत्वमिति भावः ; एतदेव व्यतिरेकेणाह—न ह्यत इत्यादि । चेतनाधातुरात्मा, सुख-  
दुःखयोरिति सुखदुःखसाधनयोः नीरुक्शरीरविकारयोरित्यर्थः ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—मन इत्युक्तं मन्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या आत्मापि शङ्क्यते, तदुक्तं—“सत्त्वसंज्ञकम्”

वाय्योविदस्तु नेत्याह न ह्येकं कारणं मनः ।

नर्त्त शरीराच्छारीर-रोगाणां मनसः स्थितिः ॥

रसजानि तु भूतानि व्याधयश्चापृथग्विधाः \* ।

आपो हि रसवत्यस्ताः स्मृता निवृत्तिहेतवः ॥ ६ ॥

बुद्धिसमयोगेन समयोगयुक्तानि कर्माणि स्वयं मनो वाग्देहाभ्याश्च करोति तत्फलं धर्मः सुखश्चरोग्यं भवति । यदा तम उद्विक्तं भवति तदा बुद्धि-विषमयोगेन विषमयोगयुक्तानि कर्माणि स्वयं मनः शरीरवाग्भ्याश्च करोति । तत्फलमधर्मा दुःखश्चातुष्यश्च भवतीति । यदा तु मनः सत्त्वसंज्ञकं जीवस्पृक् ताभ्यां धर्माधर्माभ्यां परलोकं पुरुषं नीत्वा तत्र भोगावसाने पुनर्धर्माधर्माभ्यां ताभ्यां सूक्ष्मशरीरिणं परलोकादवक्रामयद्दर्भाशयमनुप्रवेशयति तदा राशिपुरुषो जायत इति यन्मनोजः पुरुषस्तन्मनोजा रोगा इति ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—तच्छरीरोपवचनं श्रुत्वा वाय्योविदो राजपिंस्तनेत्याह । मनसः शरीरस्य प्रागुत्पत्तिर्विकाराणाञ्च प्रागुत्पत्तिरिति यदुक्तं तत्र । कस्मात् ?—न हेतुकं कारणं मनः । हि यस्मादेकं मनो न शरीरप्रागुत्पत्तौ कारणम्, न च रोगाणां प्रागुत्पत्तौ कारणम् । कारणान्तरादुत्पत्तौ मन उपपादकम् । ततः कारणान्तरमस्ति । तच्च किमिति ? अत आह—नर्त्त इत्यादि । स्थूलादस्माच्छरीरादृते शारीररोगाणां न स्थितिः न च मनसः स्थितिः । तर्हि कुतः पुरुषो जायते कुतश्च रोगा इति ? अत आह—रसजानीत्यादि । देवनरादिभूतानि प्राणिनो रसजानि मातापित्रो-राहारजरससम्भूतशुक्रशोणितगर्भिण्याहाररसेभ्यो जायन्ते । भूतानि प्राणिन-स्तेषां व्याधयश्चापृथग्विधाः शुक्रदोषशोणितदोषाहाररसजा एव । ननु रस-नार्थो रसः कथमुपयुज्यते इति ? अत आह—आपो हीत्यादि । हि यस्मादापो रसवत्यस्ता एवापः पाञ्चभौतिकरसस्य निवृत्तिहेतवः । तत्पञ्चभूतारब्धेऽभ्य एव मधुरादयो निर्वर्त्तन्ते । इति ॥ ६ ॥

इति । नर्त्त शरीरात् शारीरा वातादिजन्याः शोषादयस्तिष्ठान्त, तथा न मनसः स्थितिर्वा ऋते शरीरादिति योज्यम् ; रजस्तमःपरीतस्य हि मनसो नित्यं शरीर एव स्थितिः ; यत् तु निर्दोषं मनः, तत् तु पुरुषस्य नापि च व्याधेः कारणमिति भावः । रसजानीत्यादौ स्मृता निवृत्ति-हेतव इति व्याधिपुरुषयोः ; एतेन व्याधिपुरुषजनकरसकारणत्वेनापः कारणकारणतया पुरुष-

हिरण्याक्षस्तु नेत्याह न ह्यात्मा रसजः स्मृतः ।

नातीन्द्रियं मनः सन्ति रोगाः शब्दादिजास्तथा ॥

षड्धातुजस्तु पुरुषो रोगाः षड्धातुजास्तथा ।

राशिः षड्धातुजो ह्येष सांख्यैराद्यैः परीक्षितः ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—हिरण्येत्यादि । तच्च श्रुत्वा वाय्व्यविदवचनं कुशिको हिरण्याक्षस्तन्नेत्याह । रसजानि भूतानि रसजाश्च तेषां विकारा इति यदुक्तं तन्न । कस्मादिति ? अत आह—न ह्यात्मेत्यादि । हि यस्मादात्मा न रसजो न च मनश्चातीन्द्रियं रसजं न च सर्वे रोगा रसजा यतो रोगाः शब्दादिजाश्च सन्ति इति ।

तहि कुतो जायते पुरुषः कुतश्च तस्य रोगा जायन्त इति ? अत आह—षड्धातुजस्त्वित्यादि । पञ्चमहाभूतानि खं वायुर्जीतिरापो भूरिति आत्मा च चेतनाधातुरव्यक्तं नामेति षड्भ्यो धातुभ्यो यः पुरुषो जातः स षड्धातुजः पुरुषः, तस्मादेष राशिः पुरुषो जायते । तथा तस्य रोगाश्च षड्धातुजाः षड्धातुपुरुषाज्जायन्ते । तहि कुतो बुद्ध्यादयोऽस्य जायन्त इति ? अत आह—राशिरित्यादि । एष राशिश्च पुर्व्विशतेस्तत्त्वानां सङ्घातो यस्मात् षड्धातुज एवाद्वैतः साङ्ख्यैर्महर्षिभिः परीक्षितः । वक्ष्यते—“खादयश्चेतनाधातुषष्ठाश्च पुरुषः स्मृतः” इति । तद्यथा—प्राक् सर्गादिदं तमोभूतं यदासीत् तत् खलु मूलं मूलानां मूलाभावादमूलम् । तदसत् । क्रियागुणव्यपदेशाभावात् । सदेवासत् । प्राक्सर्गात् क्रियागुणव्यपदेशाभावात् सतः क्रियागुणव्यपदिष्टा-दर्थान्तरत्वात् । न त्वसदेवासत् । न त्वसतः सदुत्पद्यते । उपादानमनुपमृद्वैव सतः प्रादुर्भावप्रसङ्गात् । न हि स्वपुष्पादुत्पद्यते फलम् । उपादानमुपमृद्वैव प्रादुर्भावनियमात् । यथा बीजमुपमृद्वैवाङ्कुरो जायते । जनिष्यमाणोऽङ्कुरो हि बीजमुपमृद्य प्रादुर्भवति । क्रमनिर्देशाच्च । क्रमश्चायं बीजं परिणमदव्यहान्तरेण जायते, साऽपि व्यूहः पूर्व्वव्यूहविनाशे व्यूहान्तरत्वेन जायत इत्येवं पूर्व्व-पूर्व्वव्यूहनाशानन्तरं कार्य्यरूपेण प्रादुर्भवतीति नासतः सदुत्पत्तिः । सैवासत् खलु सदैव शक्तिरेव मूलं ब्रह्म सर्व्वेषां कार्य्याणां यानि मूलानि तेषां मूलम् । विकारयोः कारणं भवति ; किं वा, आपो निवृत्तिहेतव इति रसानां, किं वा यस्माद् रसवत्य आपः, तस्मात् ता निवृत्तिहेतव इति योजना ॥ ५१६ ॥

चक्रपाणिः—न ह्यात्मेत्यादौ नातीन्द्रियं मनो रसजं स्मृतमिति योजना, यस्मादतीन्द्रियं मन

तस्याः शक्तेर्मूलाभावादमूलं तद्ब्रह्म । सा शक्तिः प्राक् सर्गात् स्वप्रभावैर्गुणांशै-  
 र्निर्गूढासीत् । तस्या अतिपरमव्योमरूपो मुख्यांशोऽपरिणामी । गुणांशस्तु  
 प्रभावः परिणामी । क्षीरवत् । यथा क्षीरस्य स्नेहांशोऽपरिणामी मुख्यः ।  
 स्नेहातिरिक्तो द्रवांशः परिणामी गुणांशः । तद्गुणीभूतद्रवांशविशिष्टो मुख्यांश-  
 स्नेह एकमेव क्षीरं न द्वितीयम् । तथा शक्तिरेवासद्ब्रह्म सदेव तद्गुणाख्य-  
 प्रभावविशिष्टमतिपरमव्योममुख्यांशभूतमेकमेवाद्वितीयम्, यथैवालोककृत् प्रभाव-  
 विशिष्टं वह्नादीनां रूपमेकमेवाद्वितीयम् । न हि रूपादतिरिक्त आलोक-  
 कृत् प्रभावः । न हि स प्रभावो द्रव्यं क्रियागुणाभावात् । न वा रूपादन्यो  
 गुणो गुणे रूपे वृत्त्यसम्भवात् । न वा कर्म रूपे गुणे वृत्त्यदशनात् । न च सम-  
 वायो मेलकत्वासामर्थ्यात् । तस्माद् रूपादनन्य एवालोककृत् प्रभावो घनाघन-  
 त्वाभ्यां रूपालोकाख्याभ्यां व्यपदेशः । तथातिपरमव्योमप्रभावयोरपृथग्भावा-  
 देकत्वं न च विजातीयद्वैतत्वं मुख्यांशभूता च शक्तिगुणांशभूतप्रभावश्च  
 तच्छक्तिरिति शक्तित्वेन विजातीयत्वाभावान्मुख्यांशगुणांशत्वाभ्यां द्वैतत्वेऽपि  
 सजातीयत्वादेकत्वं शक्तित्वात् ततो न द्वितीयमिति । सगकालरूपे तस्याः  
 प्रभावविशेषे समुद्रिक्ते सति सा शक्तिरेव सद्ब्रह्म प्रसुप्तादुत्थितमिव किमपि  
 नास्तीति दृष्ट्वा बहु स्यां प्रजायेयेत्यालोचयाश्चकार । ततस्तत्तेजोऽसृजत ।  
 तच्च लोहितमिव न तु लोहितं रूपं सर्व्वेषां तेजसां मूलं तेजः उष्णत्वं क्रमेण  
 स्थूलं सत् तेजसि त्रात्मके भूतेऽभिव्यक्तं लोहितं रूपं भवति । तच्चक्षुर्ब्रह्म ।  
 तत्तेज ऐक्षत । बहु स्यां प्रजायेयेत्यालोचयाश्चकार । तदपोऽसृजत । ताः  
 पुनः शुक्ला इव न तु शुक्लरूपं सर्व्वसामपां मूलं क्रमेण स्थूला भूत्वा चतुरा-  
 त्तिकास्वप्स्वभिव्यक्ताः शुक्लरूपं भवति । ता अमृतं मधुररस इव न तु मधुरो  
 रसः सर्व्वस्य मधुररसस्य मूलं क्रमेण स्थूलं भूत्वा पाञ्चभौतिके भूम्यवगुणबहुले-  
 ऽभिव्यक्तो मधुररसो भवति । ता आपः प्राणो ब्रह्म । ता आप ऐक्षन्त बहु  
 स्याम प्रजायेमहीति । बहु स्याम प्रजायेमहीत्यालोच्य ता आपोऽन्नमसृजन्त ।  
 तच्चान्नं कृष्णमिव न तु कृष्णरूपं सर्व्वेषामन्नानां मूलमन्नं पृथिवीतत्त्वं  
 क्रमेण स्थूलं सत् पञ्चात्मिकायां पृथिव्यामभिव्यक्तं कृष्णरूपं भवति । तद्गन्ध  
 इव न तु गन्धः सर्व्वेषां गन्धानां मूलं क्रमेण स्थूलं सत् पृथिवीबहुले पाञ्च-  
 भौतिकेऽभिव्यक्तं गन्धो भवति । तदन्नं ब्रह्म । आभिस्तेजोऽबन्नाख्याभि-  
 स्तिसृभिर्देवताभिरैकीभूताभिर्विशिष्टा सा शक्तिर्ब्रह्म लोहितशुक्लकृष्णवत्  
 आत्मा चातीन्द्रियः, तस्मान्न रसजो, रसाद्भि जायमानं कारणगुणानुविधानादैन्द्रियकं स्यादित्यर्थः ;

आभासमाना हिरण्यवदाभासा गायत्री नाम देवता परमसूक्ष्मध्वनिभिरवरुद्धाति-  
परव्योमरूपा बभूव । सा वाक् सा सरस्वती सा दुर्गा सा सावित्रीत्येवमादि-  
समाख्याभिरभिहिता । सा शक्तिः स्वयमेवैतत्तेजोऽबन्नं तत् संहतरूपा गायत्री  
चेत्येवं सर्वं सद्जायतेत्यभिहितम् । “असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सद्-  
जायत ।” इति । सेयं देवता गायत्री पुनरेव स्वस्थानि तेजोऽबन्नानि परि-  
णमयन्ती विद्या शान्तिः प्रतिष्ठा निवृत्तिरिति चतस्रः शक्तयो भूत्वैकीभूय परम-  
व्योमरूपश्चतुर्व्यूहः प्रथमो जीव एव पर आत्मा बभूव स स्वयः सुष्ठु अयः  
शुभावहविधिरूपस्तस्मात् तत् सुकृतं कारणीभूतधर्मरूपमुच्यते । राशिपुरुषे  
हेतुषु शुभाशुभकर्मणा धर्माधर्मरूपो भवति । तदुक्तं—“तदात्मानं स्वयमकुरुत  
तस्मात्तत् सुकृतमुच्यते” इति । एष सर्वं मन्वानो मनो ब्रह्म । सा गायत्री  
वाग्ब्रह्मतया वदन्नयश्च वाग्ब्रह्म । गायत्रीस्थमन्नं ब्रह्म यत्तेनायं विश्वं  
विभ्रदन्नं ब्रह्म । याश्चापो गायत्रीस्थास्ताः प्राणो ब्रह्म तेन प्राणेनायश्च  
प्राणन् प्राणो ब्रह्म । यत्तद् गायत्रीस्थं तेजश्चक्षुर्ब्रह्म । तेन चक्षुषा चायं  
पश्यश्चक्षुर्ब्रह्म । या च सा प्राक् सर्गादेका शक्तिरासीत् क्रियागुणव्यपदेशाभावा-  
दसत् खलु शून्यमिवातिपरमव्योम तच्छ्रोत्रं ब्रह्म । तेन चायं शृण्वन् श्रोत्रं  
ब्रह्मेत्यात्मषट्क एष पुरुषः प्रथमसंहतरूपः इति षड्धातुरादिपुरुषः । तस्मा-  
ज्जातश्चेतनाधातुरव्यक्तं नामात्मा ।

स च खादयश्च पञ्चेति षड्धातुजानि चतुर्विंशतिस्तत्त्वानि तैजसाख्यः  
सूक्ष्मशरीरी षड्धातुः पुरुषः । तद्यथा—सेयं गायत्री देवी खल्वेवं पर  
आत्मा स्वयं सुकृतं परमव्योम व्योमेव प्रतिकृतिरीशो व्योमकोऽनन्तशक्तिमान्  
भूत्वा पुनर्हन्ताहमिमास्तिष्ठो देवतास्तेजोऽबन्नारूपा अनेन जीवेनात्मना  
परमव्योम्ना व्योमकेशेनानुप्रविश्य निखिलस्य नामरूपे व्याकरवाणीति ।  
तासां तिसृणां देवतानां तेजोऽबन्नानामेकैकां त्रिवृतं त्रिवृतं करवाणीति  
चालोचयाश्चकार । ततः सा तेनैकीभूय तस्य परमव्योम्नः शिवस्यादि-  
जीवस्यादिभूतत्वादादित्यस्य परमपुरुषस्य ज्योतिः स्वरूपेणावर्तत । स हि  
सर्वं तया सूते इति सविता । सा च सावित्री तत् सवितुर्वरेण्यम् । तदमृतं  
तत् परं ब्रह्मेह सर्गावस्थायामिति । स खलु परमव्योम परमपुरुषः शिवो-  
ऽनन्तशक्तिमानजः स विष्णुर्ब्रह्मा सोऽग्निरिन्द्रः स्वाङ्गुलिपरिमाणेन  
हेत्वन्तरमाह—सन्तीत्यादि । अहितशब्दरूपादिजन्ये विकारे न रसः कारणमित्यर्थः । आत्मा  
पृथिव्यादीनि च पञ्च षड्धातवः ; “यदुक्तं—“खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः” ॥ ७ ॥



चतुरशीत्यङ्गुलिपरिमितस्त्रिधाविभागकल्पनया भूर्भुवः स्वरिति त्रिपात् पुरुषः । तस्याधस्तात् पञ्चाशदङ्गुलिपरव्योम भूः । तदूर्ध्वं चतुर्विंशत्यङ्गुलिपरव्योम भुवः । तदूर्ध्वं दशाङ्गुलिमितपरव्योम स्वरिति । तत्र भूर्लोकैऽष्टौ लोकाः । एतत्सप्तपातालसहितभूर्लोकः । आन्तरीक्षन्तु भुवर्लोकः । स्वर्लोकस्तु इन्द्रादिदेवलोकः । महर्लोको जनलोकः तपोलोकः सत्यलोकश्चेति सप्तलोकादूर्ध्वं प्रकृतेः परं विष्णुलोकोऽष्टमो लोकः । इत्यष्टलोकी भूर्लोकः प्रथमः पादः । तत् पञ्चाशदङ्गुलिमितपरव्योम ऊर्ध्वं चतुर्विंशत्यङ्गुलिपरिमित परव्योम कौमारलोकः । पञ्च ब्रह्मपुरुषा ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदाथर्ववेदसदाशिवानां स्थानं भुवर्लोको द्वितीयः पादः । इति द्वौ पादौ विश्वानि भूतानि । तत ऊर्ध्वं दशाङ्गुलं स्वर्लोकः सा द्यौस्तृतीयः पाद इति त्रिपात् परमव्योमैव शिवः परमपुरुषः परमात्मा हिरण्यः षष्ठः कोषः । तस्य हृदयातिपरमव्योमि तस्य चात्मा सा शक्तिरजा तिष्ठति यास्यां सर्गावस्थायां तेजोऽब्रह्मलक्षणा गायत्री तस्य ज्योतिः स्वरूपेण भाति सा खल्वमृतं तस्मिन् परमे व्योम्नि सव्वतो वत्ततेऽभ्यन्तरतश्च बाह्यतश्चाधस्ताच्चोर्ध्वतश्च पूर्वतश्च दक्षिणतश्च पश्चिमतश्चोत्तरतश्चेति । सा चतुर्थः पाद इति गायत्रीविशिष्ट-त्रिपात्पुरुषश्चतुष्पादब्रह्माऽस्यां सर्गावस्थायाम् । प्राक् सर्गान्महानिर्वाणावस्थायां सैका शक्तिमूलं ब्रह्म, यदुक्तम् “असद्वा इदमग्र आसीत्” इति, न तदा पादव्यपदेशो भेदकाभावात् । उक्तञ्च—“एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि” इति । अत्र पाद इति औस्थाने सुः, पादावित्यर्थः । उक्तञ्च तथा—“सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिं सव्वतो वृत्त्वा अत्यतिष्ठदशाङ्गुलम् ॥” इति । अत्र सहस्रपादेनासङ्ख्यत्वं विवक्षितम् । तत उक्तम्—“सव्वतः पाणिपादं तत् सव्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सव्वतः श्रुतिमल्लोके सव्वमावृत्य तिष्ठति ॥” इति । शीर्षाक्षिपादादिकं नास्य लोकवद्व्याकृतम् । तदुक्तं—“सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् । सर्वेस्य प्रभुमीशानं सर्वेस्य शरणं वृहत् ॥” सर्वेन्द्रियगुणाभासत्वात् सर्वेन्द्रियाभावेऽपि सर्वेन्द्रियकर्मकृच्छक्तिमत्त्वमुक्तम्—“अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति वेद्यं न च तस्य वेत्ता तमाहुरग्रं पुरुषं महान्तम् ॥” इति । एवंविधसहस्रशीर्षादियः पुरुषस्तस्याव्याकृतं परमव्योमरूपं (सर्वार्ङ्गं) स्वाङ्गुलिमानेन चतुरशीत्यङ्गुलमधस्ताच्चतुःसप्तत्यङ्गुलपरव्योम्ना स भूमिमष्टलोकी-



भूर्लोकसहितं भुवर्लोकं सञ्चतो वृत्त्वावृत्य स्वाङ्गुलिमानेन दशाङ्गुलं स्वर्लोको भूभुवर्लौकादतिशयेनावृतत्वेनोत्कृष्टत्वेनातिष्ठदिति । तत्र दशाङ्गुलिमितायां दिवि त्रिपादस्य पुरुषस्य तृतीयपाद परव्योम्नि अमृतं ज्योतिःस्वरूपा गायत्री चतुर्थः पाद इति ।

अथ यथास्य द्वा पादौ विश्वानि भूतानि बभूवुयेथा च स भूमिं भुवर्लोक-मावृणोत् । तद्यथा—तस्यैव परमव्योम्नः पुरुषस्य स्वाङ्गुलिमानेन चतु-रशीत्यङ्गुलिपरिमितस्य यदृद्धं दशाङ्गुलं तच्छिरोग्रीवमिवोच्यते । तदशाङ्गुला-दधस्ताच्चतुर्विंशत्यङ्गुलं कण्ठादिनाभिपर्यन्तमन्तराधिरिवोच्यते भुवर्लोकः । तत्र कण्ठाद्यधस्ताद्द्वादशाङ्गुलं हृदयं तदभ्यन्तरे यदतिपरमव्योम तत्र पञ्च देवसुपयः । ऊर्ध्वमेका सुषिः पूर्वस्मिन्नेका दक्षिणस्मिन्नेका पश्चिमे चैका उत्तरस्मिंश्चैका मध्ये यदतिपरमव्योम सा शक्तिर्ब्रह्म तस्यात्मा वर्त्तते । तदुक्तं—“हिरण्ये परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम् । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः ॥”

इत्येवं स्वयमेवाभूत् स इति स्वयम्भूयथा ससज्ज । तदुक्तं मनुना—“ततः स्वयम्भूभंगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् । महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत् तमो-नुदः ॥” इति । तद्यथा—अथासौ भगवानव्यक्तः स्वयम्भूः परमव्योम-रूपोऽनन्तशक्तिमानुत्तमपुरुषोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति । ततः स तपो-ऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा इदं सर्व्वमसृजत । यदिदं किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सञ्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च । निलयनञ्चानिलयनञ्च । विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च । सत्यञ्चानृतञ्च । सत्यम् अभवत् । यदिदं किञ्च तत् सत्यमाचक्षत इति । तद्यथा—असौ खल्वनन्त-शक्तिमान् परमव्योम परमात्मा व्योमकेशस्तत् तपोवलेन स्वशक्तिषु प्रधानानां तिसृणां ज्ञानशक्तियदृच्छाशक्तिक्रियाशक्तीनां प्रथमज्ञानशक्त्या करिष्यमाणानाञ्च यत् प्रयोजनं यत् कारणं यत् करणञ्च तदेवाध्यवसाय यदृच्छया शक्त्या बुद्ध्याध्यवसितं तदेवमेव स्यान्नैवं स्यादित्येवमभ्यनुमन्यत । ततस्तस्य क्रिया-शक्तिस्तस्य दशाङ्गुलादधस्ताच्चतुःसप्तत्यङ्गुलिमिते परमव्योम्नि ज्योतिःस्वरूपेण स्थिताया अतिसूक्ष्मध्वनिरूपाया वाचो गायत्र्या यास्तेजोऽबन्नाख्यास्तिस्रो देवताः परिणामिनीस्ताः क्षोभयामास । तेन त्रिवृत्त्रिदेवकैका भूत्वैकीभूय तत् परमामृतवागेव किञ्चित् स्थूलीभूय नादोऽभूत् । पुनस्तं नादं सा क्रियाशक्तिः क्षोभयामास । तेन नादात् क्षोभ्यमाणाद्विन्दुर्बभूव । बिन्दोश्च पुनः क्रिया-

शक्त्या क्षोभ्यमाणादोमिति ध्वनिरभूत् । तदोङ्कारस्तु सत् । तन्निरुक्तं तस्याकारोकारमकारयोगेण संहितायां निरुक्तिरुक्ता । तस्मादोङ्कारात् क्रिया-  
शक्त्या क्षोभितादकारादयो मातृकावर्णध्वनयो बभूवुरिति मातृकावर्णास्त्यत्  
तदोङ्कारविपर्ययं तदेवेति न्यत् । नैषामकारादीनां निरुक्तिरस्ति ततोऽनि-  
रुक्तम् । इति । सैषा प्रणवमातृकात्मिका देवी शुद्धा परा विद्या तस्य पुरुषस्य  
वागीश्वरी नाम शक्तिः । सैवेयं बभूव । तदुक्तं—“पञ्चाशद्विपिभिविभक्तमुखदो-  
पन्मध्यवक्षःस्थलां भास्वन्मौलिनिबद्धचन्द्रशकलामापीनवक्षोरुहाम् । मुद्रामक्ष-  
गुणं सुधाढ्यकलसं विद्याञ्च हस्ताम्बुजैर्विभ्राणां विशदप्रभां त्रिनयनां वाग्-  
देवतामाश्रये ॥” इति ।

तत्तदोङ्कारादिवर्णात्मकध्वन्याश्रयो यावानसौ परमव्योमभागः स एव  
सदाशिवो नाम महाभूतः प्रथमो ब्रह्मपुरुषो बभूव । तद्विज्ञानं नाम सत् । एष  
तत् परमपुरुषस्य हृदये यदूढं सुषिस्तद्विद्वांरपालः शिवस्योदानो नाम प्राणः ।  
एष एव लोके त्रिगुणविशेषयोगादयमाकाशोऽभूदयञ्च वायुरभूत् । पुरुषे चास्य  
हृदयस्य मध्ये य आकाशः स आत्मा, पञ्च च तद्विच्छिद्राणि सन्ति । तत्रोद्ध-  
च्छिद्राद्विहिरुदानो नाम प्राणस्तिष्ठति । अथासां या शुद्धविद्या सा पुनः क्रिया-  
शक्त्या क्षोभ्यमाणा परिणमन्ती अकारादीनामनन्तसंयोगात् कला विद्या  
तच्छुद्धविद्याविपरीतविद्या खल्वविद्या नाम बभूव । इति । कलां विद्यामविद्यां  
त्यद्रूपामसृजत् । सा चतुर्द्धा—ऋग्विद्या यजुर्विद्या सामविद्याऽथर्ववेदेति ।  
तत्र प्रथमा धातुप्रातिपदिकप्रत्ययागमादिरूपा ऋग्विद्या बभूव । ततः सुपतिङन्त-  
पदरूपा यजुर्विद्या । ततो गीतभूतवाक्यरूपा सामविद्या । ततो वाक्यभूताथर्व-  
विद्या च बभूवेति तत्रान्तर्भूतानि षडङ्गानि । सा च निरुक्तिमती चानिरुक्ति-  
मती च । सच्च त्यच्च । एतच्चतुर्द्धाविद्याश्रयास्तत्तत्परमव्योमभागा ऋग्वेद-  
यजुर्वेदसामवेदाथर्ववेदा बभूवुरिति । वेदाश्चत्वारो ब्रह्मपुरुषा विज्ञानविपरीता  
अविज्ञानरूपास्त्यदित्युच्यन्ते । नियतिर्नाम हि वेदचतुष्को नियमकरत्वात् ।  
तस्मान्नियतिर्न ब्रह्म । स्वभावश्च यस्य यो भवति तं यदृच्छ्या बुद्धिशक्त्याध्यव-  
सितो नियतः कृत इति स्वभावो न ब्रह्म । यदृच्छा च न ब्रह्म । ब्रह्मणः शक्ति-  
विशेषत्वात् । उक्तञ्च “द्वे ब्रह्मणी ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविदेः निहिते यत्र  
गूढे । क्षरन्त्वविद्या अमृतन्तु विद्या विद्याविदेः ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥” इति ।  
चत्वार एते वेदा ब्रह्मपुरुषास्तस्य हृदयस्य पूर्व्वदक्षिणपश्चिमोत्तरमुषिषु क्रमेण  
द्वारपालाः । तद्व्यथा—“योऽस्य पूर्व्वेमुषिस्तस्माद्वाहःस्थितो द्वारपाल ऋग्वेदः ।

शिवस्य तस्य प्राणः स एवास्मिन् लोके एष आदित्यः पुरुषे देवनरादौ बाह्य-  
चक्षुश्च अभूत् । प्राणश्च हृदयस्य पूर्वसुषिद्वारे । १ । योऽस्य दक्षिणसुषिस्तस्माद्वहिः-  
स्थितो द्वारपालो यजुर्वेदः । स तस्य शिवस्य व्यानो नाम प्राणः । स एत-  
स्मिन् लोके चन्द्रमाः पुरुषे च देवनरादौ हृदयस्य दक्षिणसुषौ व्यानाख्यः प्राणः  
श्रोत्रश्च । २ । योऽस्य प्रत्यङ् सुषिस्तस्माद्वहिःस्थितो द्वारपालः सामवेदः ।  
स तस्य शिवस्यापानो नाम प्राणः । स एवास्मिन् लोकेऽग्निः पुरुषे देवनरादौ  
हृदयस्य पश्चिमसुषिद्वारेऽपानो नाम प्राणो वाक् चेति । ३ । अथ योऽस्योदङ्  
सुषिस्तस्माद्वहिःस्थितो द्वारपालोऽथर्ववेदः । स शिवस्य समानो नाम प्राणो  
मनश्च । स एवास्मिन् लोके पञ्चन्यो वर्षणोद्यतमेघः । पुरुषे च देवनरादौ  
हृदयस्योत्तरसुषिद्वारे समानो नाम प्राणो भवतीति । ४ । इत्येवं पञ्चसदा-  
शिवर्वेदादीन् कुमारान् सावित्री सुषुवेऽनः सावित्री परमव्योम च शिवस्तया  
सुषुवेऽनः सविताऽभिधीयते ।

अथैषां पञ्चानां यशस्तेज इन्द्रियवीर्यान्नाथं पुनर्गृह्यादयस्तपस्तेषुः । तद-  
यथा—“तस्य हृदयाभ्यन्तरे स्थितं गायत्रीस्थं यत्तेजोऽबन्ममेवामृतं तत्र या  
आपो मधुररस इव यो रसस्तत् पुष्पम् । स एव खल्वृच ऋग्वेदमभ्यतपन्नृचः  
ततस्तस्यग्वेदस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यञ्चेत्येतेषु जातेषु पुष्पश्च परिणमन्न-  
मम्ल इव रसोऽजायत । तद् यत् पूर्वसुषिद्वारादक्षरत् । तज्ज्योतीरूपेण तदा-  
दित्यं हृदयेऽभितो मण्डलरूपेणाश्रयत् । तदेव सत्त्वगुणयोगादेतदादित्यस्य मण्डले  
शुक्लरूपं सदस्ति । १ । एवं यजुंषि यजुर्वेदमभ्यतपन् । ततस्तस्य यजुर्वेदस्य  
यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमजायत । स एव च रसः परिणमन् लवण इव रसोऽन्नाद्य-  
मजायत, तद्यदक्षिणसुषिद्वारेणाक्षरत्तदादित्यं शिवं हृदयेऽभितो ज्योतीरूपं  
मण्डलाकारेणाश्रयत् । तद्वा एतद् यदेतदादित्यस्य मण्डले रजोगुणयोगाद्वक्तं  
रूपं सदस्ति । २ । एवं सामानि सामवेदमभ्यतपस्ततस्तस्य सामवेदस्य यश-  
स्तेज इन्द्रियं वीर्यमजायत । स एव च रसः परिणमन् कटुक इव रसो-  
ऽन्नाद्यमजायत । तद् यत् पश्चिमसुषिद्वारेणाक्षरत्तदादित्यं शिवमभितो हृदये  
ज्योतिःस्वरूपेण मण्डलाकारं भूत्वाश्रयत् । तद्वा एतद् यदेतदादित्यस्य मण्डले  
सत्त्वतमोगुणयोगात् श्यामरूपं सदस्ति । ३ । अथाथर्वार्द्धिरसा इतिहासपुराण-  
मभ्यतपन् । ततस्तस्येतिहासपुराणस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमजायत । स  
एव च रसः परिणमन्तिक्तुरस इव रसोऽन्नाद्यमजायत । तद्यदुत्तरसुषिद्वारेण  
अक्षरत्तदादित्यं शिवमभितो ज्योतीरूपेण हृदये मण्डलाकारेणाश्रयत् । तद्वा

एतद् यदेतदादित्यस्य मण्डले तमोगुणयोगात् परं कृष्णरूपं सदस्ति । ४ । अथ  
गृह्या एव देवताः सदाशिवं ब्रह्माभितपन्नभितप्तस्य तस्य ततो यशस्तेज इन्द्रियं  
वीर्यमेजायत । रसश्च स एव परिणमन् कषाय इव रसोऽन्नाद्यमेजायत ।  
तद् यदूद्धु सुषिद्वारेणाक्षरत्तदादित्यं शिवमभितो ज्योतीरूपं सन्मण्डलाकारेण  
हृदयेऽश्रयत् । तद्वा एतद् यदेतदादित्यस्य मण्डलमध्ये क्षोभत इव  
वर्त्तते । ५ । इति ।

इत्येवं भेदकैर्दशाङ्गुलात् स्वर्लोकादधस्ताद्भुवर्लोको नाभिपर्यन्तं विशि-  
ष्यते । २ । इत्येवं विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च सृष्ट्वा स परमात्मा समण्डलः सन  
वृत्तौजाः सन् प्राक् सर्गाद् यत्तम आसीत् तन्नुनोद । अथ नाभेरधस्तात् पञ्चाश-  
दङ्गुलिमिते परमे व्योम्नि सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत् । तथाभूतः सन सर्वभूत-  
मयो भूत्वा स परमव्योम पुरुष उद्दिदीपे । तदुक्तं मनुना—“योऽसावतीन्द्रियो-  
ऽग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः । सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥”  
इति । तद्व्या—अधस्तात् पञ्चाशदङ्गुलं परमव्योम विद्याविद्याश्रयपञ्चब्रह्म-  
पुरुषैरावृतं यत्तत्र खल्वोङ्कारादिवर्णमयो देवस्त्रिधा भूत्वा ऋग्यजुःसामवेदेषु  
प्रविवेश । तथैवाथर्ववेदस्त्रिधा भूत्वा शान्तिभागेनग्वेदमनुप्राविशत् । पौष्टि-  
कांशेन यजुर्वेदमाभिचारिकांशेन सामवेदमित्येवं त्रयी बभूव । तच्चैकीभूतं  
सदाख्यं वस्तुभूतमेकं बभूव । तत्सदेव द्विधा भूत्वाद्धेनं चिद्वभूवाद्धं सदेव स  
महाविष्णुः कालो नामाक्षरपुरुषादुत्तम इति पुरुषोत्तमः । तत्र योऽंशः परम-  
व्योम्नः स रुद्र इति । हरिमेहदादिसंहरणात् । चिच्च सम्प्रसादो मुख्यांशो-  
ऽसम्प्रसादो गुणांश इति भेदेन द्विधा अभवत् । तत्र चिन्मुख्यांशः सम्प्रसादः  
क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः स कूटस्थः सन्नानन्दतीति आदौ सत ततश्चित् तत आनन्द  
इति सच्चिदानन्दो विष्णुः । परमव्योम्नस्तत्रधस्तादक्षे जातत्वादधोऽक्षजश्चोच्यते ।  
स हि परमात्मनो ब्रह्मस्य परव्योम्नो योऽंशश्चित्प्रसादांशेनावृतस्तावानंश इति  
चित्प्रसादांशोपाधिना भिद्यते । अत्र स परमात्मनोऽंशस्तत्तत्पुरुषो नाम ।  
चिद्वगुणांशः पुनरसम्प्रसादो ब्रह्मा नाम प्रधानमुच्यते । तत्र परमव्योम्नो  
योऽंशः स ईशानो नाम शिवः । एतत् कालक्षेत्रज्ञप्रधानमिति त्रयं  
सत्यमेव सत । सदनुप्रविष्टत्वात् । ततस्तत् प्रधानं क्षेत्रज्ञेनाधिष्ठितं  
कालमनुप्रविश्य क्षेत्रज्ञं क्षोभयन् प्रधानं सङ्कोच्य विकाश्य त्रीन् सत्त्वरज-  
स्तमोगुणान् क्रमेणाविद्या नाम कलाविद्याऽभिव्यञ्जयन्ती तत् त्रिगुण-  
लक्षणं कालानुप्रविष्टं क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं प्रधानं संहतीकृत्याव्यक्तं नामात्मानं

ससज्जं । यो वै स स्वयंभूर्भगवानव्यक्तः परमव्योमैव व्योमकेशः प्रथमसंहत-  
रूपः । स एवेत्थं विद्या तदाश्रयब्रह्मपुरुषादेरन्तः प्रशान्तान्तसंहतरूपः सन्नव्यक्तं  
नाम सदसदात्मकमात्मा बभूव । एष द्वितीयः संहतरूपः पुरुषः ।

एतदव्यक्तादिचतुर्विंशतितत्त्वानि तथैतच्चतुर्विंशतितत्त्वमयं लोकं  
पुरुषश्च देवनरादिकं सर्वं सत्यममृतं प्रायेणाचार्या नव्याः साङ्ख्या उपदिशन्ति,  
न तु प्रधानान्तानां सर्गम् । आदिरस्तु साङ्ख्यैस्तु सर्वमेवोपदिष्टम् । तद्वथा  
मुञ्चते—“सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य  
जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तं नाम । तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र  
इवौदकानां भावनाम् । तस्मादेव क्षेत्रज्ञाधिष्ठितादव्यक्तात् तल्लक्षण एव  
महानुत्पद्यते ।” इत्यादिकमुपदिष्टम् । पराशरेणाप्येतदुपदिष्टं तद्वथा—  
“गुणसाम्ये ततस्तस्मिन् पृथक् पुंसि व्यवस्थिते । कालः स्वरूपं रूपं  
तद्विष्णोर्मन्त्रेयं वर्ण्यते ॥ ततस्तत् परमं ब्रह्म परमात्मा जगन्मयः । सर्व्वेगः  
सर्व्वभूतेशः सर्वात्मा परमेश्वरः ॥ प्रधानं पुरुषश्चापि प्रवेश्यात्मेच्छया हरिम् ।  
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्यये ॥ यथा सन्निधिमात्रेण गन्धः  
क्षोभाय जायते । मनसो नोपकर्तृत्वात् तथासौ परमेश्वरः ॥ स एव क्षोभको  
ब्रह्मन् क्षोभ्यश्च पुरुषो मतः । स सङ्कोचविकाशाभ्यां प्रधानस्य व्यवस्थितः ॥  
गुणसाम्यात् ततस्तस्मात् क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने । गुणव्यञ्जनसम्भूतिः सर्गकाले  
द्विजोत्तम ॥ प्रधानतत्त्वसम्भूतं महान्तं तत् समावृणोत् । सार्व्विको राजसश्चैव  
तामसश्च त्रिधा महान् ॥” इत्यादि । शेषं सर्व्वं समानम् । लैङ्गे च—“गुण-  
साम्ये ततस्तस्मिन् सुविभागे तमोमये । सर्गकाले प्रधानस्य क्षेत्रज्ञाधिष्ठितस्य  
वै ॥ गुणभावाद्ब्रह्म आत्मा महान् प्रादुर्बभूव ह । भूक्ष्मेण वृहता सोऽथ  
हव्यक्तेन समावृतः ॥ सत्त्वोद्विक्तो महानग्रे सत्त्वमात्रः प्रकाशकः । मनो महास्तु  
विज्ञेयमेकं तत् कारणं स्मृतम् ॥ समुत्पन्नं लिङ्गमात्रं क्षेत्रज्ञाधिष्ठितन्तु तत् ।  
धर्मादीनि च रूपाणि तस्य लोकार्थहेतवः ॥ मनो महान् मतिर्ब्रह्मा पूबुद्धिः  
ख्यातिरीश्वरः । प्रज्ञा चित्तिः स्मृतिः संविज्ञानं विखरमेव च ॥ महान्  
सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानः सिसृक्षया । सङ्कल्पो व्यवसायश्च तस्य वृत्तिद्वयं  
स्मृतम् ॥ त्रिगुणः स तु विज्ञेयः सात्त्वराजसतामसः । त्रिगुणाद्राजसोद्विक्ता-  
दहङ्कारस्ततोऽभवत् ॥ महता चावृतः सोऽभूद् भूतादिर्वाह्यतस्ततः । तस्मादेव  
तमोद्विक्तादहङ्कारादजायत ॥ भूततन्मात्रसर्गस्तु भूतादिस्तामसस्तु सः । भूता-  
दिस्तु विकुर्वाणः शब्दमात्रां ससज्जं ह ॥ आकाशं शुषिरं तस्मादुत्पन्नं शब्द-

लक्षणम् । आकाशं शब्दमात्रञ्च भूतादिश्चावृणोत् पुनः ॥ शब्दमात्रं तदाकाशं  
स्पर्शमात्रं ससज्जे ह । बलवानभवद्वायुस्तस्य स्पर्शो गुणो मतः ॥ आकाशः  
शब्दमात्रस्तु स्पर्शमात्रं समावृणोत् । वायुश्चापि विकृव्वाणो रूपमात्रं  
ससज्जे ह ॥ ज्योतिरुत्पद्यते वायोस्तद्रूपगुणमुच्यते । स्पर्शमात्रस्तु वायुर्वै  
रूपमात्रं समावृणोत् ॥ ज्योतिश्चापि विकृव्वाणं रसमात्रं ससज्जं ह ।  
सम्भवन्ति ततश्चापस्ता वै सव्वेरसात्मिकाः ॥ रसमात्रा अपस्तास्तु रूपमात्रो-  
ऽग्निरावृणोत् । आपश्चापि विकृव्वेन्त्यो गन्धमात्रां ससज्जिरे ॥ संघातो  
जायते ताभ्यस्तस्य गन्धो गुणो मतः । अद्भिः समावृता भूमिर्गन्धमात्रगुणा  
तथा ॥ तस्मिंस्तस्मिंस्तु सा मात्रा तेन तन्मात्रता स्मृता । अविशेषवाचकत्वात्  
अविशेषास्ततस्तु ते ॥ एषान्त्वयोराऽमूढत्वाद् विशेषास्तु ततश्च ते । भूततन्मात्र-  
सर्गाऽयं विज्ञेयस्तु परं परम् ॥ वैकारिकादहङ्कारात् सत्त्वोद्विक्तात तु सात्त्विकः ।  
वैकारिकस्तु सर्गाऽयं युगपत् संप्रवर्त्तते ॥ बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च  
कम्मन्द्रियाणि च । सतैजसात् साधकानि देवा वैकारिकादृश ॥ एकादशं  
मनस्तत्र स्वगुणेनोभयात्मकम् । श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव  
पञ्चमी ॥ शब्दादीनामवाप्त्यर्थं बुद्धियुक्तानि वक्ष्यति । पादौ पायुरूपस्थश्च  
हस्तौ वाक् पञ्चमी भवेत् ॥ गतिर्विसर्गो ह्यानन्दः शिल्पो वाक्यञ्च कम्मे तत् ।  
आकाशः शब्दमात्रस्तं स्पर्शमात्रं तदाविशत् ॥ द्विगुणस्तु तदा वायुः शब्दस्पर्शा-  
त्मकोऽभवत् । रूपमात्रञ्चाविवेश शब्दस्पर्शगुणो मरुत् । त्रिगुणस्तु तत-  
स्त्वग्निः सशब्दस्पर्शरूपवान् ॥ शब्दस्पर्शरूपगुणो रसमात्रं समाविशत् ।  
तस्माच्चतुर्गुणा ह्यापो विज्ञेयास्तु रसात्मिकाः ॥ शब्दस्पर्शरूपरसा गन्धमात्र-  
मथाविशन् । संहता गन्धमात्रेण आचिन्वन्ते महीमिमाम् ॥ तस्मात् पञ्च-  
गुणा भूमिः स्थूला भूतेषु शब्द्यते । शान्ता घोराश्च मूढाश्च विशेषास्तेन ते  
स्मृताः ॥” इति । इत्येतानि चतुर्विंशतिस्तत्त्वानि खल्वधस्तात् परमव्योम्नि  
पञ्चाशदङ्गलेऽसौ परमात्मा स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तः शिवस्तच्चतुर्विंशतितत्त्वरूप-  
सर्वभूतमयो देवो भूतोद्भौ । एवञ्च लोकं सृष्ट्वा तर्ज्जदकान् पुरुषान्  
सिसृक्षुः स सर्वभूतमयः पुरुषः स्वादव्यक्तादिचतुर्विंशतितत्त्वमयाच्छरीरा-  
दादावपः ससज्जः । ततस्तास्वप्सु तानि चतुर्विंशतिं तत्त्वानि बीजान्यक्षिपत् ।  
तत्र तैर्वीजैरेकमण्डमभवत् । तस्मिन्नण्डे प्रथमः शरीरी पुरुष एको बभूव । स  
नारायणो नाम । तदुक्तं मनुना—“सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः  
प्रजाः । अप एव ससज्जादौ तामु बीजमवासृजत् ॥ तदण्डमभवद्भैरवं

सहस्रांशुसमप्रभम् । तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्व्वलोकपितामहः ॥ आपो नारा  
 इति प्रोक्ता आपो वै नरमूनवः । ता यदस्यायनं पूर्व्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥  
 यत्तत् कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् । तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति  
 कीर्त्तयते ॥ तस्मिन्नण्डे स भगवानुपित्वा परिवत्सरम् । स्वयमेवात्मनो ध्यानात्  
 तदण्डमकरोद् द्विधा ॥ ताभ्यां स शकलाभ्याश्च दिवं भूमिश्च निम्ममे । मध्ये  
 व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानश्च शाश्वतम् ॥ उद्वहर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम् ।  
 मनसश्चाप्यहङ्कारमभिमन्तारपीश्वरम् ॥ महान्तमपि चात्मानं सर्व्वाणि त्रिगु-  
 णानि च । विषयाणां ग्रहीतृणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥ तेषान्त्ववयवान्  
 सूक्ष्मान् पण्णामप्यमितौजसाम् । सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्व्वभूतानि निम्ममे ॥  
 यन्मूर्त्तैरवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति पट् । तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य  
 मूर्त्तिं मनीषिणः ॥ तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः । मनश्चावयवैः  
 सूक्ष्मैः सर्व्वभूतकृदव्ययम् ॥ तेषामिदन्तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम् ।  
 सूक्ष्माभ्यो मूर्त्तिमात्राभ्यः सम्भवत्यव्ययाद्वयम् ॥ आद्याद्यस्य गुणन्त्वेषा-  
 मवाप्नोति परः परः । यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः ॥ सर्व्वे-  
 षान्तु सनामानि कर्म्माणि च पृथक् पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च  
 निम्ममे ॥ कर्म्मात्मनाश्च देवानां सोऽसृजत् प्राणिनां प्रभुः । साध्यानाश्च  
 गणं सूक्ष्मं यज्ञञ्चैव सनातनम् ॥ अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।  
 दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥ कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि  
 ग्रहांस्तथा । सरितः सागरान शैलान् समानि विषमाणि च ॥ तपो वाचं  
 रतिञ्चैव कामांश्च क्रोधमेव च । सृष्टिं ससज्जं चैवेमां स्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः ॥  
 कर्मणाश्च विरेकार्थं धर्म्माधर्म्मौ व्यवेचयत् । द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखा-  
 दिभिः प्रजाः ॥ अण्वग्रे मात्रा विनाशिन्यो दशार्द्धानान्तु याः स्मृताः । ताभिः  
 सार्द्धमिदं सर्व्वं सम्भवत्यनुपूर्व्वशः ॥ यन्तु कर्म्मणि यस्मिन् स न्ययुङ्क्त प्रथमं  
 प्रभुः । स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः । हिंसाहिंसे मृदुक्रूरे धर्म्मा-  
 धर्म्मावृतानृते । यद् यस्य सोऽदधात सर्गे तत् तस्य स्वयमाविशत् ॥ यथर्त्तु लिङ्गा-  
 न्यृतवः स्वयमेवर्त्तु पर्य्यये । स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्म्माणि देहिनः ॥  
 लोकानान्तु विवृद्धयर्थं मुखबाहूरुपादतः । ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रश्च निर-  
 वत्तयत् ॥” इति । इत्युक्तया रीत्याऽण्डमध्याज्जातोऽसौ नारायणो नाम  
 महान् ब्रह्मा सर्व्वतत्त्वमय आदिभूतत्वादादित्यः । सर्व्वमेवं सूक्ष्मं सुषुवे  
 तस्मात् सविता । तद्यथा—तस्य दक्षिणपार्श्वात् प्रधानं नाम योऽसौ ब्रह्मा



स रजोगुणमाश्रित्य सरस्वत्या सह चतुर्भुज एव सत्यलोकस्थो ब्रह्माविर्बभूव । योऽसौ क्षेत्रज्ञः पुरुषो विष्णुः स एव सत्त्वगुणमाश्रित्य लक्ष्म्या सहैष वैकुण्ठस्थो विष्णुश्चतुर्भुज आविवेभूव । कल्पान्तमहाकल्पान्तप्राकृतप्रलयेष्वस्य हृदयाद् रुद्राधिदैवतः कालो महाविष्णुर्हेरिराविर्भूय रुद्ररूपी सन् संहृत्य जना-  
र्दनो नाम विष्णुः सन्नहिपय्येङ्के शयानो वत्तेते । इत्येष एव त्रयो देवा इत्युक्तम् । अथैष नारायणो महान् ब्रह्मा तदण्डं द्विधा कृत्वा तस्योद्धृत्वा ण्ड-  
कपालेन सुवर्णमयेन स्वर्गलोकमधोऽण्डकपालेन सप्तपातालसहितां भूमिं निम्नमे । मध्ये दिक्कालाभ्यां सहैकीकृत्य यदिदं द्यावापृथिव्योरभ्यन्तरमन्तरीक्षं यदव्योम तद्भुवर्लोकं निर्ममे । या दिक् महाभूतस्याकाशस्याधिदेवता साच्चिकादहङ्कारादवभूव तां कालेन नभोभागैरेकीकृत्याष्टौ दिशश्च निम्नमे । शाश्वतश्चापां स्थानं सोममण्डलं निम्नमे । एवं निर्मम्य सव्वतस्त्वमयात् स्वस्य शरीरात् मन उज्जहार । तद्धि सदसदात्मकं साच्चिकाहङ्कारसम्भूत-  
सत्त्वगुणबहुलत्रिगुणानुप्रविष्टपञ्चब्रह्मपुरुषर्षवेदादिमयत्वात् । पञ्च ब्रह्म-  
पुरुषा मनःक्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत् । त्रिगुणन्तु सदिति । एव-  
मुक्तं मनोमयकोषव्याख्याने—“तस्य यजुरेव शिर ऋग्दक्षिणः पक्षः सामोत्तरः पक्ष आदेश आत्माऽथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठेति ।” अत्रादेशः सदाशिवो विद्याश्रयः पुरुषः । तस्मान्मनसश्चाभिमन्तारमीश्वराधिदैवतमहङ्कारमुज्जहार । ततश्चैव महान्तमप्यात्मानं जीवसंज्ञमव्यक्तात्मानुप्रविष्टमव्यक्तस्थत्रिगुणानु-  
प्रविष्टविद्याश्रयसदाशिवात्मकं प्रज्ञानमुज्जहार । विज्ञानमयकोषव्याख्याने चोक्तं—“तस्य श्रद्धैव शिरः सत्यं दक्षिणः पक्ष ऋतमुत्तरः पक्षो योग आत्मा महः पुच्छं प्रतिष्ठेति ।” विषयाणां ग्रहीतृणि श्रोत्रादीनि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि सर्वाणि खल्वाहङ्कारिकत्रिगुणमयानि शनैः क्रमेणोज्जहार । एवमुद्धृतेषु तेषु मनोऽहङ्कारमहत्पञ्चबुद्धीन्द्रियेषु मध्ये तेषां षण्णाममितौजसामहङ्कारपञ्च-  
बुद्धीन्द्रियाणां सूक्ष्मान् सूक्ष्मानेकैकानवयवान् तास्वात्ममात्रास्वव्यक्तानुप्रविष्ट-  
प्रज्ञानमात्रासु मध्ये त्रैकैकस्यामात्ममात्रायां सन्निवेश्य सव्वभूतानि सूक्ष्म-  
शरीरिणो निर्ममे । एषां संज्ञामाह—यद् यस्मात् षट् तेषामहङ्कारादीनां षण्णां सूक्ष्मा भूतैरवयवा इमानि वक्ष्यमाणानि महाभूतादीनि आश्रयन्तीति तस्मात् तस्य मूर्तिं तस्य शरीरमित्याहुः । यदा षण्णां सूक्ष्मानवयवान् खल्वात्म-  
मात्रासु सन्निवेशयामास तदा महान्ति पञ्च भूतानि सव्वभूतकृदव्ययं मनश्च सूक्ष्मावयवैः सूक्ष्मैश्चावयवैः कर्म्मभिः पञ्चेन्द्रियैः पाय्वादिभिः सह विशन्ति ।



तदुक्तवन्तं कुंशकमाह तन्नेति शौनकिः ।

कस्मान्मातापितृभ्यां हि विना षड्धातुजो भवेत् ॥

पुरुषः पुरुषं गौर्गामश्चोऽश्वन्तु प्रजायते ।

मातापितृभवाश्चोक्ता रोगास्तावत्र कारणम् ॥ ८ ॥ \*

इति पञ्चमहाभूतमनःपञ्चकर्म्मोन्द्रियपञ्चबुद्धीन्द्रियाहङ्कारा इति सप्तदशकं लिङ्गं महत् आत्मनः सूक्ष्मशरीरमव्यक्तस्यात्मनः सह महताष्टादशकं लिङ्गमिति । पञ्च शब्दादयश्च महाभूतसहचरितत्त्वान्न पृथगुक्ताः । अत एव तेषां महौजसां सप्तानां बुद्धीन्द्रियाणां पञ्चानामहङ्कारस्य महतोऽव्यक्तानुप्रविष्टमहत्तत्त्वमनश्च सूक्ष्माभ्यो मूर्त्तिमात्राभ्यः खल्वव्ययादस्मात् सूक्ष्मशरीराद्वयं स्थूलशरीरं सम्भवतीति । तदव्यक्तानुप्रविष्ट एव महानात्मशब्देनोच्यते । स हि चेतनाधातुः पञ्च महाभूतानीति षड्धातवः पुरुषस्योत्पत्तौ कारणानि रोगाणाञ्च कारणानि । इत्येवमाद्यः साङ्ख्यैः परीक्षितः । इति ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—तदित्येवमुक्तवन्तं कुशिकं हिरण्याक्षं शौनकिराह । तन्नेति । तत्र प्रश्नमाह—कस्मादित्यादि । सूक्ष्मशरीरी षड्धातुः पुरुषो भवतु वीजधर्मा । तस्मादेव केवलात् मातापितृभ्यां विना कस्मादेष राशिः स्थूलपुरुषो जातो भवेत् ? मातापितृभ्यां विना स्वेदजा उद्भिजा जायन्त इति दृश्यते इति चेत् तत्राह—पुरुष इत्यादि । न खलु सर्वे प्राणिनः स्वेदजोद्भिज्जवद् विना मातापितृभ्यां जायन्ते । पुरुषो देवनरादिस्तद्विधमेव पुरुषं प्रजायते उत्पादयति । न तु गामश्वं वा । गौश्च गां प्रजायते न देवनरादिपुरुषमश्वं वा । अश्वश्चाश्वं प्रजायते न देवनरादिपुरुषं गां वान्यं वेति । तस्मान्मातापितृभवाः पुरुषा रोगाश्च मेहादयो मातापितृभवा उक्ताः । अत एव तौ मातापितरौ खल्वत्र पुरुषोत्पत्तौ रोगोत्पत्तौ च कारणम् । तद्यथा—मातापित्रोः

चक्रपाणिः—कुशिक इति हिरण्याक्षस्य नाम । कस्मादित्याक्षेपे, मातापित्रनपेक्षित्वे सर्वप्राणिषु षड्धातुसमुदायस्य विद्यमानत्वेन नरगोऽश्वादिभेदो न स्यादिति भावः । हेत्वन्तरमाह—पित्रा मेहादयश्चोक्ता इति,—पितृतोऽप्यं गच्छन्तीति पित्राः, आदिशब्देन कुष्ठार्शःप्रभृतयो ग्राह्याः ; स्वपक्षं दर्शयति—तावत्र कारणमिति, तौ मातापितरौ ॥ ८ ॥

\* पुरुषः पुरुषाद् गौर्गौरश्चादश्वः प्रजायते ।

पित्र्या मेहादयश्चोक्ता रोगास्तावत्र कारणम् ॥ इति चक्रसमतः पाठः ।

भद्रकाप्यस्तु नेत्याह न ह्यन्धोऽन्धं प्रजायते ।

मातापित्रोरपि च ते प्रागुत्पत्तिर्न जायते \* ॥

कम्मजस्तु मतो जन्तुः कम्मजास्तस्य चामयाः ।

न ह्यरते कम्मणो जन्म रोगाणां पुरुषस्य वा ॥ ६ ॥

अदुष्टार्चवरेतसोः ऋतुकाले मातुरदुष्टगर्भाशयायाः पित्रा सह संयुक्ताया गर्भाशय-  
गतं रेतो यदात्तवेन संयुक्तं भवति तदा षड्धातुः सूक्ष्मशरीरी बीजधर्मान्त-  
गर्भमवक्रम्य प्रविश्य पूर्वमाकाशादीन् पञ्चमहाभूताख्यानं धातून् सृजति ।  
ततः पितृजशुक्रगतपञ्चमहाभूतमातृशोणितगतपञ्चमहाभूतमातृमुक्तगतपञ्चमहा-  
भूतानि चेत्येवं चतुर्विधपञ्चाकाशादिधातवः सूक्ष्मशरीरी चात्मेति षड्भ्यो  
जायते पुरुषस्तेभ्य एव च रोगा आदिबलप्रवृत्ताः कुष्टार्शः प्रभृतयः शुक्रशोणित-  
दोषान्वयाः पितृजाश्च मातृजाश्चेति द्विधा ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—इति शौनकिवचनं श्रुत्वा भद्रकाप्यस्तु तन्नेत्याह । कस्मात् ?  
न ह्यन्धोऽन्धं प्रजायते इति । हि यस्मादन्धो नान्धं पुरुषः पुरुषं गौर्गाम्भ्वो  
वाश्वं प्रजायते । तस्मान्न मातापितृभवा राशिपुरुषाः । अपि च ते तव माता-  
पित्रोः प्रागुत्पत्तिर्न युज्यते । तयोरपि मातापितरौ, तयोरपि मातापितरा-  
वित्येवं बीजभूतयोस्तयोरमातापितृभवत्वमन्तरेणोपपत्तिर्न स्यादिति । सत्यम् ।  
बीजभूतौ मातापितरौ न मातापितृजौ भवतः । तदुक्तं मनुना तत्र नारायण-  
स्योत्पत्तिरण्डमध्यतो दर्शिता तेन नारायणेन च सृष्टानि शुद्धान्तानि सूक्ष्माणि  
दर्शितानि स्थूलपुरुषसर्गश्चोक्तः—“द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।  
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥ तपस्तप्त्वाऽसृजद्व्यन्तु स स्वयं  
पुरुषो विराट् । तं मां वित्तास्य सर्वस्य सृष्टारं द्विजसत्तमाः ॥” इति ।  
एवं तर्हि चामातापितृजश्च स बीजपुरुषो नारायण इत्यनेकान्तो नाशङ्क्यः स  
हि न राशिसंज्ञः पुरुषः । विराडादयस्तु राशिपुरुषा इत्येवमुपपत्तौ चाह—  
(देवनरादि विशेषोपपत्तिर्न स्यात् तस्मादुच्यते) कम्मजस्त्वित्यादि । जन्तुस्तु

चक्रपाणिः—न ह्यन्ध इत्यादि । मातापितृकारणत्वेऽन्धेन जातोऽन्धः स्यादित्यर्थः । हेत्वन्तर-  
माह—मातापित्रोरपीत्यादि । ते तव मातापितृकारणवादिनः, प्रागिति सर्गादौ निःशरीरिणि  
मातापित्रोरुत्पत्तिर्न स्यात्, सर्गादौ निःशरीरिण्यादिभूतयोर्मातापित्रोरभावाद्गुत्पादो नोपपन्न इति  
भावः ॥ ९ ॥

\* युज्यते इति द्वितीयः पाठः ।

भरद्वाजस्तु नेत्याह कर्त्ता पूर्वं हि कर्मणः ।

दृष्टं न चाकृतं कम्म यस्य स्यात् पुरुषः फलम् ॥

सर्व्व एव कर्मजः शुभाशुभकर्मफलदैवजः । तस्य च रोगाः कर्मजा एव । कस्मात् ? तत आह—न ह्यत इत्यादि । हि यस्मात् कर्मणः शुभाशुभ-  
लक्षणाद्वाङ्मनःशरीरारम्भाद् वैधावैधादृते पुरुषस्य रोगाणां वा न जन्म  
स्यात् । कम्म हि सद्यःफलं कालान्तरफलञ्च । सद्यःफलमाहाराचारादि  
कालान्तरफलञ्च तथा यज्ञादिवैधमवैधञ्च पापकर्ममिति ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—तद्भद्रकाप्यवचनं श्रुत्वा तन्नेत्याह भरद्वाजः कुमारशिराः ।  
कस्मात् ? कर्त्ता पूर्वं हि कर्मण इत्यादि । हि यस्मात् कर्मणः पूर्वं  
राशिपुरुषः कर्त्तास्ति स कुतो जातः ? नन्वस्त्यकृतं प्रसिद्धं कर्म ततः  
पुरुषो जायत इति चेत् तत्रोच्यते—दृष्टमित्यादि । यस्य कर्मणः फलं  
पुरुषः स्यात् पुनर्जन्म पुरुषस्य स्यात् तत् कर्म न स्वत्वकृतं योगिभिर्दृष्टं  
कर्मणः कर्त्तृस्तस्य जन्म कुतः कर्म स्यान्न च किमपि पूर्वं तत् पुरुषेणाकृत-  
मस्ति । तस्मान्न कर्मजः पुरुषः । सत्यञ्चैतत् । यः पुरुषः प्रथमो जातस्तस्य  
तत्प्रथमजन्मनो हेतुर्नारायणकृतमेव दैवं न स्वकृतम् । तत्र जन्मनि यत्  
स्वकृतं कम्मे तत्फलं तस्य पुनर्जन्म । तस्मात् कर्मजः पुरुषः । उक्तञ्चैतत्  
मनुना तद्विशितमग्रे—“सर्व्वेषान्तु स नामानि कर्म्माणि च पृथक् पृथक्”  
इत्यारभ्य “कर्मणाञ्च विवेकार्थं धर्म्माधर्म्मौव्यवेचयत्” इत्यादिना । तथा  
चासौ नारायणो महान् ब्रह्मा सूक्ष्मशरीरिणः पुरुषान् सृष्ट्वा पृथक् पृथक्  
नामानि देवनरपशुपक्षिप्रभृतीनि तेषां नामानि कर्म्माणि देवानां नराणां पशु-  
पक्ष्यादीनां पृथक् पृथक् निष्कर्त्तवान् । तत्र हिंसाहिंस्रमृदुक्रूरधर्म्माधर्म्मसत्यानृतादि-  
द्वन्द्वकर्म्माणि सृष्ट्वा यस्मिन् कर्मणि यं सूक्ष्मं पुरुषं तत् प्रथमसर्गकाले  
नियुक्तवान् । स पुमान् पुनः पुनर्जायमानः स्वयमेव तत् कर्म भजते । तच्च कर्म  
तं स्वयमाविशति । तत् कर्मणाञ्च फलस्य विवेचनार्थं धर्म्माधर्म्मौ स नारायणो  
विवेचयाञ्चकार । इति तन्नारायणब्रह्मणा कृतकर्मवशाज्जातः पुरुषो देवनरादि-

चक्रपाणिः—कर्त्ता पूर्वं हीत्यादि । कर्मणः पूर्वं कर्त्ता भवतीति शेषः, येन कर्मणा स  
पुरुषः कर्त्तव्यः, तस्य कर्मणः पुरुषपूर्वभाविकत्वात् कारणत्वं स्वीकर्त्तव्यम्, ततश्च स चेद  
विना कर्म पुरुषोऽभूत्, कथं पुरुषस्य कर्म कारणमिति भावः ; अथ शङ्क्यते—अकृतमेवादौ  
पुरुषजनकं कर्म भविष्यतीत्याह—दृष्टं न चेत्यादि । अकृतं कर्म न दृष्टं प्रमाणेन नोपलब्धम्

भावहेतुः स्वभावस्तु व्याधीनां पुरुषस्य च ।

खरद्रवचलोष्णत्वं तेजोऽन्तानां तथैव हि ॥ १० ॥

काङ्कायनस्तु नेत्याह न ह्यारम्भफलं भवेत् ।

भवेत् स्वभावाद् भावानामसिद्धिः सिद्धिरेव च ॥

सृष्टा त्वमितसङ्कल्पो ब्रह्मापत्यं प्रजापतिः ।

चेतनाचेतनस्यायं कारणं \* सुखदुःखयोः ॥ ११ ॥

योनिषु ब्राह्मणादिवर्णतया जातोऽपि कश्चिद्विंस्रः कश्चिदहिंस्रः कश्चिन्मृदुः कश्चित् क्रूरः कश्चिद्भार्मिकः कश्चिदधार्मिकः कश्चित् सत्यवादी कश्चिन्मिथ्या-वादीत्येवमादि विशेषो भवति । इत्येवञ्चेदुच्यते तत्राह—भावहेतुरित्यादि । योऽसौ प्रथमसर्गे नारायणेन हिंसाहिंसादिभिर्यो नियुक्तः स खलु हिंसादिको धर्मः स्वभाव उच्यते । न कर्म । स एव स्वभावो नाम पुरुषस्य भावहेतुर्व्याधी-नाश्च भावहेतुरिति । तत्र दृष्टान्तः—खरेत्यादि । हि यस्माद् यथैव तेजोऽन्तानां भूजलानिलतेजसां क्रमेण खरत्वादयः स्वभावाः आदिसर्गे तथैव सृष्टत्वात् ॥१०॥

गङ्गाधरः—तद्भरद्वाजवचनं श्रुत्वा काङ्कायनो तन्नेत्याह वाङ्मोक्षिषक् । कस्मात् ? तत आह—न ह्यारम्भेत्यादि । हि यस्मादिह पुरुषेणारभ्यते यद्यत् कर्म तस्य तस्यैवारम्भस्य शुभस्याशुभस्य वा तथाविधं शुभमशुभं वा फलं भवेत् । न स्वभावादेव भावानां शुभाशुभानां सिद्धिरसिद्धिर्वा भवेत् । तस्मान्न स्वभावजः पुरुषः स्वभावजा व्याधयः । किं तर्हि तयोः कारण-मिति ? अत आह—सृष्टा खित्यादि । अमितसङ्कल्पो ब्रह्माऽसौ नारायणः प्रजापतिरपत्यं सृष्टा यथा सूक्ष्मशरीरिणां सृष्टा तथा राशिसंज्ञमपत्यञ्च सृष्टा इत्यर्थः, यस्मात् शुभाशुभकर्म क्रियाजन्यमेव धर्माधर्मरूपं सर्वं भवतीति भावः ; भाव-हेतुरुत्पत्तिहेतुः । स्वाभाविकत्वे दृष्टान्तमाह—खरेत्यादि । तेजोऽन्तानामिति “खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम्” इत्यादि वक्ष्यमाणक्रमेण भवेत् ॥ १० ॥

चक्रपाणिः—स्वभावादित्यत्रादौ ‘यदि’ इत्यध्याहर्तव्यम्, तेन यदि स्वभावादेव भावानां विकारशरीरादीनां सिद्धयसिद्धी भवतः, तदा आरम्भफलं न भवेत्, स्वाभाविकत्वाद् भावानाम् ; य इमे लोकशास्त्रसिद्धा यागकृष्यध्ययनाधारमभास्ते निष्प्रयोजना भवेयुरकारणत्वादित्यर्थः । स्वष्टेत्यादौ—जगतः सुखदुःखयोश्च सृष्टा प्रजापतिरिति योजना ; स च ब्रह्मणोऽपत्यम् ; अमित-

तन्नेति भिक्षुरात्रेयो न ह्यपत्यं प्रजापतिः ।

प्रजाहितैषी सततं दुःखैर्युज्यादसाधुवत् ॥

कालजः पुरुषस्त्वेव कालजास्तस्य चामयाः ।

जगत् कालवशं सर्वं कालः सर्वत्र कारणम् ॥ १२ ॥

तथर्षीणां विवदतामुवाचेदं पुनर्व्वसुः ।

मैवं रोचत तत्त्वं हि दुष्प्राप्यं \* पक्षसंश्रयात् ॥

प्रथममर्द्धेन नारी भूत्वाद्धेन पुरुषो भूत्वा विराजमसृजदित्येवं प्राग्दशितं मनूक्तमिति । तथा चेतनाचेतनस्य देवनरादेर्व्वक्ष्यदेश्च जगतः सुखदुःखयोश्चायं ब्रह्मा सृष्टा । सुखमारोग्यं दुःखं विकारः । तन्मनूक्तं प्राग्दशितम्—‘द्वन्द्वैर्योजयन् च्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः’ इति । प्रथमसर्ग एव सुखदुःखादियुक्ताः प्रजाः सूक्ष्मा ब्रह्मणा सृष्टा इति ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—तत् काङ्क्षायनवचनं श्रुत्वा आत्रेयो भिक्षुस्तन्न इत्याह । कस्मात् ? तत आह—न ह्यपत्यमित्यादि । प्रजाहितैषी प्रजापतिर्ब्रह्मा हि यस्मादसाधुवत् सततमपत्यं दुःखैर्न युज्यात् । यच्च मनुनोक्तं द्वन्द्वैः सुखदुःखादिभिरिमाः प्रजा अयोजयदिति, तदादिसर्गे सक्षमशरीरिप्रजाः सुखदुःखादिद्वन्द्वभाकशीलताभिरयोजयदिति । यो हितमाचरेत् स सुखं भुञ्जीत यस्तहितं स दुःखमिति । तस्मात्तु ब्रह्मा प्रथममपत्यं विराजं विना नान्यदपत्यं सृजति न च रोगस्य कारणमिति । तर्हि कस्मात् पुरुषो जायते कस्माद्वा तस्य रोगा इति ? अत आह—कालज इत्यादि । पुरुषः कालजः कालविशेषाज्जायते । तस्यामयाश्च कालजाः कालाज्जायन्ते । जगत् सर्वं कालवशम् । तस्मात् सर्वत्रैव कालः कारणं भवति ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—तथर्षीणां विवदतां निरुक्तरूपेण विवदमानानामृषीणां पारीक्षिप्रभृतीनां विवादं श्रुत्वा पुनर्व्वसुरात्रेय इदमुवाच । किमुवाच तदाह—सङ्कल्प इति युगपदपरिमितस्थावरजङ्गमरूपकार्य्यकर्तृत्वेनापरिमिततज्जननसङ्कल्प इत्यर्थः । असाधुवदित्यसाधुरिवापत्यद्रोहकारी ॥ ११।१२ ॥

चक्रपाणिः—पक्षसंश्रयादिति रागतः पक्षसंग्रहात् ; निश्चिन्तानिवेति परमार्थतोऽनिश्चिता एव, परं पक्षरागात् बुद्धिप्रकर्षान्निश्चिता इवाभिधीयन्ते पक्षा इत्यर्थः । पक्षान्तमिति सम्यगर्थाव-

\* रोचत इत्यत्र वोचत तथा दुष्प्राप्यमित्यत्र दुष्प्रापम् इति चक्रः ।

वादान् सप्रतिवादांश्च वदन्तो निश्चितानिव ।  
 पक्षान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीडकवद्गतौ ॥  
 मुक्तवैवं वादसंघट्टमध्यात्ममनुचिन्त्यताम् ।  
 नाविधूते तमःस्कन्धे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते ॥  
 येषामेव हि भावानां सम्पत् संजनयेन्नरम् ।  
 तेषामेव विपद्वाधीन् विविधान् समुदीरयेत् ॥ १३ ॥

मैवं रोचत । एवं भवन्तो मा रोचत । कस्मादिति ? अत आह—तत्त्व  
 हीत्यादि । हि यस्मात् तत्त्वं याथार्थ्यं पक्षसंश्रयात् दुष्प्राप्यं भवति ।  
 कस्मादिति ? अत आह—वादानित्यादि । यस्माद् वादिनः सप्रतिवादान्  
 वादांश्च निश्चितानिव वदन्तो नैव पक्षान्तं गच्छन्ति । तिलपीडकवद्गतौ ।  
 यथा तिलपीडकस्तिलानां गतौ नैवान्तं गच्छति । तस्मादेवं वादसंघट्टं तमः-  
 स्कन्धकार्यं मुक्त्वाऽध्यात्म्यमात्मानमधिकृत्य भवद्भिरनुचिन्त्यताम् । कस्मा-  
 दिति ? अत आह—नाविधूत इत्यादि । हि यस्मादविधूते तमःस्कन्धे सति  
 ज्ञेयेऽर्थे ज्ञानं न प्रवर्तते । प्रवर्तते तु खलु विधूत एव सति तमःस्कन्धे ।  
 इति ।

इत्थेवमुक्त्वा पुनर्व्वसुः स्वयमत्र तत्त्वमाह—येषामित्यादि । येषां  
 भावानां सम्पत् खल्ववैगुण्यं नरं संजनयेत्, तेषामेव भावानां विपत् खलु  
 वैगुण्यं विविधान् व्याधीन् समुदीरयेत् संजनयेत् । अव्यापन्ना हेतवे भावाः  
 खलु नरं संजनयन्ति । आत्मा च मनश्च रसश्च षड्धातुकश्च मातापितरौ च  
 कर्म च स्वभावश्च ब्रह्मा च कालश्चेति । व्यापन्नाश्चैते तस्य नरस्य विविधान्  
 व्याधीन् संजनयन्ति । न त्वव्यापन्न एषामेकैको भावो नरं संजनयति ।  
 व्यापन्नो वाप्येकैको व्याधीन् संजनयतीति । तत्रात्मनः सम्पत् खलु पर-  
 लोकभोगावसानं जन्मकारणीभूतकर्मफलपरिणामश्च । ततो जातस्यात्मनो  
 व्यापत् खल्वशुभकर्मफलक्रमजातस्वभावविशेषः । ततश्च प्रज्ञापराधाद् धीधृति-

धारणरूपं पक्षान्तम् ; तिलपीडकस्त्वैलार्थं यन्त्रोपरिस्थितो मनुष्यः, तिलपीडको यथा,—गतौ  
 गमने सति गम्यदेशाग्राप्सया चान्तं नासादयति, पुनस्तत्रैव भ्रमणात् ; तथा—पक्षसंश्रयाद्  
 वादिनोऽपीत्यर्थः ; सङ्घट्टोऽन्योन्यपीडको मेलकः ; अध्यात्मं तत्त्वम् ; स्कन्धः समूहः ; पक्ष-  
 रागश्चेह तत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकत्वेन 'तमःस्कन्धः' उच्यते । सिद्धान्तमाह—येषामित्यादि । येषा-

स्मृतिभ्रंशादयथार्थमिच्छा भवतीत्येवमात्मनो व्यापदि मनोव्यापदयथावत-  
प्रवृत्तिर्भवति । आत्मसम्पदि तु यथावत मनःप्रवृत्तिः स्यादिति मनसः सम्पत् ।  
रसव्यापत् पुनरसात्म्याहारकृतदोषः । षड्धातुकपुंसो व्यापत् खल्वादिसर्गे  
हिंस्राहिंस्रादिस्वभावयोगः परलोकभोगानवशेषप्रयुक्तगर्भानवक्रान्तिप्रभृतिः ।  
मातृव्यापत्—दुष्टात्तवगर्भाशययोनिभावः । अपत्यजननकर्मफलस्याप्यभावा-  
सौष्ठवे । पितृव्यापच्च ते दुष्टशुक्रता च । कर्मणो व्यापत् तु—असम्यक्-  
कृतता पूर्वजन्मनि । स्वभावव्यापत्—पूर्वकृततत्कर्मफलव्यापज्जात-  
स्वभावता । विधातुर्व्यापत्—अयथावत्कृतपूर्वजन्मकर्मफलप्राप्तता । काल-  
व्यापत् पुनः—कृतयुगादिस्वभावात् क्रमेण वस्तूनां रसवीर्यविपाकप्रभावहास-  
कृतस्वभावस्ततस्वभाववैपरीत्यञ्च । ततः क्रमेण पुंसां बलवीर्यपराक्रम-  
शीलाचारशौचविद्याबुद्धिदेहेन्द्रियशक्तिप्रभृतीनां हानिर्भवति । अशुभक्षणता  
च कालव्यापत् । इत्येवं व्यापन्नेष्वात्मादिषु व्यस्तेषु समस्तेषु यथाहं  
व्याधयः स्युः । अव्यापन्नेषु तेषु सर्वसम्पदुपेतः पुरुषो जायते । समस्तेषु  
व्यस्तेषु तु यथातथं सम्पदुपेतः स्यादिति यज्जः पुरुषो न तज्जास्तस्य व्याधय  
इति सिद्धान्तः ।

अथात्र वयमाशङ्कामहे । श्रूयते यद्यज्जुर्वेदीयतैत्तिरीयशाखायाम् उप-  
निषदि भृगुवल्ल्याम्—ईश्वरादेव खलु व्योमकेशात् परमात्मनो ब्रह्मणो भूतानां  
जन्मादि । न च तस्य व्यापदस्ति । कथम् ? तर्हि येषां भावानां सम्पन्नरं  
संजनयेत् तेषां व्यापद्विधान् व्याधीन् संजनयेदिति । तद्यथा भृगुवल्ल्यां  
श्रुतिः—“भृगुर्वै वारुणिवरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति ।  
तस्मा एतत् प्रोवाच । अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति । तं होवाच  
यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभि-  
संविशन्ति तद्विज्ज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वाऽन्नं  
ब्रह्मेति व्यजानात् । अन्नाद्धेऽव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । अन्नेन  
जातानि जीवन्ति । अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव  
वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तं होवाच तपसा ब्रह्म  
विज्ज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा प्राणो  
ब्रह्मेति व्यजानात् । प्राणाद्धेऽव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । प्राणेन  
जातानि जीवन्ति । प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव ब्रह्मणं  
मिति यज्जज्ञातीयानां, ते च महाभूतादयः ; तेन महाभूतत्वेनैव वातादीनां ग्रहणम् ; सम्पदिति

पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तं होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा मनो ब्रह्मेति व्यजानात् । मनसो हेतुव खल्विमानि भूतानि जायन्ते मनसा जातानि जीवन्ति । मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तं होवाच तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् । विज्ञानाद्धेतुव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । विज्ञानेन जातानि जीवन्ति । विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तं होवाच तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा नन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्धेतुव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता । य एवं वेदेत्यादि ।” अत्र परमे व्योमन् प्रतिष्ठितेत्युपसंहारवचनेन शुक्रशोणितारम्भकान्नप्राणमनोविज्ञानानां भूतजन्मजीवनादिकारणत्वं निराकृत्य परव्योमरूपस्य परमात्मन ईश्वरस्य व्योमकेशस्योक्तेस्तस्य निर्विकारस्य व्यापन्नं सम्भवति । कथं यज्जः पुरुषस्तज्जा न तस्य व्याधय इति स्यात् । इति त्वस्माकमाशङ्केति ।

अत्रोच्यते तत्त्वविद्धिः । उक्तं श्वेताश्वतरोपनिषदि—“न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाप्यधिकञ्च दृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।” इति । तथा—“निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् । अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥” शरणमहं प्रपद्ये इति पूर्वोक्तनान्वयः । इति । तस्य परमव्योम्नः शिवस्य परमात्मनः खलु कार्य्याभावो निष्क्रियत्वात् । बाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिरूपक्रियाभावात् तस्य कार्य्याभाव उक्तः । पुनश्चोक्तस्तत्रैव—“स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकारोऽगुणी सर्वविद्यः । प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिवन्धहेतुः ॥” इति मन्त्रे विश्वकृदिति । तथा तत्रैव—“छन्दांसि यज्ञाः कवयो ब्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति । यस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः ॥” इति मन्त्रेण मायाविशिष्टप्रज्ञस्तगुणता ; नरमिति संयोगिपुरुषम्, विपदिति वैगुण्यं, ससुदीरथेदिति जनयेत् । एतेषाञ्च ऋषिवादानां कथनं पूर्वपक्षसिद्धान्तश्रवणेन शिष्यसन्देहनिवृत्त्यर्थम् ॥ १३ ॥



एतद्विश्वं सृजते इति चोक्तम् । तस्मात् स्वयं किञ्चिदपि न करोतीति तस्य न कार्यमस्ति । ज्ञानबलक्रियाभिः शक्तिभिर्विश्वं क्रियत इति तच्छक्ति-  
मत्त्वाद्विश्वकृदित्युक्तम् । तद्यथा—अतिपरमसूक्ष्मध्वन्यादिप्रभावगुणवती  
अतिपरमव्योमरूपा शक्तिरेव मूलं ब्रह्म । तत् प्राक् सर्गात् क्रियागुणव्यपदेशा-  
भावादसदेव सत् । तत् तेजोऽसृजत् । तत्तेजोऽपोऽसृजत् । ता आपोऽन्नम्  
असृजन्त इति तिस्रो देवताः सृष्ट्वा ताभिवेशिष्टाऽसावजा शक्तिर्लोहितशुक्ल-  
कृष्णवदाभासाऽतिसूक्ष्मध्वन्यवरुद्धाऽतिसूक्ष्मव्योमरूपा वाग्बभूव । सा खलु  
सर्वाणि गायति च त्रायते च संसारादिति गायत्री नाम महामाया शक्तिः ।  
सा पुनः शान्तिर्विद्या प्रतिष्ठा निवृत्तिरिति चतस्रः शक्तयो भूत्वैकीभूय  
तच्चतुर्व्यूहः परमव्योमरूपः परमात्मा व्योमकेशः शिवो बभूव । स चानन्त-  
शक्तिमान् । तस्य स्वाभाविक्यस्तिस्रः शक्तयो ज्ञानशक्तिरिच्छाशक्तिः क्रिया-  
शक्तिश्चेति । ततः परमात्मा शिवः परमव्योमरूप आत्मयोनिब्रह्मयोनि-  
श्चेत्युक्तम् । तथा चोक्तं श्वेताश्वतरोपनिषदि—“ब्रह्मवाहिनो वदन्ति । किं  
कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क च सम्प्रतिष्ठिताः । अधिष्ठिताः  
केन सुखेतरेषु वर्त्तमाने ब्रह्मावदो व्यवस्थम् ॥ कालः स्वभावो नियतियेदृच्छा  
भूतानि योनिः पुरुषेति चिन्ता । संयोग एषां न तु आत्मभावादात्माप्यनीशः  
सुखदुःखहेतोः ॥ ते ध्यानयोगालुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।  
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥” इति  
कालादीनामेकैकस्य जन्मादिकारणत्वाभावेन ब्रह्मत्वं निराकृत्य देवस्य परम-  
व्योमनः शिवस्यात्मा या शक्तिस्तस्याः सर्वेषां जन्मादिकारणत्वादब्रह्मत्व-  
मुक्तम् । सैवाजा सर्व्वं ससज्जति चोक्तम्—“अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां  
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाम् । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां  
भुक्तभागामजोऽन्यः ।” इति । छान्दोग्योपनिषदि चोक्तम्—“गायत्री वा इदं  
सर्व्वं भूतं यदिदं किञ्च । वाग्वै गायत्री वाग्वै सर्व्वभूतं गायति च त्रायते  
चेति ।” तद्यथा तदप्युक्तं तत्रैव—“सेयं देवतैस्त हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता  
अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति । तासां त्रिवृतं त्रिवृत-  
मेकैकां करवाणीति च । सेयं देवतेमास्तिस्रा देवता अनेन जीवेनात्मनानु-  
प्रविश्य नामरूपे व्यकरोत् तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोदिति गायत्री शिवे-  
च्छयैकीभूय शिवेन सह सर्व्वं ससज्जति ।” नन्वेवं तर्हि गायत्र्याः परमात्मादि  
सर्व्वं जातं कथं यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते इत्यादि विद्या परमे व्योम्नि

आत्रेयस्य भगवतो वचनमनुनिश्चय्य पुनरपि वामकः  
काशिपतिरुवाच भगवन्तमात्रेयम् । भगवन् ! सम्पत्तिनिमित्तजस्य  
पुरुषस्य विपत्तिनिमित्तजानाञ्च रोगाणां किमभिवृद्धिकारणं  
भवतीति ? तमुवाच भगवानात्रेयः—हिताहारोपयोग एक  
एव पुरुषस्याभिवृद्धिकरो भवति, अहिताहारोपयोगः पुन-  
र्व्याधिनिमित्तमिति ॥ १४ ॥

परमात्मनि प्रतिष्ठां गच्छतीति चेत् ? न । परमव्योम्नो हि जन्मादिव्यवच्छेदाथम्  
इमानीत्युक्तम् । इमानि हि भूतानि गायत्र्या विशिष्टात् परमव्योम्नः शिवा-  
ज्जायन्ते । एतज्ज्ञापनार्थं पूर्वमुक्तम् । तस्मा एतत् प्रोवाच—अन्नं प्राणं  
चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति । शक्तिर्ब्रह्म हि अतिस्मृक्ष्मध्वन्यादिमदतिपरम-  
व्योमरूपत्वात् श्रोत्रं ब्रह्म तेजश्चक्षुरापः प्राणोऽन्नमन्नं गायत्री वाक् स्वयं मन  
इति संहतरूपं परमव्योम खल्वन्नेन सर्वं बिभ्रदन्नं विश्वम्भरः प्राणेन  
प्राणन् प्राणश्चक्षुषा पश्यंश्चक्षुः श्रोत्रेण शृण्वन् श्रोत्रं स्वयं मन्वानो मनो वाचा  
वदन् वाक् परमात्मेति । तस्य तेजोऽवन्नान्यंशाः परिणामिनस्तेषां वैगुण्य-  
मधर्माद्भवति सम्पत् पुनर्धर्मात् । तस्माद् यज्जः पुरुषस्तज्जा न तस्य  
व्याध्य इति ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—इत्येतद्वचनं भगवत आत्रेयस्य पुनर्व्वसोः श्रुत्वा काशिपति-  
वामकः पुनरप्युवाच भगवन्तमात्रेयं पुनर्व्वसुम् । भगवन् भोः पुनर्व्वसो  
तावदुत्पत्तिकारणानाम् सम्पत्तिनिमित्तजस्य पुरुषस्याभिवृद्धिकारणं किं  
भवति ? तथा तावत् कारणानां व्यापत्तिनिमित्तजानाञ्च रोगाणामभि-  
वृद्धिकारणं किं भवति ? इति ।

एवं पृष्ठवन्तं तं काशिपतिं वामकमात्रेय उवाच । तद् यथा—हिता-  
हारेत्यादि । एक एव हिताहारोपयोगः पुरुषस्याभिवृद्धिकरो भवति ।  
एक एवाहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधीनामुत्पत्त्यभिवृद्धिनिमित्तं भवतीति ।

चक्रपाणिः—हिताहारोपयोग एक एवेत्यवधारणेनान्याप्राधान्यं दर्शयति, नान्यप्रतिषेधम् ।  
आचारस्य स्वप्नादेः कारणत्वेन तथा शब्दादीनामपि कारणत्वात् ; व्याधिनिमित्तमिति व्याध्यभि-  
वृद्धिनिमित्तं मध्यपदलोपाज्ज्ञेयं, अभिवृद्धिकारणस्यैव पृष्टत्वात्, तथाहिताहारस्य यद् व्याधि-  
निमित्तत्वं, तस्य “तेषामेव विपद् व्याधीन् विविधान् समुदीरयेद्” इत्येतेनैवोक्तत्वात् ; किंवा

एवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—कथमिह भगवन् हिताहितानामाहारजातानां लक्षणमनपवादमभिजानीयाम । हितसमाख्यातानाञ्चैव ह्याहारजातानामहितसमाख्यातानाञ्च मात्राकालक्रियाभूमिदेहदोषपुरुषावस्थान्तरेषु विपरीतकारित्वमुपलभामह इति ॥ १५ ॥

तथा च गर्भिण्या हिताहारोपयोगादरोगमेव पुरुषोत्पत्तिरभिवृद्धिश्च । अहिताहारोपयोगात् सरोगं गभस्याभिवृद्धिर्भवति । एवं जातस्य हिताहारोपयोगादरोगं पुरुषोऽभिवर्द्धते रोगाश्चाहिताहारादुत्पद्यन्तेऽभिवर्द्धन्ते चेति ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—एवं वादिनं भगवन्तमात्रेयं गुरुं पुनर्व्वसुमग्निवेश उवाच । कथमित्यादि । भगवन् गुरो हिताहितानामाहारजातानामनपवादं लक्षणमपवादहीनं लक्षणं कथं वयमभिजानीयामेति । अथ येन हितं भवति तद्धितलक्षणं येनाहितं स्यात् तदहितलक्षणमिति ।

कस्तत्र संशय इति ? अत आह—हितसमाख्यातानाञ्चैवेत्यादि । हितसमाख्यातानाञ्चैवाहारसमूहानामहितसमाख्यातानाञ्च मात्रादिषु विपरीतकारित्वमहितकारित्वमुपलभामह इति । तद्यथा—रक्तशाल्यादिमुद्गादीनाम् एकान्तहितानाञ्च हीनातिमात्राभ्यामुपयोगात् । कालान्तरेषु नवत्वातिपुराणत्वकालेषूपयोगात् । क्रियान्तरेषु विरेचनक्रियादिषूपयोगात् । भूम्यन्तरेष्वानूपदेशभूम्यूपरभूमिषु जातानामुपयोगात् । देहान्तरेषु लङ्घनीयदेहेषूपयोगात् । दोषान्तरेषु शूलद्वारम्भकदोषेषूपयोगात् । पुरुषान्तरेषु लङ्घनीयादिषूपयोगात् । अवस्थान्तरेषु सुमूर्ण्वाद्यवस्थायामहितकारित्वमुप-

व्याधिनिमित्तशब्देन सामान्येन जनको वर्द्धकश्च हेतुरुच्यते । अनपवादमित्यव्यभिचारि । हिताहारदर्शनताहेतुमाह—हितसमाख्यातानामित्यादि । विपरीतकारित्वमिति पथ्यस्यापथ्यत्वं मात्रादिवशाद् भवति, तत्र पथ्या रक्तशाल्यादयोऽतिमात्रा हीनमात्रा वा मात्रादोषादपथ्या भवन्ति ; तथा कालवशात् त एव शाल्यादयो लघुत्वाद् बलवदग्नीनां हेमन्ते न हिताः ; कालशब्देन चेह नित्य एव कालो गृह्यते, भावस्थिकस्य पुरुषावस्थाशब्देन गृहीतत्वात् । क्रिया तु संस्करणं, तेन च रक्तशाल्यादिरसम्यक्स्विन्नत्वाप्रसूतत्वादिना ओदनदोषेणाहितो भवति ; तथा स एव भूमिसम्बन्धादानूपदेशजः सन् अपथ्यो भवति, तथा देहापेक्षया मेदस्विनो रक्तशालिल्लघुतया न हितो भवति, तदुक्तम्,—“गुरु चातर्पणञ्चेष्टं स्थूलानां कर्शनं प्रति”

तमुवाच भगवानात्रेयः—यदाहारजातमग्निवेश समांश्चैव शरीरधातून् प्रकृतौ स्थापयति विषमांश्च समीकरोत्येतद्धितं विद्धि । विपरीतमहितमेतद्धिताहितलक्षणमनपवादं भवति । एवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—भगवन् न त्वेतदेव-मुपदिष्टं भूयिष्ठकल्पाः सर्व्वभिषजो विज्ञास्यन्ति ॥ १६ ॥

लभामह इति । एवमहितसमाख्यातानांश्चाहारजातानां मात्राकालाद्यन्तरेषूप-योगाद्विपरीतकारित्वं हितकारित्वमुपलभामह इति ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—एवमुक्तवन्तं तमग्निवेशं भगवानात्रेयो हिताहितानामाहार जातानामनपवादलक्षणमुवाच । तद्यथा—यदाहारेत्यादि । भो अग्निवेश ! यदेव आहारजातं सम्यगयुक्तं समान् शरीराधातून् प्रकृतौ साम्यावस्थायां स्थापयति विषमांश्च शरीरधातून् समीकरोति, तदाहारजातं हितं विद्धि । यच्चैतद्विपरीत-माहारजातं सम्यगसम्यक् च युक्तमपि समान् शरीरधातून् विषमीकरोति विषमांश्च शरीरधातून् न समीकरोति तदहितं विद्धि । इत्येतद्धिताहितलक्षण-मनपवादं भवति । नास्ति ह्येतदप वज्जयित्वाऽन्यो वादोऽस्य कश्चिदित्यनप-वादः । सामान्यतो विशेषवचनमपवादः । ( एवमित्यादि । यदाहारजात-मित्यादिनोक्तवन्तमात्रेय-पुनर्व्वसुमग्निवेश उवाच ) नन्वेवमपि चोपदेशमात्रेण किमाहारजातं द्रव्यतो गुणतः कम्मतः सर्व्वावयवतश्च सर्व्वभिषगभिर्विदितं भवतीति ? अत उच्यते—न त्वेतदित्यादि । भूयिष्ठकल्पाः प्रायेण सर्व्वभिषज एतदाहारजातं हितमहितमेवंप्रकारेणोपदिष्टं न हिताहितं विज्ञास्यन्ति ॥ १६ ॥

इति ; तथा स एव 'दोषे वायावहितः', दोषशब्देन व्याधिरपि ग्रहीतव्यः । तथा पुरुषस्य बाह्यावस्थायां श्लेष्मप्रधानायां तिक्तादि पथ्यम्, तत् तु वार्द्धक्ये वृद्धवाते न पथ्यम् । अवस्था-न्तरशब्दश्च मात्रादिभिः प्रत्येकं सम्बध्यते ; एवमहितस्यापि मात्रादिपरिग्रहेण हितत्वमुन्ने-तव्यम् ॥ १५१५ ॥

चक्रपाणिः—सिद्धान्तयति—यदाहारजातमित्यादि । अनेन च ग्रन्थेन हिताहितत्वं न स्वरूपेण भावानाम्, किन्तु मात्रादिसव्यपेक्षमिति दर्शितं स्यात् । न त्वित्यादि ।—एतदिति हिताहितम् ; एवमुद्दिष्टमिति “यदाहारजातम्” इत्यादिलक्षणोद्दिष्टम् ; विज्ञास्यन्ति न त्विति सम्बन्धः ; एतस्मिन् हिताहितलक्षणे मात्राद्यवस्थान्तरज्ञानं विना न हितत्वमहितत्वं वा हितानां रक्तशाल्या-दीनामहितानां यवकादीनाञ्च ज्ञातुं पार्यते, मात्राद्यवस्थायाश्च दर्शनत्वेन सर्व्ववैद्या ज्ञानुमक्षमा इति ॥ १६ ॥

तमुवाच भगवानात्रेयः । येषां हि विदितमाहारजातमग्निवेश  
गुणतो द्रव्यतः कर्मतः सर्वावयवश्च मात्रादयो भावास्त  
एतदेवमुपदिष्टं विज्ञातुमुत्सहेरन् । यथा तु खल्वेतदेवमुपदिष्टं  
भूयिष्ठकल्पाः सर्व एव भिषजो विज्ञास्यन्ति तथैव तदुप-  
देक्ष्यामः । मात्रादीन् सर्वानुदाहरन्तु \* । तेषां हि बहुविधा  
विकल्पा भवन्ति ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—तर्हि चैवमुपदिष्टं के भिषजो हिताहितं विज्ञास्यन्तीति ? अत  
उच्यते—येषां हीत्यादि । येषां भिषजां गुणतो द्रव्यतः कर्मतः सर्वा-  
वयवश्चाहारजातं विदितं, विदिताश्च येषां तस्य मात्रादयो भावा मात्राकाल-  
क्रियाभूमिदेहदोषपुरुषावस्थान्तराणि, ते भिषज एवंप्रकारेण समान् धातून्  
प्रकृतौ स्थापयति विषमांश्च समीकरोति यदाहारजातं तद्धितं तद्विपरीतमहित-  
मित्येवंप्रकारेणोपदिष्टमेतद्धिताहितं विज्ञातुमुत्सहेरन् । येषां गुणादितो न  
विदितं ते कथं हिताहितं विज्ञास्यन्तीति ? अत उच्यते—यथा खित्यादि ।  
भूयिष्ठकल्पा ये सर्वभिषजस्ते खल्वेवमुपदिष्टं यदाहारजातं समान् धातून्  
प्रकृतौ स्थापयति विषमांश्च समीकरोति तद्धितं तद्विपरीतमहितमित्येतत्-  
प्रकारेणोपदिष्टमेव तद्धिताहितं ते गुणादितो यथा विज्ञास्यन्ति तथैव तद्धिता-  
हितमुपदेक्ष्यामः । तर्हि किं तस्याहारजातस्य मात्राद्यवस्थान्तराण्युपदेक्ष्यन्ते  
इति ? अत उच्यते—मात्रादीनित्यादि । ये सर्वभिषजो गुणतो द्रव्यतः  
कर्मतः सर्वावयवश्चाहारजातं न विदन्ति ते भूयिष्ठकल्पाः मात्रादीन्  
सर्वान् मात्राकालक्रियाभूमिदेहदोषपुरुषावस्थाविशेषान् कर्मकाले दृष्ट्वा  
विविच्योदाहरन्तु । कस्मादिति ? अत उच्यते—तेषां हीत्यादि । हि यस्मात् तेषां

चक्रपाणिः—एतदेवासर्वभिषग्ज्ञेयत्वं लक्षणस्याह—येषामित्यादि । गुणत इतीह प्रकरणे  
गुरुलघुत्वादिगुणतः ; द्रव्यत इति कारणतः, यथा—“इदमाप्यमिदमात्रेणैव” इत्यादि । किंवा  
द्रव्यत इत्याहारद्रव्याद् रक्तशाल्यादेः ; कर्मतः कार्यतः, यथा—“इदं जीवनमिदं  
वृंहणम्” इत्यादि ; सर्वावयवश्चेति रसवीर्यविपाकप्रभावेभ्यः ; मात्राद्यश्चानन्तरोक्ताः  
पुरुषावस्थान्तरान्ता ज्ञेयाः । आहारतत्त्वञ्च गुणादिभ्यो विदितम्, मात्राद्यश्च विदिता इति  
योजना ; किंवा गुणशब्देन रसवीर्यादीनामपि ग्रहणम् ; सर्वावयवश्चेति मात्रादिज्ञानेन  
सम्बध्यते । यथेत्यादौ एतदिति हिताहितम् ; भूयिष्ठकल्पा नानाप्रकारा उत्तमाधममध्यमा इत्यर्थः,

\* मात्रादीन् सर्वान् भावानुदाहरन्तः इति चक्रः ।

आहारविधिविशेषांस्तु खलु लक्षणतः सर्वव्यवतश्चानु-  
व्याख्यास्यामः ; तद्वयथा—आहारत्वमाहारस्यैकविधमर्था-  
भेदात् । पुनर्द्वियोनिः स्थावरजङ्गमात्मकत्वात् । द्विविधप्रभावो  
हिताहितोदकविशेषात् । चतुर्विधोपयोगः, पानाशनभक्षलेहो-  
पयोगात् । षड्रास्वादः रसभेदतः षड्विधत्वात् ॥ १८ ॥

मात्रादीनां प्रतिपुरुषमवस्थाविशेषे बहुविधा नूनाधिकादयो विकल्पा भवन्ति ।  
तानुपदेष्टुमपरिसङ्ख्यत्वात् प्रभवामः ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—तस्मादाहारविधिविशेषांस्तु लक्षणतो गुणादितोऽव्यवतश्च  
व्याख्यास्यामः । ततस्ते गुणादितो हिताहितं विज्ञास्यन्ति । तद्वयथेत्यादि ।  
आहारत्वमित्यादि आहारस्येति । आहार्यते जिह्वया दन्तैश्चाधो  
गलान्नीयते यः स आहारः । तस्याहारत्वं जिह्वया सह दन्तैश्च गलादधो-  
नयनमेकविधम् । कस्मात् ? अर्थाभेदात् । अर्थस्य प्रवृत्तिनिमित्तस्य जिह्वा-  
दन्तकरणकगलाधोनयनव्यापारजन्यगलाधोगमनस्य भेदाभावात् । सर्वत्रैव  
आहारेष्वपरिसङ्ख्येयेषु । स पुनराहारो द्वियोनिर्द्विप्रभवः । स्थावरजङ्गमात्मक-  
त्वात् । स एवाहारो द्विविधप्रभावः, द्विविधः प्रभावो वीर्यं यस्य ।  
कस्मात् ? हिताहितोदकविशेषात् । हितश्चाहितश्चौत्तरकालिको हि फलोदयो  
यस्ततस्तस्य विशेषात् । आहारेऽभ्यवहते दुर्गतरकालं विपाकादुत्तरं हितत्वा-  
हितत्वभेदः प्रभावस्य । स पुनश्चतुर्विधोपयोगः । चतुर्विध उपयोगः प्रयोगो  
यस्य सः । कस्मात् ? पानाशनभक्षलेहोपयोगात् । पानं द्रवद्रव्यगलाधो-  
नयनम् । अशनं गलाधोगमनजनकचूर्वणव्यापारः । भक्षो भक्षणमिह तु

भूयिष्ठकल्पा इति कृत्वा सर्वग्रहणमुत्तमादीनामेव श्रेष्ठश्रेष्ठतमादिभेदग्रहणार्थम् ; किंवा  
शल्याद्यष्टाङ्गाध्यायिवैद्यग्रहणार्थम् ; किंवा भूयिष्ठकल्पा इति विज्ञातभूरिहिताहितोदाहरणाः ;  
अप्रग्राधिकारेण बहु हिताहितं वक्तव्यम्, तच्चाल्पबुद्धीनां व्यवहाराय भवति, प्रकृष्टबुद्धीनाञ्चानु-  
ज्ञानायेति भावः ॥ १७ ॥

चक्रपाणिः—लक्षणत इति, लक्षणम्—आहारत्वस्थावरजङ्गमादि, एतच्च “तद्वयथाऽहारत्वम्”  
इत्यादिना “करणबाहुल्याद” इत्यन्तेन वक्ष्यति ; अव्यवत इत्येकदेशतः, एकदेशाश्च लोहित-  
शाख्यादयः, ते तु “तद्वयथा लोहितशाख्यादयः” इत्यादिना वक्ष्यन्ते । अर्थाभेदादित्यभ्यवहियमाण-  
त्वार्थाभेदात् ; द्वियोनिरिति द्विप्रभवः ; हितरूपोऽहितरूपो बोद्धव्यो हिताहितोदकः, स एव

विंशतिगुणः—गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरुक्षमन्दतीक्ष्णस्थिर-  
सर्मृदुकठिनविशदपिच्छिलश्लक्ष्णखरसूक्ष्मस्थूलसान्द्रद्रवानु-  
गमात् ॥ १६ ॥

पिष्टकादिद्रव्यगलाधोगमनजनकचूर्वणचूषणव्यापारः । लेहो जिह्वामात्रेण  
घनद्रवद्रव्यगलाधोगमनजनकचूर्वणचूषणव्यापारः । इत्येवं चतुर्विधया  
यस्योपयोगः क्रियते स चतुर्विधोपयोगः । स पुनराहारः षडास्वादः ।  
षडास्वादाः स्वादुताभजनानि यस्य सः । रसभेदतः षड्विधत्वादास्वादस्य ।  
मधुरास्वादोऽम्लास्वादो लवणास्वादः कटुकास्वादस्तिक्तास्वादः कषायास्वाद-  
श्चेति षडास्वादाः ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—स पुनराहारो विंशतिगुणः । विंशतिगुणा यस्य सः  
गुरुलघुत्वाद्यनुगमात् । आहारस्य हि गुरुलाघवादयो गुणा अनुगता  
एकान्तेन । रूपादयो गुणास्तु नैकान्तेनानुगताः । संन्यासादौ मलिनाहार-  
योगस्य हेतुत्वाद् गर्भस्य वर्णकरणार्थं तत्तद्वर्णद्रव्योपयोगाच्च सव्वैत्रोप-  
योगाभावात् । एवमेव गुरुलाघवादीनां द्वन्द्वानामेकैकस्यैवानुगमो न  
द्वन्द्वानामिति चेत् ? सत्यम् । स्वस्थानां हितोपयोगेऽहितवर्जनेन  
मलिनाहारवज्जनलाभे । तदुपयोगेऽनुगमाभावान्मलिनगुणस्य । सुश्रुते  
चेमे गुणा लक्षणतः प्रोक्ताः । तद्यथा—“अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गुणानां कर्म-  
विस्तरम् । कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रया गुणाः ॥ ह्लादनः स्तम्भनः  
शीतो मूर्च्छातृट्स्वेददाहजित् । उष्णस्तद्विपरीतः स्यात् पाचनश्च विशेषतः ॥  
स्नेहमाहवकृत् स्निग्धो बलवर्णकरस्तथा । रुक्षस्तद्विपरीतः स्याद्विशेषात्  
स्तम्भनः खरः ॥ पिच्छिलो जीवनो बल्यः सन्धानः श्लेष्मलो गुरुः । विशदो  
विपरीतोऽस्मात् कृदाचूषणरोपणः ॥ दाहपाककरस्तीक्ष्णः स्रावणो मृदु-  
रन्यथा । सादोपलेपबलकृद् गुरुस्तपैणवृंहणः । लघुस्तद्विपरीतः स्याल्लेखनो  
रोपणस्तथा ॥ दशाद्याः कर्मतः प्रोक्तास्तेषां कर्मेविशेषणैः । दशैवान्यान्  
प्रवक्ष्यामि द्रव्यादींस्तान् निबोध मे ॥ द्रवः प्रकृदेनः सान्द्रः स्थूलः स्याद्बन्ध-  
कारकः । श्लक्ष्णः पिच्छिलवज्ज्ञेयः कर्कशो विशदो यथा ॥ सुखानु-

विशेषः ; उदकं उत्तरकालीनं फलम् । गुरुलाघवादयो युग्माः परस्परविरोधिनो ज्ञेयाः, अनु-  
गमादिष्वनुगतत्वादिति ; आत्रेयभद्रकाप्यीये वक्ष्यमाणाः परत्वापरत्वादयो गुणा न तथात्राप-



अपरिसंख्येयविकल्पो द्रव्यसंयोगसंस्कारादिकरणबाहु-  
ल्यत् । तस्य खलु ये ये विकारावयवा भूयिष्ठमुपकल्प्यन्ते  
भूयिष्ठकल्पनाश्च मनुष्याणां प्रकृत्यैव हिततमाश्चाहित-  
तमाश्च तांस्तान् यथावदुपदेक्ष्यामः । तद्यथा—लोहित-  
शालयः शूकधान्यानां पथ्यतमत्वेन श्रेष्ठतमा भवन्ति, मुद्गाः

वन्धी मूक्षश्च सुगन्धो रोचनो मृदुः । दुर्गन्धो विपरीतोऽस्मादृष्टासारुचि-  
कारकः ॥ सरोऽनुलोमनः प्रोक्तो मन्दो यात्राकरः स्मृतः । व्यवायो चाखिलं  
देहं व्याप्य पाकाय कल्पते ॥ विकाशी विकशन्नेव सन्धिवन्धान् विमोक्षयेत् ।  
आशुकारी तथाशुत्वाद्वात्यम्भसि तैलवत् ॥ मूक्षस्तु सौक्ष्म्यात् मूक्षेषु स्रोतः-  
स्वनुसरः स्मृतः । गुणा विंशतिरित्येवं यथावत् परिकीर्त्तिताः ॥ इति ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—स पुनराहारोऽपरिसङ्ख्येयविकल्पः । अपरिसङ्ख्येयः संख्यातु-  
महेत्तरहितो विकल्पो यस्य सः । द्रव्याणां संयोगस्य करणस्य संस्कारस्य च  
बाहुल्यात् । इति । तर्हि किमसंङ्ख्यकविकल्पानां द्रव्याणां कात्स्न्येनोपदेशः  
करिष्यते इति ? अत उच्यते—तस्येत्यादि । तस्याहारस्य ये ये विकारा  
अवयवाश्च भूयिष्ठं प्रायेणोपकल्प्यन्ते, एवं ये ये भूयिष्ठकल्पना आहारस्य  
विकारा यवाग्वादयोऽवयवाश्च मनुष्याणां प्रकृत्यैव हिततमाश्चाथवाहिततमाश्च  
भवन्ति तांस्तानाहारस्य विकारानवयवान् यथावदुपदेक्ष्यामो न कृत्स्नान् ॥

तद्यथेत्यादि । लोहितेत्यादि । लोहितशालयः शूकधान्यानां पथ्य-  
तमत्वेन श्रेष्ठतमा भवन्तीति । लोहितशालय इति रक्तशालयः । शूकधान्याना-

कारका इति नेहोच्यन्ते ; ये तु तत्र संयोगकरणे आहारविधौ भूर्युपयोगिनी, ते बहुविधत्वेन  
त्वपरिसंख्येयविकल्पहेतुत्वेनैव निवेशिते, परिमाणन्तु मात्रा, सा चेहानुदाहरणीयत्वेन प्रतिज्ञाता  
“मात्रादीन् भावाननुदाहरन्तः” इति वचनेन । द्रव्यसंयोगकरणबाहुल्यादिति—द्रव्यं शूक-  
धान्यादिकं, संयोग आहारद्रव्याणां मेलनं, करणं संस्कारः । विकारावयवा इति प्रकारैकदेशाः,  
भूयिष्ठकल्पानामिति किञ्चिन्मूलवस्तूनां, कल्पशब्दो ह्ययमीषदसमाप्यर्थः, यथा—“राजकल्पः”  
इति ; एतेन प्रायशो वस्तूनां ये हिता अहिताश्च त उच्यन्त इत्यर्थः ; अन्ये तु भूयिष्ठकल्पाना-  
मिति समानधातुप्रकृतीनामिति ब्रूयते ; प्रकृत्येति न संयोगकरणादिना, किन्तु स्वभावेन ।

लोहितशाली रक्तशालिः, शूकधान्यानामित्यादौ निर्द्धारणे षष्ठी ; पथ्यतमत्वेन  
इति तमप्रयोगः सजातीयभ्यः प्रकृष्टत्वेन श्रेष्ठतमा इति तमप्रग्रहणं स्वार्थिकं, यथा—“युधिष्ठिरः



शमीधान्यानाम्, आन्तरीक्षमुदकानाम्, सैन्धवं लवणा-  
नाम्, जीवन्तीशाकं शाकानाम्, ऐण्यं मृगमांसानाम्,  
लावः पक्षिणाम्, गोधा विलेश्यानाम्, रोहितो मत्स्यानाम्,  
गव्यं सर्पिः सर्पिषाम्, गोक्षीरं क्षीराणाम्, तिलतैलं स्थावर-  
स्नेहानाम्, वराहवसा आनूपमृगवसानाम्, चुलुकीवसा मत्स्य-  
वसानाम्, पाकहंसवसा जलचरविहङ्गमवसानाम्, कुक्कुट-

मिति निर्द्धारणे षष्ठी । एवं वक्ष्यमाणेषु सर्वत्र बोध्यम् । पथ्यतमत्वेनेति  
पथ्यानां हितानां मध्येऽतिशयेन पथ्यास्तत्त्वेन तद्धर्मवत्त्वेन श्रेष्ठतमाः  
प्रशस्यातिशया ये तेषां मध्येऽतिशयेन प्रशस्यातिशया इति । एतत्सूत्रस्थं  
पथ्यतमत्वेन श्रेष्ठतमा इत्यधिकृतमुत्तरत्र सर्वत्रानुवर्त्तनीयम् । तथा च—  
मुद्राः शमीधान्यानामित्यादौ पथ्यतमत्वेन श्रेष्ठतमा इत्येवमादि योजना  
कार्या । शमीधान्यानि सूपयोनयः । आन्तरीक्षमुदकमेकविधमेवैन्द्रकारक-  
तौषारहैमनभेदेन चतुर्विधत्वेऽप्यान्तरीक्षत्वेनैक्यात् ।

सैन्धवं लवणानां पथ्यतमत्वेन श्रेष्ठतममिति यथाह लिङ्गवचनविपरि-  
णामादन्वयात् । जीवन्तीशाकं शाकानां स्वस्वातुरोभयत्र पथ्यतमत्वेनातुर-  
हिततमकाकमाच्यादिभ्यः श्रेष्ठतमम् । ऐण्यं मृगमांसानामिति मांस-  
जातितः पृथक्करणादेणस्य कृष्णसारस्य मांसं न तु चर्मदिक् पथ्यतमत्वेन  
श्रेष्ठम् । लावः पक्षिणामिति पक्षिणां मांसानामित्यनुवृत्त्या लावमांसं पक्षि-  
मांसानां श्रेष्ठतमम् । एवं गोधा सुवर्णगोधामांसं विलेश्यानां मांसानां  
श्रेष्ठतमम् । रोहितो मत्स्यानामिति । मत्स्यानां मांसानां मध्ये रोहितमत्स्यमांसं  
श्रेष्ठतमम् । गव्यं सर्पिः सर्पिषाम् । गोक्षीरं क्षीराणाम् । तिलतैलं स्थावर-  
स्नेहानाम् ।

वराहवसानूपवसानाम् । चुलुकीवसा शिशुमारवसा, मत्स्येषु चुलुकी  
व्यवह्रियते शास्त्रे । हंसवसा जलचरविहङ्गवसानां न तु जलचराणां सर्वेषां  
श्रेष्ठतमः कुरूणाम्” इति, तथा “अन्यतमं जिह्वावैषदिकम्” इति । श्रेष्ठतमा इति प्रशस्याः ।  
यद्यपि काकमाची त्रिदोषघ्नी रसायनी च, तथापीह जीवन्ती स्वस्थहितत्वप्रकर्षादुच्यते, स्वस्थ-  
हितत्वप्रकर्षश्चेह वचनादेव लभ्यते ; एवमन्यत्रापि व्याख्येयम्, काकमाच्यास्त्वयं विशेषः—  
यत्—काकमाची पर्युषिता मरणाय ; यद्यपि गोधारोहितौ कफपित्तवर्द्धनौ, वचनं हि—“भूशय

वसा विष्किरशकुनिवसानाम्, अजमेदः शाखादमेदसाम्, शृङ्गवेरं कन्दानाम्, मृद्वीका फलानाम्, शर्करा इक्षुविकाराणाम्, इति प्रकृत्यैव हिततमानामाहारविकाणां प्राधान्यतो द्रव्याणि व्याख्यातानि भवन्ति ॥ २० ॥

अत ऊर्ध्वमहिततमानप्युपदेक्ष्यामः । यवकाः शूकधान्यानामपथ्यतमत्वेन श्रेष्ठतमा भवन्ति, माषाः शमीधान्यानाम्, वर्षानादेयमुदकानाम्, ऊषरं लवणानाम्, सार्षप-शाकं शाकानाम्, गोमांसं मृगमांसानाम्, काणकपोतः मध्ये । कुकुटवसा विष्किरशकुनिवसानां श्रेष्ठतमा न तु सर्व्वेषां शकुनीनां वसानाम् । हृन्मेदस्तु वपावसेत्यभिधीयते । अजमेदः शाखादमेदसां श्रेष्ठतमम् । मेदः सर्व्वधातुस्नेहः । शृङ्गवेरं कन्दानाम् । मृद्वीका फलानाम् । शर्करा इक्षुविकाराणाम् । इति प्रकृत्या स्वभावेन हिततमानामाहारविकाणां प्राधान्यतो द्रव्याणि व्याख्यातानि ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—प्रकृत्यैव अहिततमानप्याहारविकाणां प्राधान्यतो द्रव्याणि उपदेक्ष्यामः । अहिततमानीति प्रतिभावचने निर्देशात् । पूर्व्वस्मादनुवृत्तेषु पथ्यतमत्वेन श्रेष्ठतमा भवन्तीति । एषु मध्ये पथ्यतमत्वेनेतिपदं प्रतियोगिपदमहिततमानीति दृष्ट्वा निवृत्तम् । तेनाहिततमत्वेन श्रेष्ठतमं भवतीति लब्धम् । स्फुटमाह—यवका इत्यादि । अपथ्यतमत्वेन श्रेष्ठतमा भवन्तीति परत्र सर्व्वत्रानुवर्त्येम् । यवका वेणुयवाः । माषाः शमीधान्यानामपथ्यतमत्वेन श्रेष्ठतमाः । वर्षानादेयं वर्षासु नदीजलम् । ऊषरं लवणानामिति—ऊषरमृत्तिकासम्भवं लवणं लवणानामपथ्यतमत्वेन श्रेष्ठतमं भवति । सार्षप-शाकं शाकानामपथ्यतमत्वेन श्रेष्ठतममतिशयेनापथ्यतमम् । गोमांसं मृग-वारिजाताश्च कफपित्तविद्वन्नाः” इति, तथापीह सजातीयेषु पथ्यत्वप्रकर्षेणोच्यते, तथा किञ्चिद्दोषकरस्यापि धातुभेदेन पथ्यत्वं भवत्येव, किञ्चित् स्वस्थहितत्वं द्रव्यस्य पृथगेव गुणः दोष-कर्तृत्वं दोषकृत्यं वापेक्षते, यदुक्तम्—“किञ्चिद्दोषप्रशमनं किञ्चिद् धातुप्रदूषणम् । स्वस्थवृत्तौ मतं किञ्चिद् द्रव्यं त्रिविधमुच्यते” ॥ चुल्लकी “शुशु” इति ख्यातः ; पाकहंसः श्वेतहंसः ॥ १८—२० ॥

चक्रपाणिः—प्रकृतम इति तमपूप्रयोगः पूर्व्ववत् स्वार्थिकः, यद्यप्यपथ्यतम इति तमपू-प्रयोगेणैव प्रकृतत्वं प्रतिपादितं, तथाप्यपथ्यतमानां बहूनां मध्ये प्रकर्षव्यापनार्थं “प्रकृततमः”

पक्षिणाम्, भेको विलेश्यानाम्, चिलिचिमो मत्स्यानाम्,  
आविकं सर्पिः सर्पिणाम्, अविक्षीरं क्षीराणाम्, कुसुम्भ-  
स्नेहः स्थावरस्नेहानाम्, महिषवसा आनूपमृगवसानाम्, कुम्भीर-  
वसा मत्स्यवसानाम्, काकमद्गुवसा जलचरविहङ्गवसा-  
नाम्, चटकवसा विष्किरशकुनिवसानाम्, हस्तिमेदः  
शखादमेदसाम्, मूलकं \* कन्दानाम्, निकुचफलं फला-  
नाम्, फाणितमिच्छुविकाराणाम् । इति प्रकृत्यैवाहिततमाना-  
माहारविकाराणां प्रकृष्टतमानि द्रव्याणि व्याख्यातानि  
भवन्ति ॥ २१ ॥

मांसानाम् । काणकपोतः पक्षिणां मांसानां मध्ये काणकपोतमांसमपथ्य-  
तमत्वेन श्रेष्ठतमम् । काणकपोतः काणाकौया ।

भेको विलेश्यानां मांसानां भेकमांसम् । चिलिचिमो मत्स्यानां मांसानां  
मध्ये वनरोहितमत्स्यमांसमपथ्यतमत्वेन श्रेष्ठतमम् । आविकं सापः सर्पिणाम् ।  
अविक्षीरं क्षीराणाम् । कुसुम्भस्नेहः स्थावरस्नेहानाम् । महिषवसानूपमृग-  
वसानाम् । कुम्भीरवसा मत्स्यवसानाम् । कुम्भीरोऽपि शास्त्रे मत्स्येषु  
व्यवह्रियते । काकमद्गुवसा जलचरविहङ्गवसानाम्, काकमद्गुः पानीयकाकः ।  
चटकवसा विष्किरशकुनिवसानाम् । विष्किरसंज्ञा वक्ष्यते ।

हस्तिमेदः शाखादमेदसां मध्येऽपथ्यतमत्वेन श्रेष्ठतमम् । मूलकं कन्दा-  
नाम् । निकुचफलं डहुफलं फलानाम् । फाणितमर्द्धावर्तितं इक्षुरसः, इक्षु-  
विकाराणां मध्येऽपथ्यतमत्वेन श्रेष्ठतमं भवतीति ।

इति प्रकृत्यैवाहिततमानामाहारविकाराणां प्राधान्यतो द्रव्याणि व्याख्या-  
तानि ॥ २१ ॥

इति पदम् ; वर्षासु नादेयं वर्षानादेयम् ; ऊपरदेशभवमूषरम्, काणकपोत इत्यत्र काणशब्दो-  
ऽल्पवचनः यथा—“काणो मेघः” इति । चिलिचिमो महाशकली मत्स्यो रोहितभेदः, आत्रेय-  
भद्रकाण्ठीयेऽग्रे रोहितभेदमेव चिलिचिमं वक्ष्यति ; काकमद्गुः पानीयकाकिका ; चटकः  
प्रसिद्धः ॥ २१ ॥

इति हिताहितावयवो व्याख्यातः आहारविकाराणाम् ।  
अतो भूयः कर्मौषधानाञ्च प्राधान्यतः सानुबन्धानि  
द्रव्यादीन्यनुव्याख्यास्यामः । तद्यथा—अन्नं वृत्तिकराणां

गङ्गाधरः—इति हितेत्यादि । आहारविकाराणामित्येष हितोऽवयव  
एकदेशो रक्तशाल्यादिरहितोऽवयवो यवकादिव्याख्यातः । अतः परं भूयः  
पुनरपि कर्मौषधानाञ्च चिकित्सिते यानि कर्माणि यान्यौषधानि क्रियन्ते  
तेषां द्रव्यादीनि प्राधान्यतस्तत्तत्कर्मणि चौषधेषु प्रधानानि कर्मान्तरेऽप्यनौषधे  
सानुबन्धवन्ति अप्राधान्यरूपेणोपयोगीनि तानि अनुव्याख्यास्याम इति ।  
नन्वेतदपृष्टं कथमनुव्याख्यास्यते इति चेत् ? न ; हिताहितस्यानपवादलक्षणस्य  
प्रश्नेनैवाहारातिरिक्तानाञ्च हिताहितत्वं पृष्टं, तदुत्तरमिदं—यथाहारजातं हिता-  
हितं तथा कर्मसु चौषधेषु च हिताहितं द्रव्यं भवतीति नापृष्टमनुव्याख्यास्यते ।

तद्यथेत्यादि—अन्नमित्यादि । अन्नं वृत्तिकराणां श्रेष्ठतममित्यारभ्य  
मायाः श्लेष्मपित्तजननानामित्यन्तैः कर्मणां स्वस्थातुरोपयोगिद्रव्याणि ।  
ततो मदनफलमित्यारभ्य तृष्णातियोगप्रशमनानामित्यन्तरौषधानां द्रव्याणि  
व्याध्युपयोगीनि । ततोऽतिमात्राशनमित्यारभ्य एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणा-  
मित्यन्तैः कर्माणि । ततो गर्भशल्यमनाहार्याणामित्यारभ्य सर्वसंन्यासः  
सुखकराणामित्यन्तैः कर्मणां द्रव्याणि व्याख्यातानि । तथा च अन्नं  
वृत्तिकराणां श्रेष्ठतममिति यतो यन्निर्द्वाय्यं तद्धर्मवत्त्वेन तच्छ्रेष्ठतममिति  
सर्वत्र बोध्यम् । तेन वृत्तिकराणां वत्त्वेन हेतूनां मध्येऽन्नं चतुर्विधं वृत्ति-

चक्रपाणिः—हिताहितावयवमित्यादि—अत्रादाविति शब्दोऽप्याहार्यः, तेन इति हिताहितावयव-  
माहारविकाराणां व्याख्यातं भवतीति पूर्वैर्नैव योजनीयम् ; अतो भूय इति, अत इति हेतौ, यस्मात्  
हिताहितादयत्कम्, न तु तेषां कर्मैत्यर्थः ; भूयःशब्दः पुनरर्थे, कर्मैति कार्यम्, तेन अतो भूय  
आहारविकाराणां कर्म, यथा—“अन्नं वृत्तिकराणाम्” “उदकमाश्वासकराणाम्” इत्यादि, तथौष-  
धानाञ्च कर्म, यथा—“त्रिवृत् सुखविरेचनानाम्” इत्यादि वक्ष्यामः । प्राधान्यत इत्यनेन सर्वेषा-  
माहारविकाराणामौषधानाञ्च कर्माभिधातव्यम्, किन्तु, यथाप्रधानमिति दर्शयति, सानुबन्धानीति  
सप्रयोजनानाति, यथा—“अजीणमुद्वाय्याणाम्” इत्यादि ; अजीर्णज्वरादिकर्मकथनं हि चिकित्-  
सोपयोगि वक्तव्यमेव ; द्रव्याणीति महाभूतानि, यथा—“जलं स्तम्भनानां” “वायुः संज्ञा-  
प्रदानहेतूनाम्” इत्यादि ; द्रव्याणीत्युपलक्षणम्, तत्र सानुबन्धानीत्यस्य विशेषणम्, तेन,  
अद्रव्यमपि सानुबन्धमुच्यते, यथा—‘शास्त्रसहितस्पर्कः साधनानाम्’ इति ; किंवा हिताहिता-

श्रेष्ठतमम्, उदकमाश्वासकराणाम्, सुरा श्रमहराणाम्, क्षीरं जीवनीयानाम्, मांसं वृंहणीयानाम्, रसस्तर्पणीयानाम् । लवणमन्नद्रव्यरुचिकराणाम्, अम्लं हृद्यानाम् । कुक्कुटो बल्यानाम्, नक्ररेतो वृष्याणाम्, मधु श्लेष्मपित्तप्रशमनानाम्, सर्पिर्वातपित्तप्रशमनानाम्, तैलं वातश्लेष्मप्रशमनानाम् ।

करत्वेन श्रेष्ठतमं भवतीत्यर्थः । एवं सव्वत्र । श्रेष्ठतममित्यधिकारः । उदकं सव्वमेव माहेन्द्रनादेयादिकम् । आश्वासकराः सन्ति बहवो भावाः सान्त्ववचनधनदानादयस्तेषां श्रेष्ठतममुदकम् । सुरा श्रमहराणां व्यजनानिलच्छायासनादीनां मध्ये सुरा श्रेष्ठतमेति लिङ्गविपरिणामेन ।

जीवनीयानां शीतवातजलान्नजीवकर्षभकादीनां श्रेष्ठतमं क्षीरम् । वृंहणीयानां मधुरादीनां श्रेष्ठतमं मांसम् । तर्पणीयानां दध्यम्लकोलबदरादीनां मध्ये मांसस्य रसः श्रेष्ठतमस्तर्पणः । अन्नद्रव्यरुचिकराणां मरिचार्द्रकाम्लादीनां मध्ये लवणं श्रेष्ठतममन्नद्रव्यरुचिकरम् । हृद्यानां भोजनादिषु मनोबानां दुग्धदधिशर्करादीनां षड्रसद्रव्याणां मध्येऽम्लरसद्रव्यं श्रेष्ठतमं हृद्यम् । बल्यानां बलहितानां घृतदुग्धादीनां मध्ये कुक्कुटो रसमांसादिविधया श्रेष्ठतमो बल्यः । वृष्याणां पुरुषत्वशक्तिजननानां दुग्धादीनां मध्ये नक्ररेतः श्रेष्ठतमं वृष्यम् । नक्रः कुम्भीरः ।

श्लेष्मपित्तप्रशमनानां स्वस्थानुरयोः श्लेष्मपित्तप्रशमनानां यवगोधूमादीनां मध्ये मधु श्रेष्ठतमं श्लेष्मपित्तप्रशमनम् । दुरालभा त्वातुरस्य श्लेष्मपित्तप्रशमनानां श्रेष्ठतमा वक्ष्यमाणा नैतेन विरुध्यते । वातपित्तप्रशमनानां दुग्धादीनां मध्ये श्रेष्ठतमं वातपित्तप्रशमनं सर्पिः । वात-

वयवमिति कर्मविशेषणम्, तेन हिताहितैकदेशरूपं कर्म्महारविकाराणामिति स्यात् ; तत्र हितं कर्म्म—“अन्नं वृत्तिकराणाम्” इत्यादि, अहितं कर्म्म,—“आविकं सर्पिरहृद्यानाम्” इत्यादि, औषधानां कर्म्म,—“त्रिवृत् सुखविरेचनानाम्” इत्यादि व्याख्यानं पूर्ववदेव ।

वृत्तिकराणामिति शरीरस्थितिकराणाम्, अन्नद्रव्यरुचिकराणामिति लवणमन्नेन संयुक्तं सद्गन्ने रुचिं करोतीत्यर्थः । अम्लं हृद्यानामिति रुच्यानामिति, अम्लन्तु स्वयमेव रोचते । मधु श्लेष्मपित्तप्रशमनानामिति द्रवद्रव्येषु, दुरालभा त्वौषधद्रव्येषु, तेन दुरालभाया

वमनं श्लेष्महराणाम्, विरेचनं पित्तहराणाम्, वस्तिर्वात-  
हराणाम्, स्वेदो माद्वेकराणाम्, व्यायामः स्थैर्यकराणाम्, क्षारः  
पुंस्तोपघातिनाम्, तिन्दुकमनन्यद्रव्यरुचिकराणाम् । आम-  
कपित्थम् अकण्ठ्यानाम् आविकं सर्पिरह्वानाम्, अजाक्षीरं  
शोषघ्न-स्तन्यसात्स्यदोषघ्न-सांग्राहिकशोणितपित्तप्रशमनानाम् ,

श्लेष्मप्रशमनानां पकृतिन्तिङ्गिकादीनां मध्ये श्रेष्ठतमं वातश्लेष्महरं सव्व  
तैलम् । इति स्वस्थातुरयोऽयथासम्भवं वृत्त्यादीनां कर्मणां द्रव्याणि  
व्याख्यातानि ।

अथ स्वस्थातुरयोः कर्मणां कर्माण्याह—वमनमित्यादि । श्लेष्महराणां  
कर्मणामुपवासादीनां मध्ये वमनं कर्म श्रेष्ठतमं श्लेष्महरम् । विरेचनं  
पित्तहराणां कर्मणां पानाशनादीनां मध्ये श्रेष्ठतमं पित्तहरम् । वातहराणां  
स्नेहनादिकर्मणां मध्ये वस्तिः कर्म श्रेष्ठतमं वातहरम् । माद्वेकराणां  
मर्दनादीनां मध्ये स्वेदः कर्म श्रेष्ठतमो माद्वेकरः । व्यायामः स्थैर्यकराणां  
शरीरदाढ्यकराणां पानाशनादीनां कर्मणां मध्ये व्यायामः कर्म श्रेष्ठतमः  
स्थैर्यकरः । इति ।

कर्मणां कर्माण्युक्त्वा कर्मणां द्रव्याणि स्वस्थातुरयोरहितान्याह—क्षार  
इत्यादि । पुंस्तोपघातिनां चणकादीनां द्रव्याणां मध्ये क्षारः श्रेष्ठतमः पुंस्तोप-  
घाती । तिन्दुकं तिन्दुकफलम्, अनन्यस्य स्वस्यैव रुचिकराणां जाम्बवादीनां  
मध्ये तिन्दुकफलं श्रेष्ठतमं स्वरुचिकरम् । अन्यद्रव्यारोचकं श्रेष्ठतमं तिन्दुक-  
मिति । अकण्ठ्यानां कण्ठस्याहितानां कषायरसद्रव्याणां वकुलफलादीनां मध्ये  
आमकपित्थफलं श्रेष्ठतममकण्ठ्यम् । अह्वानामाहारद्रव्याणामुष्ट्रीक्षीरादीनां  
मध्ये आविकं मेषीसर्पिः श्रेष्ठतममह्वम् ।

अथातुरस्य कर्मणां हितानि श्रेष्ठतमानि द्रव्याण्याह—अजाक्षीर-  
मित्यादि । शोषघ्नानां स्तन्यानां सात्स्यानां सांग्राहिकाणां रक्तपित्त-  
प्रशमनानाञ्च मध्येऽजाक्षीरं श्रेष्ठतमं शोषघ्नं स्तन्यहितं सात्स्यं सांग्राहिकं  
रक्तपित्तप्रशमनमिति ।

मधुनश्च श्लेष्मपित्तप्रशमनश्रेष्ठत्वावधारणं न विरोधि । वस्तिरित्यविशेषादास्थापनानुवासेन ।

अविक्षीरं श्लेष्मपित्तजननानाम्, महिषीक्षीरं स्वप्नजननानाम्,  
मन्दकं दधि अभिष्यन्दकराणाम्, गवेषुकान्नं कर्षणीयानाम्,  
कोदालकान्नं रुक्षणीयानाम्, इक्षुमूत्रजननानाम् । यवाः  
पुरीषजननानाम्, जाम्बव वातजननानाम्, शङ्कुल्यः श्लेष्म-  
पित्तजननानाम्, कुलत्थोऽम्लपित्तजननानाम्, माषाः श्लेष्म-  
पित्तजननानाम्, मदनफलं वमनास्थापनानुवासनोपयोगि-

श्लेष्मपित्तजननानां द्रवद्रव्याणां मध्ये श्रेष्ठतमं श्लेष्मपित्तजननमविक्षीरं  
मेषीक्षीरम्, न तु कठिनानां द्रव्याणाम् । कठिनानां हि वक्ष्यतेऽत्र—माषाः  
श्लेष्मपित्तजननानामिति शङ्कुल्यः श्लेष्मपित्तजननानामिति च । महिषीक्षीरं  
स्वप्नजननानाम् । मन्दकं दध्यभिष्यन्दकराणामिति । शरीरधातुक्लेदकरण-  
पूर्वकस्रावकराणां मध्ये मन्दजातं दधि श्रेष्ठतममभिष्यन्दकरम् ।

कर्षणीयानां द्रव्याणां मध्ये गवेषुकान्नं जूर्णान्नं श्रेष्ठतमं कर्षणीयम् ।  
विरुक्षणीयानां मध्ये कोदालकान्नं वनकोद्रवान्नं श्रेष्ठतमं रुक्षणीयम् । मूत्र-  
जननानां मध्ये इक्षुः श्रेष्ठतमो मूत्रजननः । परीषस्य बहुमलस्य जननद्रव्याणां  
मध्ये यवाः श्रेष्ठतमा बहुपुरीषजननाः ।

वातजननानां मध्ये जाम्बवफलं श्रेष्ठतमं वातजननम् । श्लेष्मपित्तजननानां  
भक्ष्याणां मध्ये शङ्कुल्यः श्रेष्ठतमाः श्लेष्मपित्तजननाः । न तु कठिनानां  
द्रवाणां वा मध्ये । कठिनानां माषाः श्लेष्मपित्तजननानामिति वक्ष्यते ।  
द्रवाणामविक्षीरं श्लेष्मपित्तजननानामित्युक्तम् । अम्लपित्तजननानां मध्ये  
कुलत्थः श्रेष्ठतमोऽम्लपित्तजननः । श्लेष्मपित्तजननानां कठिनानां मध्ये  
माषाः श्रेष्ठतमाः श्लेष्मपित्तजनना न तु द्रवाणां भक्ष्याणां वा मध्ये । तदुक्तम्  
अविक्षीरं श्लेष्मपित्तजननानां शङ्कुल्यः श्लेष्मपित्तजननानामिति । ‘श्रेष्ठ-  
तमत्वेनैकद्रव्योपदेशप्रतिभावेन त्रयाणां श्लेष्मपित्तजनने श्रेष्ठतमत्ववचनं न  
दोषावहम्’ इति यो व्याचष्टे तद्ग्राख्याने अविक्षीरशङ्कुलीमाषाः श्लेष्मपित्त-  
जननानामित्येवं पाठापत्तिः ।

इति कर्मणां द्रव्यादीन्युक्त्वा औषधानां द्रव्यादीन्याह—मदनफलमित्यादि ।

अविक्षीरं पित्तश्लेष्मजननानामिति पेयेषु मध्ये, माषाः पित्तश्लेष्मजननानामिति भोज्येषु, शङ्कुल्यः  
पित्तश्लेष्मजननानामिति भक्ष्येषु मध्ये ; किंवा त्रयमप्येतत् पित्तश्लेष्मजननं प्रति समान-

नाम्, त्रिवृत् सुखविरेचनानाम्, चतुरङ्गूलं मृदुविरेचनानाम्, स्नुक्पयस्तीक्ष्णविरेचनानाम्, प्रत्यक्पुष्पी शिरोविरेचना-  
नाम्, विडङ्गं क्रिमिघ्नानाम्, शिरीषो विषघ्नानाम्, खदिरः  
कुष्ठघ्नानाम्, रास्त्रा वातघ्नानाम्, आमलकं वयःस्थापना-  
नाम् । हरीतकी पथ्यानाम् । एरण्डमूलं वृष्यवातहराणाम् ।  
पिप्पलीमूलं दीपनीयपाचनीयानाहप्रशमनानाम् । उदीच्यं  
निर्व्वाणीयदीपनीयपाचनीयच्छर्द्वातीसारहराणाम् । कटुङ्गं  
सांग्राहिकदीपनीयपाचनीयानाम् । अनन्ता सांग्राहिकदीप-

वमनादिकृतामौषधानामुपयोगीनि यानि द्रव्याणि तेषां मध्ये मदनफलं श्रेष्ठं ।  
तमं वमनोपयोगि आस्थापनोपयोगि अनुवासनोपयोगि च । सुखविरेचनानां  
द्रव्याणां मध्ये त्रिवृन्मूलं श्रेष्ठतमं सुखविरेचनम् । मृदुविरेचनानां द्रव्याणां  
मध्ये चतुरङ्गुलवीजं शम्पाकवीजं श्रेष्ठतमं मृदुविरेचनम् ।

तीक्ष्णविरेचनानां मध्ये स्नुक्पयः स्नुहीक्षीरं श्रेष्ठतमं तीक्ष्णविरेचनम् ।  
शिरोविरेचनानां द्रव्याणां मध्ये प्रत्यक्पुष्पी अपामार्गवीजं श्रेष्ठतमा शिरो-  
विरेचनी । विडङ्गं क्रिमिघ्नानां श्रेष्ठतमम् । शिरीषो विषघ्नानां श्रेष्ठतमम् ।  
खदिरः कुष्ठघ्नानां श्रेष्ठतमः कुष्ठघ्नः । रास्त्रा वातहराणाम् श्रेष्ठतमा वातहरी ।  
आमलकं वयःस्थापनानां श्रेष्ठतमं वयःस्थापनम् । हरीतकी पथ्यानां मध्ये  
श्रेष्ठतमा पथ्या । एरण्डमूलं वृष्यवातहराणाम् । वृष्याण्यथ च वातहराणि  
यानि तेषां मध्ये एरण्डमूलं श्रेष्ठं वृष्यवातहरम् । रास्त्रा तु न वृष्या । ततो  
न दोषः । पाचनीयानां दीपनीयानामानाहप्रशमनानाञ्च मध्ये श्रेष्ठतमं  
पिप्पलीमूलं दीपनीयं पाचनीयम् आनाहप्रशमनञ्च । उदीच्यं निर्व्वाणीयानां  
दीपनीयानां पाचनीयानां छद्दिहराणामतिसारहराणां मध्ये उदीच्यं बालकं  
श्रेष्ठतमम् । दीपनीयत्तपाचनीयत्वाभ्यां श्रेष्ठतममपि पिप्पलीमूलं न निर्व्वाप-  
णीयत्वादिभिस्तेन न दोषः । कर्म्मन्तरैः पृथक्श्रेष्ठतमत्वेनोक्तम् । कटुङ्गं  
श्योनाकं सांग्राहिकदीपनीयपाचनीयानाम् मध्ये श्रेष्ठतमं । अनन्ता अनन्त-

मिति त्रितयमुच्यते ; एवमन्यत्रापि तुल्यश्रेष्ठताभिधानं तज्जातीयश्रेष्ठताभिप्रायेण तुल्यत्वेन च



नीयरक्तपित्तप्रशमनानाम् । चित्रकमूलं दीपनीयपाचनीय-  
गुदशूलशोथहराणाम् \* । पुष्करमूलं हिकाश्वासकासपार्श्व-  
शूलहराणाम् । मुस्तं सांग्राहिकदीपनीयपाचनीयानाम् ।  
अमृता सांग्राहिकदीपनीयवातहरश्लेष्मशोणितविवन्धप्रशमना-  
नाम् । विल्वं सांग्राहिकदीपनीयवातकफप्रशमनानाम् । अति-  
विषा दीपनीयपाचनीयसांग्राहिकदोषहराणाम् । उत्पलपद्मकुमुद-  
किञ्जल्कः सांग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानाम् । दुरालभा पित्त-  
श्लेष्मप्रशमनानाम् । गन्धप्रियङ्गुः शोणितपित्तातियोगप्रशमना-  
नाम् । कुटजत्वक् श्लेष्मपित्तरक्तसांग्राहिकोषशोषणानाम् ।  
काश्मर्यफलं † सांग्राहिकशोणितपित्तप्रशमनानाम् । पृश्नि-  
पर्णी सांग्राहिकदीपनीयवातहरवृष्याणाम् । विदारिगन्धा  
वृष्यसर्वदोषहराणाम् । बला सांग्राहिकबल्यवातहराणाम् ।

मूलम् । चित्रकमूलं न तु पत्रादिकम् । पुष्करमूलम्—पुष्करं वृक्षविशेषस्तस्य  
मूलं न तु कुष्ठम् । मुस्तं भद्रमुस्तकम् । अमृता गुडूची । सांग्राहिकाणां  
दीपनीयानां वातहराणां श्लेष्मशोणितयोर्विवन्धप्रशमनानाञ्च । विल्वमामविल्व-  
फलम् । न तु मूलादिकम् । अतिविषा घृणप्रिया । उत्पलस्य पद्मस्य कुमुदस्य  
किञ्जल्कः केशरः । दुरालभा यवासः । गन्धप्रियङ्गुः प्रियङ्गुरेव । शोणितपित्तस्य  
रक्तपित्तरोगस्य रक्तातिप्रवृत्तिप्रशमनानां श्रेष्ठतमः ।

कुटजत्वक् श्लेष्मणः पित्तस्य रक्तस्य च सांग्राहिकाणामुपशोषणानाञ्च  
मध्ये श्रेष्ठतमा श्लेष्मादिसांग्राहिकी श्लेष्मादुपशोषणी च । काश्मर्यफलं  
सांग्राहिकाण्यथ च रक्तपित्तप्रशमनानि च यानि तेषां मध्ये श्रेष्ठतमम् ।  
पृश्नीपर्णी सांग्राहिकाणां दीपनीयानां वातहराणां वृष्याणाञ्च मध्ये श्रेष्ठतमा ।  
विदारिगन्धा शालपर्णी वृष्याणां सर्वदोषहराणाञ्च श्रेष्ठतमा । बला  
जेयम् ; मन्दकमिति मन्दजातम् ; उद्दालको वनकोद्रवः ; गुदशोथोऽर्शः ; गन्धप्रियङ्गुः प्रियङ्गुरेव ;

\* दीपनीयपाचनीयगुदशोथार्शःशूलहराणामिति वा पाठः ।

† रक्तसंग्राहिकेति वा पाठः ।

गोक्षुरो मूत्रकृच्छ्रानिलहराणाम् । हिङ्गुनिर्यासश्छेदनीय-  
दीपनीयभेदनीयानुलोमिकवातकफप्रशमनानाम् । अम्ल-  
वेतसो भेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातश्लेष्महराणाम् । याव-  
शूकः स्रंसनीयपाचनीयार्शोग्नानाम् । तक्राभ्यासो ग्रहणी-  
दोषशोफार्शोघृतव्यापत्प्रशमनानाम् । क्रव्यादमांसाभ्यासो  
ग्रहणीदोषशोषार्शोग्नानाम् । क्षीरघृताभ्यासो रसायना-  
नाम् । समघृतसक्तुकाभ्यासो वृष्योदावर्त्तहराणाम् । तैल-  
गण्डूषो दन्तवलरुचिकराणाम् । चन्दनोदुम्बरं दाहनिर्वाप-  
णानाम् । रास्नागुरुणी शीतापनयनप्रलेपनानाम् ।  
लामज्जकोशीरे दाहत्वग्दोषस्वेदापनयनप्रलेपनानाम् । कुष्ठं

सांप्राहिकाणां वल्यानां वातहराणाञ्च श्रेष्ठतमा । गोक्षुरो मूत्रकृच्छ्र-  
हराणामनिलहराणाञ्च श्रेष्ठतमः । हिङ्गुनिर्यासश्छेदनीयानां दीपनीयानां  
भेदनीयानामानुलोमिकानां वातकफप्रशमनानाञ्च श्रेष्ठतमः । अम्लवेतसो  
भेदनीयानां दीपनीयानामानुलोमिकानां वातश्लेष्महराणानाञ्च मध्ये श्रेष्ठतमः ।  
यावशूकः स्रंसनीयानां पाचनीयानामार्शोग्नानाञ्च मध्ये श्रेष्ठतमः । तक्राभ्यासो  
ग्रहणीदोषप्रशमनानामर्शःप्रशमनानां घृतव्यापत्प्रशमनानाञ्च मध्ये श्रेष्ठतमः ।  
क्रव्यादमांसाभ्यासो ग्रहणीदोषघ्नानां शोषघ्नानामर्शोग्नानाञ्च मध्ये श्रेष्ठतमः ।  
क्षीरोत्थं घृतं न तु दध्युत्थम्, तस्य घृतस्याभ्यासो रसायनानामनौषधद्रव्याणां  
मध्ये श्रेष्ठतमः । न तु रसायनौषधानां सोमादीनाम् । सोमादयो ह्यौषधय  
एकैकशो रसायनतमाः (औषधानि) । समघृतसक्तुकाभ्यासो वृष्याणामुदावर्त्त-  
हराणां श्रेष्ठतमः । तैलगण्डूषो मुखे घृतो दन्तवलकराणां रुचिकराणाञ्च  
श्रेष्ठतमः । चन्दनमुदुम्बरत्वक् च व्यस्तं समस्तञ्च दाहनिर्वापणार्थं प्रलेपनानां  
श्रेष्ठतमम् । रास्ना चागुरु च व्यस्तसमस्ते द्वे शीतापनयनार्थप्रलेपनानां  
श्रेष्ठतमे भवतः । लामज्जकं सुगन्धि वीरणमूलम् । निर्गन्धवीरणमूलमुशीरम् ।  
द्व व्यस्तसमस्ते दाहत्वग्दोषस्वेदानामपनयनार्थं प्रलेपनानां श्रेष्ठतमे ।

क्रव्यं मांसमस्तीति क्रव्यादो व्याघ्रादिः । समघृत इत्यत्र समशब्दः सहार्थः ; उद्धेपनमिति

वातहराभ्यङ्गोपनाहयोगिनाम् । मधुकं चक्षुष्यवृष्यकेश्य-  
कण्ठ्यवर्यबल्यविरजनीयरोपणीयानाम् । वायुः प्राणसंज्ञा-  
प्रदानहेतूनाम् । अग्निरामस्तम्भशीतशूलोद्वेपनप्रशमना-  
नाम् । जलं स्तम्भनीयानाम् । मृदुभृष्टलोष्टनिर्व्वापित-  
मुदकं तृष्णातियोगप्रशमनानाम् । अतिमात्राशनमाम-  
प्रदोषहेतूनाम् । यथान्यभ्यवहारोऽग्निसन्धुक्षणानाम् । यथा-  
सात्त्वं चेष्टाभ्यवहारौ सेव्यानाम् । कालभोजनमारोग्य-  
कराणाम् । तृप्तिराहारगुणानाम् । वेगसन्धारणमनारोग्य-

कुष्ठं स्वनामख्यातं न तु पुष्करमूलम् । वातहरयोरभ्यङ्गोपनाहयोरुपयोगिनां  
श्रेष्ठतमम् । मधुकं चक्षुष्याणां वृष्याणां केश्यानां कण्ठ्यानां वर्यानां बल्यानां  
विरजनीयानां रोपणीयानाञ्च श्रेष्ठतमम् । वायुर्वाहो व्यजनादिकृतश्च प्राण-  
प्रदानहेतूनां संज्ञाप्रदानहेतूनाञ्च श्रेष्ठतमः । अग्निर्वाह आमप्रशमनानां स्तम्भ-  
प्रशमनानां शीतप्रशमनानां शूलप्रशमनानामुद्वेपनप्रशमनानाञ्च श्रेष्ठतमः ।  
जलं स्तम्भनीयानां श्रेष्ठतमम् । मृदो लोष्टं भृष्टं सज्जले निक्षिप्तं तदुदकं  
तृष्णाया अतियोगप्रशमनानां श्रेष्ठतमम् । इत्यौषधानां द्रव्याण्युत्त्वा हिता-  
हितानि द्रव्याणां कर्माण्याह—अतिमात्रेत्यादि । आहारद्रव्याणामति-  
मात्राशनमामप्रदोषस्यालसकादेहेतूनामशनानां मध्ये श्रेष्ठतमम् । यथान्य-  
भ्यवहारो मात्रयाऽभ्यवहारोऽग्निसन्धुक्षणानामभ्यवहाराणां श्रेष्ठतमः ।

यथासात्त्वं चेष्टा चाभ्यवहारश्च सेव्यानां क्रियाणां श्रेष्ठतमः । काल-  
भोजनं यस्य यः कालोऽभ्यस्त आहारे तस्य तत्कालभोजनमारोग्यकराणां  
कर्मणां श्रेष्ठतमम् । भोजनकालस्तु सार्द्धप्रहरद्वयाभ्यन्तरे प्रथमाहारस्य,  
द्वितीयस्याहारस्य कालस्ततः परं सार्द्धप्रहरद्वयाभ्यन्तरे रात्राववर्गिकयामात् ।

वेपनम् । उदकमाश्वासनस्तम्भनानामिति वक्तव्ये, यत् पृथक्. “उदकमाश्वासकराणां” तथा,  
“जलं स्तम्भनानाम्” इति करोति, तेन कर्मद्वयेऽपि जलस्यानन्यसाधारणतां दर्शयति । मिलित्वा  
गुणपाठे ह्युभयकर्मकर्तृत्वे हेतव प्राधान्यं स्यात् । एवमन्यत्राप्यनेककर्मकर्तृत्वे यस्य प्राधान्य-  
मुक्तं पिप्पलीमूलादौ, तत्र तथाभूतानेककर्मकर्तृत्वे हेतव प्राधान्यं ज्ञेयम्, न तु पृथक्-  
कर्मणि । लामज्जकोशीरम् उशीरद्वयम् सगन्धमगन्धञ्च गृह्यते । एकाशनभोजनमित्येककाल-

कराणाम् । मद्यं सौमनस्यजननानाम् । मद्याक्षेपो धीधृति-  
स्मृतिहराणाम् । गुरुभोजनं दुर्व्विपाकानाम् । एकभोजनं  
सुखपरिणामकराणाम् । शुक्रवेगनिग्रहः पाण्ड्यकराणाम् ।  
स्त्रीष्वतिप्रसङ्गः शोषकराणाम् । परायतनम् \* अन्नाश्रद्धाजनना-  
नाम् । अनशनमनायुष्कराणाम् † । प्रमिताशनं कर्षणीया-  
नाम् । अजीर्णाशनं ग्रहणीदूषणानाम् । विषमाशन-  
मग्निवैषम्यकराणाम् । विरुद्धवीर्याशनं निन्दितव्याधि-  
कराणाम् । प्रशमः पथ्यानाम् । आयासः सर्वपथ्यानाम् ।

यामादूर्द्धं यामद्वयी रात्रिर्महानिशा । तृप्तिराहारगुणानामाहारस्य कर्मणां  
श्रेष्ठतमा । वेगसन्धारणं मूत्रपुरीषादीनामनारोग्यकराणां श्रेष्ठतमम्, न तु  
धार्याणां वेगानां सन्धारणम् । मद्यं यथामात्रं पीतं सौमनस्यस्य जननानां  
श्रेष्ठतमम् । मद्याक्षेपोऽतिमात्रमत्तता धीधृतिस्मृतिहराणां श्रेष्ठतमः । गुरु-  
भोजनं गुरुणां द्रव्याणां मात्रया भोजनं दुर्व्विपाककराणां श्रेष्ठतमम् । एकं  
भोजनं सुखपरिणामकराणां भोजनानां श्रेष्ठतमम् । शुक्रवेगनिग्रहः शुक्रवेग-  
धारणं पाण्ड्यकराणां श्रेष्ठतमम् । स्त्रीष्वतिप्रसङ्गोऽतिमैथुनं शरीरस्य शोष-  
कराणां श्रेष्ठतमम् । परायतनं परगृहं भोजने क्तव्येऽन्नेष्वश्रद्धाजननानां  
श्रेष्ठतमम् । अनशनमुपवासोऽनायुष्कराणां श्रेष्ठतमम् । प्रमिताशनमल्प-  
मात्रयाऽशनं कर्षणीयानां श्रेष्ठतमं कर्षणीयम् । अजीर्णाशनं सति चाजीर्णं  
भोजनं ग्रहणीनाडीदूषणानां श्रेष्ठतमम् । विषमाशनं कदाचिदल्पमात्रं कदाचि-  
दतिमात्रमशनं अग्निवैषम्यकराणां श्रेष्ठतमम् । विरुद्धवीर्याणां द्रव्याणामशनं  
निन्दितव्याधिकराणां पामाविचर्चिकादिकराणां श्रेष्ठतमम् । प्रशमो मनः-  
प्रवृत्तिजकामादिभ्यो निवृत्तिः पथ्यानां श्रेष्ठतमः । आयासः परिश्रमः सर्वेषाम्  
भोजनम्, अनेन सुखपरिणाममात्रमुच्यते, न द्वितीयान्नप्रतिषेधः क्रियते, एतेन द्विर्भोजनेऽपि  
अव्याहताग्निताग्निदादयः सुखपरिणामकारणं ज्ञेयाः ; शोषकराणामिति शोषकारणानाम् ;  
पराघातनं बन्धस्थानं, बन्धमानप्राणिदर्शनाद्भिः घृणया नान्ने श्रद्धा स्यात् । “यथा शितम्”  
इति केचित् पठन्त, तन्नातिसाधु ; प्रमिताशनमतीतकालभोजनम्, स्लोकभोजनं वा ; विषमाशनं

मिथ्यायोगो व्याधिकराणाम् । रजस्वलाभिगमनमलक्ष्मी-  
 मुखानाम् । ब्रह्मचर्यमायुष्याणाम् । सङ्कल्पो वृष्याणाम् ।  
 दौर्भ्यसनस्यमवृष्याणाम् । अयथाबलमारम्भः प्राणोप-  
 रोधिनाम् । विषादो रोगवर्द्धनानाम् । स्नानं श्रमहराणाम् ।  
 हृषः प्रीणनानाम् । शोकः शोषणानाम् । निवृत्तिः पुष्टि-  
 करणानाम् । तुष्टिः \* स्वप्नकराणाम् । अतिस्वप्नस्तन्द्राकरा-  
 णाम् । सर्व्वरसाभ्यासो बलकराणाम् । एकरसाभ्यासो  
 दौर्ब्वल्यकरणानाम् । गर्भशल्यमनाहार्याणाम् । अजीर्ण-  
 मुद्धार्याणाम् । बालो मृदुभेषजीयानाम् । वृद्धो याप्या-  
 नाम् । गर्भिणी तोदणोषधयवायव्यायामवर्ज्जनीयानाम् ।  
 अपथ्यानां श्रेष्ठतमः । मिथ्यायोगः स्नेहस्वेदादीनां सर्व्वेषां शोधनशमनादीनां  
 कर्मणामयथावद्योगो व्याधिकराणां श्रेष्ठतमः । रजस्वलास्त्रीष्वभिगमनं  
 व्यवायो-ऽलक्ष्मीमुखानाम् अलक्ष्मीदोषकलिकलहाकालमरणादिदोषाणाम् ।  
 मुखानि साक्षात्कारणानि यानि तेषां मध्ये श्रेष्ठतमम् । ब्रह्मचर्यं वाक्-  
 कायमनोभिर्मैथुनवज्जेनमायुष्याणां श्रेष्ठतमम् । सङ्कल्पो मनसा व्यवायार्थं  
 स्वाभीष्टकामिन्यादिचिन्तादिकर्म वृष्याणां श्रेष्ठतमः । दौर्भ्यनेनस्यमवृष्याणां  
 श्रेष्ठतमम् । अयथाबलमारम्भः प्राणोपरोधिनां श्रेष्ठतमः । विषादः सर्व्वदा  
 मनःस्वेदः रोगवर्द्धनानां श्रेष्ठतमः । स्नानं श्रमहराणाम् । हृषः प्रीणनानां  
 श्रेष्ठतमः । शोकः शोषणानां श्रेष्ठतमः । निवृत्तिर्वाक्कायमनसां प्रवृत्तितो  
 विरामः पुष्टिकरणानां श्रेष्ठतमा । तुष्टिः स्वप्नकराणाम् । पुष्टिरिति क्वचित्  
 पठ्यते । अतिस्वप्नस्तन्द्राकराणाम् । सर्व्वरसाभ्यासो बलकराणां श्रेष्ठतमः ।  
 एकरसाभ्यासो दौर्ब्वल्यकरणानां श्रेष्ठतमः । गर्भशल्यमनाहार्यशल्यानां  
 श्रेष्ठतमम् । अजीर्णमुद्धार्याणामुद्धरणीयानां श्रेष्ठतमम् । बालो मृदु-  
 भेषजीयानां श्रेष्ठतमः । वृद्धो याप्यानां कालयापनीयानां श्रेष्ठतमः । गर्भिणी  
 प्रकृतिकरणादिविषमाशनम् ; निन्दतव्याधिः श्वित्रकुष्ठादिः ; अलक्ष्मीमुखानामलक्ष्मीकारणानाम् ,  
 मिथ्यायोगः सम्यग्योगादन्यस्त्रिविधो योगः, सङ्कल्पः स्त्रीसङ्गसङ्कल्पः, ज्वरो रोगाणामिति रुजा-

सौमनस्यं गर्भधारणानाम् । सन्निपातो दुश्चिकित्स्यानाम् ।  
 आमो विषमचिकित्स्यानाम् । ज्वरो रोगाणाम् । कुष्ठं दीर्घ-  
 रोगाणाम् । राजयक्ष्मा रोगसमूहानाम् । प्रमेहोऽनुषङ्गि-  
 णाम् । जलौकसः शस्त्राणाम् \* । वस्तिस्तन्त्राणाम् । हिम-  
 वानोषधिभूमीनाम् । सोम ओषधीनाम् । मरुभूमिदेश  
 आरोग्यदेशानाम् । अनूपोऽहितदेशानाम् । निर्देशकारित्वम्  
 आतुरगुणानाम् । भिषक् चिकित्साज्ञानाम् । नास्तिको-  
 ऽवय्याणाम् † । लौल्यं क्लेशकराणाम् । अनिर्देशकारित्व-  
 मरिष्टानाम् । अनिर्व्वेदोऽधार्त्तासारलक्षणां ‡ । वैद्य-  
 तीक्ष्णौषधप्रयोगे व्यवाये व्यायामे च वज्जनीयानां मध्ये श्रेष्ठतमा । सौमनस्यं  
 स्त्रीणां गर्भधारणहेतूनां श्रेष्ठतमम् ।

सन्निपातजो व्याधिर्दुश्चिकित्स्यानां श्रेष्ठतमः । आमोऽलसकादिर्विषम-  
 चिकित्स्यानां श्रेष्ठतमः । ज्वरो रोगाणां श्रेष्ठतमः । कुष्ठं दीर्घरोगाणां  
 श्रेष्ठतमम् । राजयक्ष्मा रोगसमूहानां श्रेष्ठतमः । रोगो धातुवैषम्यम् । तद्धातु-  
 वैषम्यनिमित्तो ज्वरादिव्याधिर्नारोगात्मकलिङ्गत्वेन रोगसमूह उच्यते ।  
 न तु धातुवैषम्यं रोगसमूहः । अथवा रोगसङ्कररत्नेन रोगसमूह उक्तः ।  
 प्रमेहोऽनुषङ्गिणां रोगाणां नित्यसंलग्नीभूतानां श्रेष्ठतमः । जलौकसः शस्त्राणां  
 श्रेष्ठतमाः । वस्तिस्तन्त्राणां नियताधीनकर्मणां मध्ये वस्तिकर्म  
 श्रेष्ठतमं तन्त्रम् । हिमवानोषधिभूमीनां श्रेष्ठतमः । सोमो विंशति-  
 विधो ओषधीनां श्रेष्ठतमः । मरुभूमिदेशः आरोग्यदेशानां श्रेष्ठतमः । अनूपो  
 देशोऽहितदेशानां श्रेष्ठतमः । निर्देशकारित्वमातुरगुणानां श्रेष्ठतमम् । भिषक  
 खल्वष्टाङ्गायुर्वेदवित् चिकित्साज्ञानां चतुर्णां श्रेष्ठतमः । नास्तिको-  
 ऽवय्याणामश्रेष्ठानां मध्ये श्रेष्ठतमः । लौल्यं क्लेशकराणां श्रेष्ठतमम् । अनिर्देश-  
 कारित्वमातुरस्यारिष्टानां श्रेष्ठतमम् । अनिर्व्वेदो वैराग्यादितो मनःखेदो  
 कर्तृणाम् ; अनुषङ्गी पुनर्भावी, तन्त्राणामिति कर्मणां ; सोम ओषधिराजः पञ्चदशपर्व्वी ;

\* जलौकसोऽनुशस्त्राणामिति द्वितीयः पाठः ।

† वज्जनीयानामिति पाठान्तरम् ।

‡ वार्त्तलक्षणानामिति वा पाठः ।

समूहो निःसंशयकराणाम् । योगो वैद्यगुणानाम् । विज्ञान-  
मौषधानाम् । शास्त्रसहितस्तर्कः साधनानाम् । संप्रतिपत्तिः  
कालज्ञानप्रयोजनानाम् । \* अव्यवसायः कालातिप्रतिपत्ति-  
हेतूनाम् । दृष्टकर्मता निःसंशयकराणाम् । असमर्थता  
भयकराणाम् । तद्विद्यसम्भाषा बुद्धिवर्द्धनानाम् । आचार्यः  
शास्त्राधिगमहेतूनाम् । आयुर्वेदोऽमृतानाम् । सद्रचन-  
मनुष्ठेयानाम् । असम्बन्धवचनमसंग्रहणसर्वाहितानाम् † ।  
सर्व सन्न्यासः सुखकराणामिति ॥ २२ ॥

निर्व्वेदः, वैराग्यादितो मनःखेदाभावोऽधार्त्तस्याधृतिभावस्य लक्षणानां  
श्रेष्ठतमः, असारलक्षणानाञ्च श्रेष्ठतमः, वैद्यसमूहोऽष्टाङ्गायुर्व्वेदविदां समूह-  
श्चिकित्सायां रोगादितत्त्वज्ञाने निःसंशयकराणां श्रेष्ठतमः । योगो भेषजानां  
सम्यग्योगो वैद्यगुणानां श्रेष्ठतमः । विज्ञानं ( आयुर्व्वेदादिशास्त्रेषु ) तत्त्व-  
ज्ञानं शारीरमानसव्याधेरौषधानां मध्ये श्रेष्ठतममौषधम् ।

शास्त्रसहितस्तर्क उहः साधनानां कर्मसिद्धिनिष्पत्तिकराणां श्रेष्ठतमं  
साधनम् । संप्रतिपत्तिः सम्यग् ज्ञानं कालज्ञानस्य प्रयोजनानां मध्ये श्रेष्ठतमं  
कालज्ञानप्रयोजनम् । अव्यवसायो व्यवसायाकरणं कालस्यातिप्रतिपत्तेः  
प्रतिपत्त्यतिक्रमस्य हेतूनां श्रेष्ठतमः कुव्यवसायातिप्रतिपत्तिहेतुः ।

दृष्टकर्मता दृष्टं चिकित्सितकर्म येन तस्य भावो दृष्टकर्मता चिकित्सा-  
कर्मणि निःसंशयकराणां श्रेष्ठतमा निःसंशयकरी । असमर्थता भयकराणां  
श्रेष्ठतमा । तद्विद्यसम्भाषा समानशास्त्राधीतवतां परस्परवादो जल्पवितण्डे च  
बुद्धिवर्द्धनानां मध्ये श्रेष्ठतमा बुद्धिवर्द्धनी । आचार्यः शास्त्राणामर्थाधिगम-  
हेतूनां श्रेष्ठतमोऽर्थाधिगमहेतुः । आयुर्व्वेदोऽमृतानां श्रेष्ठतमोऽमृतः । 'वेदा  
ह्यमृता' इत्युक्तं छान्दोग्योपनिषदि । सद्रचनं साधुवाक्यमनुष्ठेयानां मध्ये  
श्रेष्ठतममनुष्ठेयम् । असम्बन्धवचनम् असंग्रहणानां बहुभाषणानां सर्वस्य

वार्त्तलक्षणानामित्यारोग्यलक्षणानाम् । ज्ञानमित्यौषधविज्ञानं, साधनानामिति ज्ञानसाधनानाम्,  
संप्रतिपत्तिः यथाकर्त्तव्यतानुष्ठानम्, तृप्तिराहारगुणानामित्यत्र गुणशब्दः प्रशस्तधर्मवचनः । एक-



भवन्ति चात्र ।

अग्रगणां शतमुद्दिष्टं यद् द्विपञ्चाशदुत्तरम् ।

अलमेतद्विकाराणां विघातायोपदिश्यते ॥ २३ ॥

समानकारिणो येऽर्थास्तेषां श्रेष्ठस्य लक्षणम् ।

ज्यायस्त्वं काय्यकर्तृत्वेऽवरत्वञ्चाप्युदाहृतम् ॥ २४ ॥

अहितानाञ्च श्रेष्ठतमसंग्रहणं सर्वोहितञ्च । सर्वसन्न्यासः सर्वेषामारम्भाणां प्रवृत्तीनां सम्यक् संक्षेपस्त्यागः सुखकराणां श्रेष्ठतमः सुखकर इति ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—एषां संग्रहश्चोक्तानाह—भवन्ति चात्रेत्यादि । अग्रगणा मित्यादि । इति अग्रगणां श्रेष्ठतमानां यद् द्विपञ्चाशदुत्तरं शतमुद्दिष्टं संक्षेपे-  
णोक्तं तदेतद्विकाराणां विघातायालं समर्थमुपदिश्यते । एषां विज्ञानतो जातसामर्थ्यः पुरुषोऽन्येषामपि कर्मगुणनिर्देशसमर्थो भवति । तेनानुक्ताना-  
मपि कर्मप्रौषधानां द्रव्यादीनि ब्रूयान्न चैतावन्मात्रं श्रेष्ठतमं परिसमाप्तम् ।  
ये त्वर्थाः समानकर्मकारिणस्तेषां श्रेष्ठतमस्य लक्षणं ज्यायस्त्वं श्रेष्ठतमवरत्वञ्च

रसाभ्यासः कर्शनानामित्यपवादं वर्जयित्वा, तेन घृताभ्यासो रसायनानामिति न विरुध्यते ।  
भ्रमृतानामिति जीवितप्रधानहेतूनाम्, सर्वसन्न्यासः सर्वक्रियात्यागः, स हि परमसुखमोक्षहेतुः  
शारीरे वक्तव्यः ॥ २२ ॥

चक्रपाणिः—अग्रगणामित्यादौ अग्रप्रशब्दः श्रेष्ठवचनः, अलमिति समर्थम्, अत्र ज्वर-  
प्रमेहादयोऽपि स्वरूपेणातिपीडाकरत्वानुपज्ञिकत्वादिना ज्ञाताः सन्तः चिकित्सायामुपयुक्ता भवान्त,  
अतो ज्वरादिज्ञानमपि विकाराणां विघाताय समर्थं भवति, अग्रगणाञ्च विकारशमकत्वाभिधानं  
प्राधान्यादुच्यते, स्तुत्यर्थं वा, तेन यदुच्यते—एत एव चेदग्रगणिकारे विहिता विकारान् शम-  
यन्ति, तत् किमपरचिकित्साभिधानेनेति तन्निरस्तं ; विकारविघातश्चेहोत्पन्नानाञ्चौषधोपयोगेन  
तथानुत्पन्नानां स्वास्थ्यपरिपालनेन ज्ञेयः ॥ २३ ॥

चक्रपाणिः—अग्रगणिकारोक्तं संग्रहेण कथयति—समानेत्यादि । समानकारिणस्तुल्यकर्मणाः ;  
श्रेष्ठस्य लक्षणमिति प्रशस्तस्य लक्षणम्, लक्षणन्विह पाठ एव, पाठेन हि श्रेष्ठं लक्ष्यते ज्ञायते  
इत्यर्थः, ज्यायस्त्वं बृहत्त्वम्, तदा प्रशस्तगुणबृहत्त्वं ज्ञेयम्, अत एवाहिताधिकारकथने श्रेष्ठतम-  
शब्दं त्यक्त्वा “अपथ्यतमत्वे प्रकृष्टतमा भवन्ति” इत्युक्तम्, तेन, श्रेष्ठस्य लक्षणमिति रक्तशाल्या-  
दीनां हिताहारणां ज्ञेयम् ; ज्यायस्त्वञ्चाहिताहारणां यवकादीनामपथ्यतमत्वे प्रकर्षशालित्वम् ;  
कार्यकर्तृत्वे वरत्वञ्चेति कर्मणि चोत्कृष्टत्वं, तच्च “अन्नं वृत्तिकराणाम्” इत्यादिनोक्तं ज्ञेयम् ।



वातपित्तकफानाञ्च यद्वयत् प्रशमने हितम् ।  
 प्राधान्यतश्च निर्दिष्टं यद्व्याधिहरमुत्तमम् ॥ २५ ॥  
 एतन्निशम्य निपुणश्चिकित्सां संप्रयोजयेत् ।  
 एवं कुर्वन् सदा वैद्यो धर्मकामौ समश्नुते ॥ २६ ॥  
 पथ्यं पथोऽनपेतश्च यच्चोक्तं मनसः प्रियम् ।  
 यच्चाप्रियमपथ्यञ्च नियतं तन्न लक्ष्यते ॥ २७ ॥

काय्येकर्तृत्वेऽप्युदाहृतम् । एवं वातपित्तकफानां प्रशमने यद्व्यद्वितं प्राधान्यत-  
 स्तन्निर्दिष्टम् । तथा व्याधिहरं यदुत्तमं तदपि निर्दिष्टम् । इति ॥ २३—२५ ॥

गङ्गाधरः—एषां विज्ञानप्रयोजनमाह—एतदित्यादि । निपुणो वैद्य एत-  
 दुत्तमं द्विपञ्चाशदुत्तरं शतं निशम्य चिकित्सायां प्रयोजयेत् । एवञ्च कुर्वन्  
 चिकित्सायामेषां प्रयोगं कुर्वन् वैद्यो धर्मश्च कामश्चाश्नुते ॥ २६ ॥

गङ्गाधरः—ननु हितं पथ्यमहितमपथ्यं कथमभिधीयते इति ? अत आह—  
 पथ्यमित्यादि । पथः शारीराणां वातपित्तकफरसरक्तादीनां धातूनां  
 सञ्चारमार्गात् स्रोतोरूपादनपेतमनपगतम् । सर्व्वस्रोतोगतमपायकरं न  
 भवति । यच्च मनसः प्रियं सुखानुभवकरं तत् पथ्यं कदाद्यास्वादनेन मनसो-  
 ऽप्रियत्वेऽपि परिणामे सुखजनकत्वाच्च मनसोऽप्रियं भवति । यच्चापाततः  
 परिणामे च नियतं मनसोऽप्रियमपथ्यञ्च तन्न लक्ष्यते ॥ २७ ॥

वातपित्तकफेभ्यश्चेत्यादौ “वस्तिर्वातहराणाम्” “विरेचनं पित्तहराणाम्” “वमनं श्लेष्महराणाम्”  
 “आस्थापनं वातहराणाम्” इत्यादि ज्ञेयम् । यद् व्याधिहरमिति “खदिरं कुष्ठहराणाम्”  
 “पृष्करमूलं हिक्काश्वासपाश्वंशूलानाहहराणाम्” इत्यादि ज्ञेयम् ; किंवा, “अवरत्वम्” इति  
 पाठः, तदा, अवरत्वम् अत्यथानभिप्रायैककर्तृत्वम्, तच्च “रजस्वलागमनमलक्ष्मीमुखानाम्” इत्यादि  
 ज्ञेयम् , श्रेष्ठत्वज्यास्त्वाभ्यां प्रशस्ताप्रशस्तकर्मणामपि ग्रहणं व्याख्येयम् ॥ २४—२६ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रत्युक्तस्य पथ्यस्य हितापरनाम्नो लक्षणमाह—पथ्यमित्यादि । पथः शरीर-  
 मार्गात् स्रोतोरूपादनपेतम्, अपेतमपकारकमनपेतमनपकारकमित्यर्थः ; पथ्यग्रहणेन पथो बाह्यदोषा  
 धातवश्च, तथा पथो निवर्त्तका धातवो गृह्यन्ते, तेन कृत्स्नमेव शरीरं गृहीतं स्यात्, ततश्च  
 शरीरानुपघाति पथ्यमिति स्यात् ; किंवा स्वस्थस्वास्थ्यरक्षणमातुरव्याधिपरिमोक्षश्चेति पन्थाः,  
 तस्मादनेपेतं पथ्यम् । एवमपि मनोऽनुपघातित्वं न लभ्यत इत्याह—यच्चोक्तं मनसः प्रियमिति,  
 मनसोऽतिप्रतीत्याभिलषितं, तेन मनसो हितमिति प्रियार्थः ; तेन प्रशमज्ञानाभीष्टत्वादयो गृह्यन्ते ;  
 एतेन मनः, शरीरानुपघाति पथ्यमिति पथ्यलक्षणमनपवादमुक्तं स्यात् ; अन्ये तु पथ्यलक्षण-

मात्राकालक्रियाभूमि-देहदोषगुणान्तरम् ।

प्राप्य तत्तद्धि दृश्यन्ते ते ते भावास्तथा तथा ॥

तस्मात् स्वभावो निर्दिष्टस्तथा मात्रादिराश्रयः ।

तदपेक्षयोभयं कर्म प्रयोज्यं सिद्धिमिच्छता ॥ २८ ॥

तदात्रे यस्य भगवतो वचनमनुनिश्चय पुनरपि भगवन्त-  
मात्रेयमग्निवेश उवाच—यथोद्देशमभिनिर्दिष्टः केवलोऽयमर्थो  
भगवता श्रुतस्त्वस्माभिः । आसवद्रव्याणामिदानीमनपवादं  
लक्षणमनतिसंक्षेपणोपदिश्यमानं शुश्रूषाम इति ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—मात्रेत्यादि । ये ये लोहितशाल्यादयः श्रेष्ठत्वेनोक्तास्ते ते  
भावा मात्राकालक्रियाभूमिदेहदोषगुणावस्थान्तरं तत्तत् प्राप्य तथा तथा  
भवन्ति । न तु तत्तद्गुणान्तरव्यतिरिक्तापरभावमापन्ना हिता अहिता भवन्ति  
अहिता हिता भवन्ति । तस्माद्धिताहितत्वस्वभावो लोहितशाल्यादीनां  
निर्दिष्टः । तत्र तथा हितत्वाहितत्वयोराश्रयो मात्रादिमात्राकालक्रियाभूमि-  
देहदोषावस्थान्तरमिति तन्मात्राद्याश्रयं हिताहितमुभयमपेक्ष्य सिद्धिमिच्छता  
चिकित्सायां पानाशनादिकं कर्म प्रयोज्यमिति ॥ २८ ॥

गङ्गाधरः—इत्येवमनपवादं हिताहितलक्षणं श्रुत्वाग्निवेशः पुनर्यदपृच्छत् तदाह  
—तदात्रेयेत्यादि । भगवता यथोद्देशमयं केवलः कृतस्मोऽर्थोऽभिनिर्दिष्टः ।

द्वयमेतत् पठन्ति, वदन्ति च—“यदेवं लक्षणं स्यात्, तदा ज्वरादिषु तिक्तं भेषजं मनसो-  
ऽप्रियत्वेन न पथ्यं स्यात्, एतच्चानुमतमेव,—यद् ज्वरे तिक्तप्रयोगस्य तदात्वे न मनसोऽनुकूलत्वं,  
न चैतावता शरीरं प्रत्यपथ्यत्वं स्यात्, अतः यन्मात्रं मनोऽनुकूलत्वं मानसविकारकचर्त्वात्  
तदपथ्यपदेश्यमेव ; किंवा तावन्मात्रं मनोऽनुकूलत्वं मानसविकारकचर्त्वात्तदपथ्यपदेश्यमेव ;  
तदेतदपथ्यत्वं किमाहाराचाराणां नियतमस्ति ? नेत्याह—तच्चेत्यादि । नियतं निश्चितमिदमप्रियमेव  
सर्वदेदमपथ्यमेव सर्वदेत्येवंरूपं किञ्चिन्नास्तीत्यर्थः । कुतो नास्तीत्याह—मात्रेत्यादि । गुणान्तर-  
शब्दो मात्रादिभिः सम्बध्यते, तत्तदिति मात्रादिगुणान्तरम्, ते ते इति हिताहिताहाराचाराः, तथा  
तथेति हितोक्ता अपि हिता अहिताश्च, तथाऽहितोक्ताश्चाहिता हिताश्च, एवं प्रियमपि मधुरादि  
अप्रियम्, तिक्ताद्यप्रियमपि प्रियम् ; अत्रोदारणं यथा—पथ्यं तावद् घृतम्, तदतिमात्रमपथ्यं  
स्यात् काले च वसन्तेऽपथ्यम्, संस्कारेण च विरुद्धद्रव्यसंस्कृतमपथ्यम्, भूमौ चानूपायामपथ्यम्,  
एवं देहेऽतिस्थूले, एवं दोषे कफेऽपथ्यम् ; अपथ्यमपि विषं मात्रादिना हितं स्यात्, यथा ‘ज्वरे

तमुवाच भगवानात्रेयः । धान्यफलमूलसारपुष्पकण्ड-  
पत्रत्वचो भवन्त्यासवयोऽनयोऽग्निवेशाष्टौ संग्रहेण शर्करानव-  
मीकाः । तास्वेव द्रव्यसंयोगकरणतोऽपरिसंख्येयासु यथापथ्य-  
तमानामासवानां चतुरशीतिं निबोध ॥ ३० ॥

तद्यथा सुरासौवीरकतुषोदकमैरेयमेदकधान्याम्लाः षड्  
धान्यासवा भवन्ति । मृद्वीकाकाशमर्यखर्जूरधन्वनराजादन-  
इदानीमासवद्रव्याणामनतिसंक्षेपेणोपदिश्यमानमनपवादं लक्षणं शुश्रूषाम  
इत्यग्निवेश उवाच ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—ततस्तमुवाचात्रेयः । धान्यफलेत्यादि । धान्यादयोऽष्टावासवानां  
योनयो भवन्ति । शर्करानवमीकाः शर्करा नवमी योनिर्यास्वष्टसु योनिषु ताः  
शर्करानवमीकाः । धान्यादिवदोषधिजात्यभावाच्छर्करायाः पृथक् अभिधानं,  
धान्यस्य तृणफलत्वेन फलस्य वृक्षजफलविवक्षाभापनार्थं पृथग्वचनम् ।  
तास्वेव नवस्वासवयोनिषु द्रव्यसंयोगकरणतः पुनरपरिसङ्ख्यायासु योनिषु  
पथ्यतमानामासवानां चतुरशीतिं योनीः निबोध ॥ ३० ॥

गङ्गाधरः—सुरेत्यादि । सुरादयः षड् धान्यासवाः । सुरा तन्दुलकृता,  
सौवीरकं निस्तुषयवकृतं, तुषोदकं सतुषयवकृतं, मैरेयं सुराकृतसुरा, मेदको  
जगलाख्या श्वेतसुरा, धान्याम्लं काञ्जिकमिति । मृद्वीकादीनां  
शङ्खिन्यन्तानां षड्विंशतेः फलानामेकैकेषामासवाः षड्विंशतिर्भवन्ति ।  
विषस्य तिलं दद्यात् इत्यादि ; एवमन्यदप्यूह्यम्, यस्मादेवमेकान्तमपथ्यत्वमनिश्चितं,  
प्रायोवादपथ्यता तु निश्चिता, तस्मात् स्वभावो निर्दिष्ट इति,—पथ्यानां रक्तशाल्यादीनाम्  
अपथ्यानाञ्च यवकादीनामित्यर्थः, स्वभावः प्रकृत्या पथ्यताऽपथ्यता च, तथा मात्रादिराश्रय  
इति निर्दिष्ट इति सम्बन्धः, मात्रादिमात्राकालक्रियादिः, आश्रय इति पथ्यत्वापथ्यत्वयोः,  
मात्रादीन्याश्रित्य भावानां पथ्यत्वापथ्यत्वञ्च पारमार्थिकं भवतीत्यर्थः, उभयमिति स्वभावो  
मात्रादिश्च ॥ २७—२९ ॥

चक्रपाणिः—इदानीमग्र्याधिकारादासवेधनन्तेषु य आसवा अग्र्यास्त उच्यन्ते । धान्यादी-  
न्येकत्वेन पठित्वा पृथक् शर्करां पठन्ति, धान्यादीनामवान्तरजातिमत्त्वात्, शर्करायास्त्ववान्तर-  
जातिर्नास्ति ; तासु शर्करा नवम्यासवकारणतया श्रूयते ; मधुशर्करा तु मध्वन्तरनिविष्टैव ; मधु  
तु नासवयोनितया पृथक् पठितम्, येन तत्कृतस्यासवस्य धान्यसम्बन्धत्वात् धान्यासवेनैव  
ग्रहणम् ; एवं गौडासवादिष्वपि बोद्धव्यम् । द्रव्यञ्च संयोगश्च करणञ्च द्रव्यसंयोगकरणम्, ततो-

तृणशून्यपरूषकाभयामलकमृगलगण्डिकाजम्बीर- \* कपित्थकुवल-  
वदरकर्कन्धूपीलुपियालपनसन्यग्रोधाश्वत्थप्लक्षकपीतनोदुम्बराज-  
मोदाशृङ्गाटकशङ्खिनीफलासवाः षड्विंशतिर्भवन्ति । विदारि-  
गन्धाश्वगन्धाकृष्णगन्धाशतावरीश्यामात्रिवृद्धन्तीद्रवन्ती-वित्त्वो-  
रुवूकचित्रमूलैरेकादश मूलासवा भवन्ति । शालप्रियकचन्दन-  
स्यन्दन-खदिर-कदरसप्तपर्णाश्वकर्णाज्जुनाशनारिमेद-तिन्दुक-  
किणिहिशमीशुक्तिपत्रशिंशपाशिरीषवञ्जुलधन्वनमधूकसारासवा

धन्वनो वृक्षविशेषः । राजादनं पियालभेदः । तृणशून्या (न्यं) केतकी  
तस्याः फलासवः । मृगलगण्डिका विभीतकी तस्याः फलम् । कुवलं वृहत्फल-  
वदरी । वदरं स्वल्पफलवदरी । कर्कन्धूः शृगालकोली । पीलु उत्तरापथिकं  
गुडफलम् । प्लक्षः पर्कटी । अजमोदा यमानी । शङ्खिनी चोरपुष्पीति ।  
विदारिगन्धेत्यादि । विदारिगन्धादिचित्रमूलान्तैरेकादशभिरेकैकस्य मूलेन  
कृत आसव इति मूलासवा एकादश भवन्ति । विदारिगन्धा शालपर्णी । कृष्ण-  
गन्धा शोभाञ्जनः । श्यामा श्याममूला त्रिवृत् । दन्ती नागदन्ती । द्रवन्ती क्षुद्र-  
मूला दन्ती । एषां मूलानि । शालेत्यादि । शालादीनां मधूकान्तानां सारै-  
रासवा विंशतिर्भवन्ति । शालस्त्रिविधः । तत्र वृहद्वृक्षः शाल इह विवक्षितः ।  
प्रियकः प्रियङ्गुवृक्षः । चन्दनं रक्तचन्दनम् । स्यन्दनस्तिनिशवृक्षः । खदिरो  
वव्वोलः । कदरः श्वेतखदिरः । सप्तपर्णः सप्तच्छदः । अश्वकर्णो वृहत्पत्रह्रस्व-  
शालवृक्षः । अञ्जुनः स्वनामख्यातः । अशनः पीतशालः । अरिमेदो विट्-  
खदिरः । किणिहिः स्वनामख्यातो वृक्षविशेषः सारवान् न लपामागः सारा-  
भावात् । शुक्तिपत्रं वदरीवृक्षः । वञ्जुलोऽशोकवृक्षः । धन्वनो धामनीवृक्षः ।

ऽपरिस्मृत्येयाः स्युः ; सौवीरं निस्तुषयवकृतं, मैरेयं सुरासवकृता सुरा, मेदकः श्वेतसुरा जग-  
लाख्या धान्याम्बु काजिकं, तृणशून्यं केतकी, मृगलगण्डिका विभीतकम्, कुवलमिति  
स्थूलवदरी, कर्कन्धूः शृगालवदरी, कदरः श्वेतखदिरः, अश्वकर्णः शालभेदः, अरिमेदो विट्खदिरः,

विंशतिर्भवन्ति । पद्मात्पलनलिनकुमुद-सौगन्धिकपुण्डरीकशत-  
पत्रममृकप्रियङ्गु, धातकीपुष्पैर्दश पुष्पासवा भवन्ति । इक्षुकाण्डे-  
द्विचक्रुवालिकापुण्ड्रकचतुर्थाः काण्डासवाः । पटोलताडकपत्रा-  
सवौ द्वौ भवतः । तिल्वकलोध्रैलवालुकक्रमुकचतुर्थास्वगा-  
सवा भवन्ति । शर्करासव एक एवेति ॥ ३१ ॥

एवमेषामासवानां चतुरशीतिः परस्परेणासंसृष्टानामासव-  
द्रव्याणामुपदिष्टा भवन्ति । एषामासवानामासुतत्वादासवसंज्ञा ।

पद्मात्पलेत्यादि । पद्मादीनां धातक्यन्तानां दशानामेकैकस्य पुष्पैः कृता  
आसवाः पुष्पासवा दश । पद्ममरविन्दं कमलम् । उत्पलं नीलोत्पलम् ।  
नलिनं खलपदलपद्मम् । तच्चाष्टदलं द्वादशदलञ्चारुणवर्णम् । कुमुदं श्वेत-  
पुष्पनालीपुष्पम् । सौगन्धिकं श्वेतपुष्पं कलारम् \* । रक्तपुष्पञ्च । पुण्डरीकं  
श्वेतपद्मम् । शतपत्रमरुणवर्णशतदलपुष्पपद्मम् । प्रियङ्गु वृक्षस्य पुष्पम् ।  
इक्ष्वत्यादि । इक्षुप्रभृतीनां चतुर्णां काण्डानामासवाश्चत्वारः । इक्षुः कृष्ण  
इक्षुः । बहुधा । काण्डेक्षुः कठिनोऽस्परस इक्षुः खालिया इति  
लोके । इक्षुवालिका लटा । पुण्ड्रकः श्वेतेक्षुः । पटोलेत्यादि । द्वौ  
पत्रासवौ । पटोलपत्रस्य ताडपत्रस्य च । ताडस्तालपत्रवद्गृहपत्रवृक्षः ।  
तिल्वकेत्यादि । तिल्वकादीनां चतुर्णां त्वचा कृता आसवाश्चत्वारः ।  
तिल्वकः श्वेतलोध्रः । लोध्रो रक्तलोध्रः । एलवालुक एलैयवृक्षः । क्रमुको  
गुवाकवृक्षः । शर्करासव एक एवेति । इति चतुरशीतिरासवाः ॥ ३१ ॥

गङ्गाधरः—एषामासवसंज्ञा खलवासुतत्वात् कालान्तरेण सन्धानभावात् ।  
नन्वेषां चतुरशीतेर्द्रव्याणामेव किमासवा भवन्ति नान्येषामिति ? अत उच्यते  
एवमेषामित्यादि । परस्परेणासंसृष्टानामेषामेकैकेषामासवानां द्रव्याणां चतुर-  
किणिही अपामार्गः, शुक्तिर्वदरी पद्मं सरक्तमष्टदलपद्मम्, नलिनं श्वेतमष्टदलपद्मम्, पुण्डरीकं  
श्वेतशतपत्रपद्मम् ; शतपत्रन्त्वरुणम् । इक्षुशब्दप्राप्तस्यापि पुण्ड्रकस्य पुनरभिधानमासवं प्रति  
तस्य प्राधान्यख्यापनायम् ; क्रमुकं गुवाकम् ; तिल्वकः शावरलोध्रः । आसुतत्वादिति  
सन्धानरूपत्वात् । द्रव्यसंयोगविभाग इत्यादौ 'एषाम्' इतिपदेन प्रत्येकं धान्यादिद्रव्यकृता  
आसवा उक्ताः, तेषाञ्च विभागोऽनुपपन्न एकरूपत्वादिति, तन्न, तेषामपि स्वजातीयद्रव्यविभागस्य

\* सौगन्धिकं नीलोत्पलाकारवर्णमुत्पलं सुगन्धिचेति डल्लणः ।

द्रव्यसंयोगविभागविस्तरस्त्वेषां बहुविधविकल्पः संस्कारश्च ।  
यथास्व संयोगसंस्कारसंस्कृता ह्यासवाः स्वं स्वं कर्म  
कुर्वन्ति ॥ ३२ ॥

संयोगसंस्कारादौ देशकालमात्रादयश्च भावाः । तेषां  
तेषामासवानां ते ते समुपदिश्यन्ते तत्तत्कार्यमभिसमी-  
क्ष्येति ॥ ३३ ॥

भवति चात्र ।

मनःशरीरान्निबलप्रदानाम्  
अस्वप्नशोकारुचिनाशनानाम् ।  
संहर्षणानां प्रवरासवानाम्  
अशीतिरुक्ता चतुरुत्तरैषा ॥ ३४ ॥

शीतिरुपदिष्टा भवन्ति, तेषामासवानामुक्तानुक्तद्रव्यैः संयोगविस्तरौ द्रव्यविभाग-  
विस्तरश्च बहुविधविकल्पः संस्कारश्च बहुविधविकल्पः । तत्र येन येन द्रव्येण  
संयोगाद् यस्य यस्य द्रव्यस्यासवा ये भवन्ति, येन येन च द्रव्येण च संस्कारात्  
संस्कृताश्च भवन्ति तत्तद् यथास्वं द्रव्यस्य संस्कारस्य गुणकर्मभ्यां ते त  
आसवाः स्वं स्वं कर्म कुर्वन्ति ॥ ३२ ॥

गङ्गाधरः—तत्तद्द्रव्यसंयोगविभागादौ संस्कारे च असंस्कारे च यद्यत्  
कर्म कुर्वन्ति बुद्धिमद्भिस्तेषां तेषामासवानां तत्तत्कार्यमभिसमीक्ष्य विविच्य  
मात्रादयश्च भावास्तेषां तेषां ते ते मात्राकालक्रियाभूमिदेहदोषप्रकृत्यवस्थान्तर-  
भावाः समुपदिश्यन्ते । इति ॥ ३३ ॥

गङ्गाधरः—भवति चात्रेत्यादि । मनःशरीरेत्यादिना श्लोकेनासवानाम्  
उपसंहारः ॥ ३४ ॥

विद्यमानत्वात्, किञ्च संस्कारद्रव्यविभागस्यापि तत्र शक्यत्वात् ; न हेतुकेनैव द्रव्येण सुरादयः  
क्रियन्ते, प्राधान्यात् तु धान्यादयोऽभिधीयन्ते । संस्कारश्च बहुविधविकल्प इति योजना ।  
संयोगसंस्कारकरणप्रयोजनमाह—यथास्वमित्यादि । यथास्वमिति यद् युज्यते ; देशो भस्मराशि-  
धान्यराश्यादिः सन्धानेषु वक्ष्यमाणः ; कालस्तु पक्षमासादिः ; स्थापनमात्रा सन्धानद्रव्यमात्रा ;

तत्र श्लोकः ।

शरीररोगप्रकृतौ मतानि तत्त्वेन चाहारविनिश्चयाय \* ।

उवाच यज्जःपुरुषादिकेऽस्मिन् मुनिस्तथाग्राणि वरासवांश्च ॥३५॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते श्लोकस्थाने

यज्जःपुरुषीयो नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—तत्र श्लोक इत्यादि । शरीररोगेत्यादिनैकेनाध्यायाथैः शरीरप्रकृतौ रोगप्रकृतौ चोपादानकारणे तत्त्वेन मुनीनां मतानि आहार-विनिश्चयाय यानि हिताहितानि तथाग्राणि श्रेष्ठतमानि तथा वरासवांश्चास्मिन् यज्जःपुरुषादिकेऽध्याये मुनिरात्रेयपुनर्व्वेमुखाचेति ॥ ३५ ॥

अग्नीत्यादि । सत्त्व पूर्व्ववत् ।

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजकृते चरकजल्पकल्पतरौ सूत्रस्थानीय-  
पञ्चविंशयज्जःपुरुषीयाध्यायजल्पाख्या पञ्चविंशी शाखा ॥२५॥

आदिग्रहणाद् द्रव्यस्वभावेतिकर्तव्यतासंग्रहणम्, तत्तत्कार्यमिति देशकालशरीरदोषादिभिन्नं हितत्वम् । मनःशरीरेत्यादिना गुणकथनं युक्तम् पीतत्यासवस्य ज्ञेयम् ॥ ३०—३५ ॥

इति चरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायाञ्च आयुर्व्वेददीपिकायां सूत्रस्थान-  
व्याख्यायां यज्जःपुरुषीयो नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

## पड़विंशोऽध्यायः ।

अथात आत्रेयभद्रकाप्यीयमध्यायं व्याख्यास्यामः,  
इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

आत्रेयो भद्रकाप्यश्च शाकुन्तेयस्तथैव च ।  
पूर्णाक्षश्चैव मौद्गल्यो हिरण्याक्षश्च कौशिकः ॥  
यः कुमारशिरा नाम भरद्वाजः शठानघः \* ।  
श्रीमान् वाय्योविदश्चैव राजा मतिमतां वरः ॥  
निमिश्च राजा वैदेहो वडिशश्च महामतिः ।  
काङ्गायनश्च वाहीको वाहीको भिषजां वरः † ॥

गङ्गाधरः—द्रव्यादीनां हिताहितत्वयोराहारादिविधयोपयोगादेशत्वेनाभ्यव-  
हतानि द्रव्याणि तानि तानि यद्यन् कर्म कुर्वन्ति तद्रपादिद्वारेणैवेत्यत-  
स्तदुपदेशार्थमात्रेयभद्रकाप्यीयमध्यायमारभते—अथात इत्यादि । अध्यायस्यादौ  
आत्रेयो भद्रकाप्यश्चेति वाक्यार्थमात्रयभद्रकाप्यमधिकृत्य कृतोऽध्याय  
इत्यात्रेयभद्रकाप्यीयोऽध्याय इति । शेषं सर्वं पूर्ववद्द्रव्याख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—आत्रेय इत्यादि । आत्रेयः पुनर्वसुः । भद्रकाप्यश्च शाकुन्तेयो  
ब्राह्मणः । मौद्गल्यः पूर्णाक्षः । कौशिको हिरण्याक्षः । कुमारशिरा भरद्वाजः  
शठानघः । मतिमतां वरो राजर्षिः श्रीमान् वाय्योविदः । विदेहो मैथिलो  
निमिर्नाम राजर्षिः । महामतिर्वडिशो धामार्गवः । भिषजां वरो वाहीको

चक्रपाणिः—हिताहितैकदेशमभिधाय कृत्स्नद्रव्यहिताहितत्वज्ञानार्थं रसवीर्यविपाकाभि-  
धायकात्रेयभद्रकाप्यीयोऽभिधीयते । तत्रापि विपाकादीनामपि रसेनैव प्रायो लक्षणीयत्वात्

\* स चानघ इति वा पाठः ।

† वाहीको भिषजां वरः इत्यत्र वाहीकभिषजां वर इति चक्र ।



एते श्रुतवयोवृद्धा जितात्मानो महर्षयः ।

वने चैत्ररथे रम्ये समीयुर्विजिहीर्षवः ॥

तेषां तत्रोषविष्टानामियमथवती कथा ।

बभूवार्थविदां सम्यग्रसाहारविनिश्चये ॥ २ ॥

एक एव रस इत्युवाच भद्रकाप्यः । यं पञ्चानामिन्द्रियार्थानामन्यतमं जिह्वाविषयभावमाचक्षते कुशलाः । स पुनरुदकादनन्य इति ॥ ३ ॥

बाह्यदेशवासी बाह्यीकदेशीयश्च काङ्कायनऋषिः । इति निमिवाय्यौविदयो राजर्षिस्तादेते दश महर्षयः श्रुतेन वयसा च वृद्धा विजिहीर्षवो विहृत्तु-  
मिच्छवश्चैत्ररथे नाम्ना रम्ये वने समीयुः संगता बभूवुः । तत्र वने खलूप-  
विष्टानां तेषां पुनर्व्वेमुप्रभृतीनामर्थविदामियं वक्ष्यमाणा रसाहारविनिश्चये-  
ऽर्थवती प्रयोजनवती कथा बभूव ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—का सा कथेति ? अत उच्यते—एक एवेत्यादि । तेषां मध्ये भद्रकाप्य ऋषि एक एव रस इत्युवाच । कोऽसावेको रस इति ? अत उच्यते—यं पुनरित्यादि । कुशलाः पण्डिता यं पञ्चानामिन्द्रियार्थानामन्यतममेकतमं जिह्वेन्द्रियवैषयिकं भावमाचक्षते स रस एक एव न तु द्विविधादिः जिह्वेन्द्रियविषयत्वसामान्यात् । जिह्वावैषयिको भावश्च शीतोष्णमृदुकठिनादिश्च भावस्तत्र प्रसङ्गवारणाय । पञ्चानामिन्द्रियार्थानां मध्ये यो यो भावोऽन्य एकः परस्परविभिन्नः श्रोत्रादिग्राह्यत्वेन भिन्नभिन्नधर्म्मा तेषु मध्ये जिह्वेन्द्रिय-  
वैषयिको यो भावः स रसः । शीतोष्णादिस्तु स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यत्वेन भिन्नः । जिह्वायां हि त्रीणीन्द्रियाणि वर्तन्ते । वागिन्द्रियं रसनेन्द्रियं स्पर्शनेन्द्रियञ्च

रसप्रकरणमादौ कृतम् । मुनिमतैः पूर्व्वपक्षं कृत्वा सिद्धान्तव्यवस्थापनं शिष्यव्युत्पत्त्यर्थम् । रसेनाहारविनिश्चयो रसाहारविनिश्चयः, किंवा, “अयं रसविनिश्चयः तथापरञ्चातो विपाकानाम्” इत्यादिराहारविनिश्चयः ॥ ११२ ॥

चक्रपाणिः—एक एवेत्यादि । द्वान्द्रयार्थानामिति निर्द्धारणे पष्टी । अन्यतममित्येकम्, अन्यशब्दो ह्ययमेकवचनः, यथा “अन्यो दक्षिणेन गतः, अन्य उत्तरेण,” एक इत्यर्थः, तमशब्दः

इति । तत्र जिह्वास्थं त्वगिन्द्रियं शीतोष्णादिस्पर्शं गृह्णाति । मधुराम्लादिकं रसनेन्द्रियं गृह्णाति न शीतोष्णादिकम् । प्रागुत्पत्तौ हि यदा भूतादिसमाख्यात-  
तामसादहङ्कारात् पञ्चशब्दतन्मात्रादीनि गगनादीनि पञ्चमहाभूतानि जायन्ते,  
तदैव सहोदकेन भूतेन जातो रसः साधारणरूपः । तमेव भूतान्तरसंयोगेन संहते  
द्रव्ये जायमानेऽभिव्यक्तं जिह्वेन्द्रियविषयं भावं कुशला आचक्षते । तस्मादेक  
एव रसो नानेकः । तद्व्यदुदकं प्रागजातं तदुदकात् पुनः स रसोऽनन्यो नान्य  
इति । तथा च रसनार्थो रस इति प्रागभिहितम् । नातोऽतीन्द्रिये तस्मिन् रसे  
लक्षणाप्रसङ्गः । यो हि भावोऽभिव्यक्तः सन् ग्राह्यो भवति स एवार्थसंज्ञो  
भवति नानभिव्यक्तो भावोऽर्थ उच्यते इन्द्रियस्य योऽभिव्यक्तो रसनेन  
इन्द्रियेण गृह्यते स रसनार्थो रस उच्यते । न चातिप्रसङ्गो लक्षणस्य रसत्वे  
रसाभावे च जिह्वेन्द्रियार्थत्वाभावात् । न हि रसनेन्द्रियेण रसत्वं रसाभावो  
वा प्रत्यक्षमुपलभ्यते । रसेनैव ह्यनुमीयते रसत्वम् । रसाभावश्च भावरूपो  
गन्धादिर्न रसनेन्द्रियार्थः । अवस्तरूपश्चाभावस्तत्तदसस्यासत्ता । ( तस्या-  
भावस्य भाव इति पदेन तद्व्यावृत्तिः ) स हि रसनेन्द्रियेणोपलभ्य  
रसमनुपलब्ध्याऽनुमीयते । नास्त्यत्र निम्बे मधुरो रस इति ।  
तस्माद्रसनेन्द्रियग्राह्यवृत्तिगुणत्वावान्तरजातिमत्त्वं रसत्वमित्येवं न तल्लक्षणं  
व्याख्यातव्यम् । तस्मिन्नतीन्द्रियस्य रसस्य रसत्वं न जातिः साधारणैकरूप-  
त्वात् । जातिहानेकव्यक्तिसमवायिनी । स एवाभिव्यक्तो यदानेकरूपो भवति  
मधुरादिविशेषस्तदा विशेषे रसत्वं जातिर्भवति न त्विशेषे । तस्मिन्नविशेष  
रसे रसत्वन्तु शब्दादितन्मात्रात्वापेक्षो विशेषः पदार्थः । तन्मात्रात्वं शब्दादीनां  
पञ्चानां सामान्यमाकाशादीनां हि शब्दादि, सा सा मात्रेति तन्मात्रा । सुश्रुते  
चोक्तम् 'आप्यो रस' इति । अनया रीत्या शब्दादीनामपि लक्षणान्यनुक्तानि  
वाच्यानि । श्रवणार्थः शब्दः । योऽभिव्यक्तः सन् श्रवणग्राह्योऽर्थो भवति  
सोऽर्थः शब्दः । स्पर्शनार्थः स्पर्शः । योऽभिव्यक्तः सन् स्पर्शनग्राह्यो भवति स  
स्पर्शनार्थः स्पर्शः । नेत्रार्थो रूपम् । योऽभिव्यक्तः सन् नेत्रग्राह्योऽर्थो भवति स  
नेत्रार्थो रूपम् । घ्राणार्थो गन्धः । योऽभिव्यक्तः सन् घ्राणग्राह्योऽर्थो भवति  
स घ्राणार्थो गन्धः । इति ॥ ३ ॥

स्वार्थिकः । जिह्वावैषयिकमिति जिह्वाग्राह्यम् । रसाभावोऽपि जिह्वया गृह्यते, अत आह भावमिति ;  
उदकादनन्य इति रसोदकयोरेकत्वव्यापनार्थं पूर्वपक्षत्वाद् ; दृष्टः पूर्वपक्षश्च कापिलसतेन—

द्वौ रसाविति शाकुन्तेयो ब्राह्मणः । छेदनीय उपशमनीय-  
श्चेति ॥ ४ ॥

त्रयो रसा इति पूर्णाक्षो मौद्गल्यः । छेदनीयोपशमनीय-  
साधारणाः ॥ ५ ॥

चत्वारो रसा इति हिरण्याक्षः कौशिकः । स्वादुहितश्च  
स्वादुरहितश्च अस्वादुर्हितश्चास्वादुरहितश्च ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—द्वावित्यादि । शाकुन्तेयो ब्राह्मणः खलु योऽभिव्यक्तः सन्  
रसनग्राह्योऽर्थो भवति स रस एक एवेति सत्यम् । अभिव्यक्तः संस्तु योऽर्थो  
भवति स पुनश्छेदनीय उपशमनीयश्चेति द्विधाऽभिव्यज्यते । तस्माद् द्वौ रसा-  
वित्युवाच । शरीरदोषादिच्छेदनेन वर्त्तत इति छेदनीयः । शरीरदोषादेरुप-  
शमनेन वर्त्तत इत्युपशमनीय इति । अम्ललवणकटुभिः शारीरक्लेदादि-  
दोषश्छिद्यत इति हि दृश्यते मधुरतिक्तकषायैरुपशाम्यत इति च दृश्यते ।  
इति ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—त्रय इत्यादि । पूर्णाक्षो मौद्गल्यः खलु यो भावोऽभिव्यक्तः  
सन् रसनग्राह्योऽर्थो भवति स रस एक एवेति सत्यम् । अभिव्यक्तः सन्  
पुनर्योऽर्थो रसनग्राह्यो भवति स पुनश्छेदनीयोपशमनीयो साधारणश्चेति  
त्रिधाऽभिव्यज्यते तस्मात् त्रयो रसा इत्युवाच । तयोर्मिश्रीभावे छेदनोपशमने  
दृश्येते ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—चत्वार इत्यादि । हिरण्याक्षः कौशिकः खलु यो भावोऽभिव्यक्तः  
सन् रसनग्राह्योऽर्थो भवति स रस एक एवेति सत्यम् । अभिव्यक्तस्तु सन्  
योऽर्थो रसनग्राह्यो भवति स तु स्वादुहितश्च स्वादुरहितश्चास्वादुहितश्चास्वादु-  
रहितश्चेति चतुर्धाऽभिव्यज्यते । तस्माच्चत्वारो रसा इत्युवाच । रक्तशालि-  
यवगोधूममुद्गादिः स्वादुश्च हितश्च । माषादिस्तु स्वादुश्चाहितश्च । चुलकी-  
वसादिरस्वादुहितश्च आचिकघृतादिस्तस्वादुश्चाहितश्चेति ॥ ६ ॥

ते हि “रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रम्” इत्यादिवचनेन गुणव्यतिरिक्तद्रव्यमिति ब्रुवते । छेदनीय  
इत्यपतर्पणकारकः, उपशमनीय इति वृंहणः ; साधारण इत्याग्नेयसौम्यसामान्यादुभयोरपि लङ्घन-

पञ्च रसा इति कुमारशिरा भरद्वाजः । भौमौदकाग्नेय-  
वायव्यान्तरीक्षाः ॥ ७ ॥

षड्रसा इति वाय्व्योविदो राजर्षिः । गुरुलघुशीतोष्णस्निग्ध-  
रुक्षाः ॥ ८ ॥

सप्त रसा इति निमिविदेहः । मधुराम्ललवणकटुतिक्त-  
कषायक्षाराः ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—पञ्चेत्यादि । शठानघः कुमारशिरा भरद्वाजः खलु यो भावोऽभिव्यक्तः सन् रसनग्राह्योऽर्थो भवति स रस एक एवेति सत्यम् । अभिव्यक्तस्तु सन् यो रसनग्राह्योऽर्थो भवति स पुनर्भौमौदकाग्नेयवायव्यान्तरीक्षभेदेन पञ्चधाऽभिव्यज्यते । तस्मात् पञ्च रसा इत्युवाच । वक्ष्यते च सोमगुणातिरेकान्मधुरो रसः इति । पूर्वोक्त्यां चाभिहितम्—“रसनाथो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा । निवृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः स्वादयस्त्रयः ॥” इति ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—षड्रसा इति । अथ वाय्व्योविदो राजर्षिः खलु यो भावोऽभिव्यक्तः सन् रसनग्राह्योऽर्थो भवति स रस एक एवेति सत्यम् । सोऽभिव्यक्तस्तु सन् यो रसनग्राह्योऽर्थो भवति स गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरुक्षभेदेन षड्धाऽभिव्यज्यते । तस्मात् षट् रसा इत्युवाच । कश्चिद्धि रसो गुरुश्चिरेण पच्यते, कश्चिलघुः शीघ्रं पच्यते, कश्चिच्छीतः शैत्यं जनयति, कश्चिदुष्ण औष्ण्यं जनयति, कश्चिद् स्निग्धः स्नेहयति, कश्चिद् रुक्षो रुक्षयतीति ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—सप्तेत्यादि । अथ निमिविदेहो राजर्षिः खलु यो भावोऽभिव्यक्तः सन् रसनग्राह्योऽर्थो भवति स रस एक एवेति सत्यम् । स खलु अभिव्यक्तस्तु सन् यो रसनग्राह्योऽर्थो भवति स मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायक्षारभेदेन सप्तधाऽभिव्यज्यते । तस्मात् सप्त रसा इत्युवाच । इति ॥ ९ ॥

वृंहणयोः कर्त्ता, परस्परविरोधादकर्त्ता वा । स्वादुरित्यभीष्टः, हित इत्यायत्यनपकारी । आश्रीयत इत्याश्रयो द्रव्यम् ; गुणाः सिग्धगुर्वादयः, कर्म धातुवर्द्धनक्षपणादि ; संस्वादो रसानामवान्तरभेदः, एषां विशेषाणां भेदानामित्यर्थः ; तत्र द्रव्यभेदादाधारभेदेनाश्रितस्यापि रसस्य भेदो भवति, आश्रयो हि कारणं, कारणभेदान्च कार्यभेदोऽवश्यं भवतीत्यर्थः, गुर्वादिगुणभेदास्तथा कर्मभेदाश्च रसकृता एव ; ततश्च कार्यभेदादवश्यं कारणभेद इति पूर्वपक्षाभिप्रायः । संस्वाद-

अष्टौ रसा इति वडिशो धामागवः । मधुराम्ललवण-  
कटुतिक्तकषायचारव्यक्ताः ॥ १० ॥

अपरिसंख्येया रसा इति काङ्कायनो वाङ्मीकभिषक्,  
आश्रयगुणकम्मसंस्कारविशेषाणामपरिसंख्येयत्वात् ॥ ११ ॥

षड्वेव रसा इत्युवाच भगवान् पुनर्वसुमधुराम्ललवण-  
कटुतिक्तकषायाः । तेषां षण्णां रसानां योनिरुदकम् ।

गङ्गाधरः—अष्टावित्यादि । अथ वडिशो धामागवः खलु यो भावो-  
ऽभिव्यक्तः सन् रसनग्राह्योऽर्थो भवति स रस एक एवेति सत्यम् । अभि-  
व्यक्तस्तु सन् यो रसनग्राह्योऽर्थो भवति स खलु मधुरादिपूर्वसप्तविधोऽव्यक्तश्च  
द्व्यष्टधाऽभिव्यज्यते । तस्मादष्टौ रसा इत्युवाच ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—अपरिसंख्येया इत्यादि । अथ काङ्कायनो वाङ्मीको भिषक्  
खलु यो भावोऽभिव्यक्तः सन् रसनग्राह्योऽर्थो भवति स रस एक एवेति  
सत्यम् । यस्तु अव्यक्तो रसनग्राह्योऽर्थः स आश्रयादिविशेषाणामपरिसंख्येयत्वेन  
अपरिसंख्येयतयाभिव्यज्यते । अभिव्यक्ताश्चाश्रयगुणकम्मसंस्कारविशेषाणाम्  
अपरिसंख्येयत्वादपरिसंख्येया रसा इत्युवाच । रसानामाश्रया द्रव्याणि खलु  
अपरिसंख्येयानि न समानरसानि गुणास्तेषां समानाधिकरणा गुरुत्वादयस्तैश्च  
विभिन्नाः । कर्माणि च धातुवर्द्धनादीनि समानाधिकरणान्यपरिसंख्येयानि ।  
संस्कारः पुनः करणं रसान्तरकरणद्रव्यक्रियान्तरेण रसान्तरभावा अपरि-  
संख्येया इति ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—षड्वेवत्यादि । भगवान्नात्रेयः पुनर्वसुः खलु नवानां महर्षीणां  
वचनं श्रुत्वा यो ह्यव्यक्तो भावोऽभिव्यक्तः सन् रसनग्राह्योऽर्थो भवति स रस  
एक एवेति सत्यम् । अभिव्यक्तस्तु सन् रसनग्राह्यो योऽर्थो भवति स खलु  
मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायभेदेन षड्विध एवाभिव्यज्यते । तस्मात् षड्वेव  
भेदस्तु—एकस्यामपि मधुरजाताविश्रुगुडादिगतः प्रत्यक्षमेव भेदो दृश्यते, स तु संस्वादभेदः  
स्वसंवेद्य एव, यदुक्तं—“इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत् । भेदस्तथापि नाख्यातुं  
सरस्वत्यापि शक्यते” ॥ ३—११ ॥

चक्रपाणिः—सिद्धान्तं पुनर्वसुवचनत्वेनाह—षड्वेवत्यादि । पूर्वपक्षोक्तसैकत्वादिव्यवस्था-  
माह—तेषां षण्णामित्यादि । योनिराधारकारणं, कार्यकारणयोश्च भेदात् सिद्ध उदकाद् रसभेदः

छेदनोपशमने द्वे कर्मणी । तयोर्मिश्रीभावात् साधारणत्वम् ।

रसा इत्युवाच । न त्वभिव्यक्तः सन्नेको रसो न वा द्वौ रसौ न च त्रयो रसा न च चत्वारो रसा नैव पञ्च रसा न च गुरुत्वादयः षड् रसाः न च सप्त रसा नैवाष्टौ रसा नाप्यपरिख्येया रसाः । न च स पुनरुदकादनन्य इति । कस्मादिति ? अत उच्यते—तेषामित्यादि । यो भावोऽभिव्यक्तः सन् रसन-  
ग्राह्यो यो योऽर्थो भवति रसनग्राह्यः स सोऽर्थो नोदकादनन्यः, तेषां षण्णां रसानां योनिरूपत्तिस्थानमुदकम् । वक्ष्यते ह्यत्र—“सौम्याः खल्वपोऽन्तरीक्ष-  
प्रभवाः प्रकृतिशीता लघ्व्यश्चाव्यक्तरसास्त्वन्तरीक्षाद्भ्रश्यमाना भ्रष्टाश्च पञ्च-  
महाभूतगुणसमन्विता जङ्गमस्थावराणां भूतानां मूर्त्तिरभिप्रीणयन्ति । तासु मूर्त्तिषु षड्भिमूर्च्छन्ति रसाः । तेषां षण्णां रसानां सोमगुणातिरेकात् मधुरो रसः । भूम्यग्निभूयिष्ठत्वादम्लः । तोयाग्निभूयिष्ठत्वालवणः । वाय्वग्नि-  
भूयिष्ठत्वात् कटुकः । वाय्वाकाशातिरिक्तत्वात् तिक्तकः । पवनपृथिव्यतिरेकात् कषायः ।” इत्येवमेषां षण्णां रसानामभिव्यक्तिः पट्वेनैव नातिरिक्तत्वेन । तस्मात् षट्त्वमुपपन्नं न्यूनातिरेकविशेषान्महाभूतानाम् । भूतानामिव स्थावर-  
जङ्गमानां नानावर्णाकृतिविशेषः । षड्कृतुकत्वाच्च कालस्योपपन्नो महाभूतानां न्यूनातिरेकविशेष इति । तत् पाञ्चभौतिकीषु मूर्त्तिषु यत् सोमगुणाद्यतिरिक्तत्वे मधुरादयोऽभिव्यज्यन्ते तत् तेषु पञ्चसु महाभूतेषु खलु यदुदकमव्यक्तरसं तस्मादुदकादेव तस्याव्यक्तो रसो भूतान्तरसंयोगे सति स्थूलः सन् मधुरादिभावम् आपन्नोऽभिव्यज्यते इति तेषां रसानां योनिरुदकम् । (तेषां योन्यव्यक्त-  
रसाश्रयत्वात्) न पुनरुदकादनन्यो रस इति ।

अत एव द्वौ रसाविति यत् शाकुन्तेयेनोक्तं तन्न । कस्मात् ? यतस्तेषां षण्णां रसानां द्वे कर्मणी छेदनोपशमने । तत् षड्रसाश्रयद्रव्याणि हि अम्ललवणकटुभिः शारीरकैर्दादीनि च्छिन्दन्ति मधुरतिक्तकषायैरुपशमयन्तीति ते रसौ न भवतः ।

नितरां त्रयो रसा इति यत् पूर्णाक्षेणोक्तं तन्न । साधारणत्वं हि तयो-  
श्छेदनीयोपशमनीययोर्मिश्रीभावाद् भवति तदपि तेषां कर्म । तस्मात् न त्रयो रसा इति ।

प्रत्यक्ष एवेतिभावः । क्षितिव्यतिरिक्तमुदकमेव यथा रसयोनिस्तथा “रसनार्थो रसस्तस्य”  
इत्यादौ विवृतमेव दीर्घजीवितये ; तयोर्मिश्रीभावादिति, कर्मणोरमूर्त्तयोर्मिश्रीभावानुपपत्तौ

स्वादुः स्वादुताभक्ति\*द्वौ हिताहितौ च प्रभावौ । पञ्च-  
महाभूतविकारास्वाश्रयाः प्रकृतिविकृतिविचारणा देशकाल-  
वशाः ॥ १२ ॥

हिरण्याक्षेणापि चत्वारो रसा इति यदुक्तं तत् न । कस्मात् ? यतः स्वादुः  
हितश्च स्वादुरहितश्चास्वादुरहितश्चास्वादुरहितश्चेत्येतेषु स्वादुः खलु तेषां मधुरा-  
दीनां षण्णां रसानां स्वादुता आस्वादनं भक्तिः । हिताहितौ द्वौ प्रभावौ  
तेषामचिन्त्यशक्तिविशेषौ तस्मात् न ते चत्वारो रसा इति ।

कुमारशिरसा भरद्वाजेन च भौमादिभेदेन पञ्च रसा इति यदुक्तं  
तत् न । कस्मात् ? यतः पञ्चभूतविकाराः खलु कार्यभूतद्रव्याणि  
भौमान्याप्यानि तैजसानि वायव्यान्यान्तरीक्षाणि । तेषां षण्णां  
रसानामाश्रया न तु रसा इति । ननु सोमगुणातिरेकात् मधुरो रसः ।  
भूम्यग्निगुणभूयिष्ठत्वादम्ल इत्यादुक्त्या कथमाश्रयाः पाञ्चभौतिक-  
द्रव्याणीति ? अत उच्यते—प्रकृतीत्यादि । प्रकृतिविकृतिविचारणा  
देशकालवशाः । प्रकृतेर्विकृतिविचारणा चैयम्—देशविशेषात् कालविशेषाच्च  
चेतनयोगात् सचेतनैः पञ्चभिर्महाभूतैर्न्यूनातिरेकांशेन संयुक्तैः कार्य  
द्रव्ये घटादावारभ्यमाणे वाय्वादीनां कर्मभिरन्योन्यानुप्रवेशादन्योन्य-  
गुणमेलनादन्योन्यक्रियामेलनाच्च विक्रियमाणाः प्रकृतयः पञ्चभूततद्गुणान्  
सजातीयान् द्रव्यान्तरगुणान्तररूपान् विकारानारभन्ते । प्रकृतिराकाशः  
सुषिरादिकं विशिष्टमाकाशान्तरं वायुर्विशिष्टवाय्वन्तरं तेजो विशिष्टं तेजो-  
ऽन्तरमुदकं रसरक्तादिद्रव्यान्तरं पृथिवी मृत्तिम् । तेषाञ्च गुणाः शब्दादयो ये  
तेषां शब्दो दशविधं शब्दान्तरमारभते । षडजषेभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिपाद-  
कष्टाकृष्टसाधारणभेदात् । स्पर्शश्च स्पर्शान्तरं शीतोष्णश्लक्ष्णखरादिभेदात् ।  
रूपञ्च विशिष्टं रूपान्तरं लोहितशुक्लकृष्णनीलपीतारुणादिभेदात् । रसश्च  
विशिष्टं रसान्तरं मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायभेदात् । गन्धश्च विशिष्टं गन्धान्तरं

तदाधारयोर्द्रव्ययोर्मिर्शभावादिति बोद्धव्यम् । साधारणमिति साधारणकार्ययोगित्वम् ; भक्ति-  
रितिच्छेत्यर्थः, तेन, यो यमिच्छति स तस्य स्वादुरस्वादुरितर इति पुरुषापेक्षौ धम्मौ न रस-  
भेदकार्यवित्यर्थः । पञ्चमहाभूतेत्यादौ 'तु'शब्दोऽवधारणे, तेन आश्रया एव न रसा इत्यर्थः ;  
किम्भूता भौमादयो भूतविकारा आश्रया इत्याह—प्रकृतिविकृतिविचारणा देशकालवशा इति,

तेषांश्रयेषु द्रव्यसंज्ञकेषु गुणा गुरुलघुशीतोष्णस्निग्ध-  
रुक्षाः ॥ १३ ॥

सौरभपूतिविस्त्रादिभेदात् । इत्येवं द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधम्यं  
द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् । कर्म च कर्मासाध्यं न  
विद्यते । विक्रियमाणं हि स्वतस्तत्तद्वाद्यादीनां कर्म च परस्परं मिश्रीभूतं  
स्वविरोधिकर्मान्तरं सजातीयं विजातीयं वा चिन्त्यमचिन्त्यमारभते, यत्  
उच्यते—प्रभाव इति । कणादेनोक्तं “तस्मिन् पञ्चमहाभूतविकारे द्रव्ये मथुरादयो  
रसा आश्रिता अतो न भौमो रस आप्यो वा तैजसो वाऽथ वायव्यो वान्तरीक्षो  
वेति” ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—तेषांश्रयेष्वित्यादि । अथ वाय्व्याविदराजपिणा गुरुलघु-  
शीतोष्णस्निग्धरुक्षा इति षड् रसा इति यदुक्तं तदपि न । कस्मात् ? यतस्तेषु  
आश्रयेषु पञ्चमहाभूतविकारेषु द्रव्येषु गुणा गुरुलघुवाद्याः । गन्तव्यत्वादि-  
पृथिव्यादिस्था अनभिव्यक्ता ये गुर्वादयो रसातिरिक्ताः प्रवृत्तिभूता गुणास्तेषां  
पञ्चभूतान्योन्यानुप्रवेशान् कार्या अभिव्यक्ता गुर्वादयो गुणा न तु रसाः,  
रसानारब्धत्वात् । आदिशब्देन मन्दतीक्ष्णमृदुकठिनश्लक्ष्णखरविशदपिच्छ्र-  
स्थूलमूक्ष्मस्थिरसरसान्द्रद्रवाः । शब्दादयश्च ॥ १३ ॥

वशशब्दोऽधीनार्थः, स च प्रकृत्यादिभिः प्रत्येकं योज्यः, प्रकृतिवशा यथा—मुद्राः कपाया  
मधुराश्च सन्तः प्रकृत्या लववः, एतद्वि लववं न रसवशं, तथा हि सति, कपायमधुरत्वाद् गुरुत्वं  
स्यात् ; विकृतिवशञ्च त्रीहेलीजानां लघुत्वं तथा सक्तुसिद्धपिण्डकानाञ्च गुरुत्वम्, विचारणा  
विचारो द्रव्यान्तरसंयोग इत्यर्थः । तेन, विचारणावशं यथा—मधुसर्पिषी संयुक्ते विषम्, तथा  
विषञ्चागद्युक्तं स्वकार्यव्यतिरिक्तकार्यकारि । देशो द्विविधो भूमिरातुरश्च,—तत्र भूमौ ‘श्वेत-  
कपोती च वल्मीकाधिरुद्धा विषहरी’, तथा “हिमवति भेषजानि महागुणानि भवन्ति” ; शरीर-  
देशे यथा—“सक्थि मांसाद् गुरुतरं स्कन्धकोडशिरस्पदाम्” इत्यादि ; कालवशान्तु यथा मूलक-  
मधिकृत्योक्तं—“तद्वालं दोषहरं वृद्धं त्रिदोषम्”, तथा “यथुं पुष्पकं दमाददीत” इत्यादि ;  
अत्र चैकप्रकरणोक्ता येऽनुक्तास्ते चकारात् स्वभावादेरन्तर्भावीण्याः, यदुक्तम्—“चरः शरीरावयवाः  
स्वभावो धातवः क्रियाः । लिङ्गं प्रमाणं संस्कारो मात्रा चास्मिन् परीक्ष्यते” । तत्र, चर-  
शरीरावयवधातूनां देशेन ग्रहणं, मात्रा विचारे प्रविशति, शेषं स्वभावे, तयो रसविमाने वक्ष्यमाणञ्च  
अत्रापविष्टमाहारविशेषायतनमन्तर्भावीण्यं यथासम्भवम् ; स्निग्धरुक्षाद्या इत्यत्र आदि-



चरणात् चारः, नासौ रसः द्रव्यं हि । तदनेकरससमुत्पन्नमनेकरसं कटुकलवणभूयिष्ठमनेकेन्द्रियाथसमन्वितं करणाभिनिर्वृत्तम् ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—क्षरणादित्यादि । अथ निमिना विदेहेन राजषिणा मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायक्षारा इति सप्त रसा इति यदुक्तं तच्च न । कस्मात् ? यतः क्षरणात् क्षारः स्यान्नासौ रसो भवति । तद्वै किमिति ? अत उच्यते—द्रव्यम्, भस्मीभूतद्रव्यारब्धत्वात् । यतस्तदनेकरसद्रव्यभस्मसमुत्पन्नमनेकरसम् । किं किं रसमिति ? अत उच्यते—कटुलवणभूयिष्ठम्, कथं विज्ञायते ? अनेकेन्द्रियार्थसमन्वितम् रूपरसस्पर्शगन्धादियुक्तम्, तस्माद् द्रव्यम् । नन्वेवं तत्स्थस्तु कटुलवणभूयिष्ठो यो भावः स खलु मधुरादिभ्यः षड्भ्योऽतिरिक्तत्वादपरो रस एवेति । अत उच्यते—करणाभिनिर्वृत्तमिति । करणात् क्रियातोऽभिनिर्वृत्तते तद्भस्मीभूतद्रव्यात् तस्मात् तत्स्थोऽपि कटुलवणभूयिष्ठो यो भावः सोऽपि तत्करणादेवाभिनिर्वृत्तते । न तु मधुरादिवत् प्रसिद्धद्रव्यप्रादुर्भावे । तस्मान्मधुरादिन्यूनकटुलवणभूयिष्ठानेकरसमेलनेन कृत्रिमो रसो मधुरादिभ्यः षड्भ्योऽतिरिक्तः । यथा सैन्धवनिम्बादिमेलनाद् रसो नातिरिक्त इति ।

अथ धामार्गवेण वडिशेन मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायक्षाराव्यक्ता इत्यष्टौ रसा इति यदुक्तं तन्न । कस्मात् ? क्षारो यथा नातिरिक्तो रसस्तद् दर्शितम् । अव्यक्तस्तु रसो यथा नातिरिक्तस्तथोच्यते ॥ १४ ॥

ग्रहणेनानुक्ता अपि तीक्ष्णमृदादयो न रसाः, किन्तु, द्रव्यगुणाः पृथगेवेति दर्शयति । क्षरणादधोगमनक्रियायोगात् क्षारो द्रव्यं, नासौ रसः, रसस्य हि निष्क्रियस्य क्रियानुपपन्नेत्यथः, क्षरणञ्च क्षारस्य पानीययुक्तस्याधोगमनेन, वदन्ति हि लौकिकाः—“क्षारं स्वावयामः” इति, शास्त्रञ्च “छित्त्वा चित्त्वाशयात् क्षारः क्षारत्वात् क्षारयत्यधः” इति । हेत्वन्तरमाह—द्रव्यं तदनेकरसोत्पन्नमिति, अनेकरसेभ्यो मुष्ककापामार्गादिभ्य उत्पन्नमनेकरसोत्पन्नम्, यतश्चानेकरसोत्पन्नमत एवानेकरसं, कारणगुणानुविधायित्वात् कार्यगुणस्येति भावः ; अनेकरसत्वञ्चाह—कटुकलवणभूयिष्ठमिति भूयिष्ठशब्देनाप्रधानरसान्तरसम्बन्धोऽस्तीति दर्शयति, हेत्वन्तरमाह—अनेकेन्द्रियार्थसमन्वितमिति,—क्षारो हि स्पर्शेन गन्धेन चान्वितः, तेन द्रव्यम् ; रसे हि गुणे न स्पर्शो नापि गन्ध इति भावः ; हेत्वन्तरमाह—करणाभिनिर्वृत्तमिति, करणेन भस्मस्त्रावादिनाऽभिनिर्वृत्तं कृतमित्यर्थः, न रसोऽनेन प्रकारेण क्रियत इति भावः ॥ १२—१४ ॥

अव्यक्तीभावस्तु रसानां प्रकृतौ भवत्यणुरसेऽणुरस\*सम-  
न्विते वा द्रव्ये ॥ १५ ॥

अपरिसंख्येयत्वं पुनरन तेषामाश्रयादीनां भावानां विशेषा-  
परिसंख्येयत्वाद् युक्तम्, एकैकोऽपि ह्येषामाश्रयादीनां भावानां

गङ्गाधरः—अव्यक्तीभावस्त्वित्यादि । रसानां मधुरादीनाम् अव्यक्तीभावस्तु  
खलु प्रकृतौ रसतन्मात्रासु अप्सु भवति वर्तते । ननु क्षीरेक्षुरसविकारादिषु  
माधुर्य्यविशेषोपलब्ध्याऽनुमीयते क्षीरेष्विद्विषुरसविकाराणां माधुर्य्यान्माधु-  
र्य्याल्पीभावोऽव्यक्तरसान्तरयोगादेवेति । अत उच्यते—अणुरसे इति । अणुः  
सूक्ष्मो यो मधुराद्यन्यतम एव रसस्तस्मिन्नेवाव्यक्तीभावो न मधुरादिभ्यो-  
ऽतिरिक्ते भावे । तदणुरससमन्विते स एवाणुरसोऽव्यक्तो रसो न मधुरादिभ्यः  
षड्भ्योऽतिरिक्तः ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—अपरिसंख्येयत्वादि । अथ काङ्कायनवाहीकभिषजा पुनः  
आश्रयाद्यपरिसंख्येयत्वादपरिसंख्येयया रसा इति यदुक्तं तन्न युक्तम् ।  
कस्मादिति ? अत उच्यते—एककेत्यादि । हि यस्मादेषां मधुरादीनां  
षण्णां रसानामेकैकोऽपि रस आश्रयविशेषान् गुणविशेषान् कर्म

चक्रपाणिः—अव्यक्तरसपक्षं निषेधयति—अव्यक्तीत्यादि । अव्यक्तीभाव इत्यभूततद्भावे चि-  
प्रत्ययेन रसानां मधुरादीनां व्यक्तानामेव कचिदाधारेऽव्यक्तत्वं, नान्यो मधुरादिभ्योऽव्यक्तरस इत्यर्थः ;  
रसानामिति मधुरादीनां षण्णाम् ; प्रकृतावित्यादि—प्रकृतौ कारणे जल इत्यर्थः ; अव्यक्तत्वञ्च रस-  
सामान्यमात्रोपलब्धिर्मधुरादिविशेषश्चान्या, सा च जले स्यात्, यत उक्तं जलगुणकथने सुश्रुते—  
“व्यक्तरसता रसदोषः” इति । इहापि च “अव्यक्तरसञ्च” इति वक्ष्यति, लोकेऽपि चाव्यक्तरसं  
द्रव्यमास्वाद्य वक्तारो वदन्ति—“जलस्येवास्य रसो न कश्चिन्मधुरादियुक्तः” इति ; विशेषमधुरा-  
द्यनुपलब्धिश्चानुद्भूतत्वेन, यथा—दूरादविज्ञायमानविशेषवर्णे वस्तुनि रूपसामान्यप्रतीतिर्भवति,  
न शुक्लत्वादिविशेषबुद्धिरिति ; तथाऽणुरसेऽव्यक्तीभावो भवति, प्रधानं व्यक्तं रसमनुगतो-  
ऽव्यक्तत्वेनेत्यनुरसः, यथा—वेणुयवे मधुरे कषायोऽनुरसः, यदुक्तम्—“रुक्षः कषायानुरसो  
मधुरः कफपित्ता” इति ; अनुरससमान्वत इति सर्वानुरसयुक्ते, यथा—विषे, वचनं हि—  
“उष्णमनिर्द्वैश्यरसम्” इत्यादि ; किंवा, अणुरससमान्वत इति पाठः, तेन, अणुरसेनैकेन  
मरिचेन युक्ते शर्करापानके कटुत्वमव्यक्तं स्यात् । अपरिसंख्येयपक्षं दूषयति—अपरीत्यादि ।  
तेषामिति रसानामपरिसंख्येयत्वं न युक्तम्, आश्रयादीनां भावानामित्याश्रयगुणकर्मसंस्वादानां,

विशेषानेवाश्रयते \* न च तस्मादन्यत्वमुपपद्यते । परस्पर-  
संसृष्टभूयिष्ठत्वात् ॥ १६।१७ ॥

न चैषामभिनिवृत्तेर्गुणप्रकृतीनामपरिसंख्येयत्वं भवति ।

विशेषान् संस्कारविशेषानाश्रयते । यथा खल्वेको मधुरो रस इक्ष्वि-  
वालिकाकाण्डेक्षुप्रभृतीनाश्रयविशेषानाश्रयते । एवमम्लो वदरदाडिमामलका-  
दीन् । लवणः सैन्धवसौवर्चलादीन् । कटुकः पिप्पलीमरिचथुण्ठीचव्या-  
दीन् । तिक्तो निम्बपटोलपत्रवेत्राग्रादीन् । कपायो हरीतकीविभीतकी  
प्रभृतीन् । न च तस्मान्मधुरादम्लादितो वाऽन्यत्वमन्यरसत्वमुपपद्यते उप-  
गच्छति । कस्मात् तत्र तत्रेक्ष्विखुवालिकादिषु मधुरभेद उपलभ्यते  
इति ? अत उच्यते—परस्परेत्यादि । तत्र तत्रापररसस्य कस्यचिन् कस्य-  
चिदम्लादेः परस्परसंसृष्टे मधुरादिभूयिष्ठत्वान्मधुरादिरेव रस उच्यते न तस्मा-  
दन्यो भवतीति । एवं गुणकर्मविशेषानपि तद्वसान्तरसंसर्गादाश्रयते ।  
संस्कारद्रव्यविशेषसंसर्गादपि न ततोऽन्यो भवति ॥ १६।१७ ॥

गङ्गाधरः—ननु चैवं चेत् तदा पुनरिक्षुकाण्डेक्षुप्रभृतीनामारम्भकाणां  
भावानामंशन्याधिक्यादितस्तदुत्पत्तावेव तथा तथा मधुरादिभावोऽभिनिवृत्तत  
इति तथाविधस्तथाविधो रसः पृथक् पृथगेव भवति ततोऽपरिसंख्येयया रसाः  
षट्त्वञ्चातिवर्त्तन्ते । इति । अत उच्यते—न चैषामित्यादि । एषां मधुरादीनां  
विशेषापरिसंख्येयत्वादित्याश्रयादिभेदस्यापरिसंख्येयत्वात्, अत्र हेतुमाह—एकैकोऽपि हीत्यादि ।  
एषामाश्रयगुणकर्मसंस्वादानां विशेषानेकैकोऽपि मधुरादिराश्रयते, न च तस्मादाश्रयादि-  
भेदादन्यत्वमाश्रितस्य मधुरादेर्भवति, एवं मन्यते—यद्यपि शालिमुद्गघृतक्षीरादयो मधुराश्रया-  
भिन्नास्तथापि तत्र मधुरत्वजात्याक्रान्त एक एव रसो भवति बलाकाक्षीरकार्पासादिषु शुक्लवर्ण  
इवेति ; तथा, गुणानां गुरुपिच्छिलस्निग्धादीनाम् अन्यत्वेऽपि कर्मणां वा रसादिवर्द्धनायुर्जनन-  
वर्णकरणादीनां भिन्नत्वे सति न मधुररसस्यान्यत्वम्, यतः, एक एव मधुररसस्तद्गुणयुक्तो भवति  
तत्तत्कर्मकारी चेति को विरोधः, तथा, मधुरस्यावान्तरास्वादभेदेऽपि मधुरत्वजात्यनतिक्रमः,  
कृष्णवर्णवान्तरभेदे यथा कृष्णत्वानतिक्रमः । ननु मैवं भवत्वपरिसंख्येयत्वं रसानां परस्पर-  
संयोगात् तु य आस्वादविशेषः स कार्यविशेषकरोऽपि, न हि दन्मधुराम्लेन क्रियते, तन्मधुरेण  
वाम्लेन वा शक्यम्, अतः, तेन परस्परसंयोगेनापरिसंख्येयत्वं भविष्यतीत्याह—परस्परेत्यादि ।  
संसृष्टमिति भावे क्तः, तेन संसर्गभूयिष्ठत्वादेषां मधुरत्वादीनामभिनिवृत्तेर्न च गुणप्रकृतीनाम्  
असंख्येयत्वमिति योजना । अयमर्थः—यद्यपि रसाः परस्परसंसर्गेणातिभूयसा युक्ताः सन्तोऽभि-

\* विशेषापरिसंख्येयत्वात् इत्यधिकः पाठश्चक्रे ।

तस्मान्न संसृष्टानां रसानां कर्मोपदिशन्ति बुद्धि-  
मन्तः ॥ १८ ॥

तच्चैव कारणमवेक्षमाणाः पण्णां रसानां परस्परेणा-  
संसृष्टानां लक्षणपृथक्त्वमुपदेक्ष्यामः । अग्रे तु तावद् द्रव्य-  
भेदमभिप्रेत्य किञ्चिदभिधास्यामः ॥ १९ ॥

पण्णामभिनिवृत्तौ प्रधानभूतानां प्रकृतीनां सोमगुणातिरिक्तपञ्चभूतानां  
प्रधानत्वे तत्र तत्र गुणीभूतरसानां प्रकृतयो या अल्पांशभूता भूम्यग्नि-  
गुणबहुलादिभूतद्वन्द्वास्तासामपरिसङ्ख्येयत्वं न भवति । पञ्चानामेव भूतानामंश-  
न्यूनाधिक्यादिविशेषात् तथाविधापररसोत्पत्तेः । इति । तस्मात् संसृष्टानां  
रसानां कर्मो बुद्धिमन्तो नोपदिशन्ति ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—तच्चैत्यादि । तच्च कारणं प्रधानरसानामुत्पत्तौ गुणीभूत-  
रसानामपि प्रकृतय एदांशाल्पाधिकसत्त्वेन संसृष्टा गुणीभूतरसानुत्पादयन्ति ।  
पञ्चैव भूतानि नापरिसंख्येयः प्रकृतय इत्येवं कारणमवेक्षमाणा वयं  
परस्परेणासंसृष्टानां पण्णामेव रसानां लक्षणं पृथक्त्वेनोपदेक्ष्यामः । न  
परस्परेण संसृष्टानां पृथग्लक्षणेनैव तेषां गुणीभूतानामभिज्ञानसिद्धेः । अग्रे  
तु तावद् द्रव्यभेदमभिप्रेत्य किञ्चिदभिधास्यामः पश्चाद्रसम् । इति ॥ १९ ॥

निवृत्ता घृतक्षीरादौ द्रव्ये भवन्ति, तथापि न तेषां गुणा गुरुलघ्वादयः प्रकृतयो वा मधुरादीनां या  
या आयुष्यत्वरसादिबद्धकत्वाद्यास्ताः असंख्येया भवन्ति किन्तु, य एव मधुरादीनां प्रत्येकं गुणाः  
प्रकृतयश्चोद्दिष्टाः, त एव मिश्रा भवन्ति ; किं वा गुणप्रकृतीनामिति मधुरादिपङ्क्तुगुणस्वरूपाणाम्  
इत्यर्थः ; तेन रसस्य रसान्तरसंसर्गे दोषाणामिव दोषान्तरसंसर्गे रसानां नापरिसंख्येयत्वम्  
इत्यर्थः ; प्रकृतिशब्देन कर्मो बोध्यते, तेन गुणकर्मणामित्यर्थः ; मधुरादीनामवान्तराखात्  
अविशेषोऽपि परस्परसंसर्गकृतो ज्ञेयः । यत एव हेतो रसानां संसृष्टानां नान्ये गुणकर्मणी  
भवतः, अत एव संसृष्टानां रसानां पृथक् कर्म शास्त्रान्तरेऽपि नोक्तमित्याह—तस्मादित्यादि ।  
कर्मशब्देनेह गौरवलाघवादिकारकत्वादयो रसरक्तादिजननादयोऽपि बोद्धव्याः ; न केवलमन्य-  
शास्त्रकारै रसानां संसृष्टानां कर्मो नोपदिष्टं, किन्तु वयमपि नोपदेक्ष्याम इत्याह—  
तच्चैवेत्यादि । तच्चैव कारणमिति परस्परसंसर्गेऽपि रसानामनधिकगुणकर्मत्वं ; लक्षणेन  
पृथक्त्वं लक्षणपृथक्त्वं ; लक्ष्यते येन तल्लक्षणम्—“अतस्तु मधुरो रसः” इत्यादिना ग्रन्थेन,  
तथा “स्नेहनप्रीणनह्लादन” इत्यादिना यद् वाच्यं, तद् सर्वं गृह्यते ; किं वा, लक्षणशब्देन  
“मधुररस” इत्यादिग्रन्थवाच्यं लक्षणमुच्यते ; पृथक् च, रसे भेदज्ञानार्थं यदवक्ष्यते—

सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमित्यस्मिन्नर्थं तच्चेतनावदचेत-  
नञ्च । तस्य गुणाः शब्दादयो गुर्वाद्यश्च द्रवान्ताः । कर्म  
पञ्चविधमुक्तं वमनादि ॥ २० ॥

तत्र द्रव्याणि गुरुखरकठिनमन्दस्थिरविशदसान्द्रस्थूल-

गङ्गाधरः—तदयथा सर्वमित्यादि । सर्वं पृथिव्यादिकार्यं द्रव्यं  
शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् । पाञ्चभौतिकं पञ्चभिर्भूतैर्निष्पादितं पञ्चभूत-  
प्रकृतिकम् । अस्मिन् पाञ्चभौतिकेऽर्थे तत् सर्वं द्रव्यं चेतनावदचेतनञ्च ।  
तत्र “सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्” इति पूर्वाध्यायेऽभिहितम् ।  
तत्र भूतानि पञ्च खल्वनभिव्यक्तशब्दमात्र आकाशोऽभिव्यक्तस्पर्शमात्रो वायु-  
रभिव्यक्तरूपमात्रं तेजोऽभिव्यक्तरसमात्रा आपोऽभिव्यक्तगन्धमात्रा पृथिवीति ।  
तस्य गुणा इति । तस्य पाञ्चभौतिकस्य चेतनावतोऽचेतनस्य च गुणाः कार्य-  
भूताः शब्दादयस्ते दशविधशब्दशीतोष्णादिस्पर्श-लोहितादिरूप मधुरादिरस-  
सोरभादिगन्धाः । गुर्वाद्यश्च द्रवान्ताः कार्यगुणा यज्जःपुरुषीयेऽभिहिता गुरु-  
लघुशीतोष्णस्निग्धरुक्षमन्द-तीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशद-पिञ्जिलश्लक्ष्णखर-  
सूक्ष्मस्थूलसान्द्रद्रवा इति । कर्म च कार्यभूतं वमनादि पञ्चविधमुक्तमग्रं  
प्रथमाध्याये ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—तत्रापरिसङ्ख्ये त्रयमपि पाञ्चभौतिकं द्रव्यं संग्रहेण परिसङ्ख्यातुमाह—

“स्नेहनप्रीणन” इत्यादि, तद् गृह्यते । अग्र इत्यादि । रसेषु वाच्येषु द्रव्यभेदमभिप्रेत्य प्रतिपाद-  
नीयतया परिगृह्य रसानां द्रव्यज्ञानाधीनज्ञानत्वात् द्रव्याभिधानमग्रे कृतमित्यर्थः ; किञ्चिदिति  
आयुर्वेदोपयोगि द्रव्यस्वरूपं न सर्वमिति, अग्रसङ्ख्येदोषादिति भावः ॥ १३—१९ ॥

चक्रपाणिः—सर्वद्रव्यमिति कार्यद्रव्यम् ; अस्मिन्नर्थेऽस्मिन् प्रकरणे । द्रवान्ता इति  
वचनेन पूर्वोक्तान् विंशतिगुणानाह ; अत्र परत्वापरत्वादीनामिहानभिधानेन चिकित्सायां  
परत्वादीनामप्राधान्यं दर्शयति, येऽपि तत्रापि युक्तिसंयोगपरिमाणसंस्काराभ्यासा अत्यर्थ-  
चिकित्सोपयोगिनोऽपि, न ते पार्थिवादिद्रव्याणां शब्दादिवत् सांसिद्धिकाः, किं तर्हि, आधेयाः,  
अत इह नैसर्गिकगुणकथने नोक्ताः ; उक्तमित्यपामार्गतण्डुलीये, एतच्च प्राधान्यादुच्यते, तेन,  
बृंहणाद्यपि बोद्धव्यम् ; बहुलशब्दो गुर्वादिभिः प्रत्येकं सम्बध्यते, किंवा, गन्धेनैव ; यतः,  
गन्धगुणबहुला पृथिव्येव भवति, अत एव द्रव्यान्तरलक्षणेऽपि वैशेषिकगुणोऽन्त एव पठ्यते—  
“रसगुणबहुलानि” इत्यादि, तेन, तत्रापि रसादिभिरेव बहुलशब्दो योज्यः ; सर्वकार्यद्रव्याणां  
पाञ्चभौतिकत्वेऽपि पृथिव्यादुत्कर्षेण पार्थिवत्वादि ज्ञेयम्, सङ्घातः काठिन्यं, स्थैर्यमविचाल्यम्,

गन्धगुणबहुलानि पार्थिवानि । तान्युपचयसङ्घातगौरवस्थैर्य-  
कराणि स्युः ॥ २१ ॥

द्रवक्षिग्धशीतमन्दसरसान्द्रमृदु-पिच्छलरस-गुणबहुलानि  
आप्यानि । तान्युपक्लेदस्नेहबन्धविष्यन्दमाद्वैवप्रह्लाद-  
कराणि ॥ २२ ॥

उष्णतीक्ष्णसूक्ष्मलघुरुजविशदरूप-गुणबहुलानि आग्ने-  
यानि । तानि दाहपाकप्रभाप्रकाशवर्णकगणि स्युः ॥ २३ ॥

लघुशीतरुक्षखरविशदसूक्ष्मरपर्शगुणबहुलानि वायव्यानि ।  
तानि रौच्यग्लानिविचारवैशद्यलाघवकराणि ॥ २४ ॥

तत्रेत्यादि । तत्र पाञ्चभौतिकेषु द्रव्येषु चेतनावत्स्वचेतनेषु च मध्ये  
गुर्वादिनवगुणबहुलानि द्रव्याणि पार्थिवानि पृथिवीबहुलपञ्चभूतात्मकानि ।  
शेषाणां भूतगुणानां द्रवादीनामबहुलत्वमेव पार्थिवेषु द्रव्येष्विति ख्यापितम् ।  
तेषां पार्थिवानां कर्म्मार्ण्याह—तान्युपचयेत्यादि । तानि पार्थिवद्रव्याणि  
खलूपयुक्तानि शरीरादीनामुपचयसङ्घातगौरवस्थैर्यकराणि भवन्ति ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—द्रवेत्यादि । तत्र द्रव्याणीत्यनुवर्त्तते । द्रवादिरसान्तनव-  
गुणबहुलानि द्रव्याप्याप्यानि भवन्ति अवबहुलपाञ्चभूतात्मकानि, तेनावबहुल-  
भूतगुणा अपि गुर्वादयः शेषभूतगुणा अबहुलतया सन्तीति ख्यापितम् ।  
तेषामाप्यानां कर्म्मार्ण्याह—तान्युपेत्यादि । तान्याप्यानि द्रव्याणि खलूप-  
युक्तानि शरीरादीनामुपक्लेदस्नेहबन्धविष्यन्दमाद्वैवप्रह्लादान् कुर्वन्ति ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—उष्णेत्यादि । अत्र द्रव्याणीत्यनुवर्त्तते । उष्णादिसप्तगुण-  
बहुलानि द्रव्याप्याग्नेयानि तेजोबहुलपञ्चभूतात्मकानि । एतेनावबहुलभूतानां  
गुणा अपि शेषा ये तेऽप्यबहुलत्वेनाग्नेयेषु वर्त्तन्ते । इति ख्यापितम् । तेषा-  
माग्नेयानां कर्म्मार्ण्याह—तानीत्यादि । तान्याग्नेयानि द्रव्याणि उपयुक्तानि  
शरीरादीनां दाहपाकप्रभाप्रकाशवर्णान् कुर्वन्ति ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—लघुशीतेत्यादि । अत्र द्रव्याणीत्यनुवर्त्तते । लघ्वादिसप्त-  
बन्धनं परस्परयोजनसम्बन्धः, प्रह्लादः शरीरेन्द्रियतर्पणं, सूक्ष्मं सूक्ष्मस्त्वोऽनुसारि, प्रभा वर्ण-  
प्रकाशिनी दीप्तिः, यदुक्तम्,—“वर्णमाक्रामति च्छाया प्रभा वर्णप्रकाशिका” इत्यादि ; विचारं

मृदुलघुसूक्ष्मश्लक्ष्णशब्दगुणबहुलान्याकाशात्मकानि । तानि  
मादेवशौषिर्यलाघवकराणि ॥ २५ ॥

गुणबहुलानि द्रव्याणि वायव्यानि वायुबहुलपञ्चभूतात्मकानि भवन्ति ।  
बहुलेतिवचनेन तु खल्वबहुलभूतानां गुणा अपि ये शेषास्ते चात्राबहुलत्वेन  
वर्त्तन्ते इति ख्यापितम् । एषां कर्म्मण्यह—तानीत्यादि । तानि वायव्यानि  
द्रव्याण्युपयुक्तानि शरीरादीनां रौक्ष्यग्लानिविचारवैशद्यलाघवानि कुर्वन्ति ।  
विचारो विचरणं सर्पणम् ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—मृद्वित्यादि । अत्र द्रव्याणीत्यनुवर्त्तते । मृदादिपञ्चगुणबहुलानि  
द्रव्याणि आकाशात्मकानि आकाशबहुलपञ्चभूतात्मकानि भवन्ति । अत्रापि  
बहुलवचनेनावहुलभूतानां गुणा अपि ये शेषास्ते च अबहुलत्वेन वर्त्तन्ते  
इति ख्यापितम् । एषां कर्म्मण्यह—तानीत्यादि । तान्याकाशात्मकानि  
द्रव्याणि उपयुक्तानि शरीरादीनां मादेवशौषिर्यलाघवानि कुर्वन्तीति ।  
सुश्रुते चोक्तं—“पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां समुदायाद् द्रव्याभिनिवृत्ति-  
रुत्कर्षस्त्वभिव्यञ्जको भवति । इदं पार्थिवमिदमाप्यमिदं तैजसमिदं वायव्यमिद-  
माकाशीयमिति । तत्र स्थूलसारसान्द्रमन्दस्थिरखरगुरुकठिनगन्धबहुलमीषत्-  
कपायं प्रायोमधुरमिति पार्थिवम् । तत् स्थैर्यबलसंघातोपचयकरं विशेषतश्चाधो-  
गतिस्वभावमिति ।०। शीतस्तिमितस्निग्धमन्दगुरुसरसान्द्रमृदुपिच्छिलरसबहुल-  
मीषत्कषायाम्ललवणं मधुररसप्रायमाप्यम् । तत् स्नेहनप्रह्लादनक्लेदनबन्धन-  
विष्यन्दनकरमिति ।०। उष्णतीक्ष्णमूक्ष्मरुक्षखरलघुविशदरूपगुणबहुलमीषदम्ल-  
लवणं कटुकरसप्रायं विशेषतश्चोद्धृगतिस्वभावमिति तैजसम् । तद् दहनपचन-  
दारणतापनप्रकाशनप्रभावणंकरमिति ।०। सूक्ष्मरुक्षखरशिशिरलघुविशदस्पर्श-  
बहुलमीषत्तृप्तं विशेषतः कषायमिति वायवीयम् । तद् वैशद्यलाघवग्लपन-  
विरक्षणविचारणकरमिति ।०। श्लक्ष्णसूक्ष्ममृदुव्यवायिविविक्ताव्यक्तरसशब्द-  
गुणबहुलमाकाशीयम् । तन्मादेवशौषिर्यलाघवकरमिति ।०। तत्र य इमे गुणा  
वीर्यसंज्ञकाः शीतोष्णस्निग्धरुक्षमृदुतीक्ष्णपिच्छिलविशदास्तेषां तीक्ष्णोष्णौ  
आग्नेयौ शीतपिच्छिलावम्बुगुणभूयिष्ठौ । पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठः स्नेहः ।  
तोयाकाशगुणभूयिष्ठं मृदुलम् । वायुगुणभूयिष्ठं रौक्ष्यम् । क्षितिसमीरण-

विचारो गतिरित्यर्थः ; शौषिर्यं रन्ध्रबहुलता ; अत्राकाशबाहुल्यं द्रव्यस्य पृथिव्यादिभूतान्तरालप-

गुणभूयिष्ठं वैशद्यमिति ।" ननु सर्वं पाञ्चभौतिकमित्युक्तं तत्र पञ्चभिर्भूतैः  
 आरभ्यमाणे कार्ये पार्थिवादीनि द्रव्ये कार्यगुणस्य कारणगुणपूर्वकत्वाद् द्रव्य-  
 गुणयोः सजातीयारम्भकत्वस्वभावात् विजातीयारम्भकत्वाभावाच्च गुर्वादयो  
 गुणाः किमुपादाना उत्पद्यन्ते ? न हि पञ्चसु भूतेषु कापि गुरुत्वादयः सन्ति ।  
 वर्तते च पृथिव्यां गन्धोऽप्यु रसो रूपं तेजसि स्पर्शो वायावाकाशे शब्दः ।  
 पञ्चैते त्वविशेषास्तेषां विशेषारत्वेवं बभूवुः । तद्यथा—तच्छब्दैकगुण आकाशो  
 दिक्कालयोगात् किञ्चित्स्थूलीभूयैकादशांशस्यैकांशेन स्पर्शमात्रं वायुमनुप्रावि-  
 शत् । तद्द्रव्यमेकीभूतो द्वात्रात्मको वायुरभूत् तत्र शब्दः किञ्चित्स्थूलोऽभवत्  
 स्पर्शश्च शीतोऽभूत् । स च द्वात्रात्मको द्विगुणो वायुरेकादशांशस्यैकांशेन  
 अविशेषरूपगुणमात्रं तेजोऽनुप्राविशत् । तत्र त्रयमेकीभूतं त्रयात्मकं तेजोऽभूत् ।  
 तत्रापि शब्दः किञ्चित्स्थूलोऽभवत् । रूपञ्च साधारणं लोहितरूपमारम्भे ।  
 स्पर्शश्चौष्ण्यं कथमुत्पद्यते ? तच्च त्रयात्मकं तेजस्त्रिगुणमेकादशांशस्यैकांशेन  
 रसैकगुणो अपोऽनुप्राविशत् । तद्द्रव्यमेकीभूताश्चतुरात्मिका आपो बभूवुः ।  
 तत्रापि शब्दश्च रसश्च पूर्वतः किञ्चित्स्थूलोऽभूत् । स्पर्शश्च शीतः शुक्लश्च रूपं  
 कथमुत्पद्यते ? अथैताश्चतुरात्मिकाश्चतुर्गुणा आप एकादशांशस्यैकांशेन  
 पृथिवीं गन्धैकगुणामनुप्राविशत् । तद्द्रव्यमेकीभूता पञ्चात्मिका पञ्चगुणा पृथिवी  
 बभूव । तत्रापि शब्दरसगन्धाः किञ्चित्स्थूला बभूवुर्न व्यक्ताः । स्पर्शश्च  
 तत्र खरः कृष्णश्च रूपं कथमुत्पद्यते ? तथैषु पञ्चस्वपि भूतेषु न गुर्वादयो गुणाः  
 सन्ति, तैरारब्धे द्रव्ये पार्थिवादिनि पाञ्चभौतिके किमुपादाना गुर्वादयो जायन्ते  
 किं निरुपादानाः स्युः ? कर्माणि च कथं जायन्ते किमुपादानानि ? न हि  
 भूतेषु पञ्चसु कस्मै किञ्चिदुक्तमिति चेत् ? सत्यम् । तत्र ब्रूमः । पूर्वं  
 प्रथमाध्यायेऽभिहितम्—सार्था गुर्वादय इति । तत्रार्था गुर्वादय इति नोक्त्वा  
 सार्था इतिवचनेन ख्यापितम् । यदा भूतादेरहङ्कारादनभिव्यक्तशब्दमात्रमाकाशश्च  
 सहैवाभूत् तदा तच्छब्दसहिता मृदुलघुमूक्ष्मश्लक्ष्णाश्चत्वारोऽत्यनभिव्यक्ता  
 आकाशेऽजायन्त । एवं यदाभिव्यक्तस्पर्शश्च वायुश्च सहैवाभूत् तदा तत्स्पर्शसहिता  
 अत्यनभिव्यक्ता लघुरुक्षखरविशदमूक्ष्माः पञ्च वायावजायन्त । तथाभिव्यक्तं  
 साधारणं रूपं तेजश्च सहैवाभूत् । तदा तद्रूपसहिता अत्यनभिव्यक्ता उष्णतीक्ष्ण-  
 सूक्ष्मलघुरुक्षविशदाः षड्गुणास्तेजस्यजायन्त । एवं रसोऽपि साधारणः आपश्च  
 त्वेन भूरिव्यक्ताकाशत्वेन च ज्ञेयम्, यदेव भूरिशुषिरं तन्नाभसम्, किंवा, आकाशगुणबहुलत्वे  
 नाभसं द्रव्यमित्युच्यते ॥ २०—२५ ॥



यदा सहव बभूवुस्तदा तद्रससंहिता अत्यनभिव्यक्तद्रवस्निग्धशीतमन्दसरसान्द्र-  
मृदुपिच्छिलाः अष्टौ गुणाश्चाप्स्वजायन्त । तथा साधारणो गन्धश्च पृथिवी च  
यदा सहवाभून् तदा तद्रन्धसंहिता अत्यनभिव्यक्ता गुरुखरकठिनमन्दस्थिर-  
विशदसान्द्रस्थूलाश्चाष्टौ गुणाः पृथिव्यामजायन्त ।

एवमेषामाकाशादीनां कर्माणि पञ्चात्यनभिव्यक्तानि तदैवाकाशादिषु  
अजायन्त । न चैनान्यत्यनभिव्यक्तत्वादाकाशादिषूपदिष्टान्याचार्यः । आचा-  
र्याणां हीयं रीतिः—आदुःशतपत्तौ ये भावा नाभिव्यज्यन्ते न ते तदा निर्दि-  
श्यन्ते नाप्युपदिश्यन्ते, यदाभिव्यज्यन्ते तदा निर्दिश्यन्ते । तथा च सगुण-  
क्रियमेव द्रव्यमुत्पद्यते न तु निगुणक्रियमिति चोक्तम् । एवं सत्याकाशस्य  
भूतान्तरसंयोगे तत्क्रियाभिव्यक्तिस्वभावं कर्मात्यनभिव्यक्तं तदा बभूव,  
तस्मान्निष्क्रियमुच्यते स्थौल्येऽप्यभिव्यक्तकर्माभावात् । वायोः सर्व्वतो-  
गतिस्वभावमत्यनभिव्यक्तं कर्मे बभूव । तेजसश्चात्यनभिव्यक्तमूर्द्ध्वज्वलनस्वभावं  
कर्म्म बभूव । अपामधोगतिस्वभावमत्यनभिव्यक्तं कर्म्माभून् । पृथिव्या  
धीरगतिस्वभावमत्यनभिव्यक्तं कर्म्माभूदिति । तथा च दिक्कालयोगात् स  
आकाशः किञ्चित्स्थूलो यथा स्यात् तथा शब्दादयश्च गुणाः किञ्चित्स्थूला  
भवन्ति । कर्म्म च किञ्चित्स्थूलं स्यान्न चाभिव्यज्यन्ते क्वापीति सर्व्वदैकांशो-  
ऽनभिव्यक्तशब्दश्च निष्क्रियश्चोच्यते । तस्यानुप्रवेशाद् द्वाात्मके वायो शब्दः  
किञ्चित्स्थूलः स्यात् । स्पर्शश्च शीतत्वेनाभिव्यज्यते नाभिव्यज्यन्ते लघ्वादयः ।  
कर्म्म च सर्व्वतोगतिरूपेणाभिव्यज्यते । तस्य द्वाात्मकस्य वायोरनुप्रवेशात्  
त्राात्मके तेजसि शब्दः किञ्चित्स्थूलो धक्धगिति रूपोऽव्यक्त एव भवति ।  
स्पर्शश्च वायोः शीतो वायोः क्रिययाऽत्यनभिव्यक्तोऽणस्पर्शः प्रव्यक्तः प्रदीप्तः  
स चाभिव्यज्यते । एतं तीक्ष्णादयः किञ्चित्स्थूला भवन्ति न चाभिव्यज्यन्ते ।  
साधारणश्च रूपं तदा लोहितं भवति । तस्यैव त्राात्मकस्य तेजसोऽप्स्वनु-  
प्रवेशाच्चतुरात्मिकास्वप्सु शब्दः पूर्व्वतः किञ्चित्स्थूलः कलकलरूपः साधा-  
रणोऽव्यक्तः स्यात् । स्पर्शश्च शीतो वायोर्व्यक्तो जलस्यानभिव्यक्तः शीत  
इति द्वयमेकीभतं तेजस औष्ण्यमभिभूयाभिव्यज्यते शीत एव । द्वाादयो  
नाभिव्यज्यन्ते किञ्चित्स्थूलाश्च भवन्ति । रूपश्चात्यनभिव्यक्तं शौक्लं लोहित-  
संसर्गादभिव्यज्यते शौक्लमेव । रसश्चाव्यक्तो वर्त्तते किञ्चित्स्थूल एव । एवं  
तासां चतुरात्मिकानामपां पृथिव्यामनुप्रवेशात् पञ्चात्मिकायां पृथिव्यां शब्दः  
पूर्व्वतः किञ्चित्स्थूलोऽव्यक्त एव जायते । स्पर्शश्च खरोऽभिव्यज्यते

अनेनोपदेशेन नानौषधीभूतं जगति किञ्चिद्द्रव्यमुप-  
लक्ष्यते तां तां हि युक्तिमर्थश्च तं तमभिप्रोत्य । न तु केवलं  
नाभिव्यज्यन्ते गुर्वादयो गुणाः किञ्चित्स्थूलाश्च भवन्ति । रूपञ्च शुक्लमपां  
तदगन्धमात्रपृथिव्या अत्यनभिव्यक्तकृष्णेन मिश्रीभूतं व्यक्तकृष्णत्वेनाभि-  
निर्व्वर्त्तते । रसश्चाव्यक्त एव किञ्चित्स्थूलो वर्त्तते । गन्धश्च किञ्चित्स्थूलो  
वर्त्तते । इत्येवमेकद्वित्रिचतुःपञ्चगुणानां पञ्चानां भूतानां कार्यारम्भे यथा  
पृथिव्यादिद्रव्यात् सजातीयद्रव्यान्तरं जायते तथा शब्दादिभ्यो गुणेभ्यः सजा-  
तीयं गुणान्तरमभिव्यज्यते । पञ्चानां शब्दादिदशविधः शब्दविशेषः । वाय्व-  
म्बुनोः स्पर्शाभ्यां शीतस्तेजसः स्पर्शादुष्णः पृथिव्या वायोश्च अत्यनभिव्यक्त-  
स्वरात् स्वरः आकाशस्यात्यभिव्यक्तश्लक्ष्णाद् व्यक्तः श्लक्ष्णः । भूजलयोरत्यनभि-  
व्यक्तान्मान्मान्द्यम् । सान्द्रात् सान्द्रः । जलाकाशयोरत्यनभिव्यक्तात् माद-  
वात् माद्वम् । भूतेजोवायूनामत्यनभिव्यक्ताद् विशदाद्विशदः । तेजोऽनिलयो-  
रत्यनभिव्यक्ताद् रुक्षाद् रुक्षः । तेजोवाय्वाकाशानामत्यनभिव्यक्ताल्लघुत्वाल्लघुत्वम् ।  
सौक्ष्म्यात् सौक्ष्म्यम् । इत्येवं पृथिव्या अत्यनभिव्यक्ताद् गुरुत्वाद् गुरुत्वम्  
काठिन्यात् काठिन्यम् स्थैर्यात् स्थैर्यम् वैशद्याद् शद्यम् स्थौल्यात् स्थौल्यमभि-  
निर्व्वर्त्तते । तथैवापामत्यनभिव्यक्ताद् द्रवत्वाद् द्रवत्वम् स्निग्धत्वात् स्निग्धत्वं  
सरत्वात् सरत्वं पैच्छिल्यात् पैच्छिल्यमभिनिर्व्वर्त्तते । एवञ्च तेजसोऽत्यनभि-  
व्यक्तात् तैक्षण्यात् तैक्ष्ण्यमभिनिर्व्वर्त्तते । तथा वायोरत्यनभिव्यक्तादुक्ता  
लघ्वादयः । आकाशस्याप्युक्ता मृदुत्वादयः । इति पार्थिवादिषु पाञ्चभौतिकेषु  
द्रव्येषु गुरुत्वादयो गुणा विंशतिर्नानुपादाना अभिव्यज्यन्ते । तस्माद् द्रव्याणि  
सजातीयद्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च सजातीयगुणान्तरं न तु विजातीयम् । ततः  
कारणगुणपूर्व्वकः कार्यगुणो दृष्ट इति । कर्माणि तानि तानि चोत्क्षेपणाव-  
क्षेपणप्रसारणाकुञ्चनगमनान्यारभन्ते यथायथं सजातीयविजातीयानि । इति  
तत्त्वम् ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—नन्वेवं पाञ्चभौतिकानां पार्थिवादीनामुपदेशेन किं स्यादिति ?  
अत उच्यते—अनेनेत्यादि । अनेनोपदेशेन खल्वनौषधीभूतं किञ्चिदपि द्रव्यं  
जगति नास्तीत्युपलक्ष्यते । कस्मात् ? अत आह—तां तामित्यादि । तं

चक्रपाणिः—अनेनेति प्रतिनियतद्रव्योपदेशेन यत् पार्थिवादि द्रव्यं यद्गुणं, तद्गुणे देहे  
सम्पाद्ये भेषजं भवतीत्यर्थः, तच्च पार्थिवादि द्रव्यं न सर्व्वथा न च सर्व्वस्मिन् व्याधौ भेषजम्

गुणप्रभावादेव द्रव्याणि काम्मुकाणि स्युः । द्रव्याणि हि द्रव्य-  
प्रभावाद् गुणप्रभावाद् द्रव्यगुणप्रभावाच्च तस्मिंस्तस्मिन् काले  
तत्तदधिकरणमासाद्य तां ताश्च युक्तिमर्थश्च तं तमभिप्रेत्य

तमर्थं प्रयोजनं व्याधीनां कारणानाश्च यस्य यद्यद्गुणादिमत्त्वं तत्तद्  
गुणादिविपरीतगुणं द्रव्यमुपयुज्यमानं साधयतीति तां तां युक्तिमभिप्रेत्य  
अनौषधीभूतं जगति किञ्चिन्नोपलक्ष्यते, सर्व्वमेव द्रव्यमौषधमुपलक्ष्यते ।  
तर्हि किं द्रव्यं गुणप्रभावात् कर्म करोतीति चेत् ? तदा उच्यते—न खित्यादि ।  
द्रव्याणि न केवलं गुणप्रभावादेव काम्मुकाणि कर्मकारीणि भवन्ति ।  
कस्मादिति ? अत उच्यते—द्रव्याणि हीत्यादि । हि यस्माद् द्रव्याणि  
क्वचिद्द्रव्यप्रभावात् क्वचिद्गुणप्रभावात् क्वचिद्द्रव्यगुणोभयप्रभावाच्च तस्मिंस्तस्मिन्  
काले यत् काले यत् समर्थं स्यात् तत्तत् काले तत्तदधिकरणं यत्र यत्र  
व्याध्यादिषु यद् यत् प्रयोजनमभिप्रेत्य प्रयुक्तानि भवन्ति तत्तदधिकरणं  
व्याध्यादिकमासाद्य तं तमर्थं प्रयोजनं वमनविरेचनास्थापनसंशमनादिकम्  
अभिप्रेत्य तत्तद्वाध्यादिविपरीतानि प्रयुक्तानि कर्म कुर्वन्तीति काम्मुकाणि  
भवन्ति । तत्र यत् कुर्वन्ति द्रव्याणि तां तां युक्तिमर्थश्च तं तमभिप्रेत्य  
प्रयुक्तानि तस्मिंस्तस्मिन् काले तत्तदधिकरणमासाद्य द्रव्यप्रभावात् गुण-

इत्याह—तां तां युक्तिमित्यादि । युक्तिमित्युपायम्, अर्थमिति प्रयोजनम्, अभिप्रेत्येत्यधिकृत्य,  
तेन केनचिदुपायेन क्वचित् प्रयोजने किञ्चित् द्रव्यमौषधं स्यात्, न सर्व्वत्र ; तेन, यदुच्यते—  
वैरोधिकानां सर्व्वदाऽपथ्यत्वेन ‘नानौषधं द्रव्यम्’ इति वचोविरोधि, तन्न स्यात् ; वैरोधिकानि  
संयोगसंस्कारदेशकालाद्यपेक्षाणि भवन्ति, वैरोधिकसंयोगाद्यभावे तु पथ्यान्यपि क्वचित् स्युः,  
यान्यपि सर्व्वदापि स्वभावादेव विषमन्दकादीन्यपथ्यानि, तान्यप्युपाययुक्तानि क्वचित् पथ्यानि  
स्युः, यथा—“उदरे विषस्य तिलं दद्याद्” इत्यादि । यत्,—तृणपांशुप्रभृतीनि नोपयुज्यन्ते,—  
अतो न तानि भेषजानीत्युच्यते, तन्न, तेषामपि भेषजस्वेदाद्युपायत्वेन भेषजत्वात् ।

पार्थिवादिद्रव्याणां गुरुखरादिगुणयोगाद् भेषजत्वमुक्तं, तेन गुणप्रभावादेव भेषजं स्यादिति  
शङ्कां निरस्यन्नाह—न तु केवलमित्यादि । द्रव्यप्रभावाद् यथा—दन्त्या विरेकत्वं, तथा मणीनां  
विषादिहन्तृत्वमित्यादि, गुणप्रभावाद् यथा—ज्वरे तिक्तको रसः, शीतेऽग्निरित्यादि ; द्रव्यगुण-  
प्रभावाद् यथा—कृष्णाजिनस्योपरीति, अत्रापि कृष्णत्वं गुणोऽजिनञ्च द्रव्यमभिप्रेतम् ; यथा  
च—मण्डलैर्जातरूपस्य तस्या एव पयः शृतं ; तत्र मण्डलगुणयुक्तस्यैव जातरूपस्य काम्मुकत्वम् ।  
कथं कुर्वन्तीत्याह—तस्मिंस्तस्मिन् काले । तां तां युक्तिमासाद्येति तां तां योजनां प्राप्य,

यत् कुर्वन्ति तत् कर्म, येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम्, यत्र कुर्वन्ति तदधिकरणम्, यदा कुर्वन्ति स कालः, यथा कुर्वन्ति स उपायः, यत् साधयन्ति तत् फलम् ॥ २६ ॥

प्रभावादुभयप्रभावात् यत् कुर्वन्ति तत् कर्म, येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम्, यत्र कुर्वन्ति तदधिकरणम्, यदा कुर्वन्ति स कालः, यथा कुर्वन्ति स उपायः, यत् साधयन्ति तत् फलमिति । तदयथा द्रव्याणि स्वप्रभावात् काम्बुकाणि दृश्यन्ते—यथा दन्तीमूलं कटुकं रसे पाके च तथा चित्रकमूलम् । तयोश्चित्रकं न विरेचयति दन्तीमूलन्तु स्वभावाद्विरेचयति । तथा मण्यादयश्च विषं घ्नन्ति स्वप्रभावात् । गुणप्रभावात् तु घृतादिकं स्निग्धं रुक्षं वार्तं शमयति, स्वप्रभावादायुर्वद्धयति । गुणानां प्रभावास्तु सुश्रुतेनोक्ताः । तदयथा—“अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गुणानां कर्म्मविस्तरम् । कर्म्मेभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रया गुणाः ॥ छादनः स्तम्भनः शीतो मूर्च्छातृद्स्वेददाहजित् । उष्णस्तद्विपरीतः स्यात् पाचनश्च विशेषतः ॥ स्नेहमार्दवकृत् स्निग्धो बलवणकरस्तथा । रुक्षस्तद्विपरीतः स्याद्विशेषात् स्तम्भनः खरः ॥ पिच्छिलो जीवन्ो बल्यो सन्धानः श्लेष्मलो गुरुः । विशदो विपरीतोऽस्मात् क्लेदाचूपणरोपणः ॥ दाहपाककरस्तीक्ष्णः स्रावणो मृदुरन्यथा । सादोपलेपबलकृद् गुरुस्तर्पणवृंहणः ॥ लघुस्तद्विपरीतः स्याल्लेखनो रोपणस्तथा । दशाद्याः कर्म्मतः प्रोक्तास्तेषां कर्म्म विशेषणैः । दशैवान्यान् प्रवक्ष्यामि द्रवादींस्तान् निबोध मे ॥ द्रवः प्रक्लेदनः सान्द्रः स्थूलः स्याद्वन्धकारकः । श्लक्ष्णः पिच्छिलवज्ज्ञेयः कर्कशो विशदो यथा ॥ सुखानुबन्धी सूक्ष्मश्च सुगन्धो रोचनो मृदुः । दुर्गन्धो विपरीतोऽस्माद् हृष्टासारुचिकारकः । सरोऽनुलोमनः प्रोक्तो मन्दो यात्राकरः स्मृतः । व्यवयी चाखिलं देहं व्याप्य पाकाय कल्पते ॥ विकाशी विकशत्येव

यत् कुर्वन्तीत्यादावुदाहरणं यथा—शिरोविरेचनद्रव्याणि यत् शिरोविरेचनं कुर्वन्ति, तत् शिरोविरेचनं कर्म्म ; येनोष्णत्वादिकारणेन शिरोविरेचनं कुर्वन्ति, तद्वीर्यम्, वीर्यं शक्तिः, सा च द्रव्यस्य गुणस्य वा ; यत्र शिरोविरेचनं कुर्वन्ति, तदधिकरणं शिरः ; नान्यत्राधिकरणे शिरोविरेचनद्रव्यं स्यादित्यर्थः ; यदेति वसन्तादौ शिरोगौरवादियुक्तं च काले, एतेन, अकाले शीतादौ शिरोविरेचनं स्तब्धत्वान्न काम्बुकं, किन्तु, स्वकाल एव ; यथा येन प्रकारेण—प्रथमनावपीडनादिना तथा “प्रसारिताङ्गमुत्तानं शयने संस्तारासृते । ईषत्प्रलम्बशिरसं संवेक्ष्य चावृतेक्षणम् ॥” इत्यादिना विधिना कुर्वन्ति, स उपायः ; यत् साधयन्ति शिरोगौरवशूलाद्युपरमं, तत्

भेदश्चैषां त्रिवष्टिविधरसविकल्पो द्रव्यदेशकालप्रभावाद्  
भवति । तमुपदेक्ष्यामः ॥ २७ ॥

स्वादुरम्लादिभिर्योगं शेषैरम्लादयः पृथक् ।

यान्ति पञ्चदशैतानि द्रव्याणि द्विरसानि हि ॥

सन्धिवन्धं विमोक्षयन् । आशुकारी तथाशुत्वाद् धावत्यम्भसि तैलवत् ॥ सूक्ष्मस्तु  
सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मेषु स्रोतःस्वनुसरः स्मृतः । गुणा विंशतिरित्येवं यथावत् परि-  
कीर्त्तिताः ॥ २६ ॥

गङ्गाधरः—इत्येवं भौतिकलभेदेन द्रव्याणां पञ्चविधं भेदमुक्त्वाऽपरं भेद-  
माह—भेदश्चैषामित्यादि । एषामपरश्च भेदस्त्रिवष्टिविधरसविकल्पो द्रव्य-  
प्रभावाद्भवति देशप्रभावात् कालप्रभावाच्च । द्रव्यप्रभावात् यथा—सोम-  
गुणातिरेकान्मधुर इत्येवमादिः । देशप्रभावाद् यथा—आम्रफलादि देशविशेषे  
मधुरप्रायं देशविशेषेऽम्लप्रायम् । कालप्रभावाद् यथा—कदलफलादि ग्रीष्मे  
मधुरं हिमे सकषायम् । एवमावस्थिककालप्रभावाच्च यथा—बालाम्रफलं  
सकषायाम्लं मध्यमम्लं पक्वं मधुराम्लमिति । एष त्रिवष्टिविधरसः सहज  
एव द्रव्याणां न तु द्रव्यान्तरसंयोगादिजः कारणत्वेन तत्संयोगादेवमुक्तत्वात् ।  
तं त्रिवष्टिविधरसविकल्पाद् द्रव्याणां भेदमुपदेक्ष्यामः । इति प्रतिज्ञा ॥ २७ ॥

गङ्गाधरः—तदयथा—स्वाद्वित्यादि । द्विरसानि द्रव्याण्येतानि पञ्चदश  
भवन्ति । कस्मात् ? हि यस्मात् स्वादुर्मधुरो रसः शेषैरम्लादिभिः पञ्चभिः

फलम्, फलमुद्देश्यम्, कर्म कार्यम्, उद्देश्यं फलं यथा,—योगनिष्पाद्यो धर्मः कार्यतया कर्म,  
तज्जन्यस्तु स्वर्गादिरुद्देश्यः फलम्, एवं वमनादिष्वपि कर्मवीर्याधिकरणादुपन्नेयम् ॥ २६ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति द्रव्यसमिधाय विवृतानां रसानामेव भेदमाह—भेदश्चैषामित्यादि ।  
प्रभावशब्दे द्रव्यदेशकालैः प्रत्येकं युज्यते, तत्र द्रव्यप्रभावाद् यथा—“सोमगुणातिरेकान्मधुरः”  
इत्यादि, देशप्रभावाद् यथा—“हिमवति द्राक्षादाङ्गिमादीनि मधुराणि भवन्त्यनपत्राभ्यानि”  
इत्यादि ; कालप्रभावाद् यथा—“बालाम्रं सकषायं तरुणमम्लं पक्वं मधुरं”, तथा हेमन्ते  
“ओषध्वो मधुरा वर्षास्त्रम्लाः” इत्यादि । अग्निसंयोगादयो येऽन्ये रसहेतवः तेऽपि काले द्रव्ये  
वान्तर्भावणीयाः ॥ २७ ॥

चक्रपाणिः—भेदमाह—स्वाद्वित्यादि । तत्र स्वादोरम्लादियोगात् पञ्च, शेषैरिति आदि-  
त्वेनोपयुक्तादन्यैः, तेनाम्लस्य लवणादियोगाच्चत्वारि ; एवं लवणस्य कट्टादियोगात् त्रीणि, कटुकस्य  
तिक्तकषाययोगाद् द्वे, तिक्तस्य कषाययोगादेकम्, एवं पञ्चदश द्विरसानि ।

पृथगम्लादियुक्तस्य योगः शेषैः पृथग्भवेत् ।

मधुरस्य तथाम्लस्य लवणस्य कटोस्तथा ॥

त्रिरसानि यथासंख्यं द्रव्याण्युक्तानि विंशतिः ।

वक्ष्यन्ते च चतुष्केण द्रव्याणि दश पञ्च च ॥

एकैकशो योगं यान्ति । ततो द्विरसानि पञ्च भवन्ति । मधुराम्लो मधुर-  
लवणो मधुरकटुको मधुरतिक्तो मधुरकषायश्चेति । अम्लादयः पञ्च चैकैकशो  
रसाः शेषैश्चतुस्त्रिंशेकैः सह योगं यान्ति । ततो द्विरसानि द्रव्याणि दश  
भवन्ति । तद्यथा—अम्ललवणोऽम्लकटुकोऽम्लतिक्तोऽम्लकषायश्चेति चत्वारः ।  
लवणकटुको लवणतिक्तो लवणकषाय इति त्रयः । कटुतिक्तः कटुकषाय इति  
द्वौ । तिक्तकषाय इत्येकः । इति दश पूर्वैः पञ्चभिः सह पञ्चदश द्विरस-  
द्रव्याणि ।

त्रिरसान्याह—पृथगित्यादि । पृथगम्लादियुक्तस्य मधुरस्य शेषैर्लवणा-  
दिभिश्चतुर्भिः पृथग योगश्चतुर्विधः । मधुराम्ललवणो मधुराम्लकटुको मधुराम्ल-  
तिक्तो मधुराम्लकषायश्चेति । आदिना मधुरस्य लवणादियुक्तस्य शेषैः कटू-  
दिभिर्योग इति । यथा—मधुरलवणकटुकः मधुरलवणतिक्तः मधुरलवणकषायः ।  
मधुरकटुतिक्तः मधुरकटुकषायः । मधुरतिक्तकषायः । इति मधुरयोगाद् दश ।  
तथाम्लस्य पृथग्लवणादियुक्तस्य शेषैः कटूदिभिः पृथग्योगः स्यादिति । यथा  
—अम्ललवणकटुकः अम्ललवणतिक्तः अम्ललवणकषायः । अम्लकटुतिक्तः  
अम्लकटुकषायः । अम्लतिक्तकषायः । इति अम्लस्य योगात् षट् । तथा लव-  
णस्य पृथक्कटूदियुक्तस्य शेषैस्तिक्तकषायाभ्यां योगो भवेत् । यथा—लवण-  
कटुतिक्तः लवणकटुकषायः लवणतिक्तकषायः । इति त्रयः । कटोस्तथा  
तिक्तयुक्तस्य शेषेण कषायेण योगो भवेदिति । कटुतिक्तकषाय इत्येकः ।  
इति दश । इति विंशतिर्द्रव्याणि त्रिरसानि यथासंख्यमुक्तानि ।

त्रिरसमाह—पृथगित्यादि । मधुरस्याम्लादिरसचतुष्टयेन पृथगित्येकशो युक्तस्य शेषै-  
र्लवणादिभिर्योगो भवति ; तत्र मधुरस्याम्लयुक्तस्य शेषलवणादियोगाच्चत्वारि, तथा मधुरस्य  
लवणयुक्तस्य कटूदियोगात् त्रीणि, तथा कटुकयुक्तस्य तिक्तादियोगाद् द्वे, तथा तिक्तयुक्तस्य  
कषाययोगादेकम्, एवं मधुरेणादिस्थितेन दश । एवमम्लस्यादिस्थितस्य लवणयुक्तस्य कटूदियोगात्  
त्रीणि, तथा कटुकयुक्तस्य शेषाभ्यां योगाद् द्वे, एवं तिक्तयुक्तस्य कषाययोगादेकं, एवमम्लस्य  
षट् । अनेनैव न्यायेन लवणस्य त्रीणि, कटोश्चैकमेव, एवं मिलित्वा त्रिरसानि विंशतिः ।

स्वाद्वम्लौ सहितौ युक्तौ लवणाद्यैः पृथग्गतैः ।

योगं शेषैः पृथग्यातश्चतुष्करससंख्यया ॥

सहितौ स्वादुलवणौ तद्वत् कटादिभिः पृथक् ।

युक्तौ शेषैः पृथग्योगं यातः स्वादूषणौ तथा ॥

कटाद्यैरम्ललवणौ संयुक्तौ सहितौ पृथक् ।

यातः शेषैः पृथग्योगं शेषैरम्लकटू तथा ॥

अथ चतुष्केण रसेन दश पञ्च च द्रव्याणि वक्ष्यन्ते, तद्यथा—स्वाद्वम्ला-  
वित्यादि । स्वाद्वम्लौ सहितौ मिलितौ सन्तौ द्वौ रसौ पृथग्गतेलवणाद्यैः  
लवणकटुतिक्तकषायैर्युक्तौ पुनः शेषैः कटुतिक्तकषायैरेकैकशो योगं यात-  
श्चतुष्करससंख्यया षड् द्रव्याणि भवन्ति । तद्यथा—मधुराम्ललवणकटुः  
मधुराम्ललवणतिक्तः मधुराम्ललवणकषायः मधुराम्लकटुतिक्तः मधुराम्ल-  
कटुकषायो मधुराम्लतिक्तकषायश्चेति षट् । सहितावित्यादि । सहितौ  
मिलितौ स्वादुलवणौ द्वौ रसौ तद्वत् पूर्व्वेव कटादिभिः पृथगेकैकेन  
युक्तौ सन्तौ पुनः शेषैस्तिक्तादिभिः पृथगेकैकेन योगं यातः प्राप्नुतश्चतुष्क-  
रससंख्यया त्रीणि द्रव्याणि भवन्ति । तद्यथा—मधुरलवणकटुतिक्तः  
मधुरलवणकटुकषायः मधुरलवणतिक्तकषायः । इति त्रीणि । स्वादूषणौ  
तथेति । मधुरकटुतिक्तकषाय इत्येकं चतुष्करससंख्यया द्रव्यमिति  
चतुष्करसद्रव्याणि दश मधुरादिकानि । कटाद्यैरम्ललवणाविति ।  
अम्ललवणौ द्वौ रसौ मिलितौ कटाद्यैः पृथक् एकैकशो युक्तौ सन्तौ शेषै-  
स्तिक्तादिरैकैकशो योगं यात इति चतुष्करससंख्यया त्रीणि द्रव्याणि  
भवन्ति । यथा—अम्ललवणकटुतिक्तः अम्ललवणकटुकषायः अम्ल-  
लवणतिक्तकषाय इति त्रीणि । शेषैरम्लकटू तथा युज्येते इति । अम्ल-  
कटुतिक्तकषाय इत्येकम् । एवं युज्येते तु कषायेण सतिक्तौ लवणोषणौ ।  
इति लवणकटुतिक्तकषाय इत्येकमिति पञ्च च । इत्येवं चतुष्करससंख्यया

चतुरसे स्वाद्वम्लादिस्थितौ लवणादिभिरैकैकशेन युक्तौ शेषैः कटादिभिर्योगात्  
षड् भवान्तः स्वादुलवणौ सहितावादिस्थितौ कटादिभिरिति कटुतिक्ताभ्यां पृथग्युक्तौ शेषैरिति  
तिक्तकषायाभ्याम्, तेन इह बहुवचनं जातौ बोद्धव्यम्, एवं त्रीणि ; एवं स्वादूषणौ तथेत्यनेन  
स्वादुकटुतिक्तकषायरूपमेकम् ; कटाद्यैरित्यादावपि बहुवचनं जातौ, अम्ललवणौ संयुक्तौ कटुना

युज्येते तु कषायेण सत्तिकौ लवणोपणौ ।

षट् तु पञ्चरसान्याहुरेकैकस्यापवर्जनात् ॥

षट् चैवैकरसानि स्युरेकं षड्समेव च ।

इति त्रिषष्टिर्द्रव्याणां निदिष्टा रससंख्यया ॥

त्रिषष्टिः स्यादसंख्येया रसानुरसकल्पनात् ।

रसास्तरतमाभ्यां तां \* संख्यामतिपतन्ति हि ॥ २८ ॥

द्रव्याणि दश पञ्च चेति । षट् त्वित्यादि । पञ्चरसानि द्रव्याणि षट् खलु षण्णां रसानामेकैकस्य रसस्यापवर्जनादाहुः । तद्यथा—मधुराम्ललवणकटु-  
तिक्तः अम्ललवणकटुतिक्तकषायः लवणकटुतिक्तकषायमधुरः कटुतिक्त-  
कषायमधुराम्लः तिक्तवषायमधुराम्ललवणः कषायमधुराम्ललवणकटुः । इति  
पञ्चरसानि द्रव्याणि षट् ।

षट् चेत्यादि । एकरसानि द्रव्याणि षड् भवन्ति । मधुरमम्लं लवणं  
कटुकं तिक्तकं कषायमिति षड्करसद्रव्याणि । एकं षड्समेव च द्रव्यम् ।  
मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायम् । इत्येवं त्रिषष्टिविधरसयोगात् त्रिषष्टिभेदा  
द्रव्याणां भवन्तीति । उपसंहरति—इतीत्यादि । रसानुरसकल्पनादसंख्येया  
रसाः स्युः, हि यस्मात् तरतमाभ्यां ते रसाः संख्यामतिपतन्ति ॥ २८ ॥

सहितौ शेषाभ्यां योगाद् द्वे, तथा म्ललवणौ तिक्तयुक्तौ शेषयोगादेकम् ; अम्लकटू तथेत्यनेनाम्ल-  
कटुतिक्तकषायरूपमेकं ; युज्येते त्वित्यादिना चैकम् ; एवं पञ्चदश चतुरसानि । अपवर्जनादिति  
त्यागात् । अत्र च रसानां गुणत्वेनैकस्मिन् द्रव्ये समवायो योगशब्देनोच्यते ।

रससंसर्गस्य प्रकारान्तरेणापरिसंख्येयतामाह—त्रिषष्टिः स्यादित्यादि । अनु-  
रसोऽग्रे वक्ष्यमाणः । अत्र च त्रिषष्ट्यात्मकरसे रसानुरसकल्पना नास्ति केवलस्य मधुरादेरप-  
वर्जनात्, तेन यथासम्भवं सप्तपञ्चाशत्संयोगविशेषं रसानां रसकल्पनं ज्ञेयम् ; किंवा  
एकरसेऽप्यनुरसोऽस्त्येवाव्यपदेश्यः । प्रकारान्तरेणाप्यसंख्येयतामाह—रसास्तरतमाभ्यस्ताः संख्या-  
मित्यादि । मधुरमधुरतरमधुरतमादिभेदादसंख्येयता रसानां भवतीति भावः ; किंवा, रसानु-  
रसत्वेनैव आसंख्येयता, तत्रैवायं हेतुः—रसास्तरतमेत्यादिः ॥ २८ ॥



संयोगाः सप्तपञ्चाशत् कल्पना तु त्रिषष्टिधा ।

रसानां तत्र योग्यत्वात् कल्पिता रसचिन्तकैः ॥ २९ ॥

कचिदेको रसः कल्प्यः संयुक्ताश्च रसाः कचित् ।

दोषौषधादीन् संचिन्त्य भिषजा सिद्धिमिच्छता ॥ ३० ॥

द्रव्याणि द्विरसादीनि संयुक्तांश्च रसान् बुधाः ।

रसानेकैकशो वापि कल्पयन्ति गदान् प्रति ॥ ३१ ॥

गङ्गाधरः—संयोगा इत्यादि । तेषु त्रिषष्टिविधेषु मध्ये सप्तपञ्चाशद्रस-  
संयोगाद् द्वित्रिचतुःपञ्चषड्रसाः । पृथक् षट् चेति त्रिषष्टिधा कल्पना । तत्र  
योग्यत्वादसानां वातादिकल्पना रसचिन्तकैः कल्पिता ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—कथमिति चेत् ? तदोच्यते—कचिदित्यादि । कचिदोषौषधा-  
दीन् सञ्चिन्त्यावेक्ष्यावेक्ष्य तदेकदोषजादौ व्याधौ तद्दोषव्याधिविपरीत एको  
रसः कल्प्यः स्यात् सिद्धिमिच्छता । कचित् संयुक्तदोषादौ व्याधौ दोषौ-  
षधादीन् सञ्चिन्त्य तद्विदोषत्रिदोषन्पूनाधिकादिभावमवेक्ष्य संयुक्तास्तत्तद्दोष-  
व्याधिविपरीताः संयुक्तरसाः कल्प्याः स्युः सिद्धिमिच्छता भिषजा ॥ ३० ॥

गङ्गाधरः—कस्मात् ? तत आह—द्रव्याणीत्यादि । यतो गदान् प्रति बुधा  
वैद्या द्विरसादीनि द्रव्याणि संयुक्तांश्च द्विरसादीन् रसान् एकैकशो वापि रसान्  
कल्पयन्ति ॥ ३१ ॥

चक्रपाणिः—एवमसंख्येयत्वेऽपि त्रिषष्टिविधैव कल्पना चिकित्साव्यवहारार्थमिहाचार्यैः  
कल्पिता इत्याह—संयोगा इत्यादि । तत्र योग्यत्वादिति,—तत्र स्वस्थानुरहितचिकित्सा-  
प्रयोगेऽनतिसङ्गे पविस्तररूपतया हितत्वादित्यर्थः ॥ २९ ॥

चक्रपाणिः—तमेव चिकित्साप्रयोगमाह—कचिदित्यादि । अत्रादिग्रहणाद् देशकाल-  
बलादीनां ग्रहणम् । एतदेव संयुक्तासंयुक्तरसकल्पनं भिन्नरसद्रव्यमेलकाद्वानेकरसैकद्रव्य-  
प्रयोगादेकरसद्रव्यप्रयोगाद् वा भवतीति दर्शयन्नाह—द्रव्याणीत्यादि । द्विरसादीन्युत्पत्तिसिद्ध-  
द्विरसत्रिरसादीनि—द्विरसं यथा—कषाय-मधुरो मुद्रः, त्रिरसं यथा—“मधुराम्लकषायञ्च  
विश्वमिगुरुशीतलम् । पित्तश्लेष्महरं भव्यम्” इत्यादि ; चतुरस्रस्तिलः, यदुक्तम्—“स्निग्धोष्ण-  
मधुरस्तिक्तः कषायः कटुकस्तिलः ।” पञ्चरसन्त्वामलकं हरीतकी च “शिवो पञ्चरसः” इत्यादि-  
वचनात्, व्यक्तषड्रसन्तु द्रव्यमिहानुक्तम् ; विषन्त्वव्यक्तषड्रससंयुक्तम् ; हारीते तु—एणमांसं

यः स्याद्रसविकल्पज्ञः स्याच्च दोषविकल्पवित् ।

न स मुह्यं द्विकाराणां हेतुलिङ्गोपशान्तिषु ॥ ३२ ॥

व्यक्तः शुष्कस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते ।

विपर्ययेणाणुरसो रसो नास्तीह सप्तमः ॥ ३३ ॥

गङ्गाधरः—एतेन किं स्यादिति ? अत आह—यः स्यादित्यादि । यो वैद्यो रसविकल्पज्ञः स्यात् स्याच्च दोषविकल्पवित् स वैद्यो दोषं विकल्प्य न्यूनाधिकाद्यंशं प्रविचिच्य रसं तदुपशान्तिहेतुं विकल्प्य प्रयुज्य विकाराणां हेतुलिङ्गोपशान्तिषु न मुह्येत् भ्रान्तिमान् न स्यादिति ॥ ३२ ॥

गङ्गाधरः—ननु रसाणुरसौ कथं विज्ञायेते इति ? अत आह—व्यक्त इत्यादि । मुखे क्षिप्तस्य शुष्कस्य द्रव्यस्य व्यक्तो रस आदौ लक्ष्यते । तस्य द्रव्यस्यार्द्रभावे पुनस्तद्व्यक्त-रसविपर्ययेणाणुरसो लक्ष्यते न त्वतिरिक्तो रसो लक्ष्यते । तस्मादिह जगति सप्तमो रसो नास्ति । इति ॥ ३३ ॥

व्यक्तपदसंयुक्तमुक्तम्, एवं द्विरसादिद्रव्ययोगाद् द्विरसादुपयोगः ; तथा संयुक्तांश्च रसानिति,— एकैकरसादिद्रव्यमेलकात् संयुक्तान् रसान् तथैकैकज्ञः कल्पयन्ति प्रयोजयन्ति ; गदान् प्रतीति प्राधान्येन, तेन स्वस्थवृत्तेऽपि बोद्धव्यम्, किंवा, द्विरसादिभेदो गद एव, स्वस्थे तु सर्व-रसप्रयोग एव, यदुक्तम्—“समसर्व्वरसं सामर्थ्यं समधातोः प्रशस्यते” । एवञ्च व्याख्याने सति “क्वचिदेकरसः” इत्यादिना समसस्य न पौनरुक्तम्, किंवा, “क्वचिदेकरसः” इत्यादिना स्वमतमुक्तम्, अत्रैवार्थे “द्रव्याणि द्विरसादीनि” इत्यादिना आचार्यान्तरममतिं दर्शयति, अत एवाचार्यान्तराभिप्रायेण “कल्पयन्ति” इत्युक्तम्, तेन न पौनरुक्तम् ॥ ३०।३१ ॥

चक्रपाणिः—रसज्ञानफलमाह—यः स्यादित्यादि । अत्र रसविकल्पज्ञानादेव व्याधिहेतु-द्रव्यज्ञानं कृत्वस्मवखद्वम्, रसज्ञानेनैव प्रायः सकलद्रव्यगुणस्य वक्ष्यमाणत्वात् । दोषविकल्पज्ञानाच्च लिङ्गज्ञानम्, यावद्वि लिङ्गं, तत् सर्व्वं दोषविकल्पसम्बद्धम् ; रसदोषविकल्पज्ञानात् तु भेषजज्ञानम्, यतः, रसतः स्वरूपज्ञानं भेषजद्रव्यस्य, दोषश्च भेषजप्रयोगविषयविज्ञानम् ; किंवा, रसविकल्पाच्च तथा दोषविकल्पाच्च हेत्वादिज्ञानं पृथगेव वक्तव्यम्, रसभेदाद्वि तत् कार्य्यं लिङ्गमपि ज्ञायते, हेतुभेषजविज्ञानन्तु रसभेदविज्ञानादेव वक्तव्यम्, यतः रसभेदवद्द्रव्यमेव विकाराणां हेतुर्भेषजञ्च भवतीति, एवं दोषभेदं ज्ञात्वा च तस्य समानं हेतुं प्रत्येति, दोषविरोधि च द्रव्यं भेषजमिति ; तद् युक्तमुक्तम् ‘न स मुह्ये द्विकाराणां हेतुलिङ्गोपशान्तिषु’ इति ॥ ३२ ॥

चक्रपाणिः—पूर्व्वोक्तरसानुरसलक्षणमाह—व्यक्त इत्यादि । शुष्कस्य चेति चकारादार्द्रस्य च, आदौ चेति चकारादन्ते च ; तेन शुष्कस्य वा आर्द्रस्य वा प्रथमजिह्वासम्बन्धे वा आदावास्वादान्ते वा यो व्यक्तत्वेन मधुरोऽयमम्लोऽयमित्यादिना विकल्पेन गृह्यते, स व्यक्तः । यस्तूक्तावस्थाचतुष्टये-

परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च ।

विभागश्च पृथक्त्वञ्च परिमाणमथापि च ॥

संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणा ज्ञेयाः परादयः ।

सिद्ध्युपायाश्चिकित्साया लक्षणैस्तान् प्रवक्ष्यते ॥ ३४ ॥

देशकालदयोमान-पाकवीर्यरसादिषु ।

परापरत्वे युक्तिस्तु योजना या तु युज्यते ॥ ३५ ॥

गङ्गाधरः—नन्वेवं रसानां विकल्पने क उपाय इति ? अत आह—परा-परत्वे इत्यादि । इत्येते परादयो दश गुणाश्चिकित्सायाः सिद्धावुपायाः यथा कुर्वन्ति स उपाय इति ज्ञेयाः । तान् परादीन् लक्षणैः प्रवक्ष्यते व्याख्यास्यते ॥ ३४ ॥

गङ्गाधरः—क्रमेण लक्षणमाह—देशेत्यादि । देशादिषु परापरत्व युज्यते । परश्चापरश्च तयोर्भाव इति परापरत्वे परत्वापरत्वे । परत्वं प्रथमादुत्तरत्वम् । अपरत्वं तत्परतः परत्वमिति परं परस्य परम् । तच्च देशादिषु युज्यते । देशस्तु ऽपि व्यक्तो नोपलभ्यते, किं तर्हि, अव्यपदेश्यतया च्छायामात्रेण कार्यमात्रेण वा मीयते, सोऽनुरस इति वाक्यार्थः ; यतश्च मधुरादय एव व्यक्तत्वाव्यक्तत्वाभ्यां रसानुरसरूपाः, अतः अव्यक्तनामा सप्तमो रसो नास्ति ; अयञ्चार्थः—पूर्वं प्रतिषिद्धोऽप्यनुगुणस्पष्टहेतुप्राप्त्या पुनर्निषिध्यते ; अन्ये त्वाहुः—शुष्कस्य चेत्यनेन यस्य द्रव्यस्य शुष्कस्य चार्द्रस्य चोपयोगः, तत्र शुष्कावस्थायां यो व्यक्तः, स रस उच्यते, यस्त्वार्द्रावस्थायां व्यक्तः सन् शुष्कावस्थायां नानुयाति, नासौ रसः, किन्त्वनुरसः ; यथा—पिप्पल्या आर्द्राया मधुरो रसो व्यक्तः, शुष्कायाः पिप्पल्याः कटुकः, तेन कटुक एव रसः पिप्पल्याः, मधुरस्त्वनुरसः, यस्तु द्राक्षादीनामार्द्रावस्थायां शुष्कावस्थायाञ्च मधुर एवेति, तत्र विप्रतिपत्तिरेव नास्ति, तेन, तत्र मधुर एव रसः । नित्यार्द्रप्रयोज्यानान्तु काञ्जिक-तक्रादीनामादौ व्यक्तो य उपलभ्यते, स रसः, अनु चोपलभ्यते यः सोऽनुरसः, चुक्रतित्त्वादि-स्तथार्द्रावस्थायां शुष्कावस्थाविपरीतो यः पिप्पल्या इव मधुरः, सोऽनुरस इति, किन्त्वार्द्रापि पिप्पली मधुरसैवेति पश्यामः, यतः वक्ष्यति—“श्लेष्मला मधुरा चार्द्रा गुर्वी स्निग्धा च पिप्पली” इति । मधुरस्य तत्रानुरसत्वे गुरुत्वश्लेष्मकतृत्वानुपपन्नानि ; तेन आर्द्रा पिप्पली व्यक्तमधुरसैव, शुष्का तु मधुरानुरसेति युक्तम् ॥ ३३ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति पूर्वोक्तगुर्वादिगुणातिरिक्तान् परत्वापरत्वादीन् दश गुणान् रसधर्म-त्वेनोपदेष्टव्यानाह—परेत्यादि । तच्च परत्वं प्रधानत्वम्, अपरत्वमप्रधानत्वम् ; तद्विवरणं देश-कालेत्यादि । तत्र देशो मरुः परः, अनूपोऽपरः ; कालो विसर्गः परः, आदानमपरः ; वय-

भौमः शारीरश्च । अयमस्मान् परो देशोऽयमस्मान् परतोऽपि परो देश इत्येवं लोके व्यवह्रियते । भौमदेशे शरीरदेशे च । तथा काष्ठेऽपि व्यवह्रियतेऽयमस्मान् परः कालो वत्सर ऋतुवत्सरो वेत्येवमादिः प्रानरादिश्च कालो दृश्यते । तथायमस्मादपरः कालः परतः कालादपि परः काल इति । एवं वयसि च युज्येते । यथा इदमस्य वयसः शैशवात् परं पौगण्ड्यं पौगण्ड्याच्चापरं कैशोरं यौवनश्चापरमित्येवमादिः । नायं काष्ठे व्यवहारः । तस्मिन् हि काष्ठे कस्यचिच्छैशवं कस्यचिन् पौगण्ड्यं कस्यचिन् कैशोरमिति । तथा मानेऽपि परत्वापरत्वे व्यवह्रियेते । यथा ह्रस्वदीर्घादिमानं पुरुषस्य बाल्ये ह्रस्वत्वात् परं दीर्घं यौवनेऽपरश्च ततः परमिति । अयमस्माद् ह्रस्वोऽय दीर्घ इति । एवं पाकेऽपि परत्वापरत्वे युज्येते । अयमभ्यवहृतस्यान्नस्य जाडराग्निना पाकात् परो रसपाकस्तत्परश्चापरो रक्तपाक इति । एवमभ्यवहृताः पृथुकाः परं पच्यन्तेऽपरश्च लड्डुका इति । तथा वीर्येऽपि परत्वापरत्वे व्यवह्रियेते । आमलकस्य शीतवीर्यात् परं शीतं वीर्यम् । आमनारिकेलोदकस्य ततश्चापरं शीतं वीर्यमितरेषामिति । एवं रसेऽपि परापरत्वे व्यवह्रियेते । आमे फले पूर्वम् आम्रः सकषायोऽम्लो रसः परश्चाम्लस्ततः पकस्यापरो रसः । इति । आदिना प्रभावोत्पत्त्यादिषु सर्वेषु भावेषु परत्वापरत्वे व्यवह्रियेते । परत्वापरत्वयोस्तु परत्वापरत्वाभावः । काय्यगुणे काय्यगुणाभाववत् । प्रकृतिभूतौ हि गुणौ परत्वापरत्वे कार्य्यगुणेष्वपि वर्तन्ते । तस्मान्मानपाकवीर्यरसादिषु युज्येते । परापरत्वादयः प्रकृतिभूतगुणा न काय्यगुणकर्मन्मु प्रतिपिद्वा इति । “यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत्” इत्युक्त्या कार्य्यद्रव्यस्यैव कर्मगुणाश्रयत्वम् उक्तम् न तु काय्यगुणस्य गुणाश्रयत्वमुक्तमिति । अथ युक्तिं लक्षयति—युक्तिस्त्वित्यादि । युक्तिस्तु योजना नाम सा या तु युज्यते, युज्यते इति योजना युक्तिरुच्यते । यत्र यद् याद्रूपेण योग्यं भवति तत्र तस्य ताद्रूपेण योगो युक्तिर्न तु तर्कः । तस्य प्रमाणत्वेन बुद्धिविशेषत्वात् । इयं हि तर्कपूर्विका योजना न बुद्धिः । न चैषा युक्तिः संयोगादिष्वन्तर्भवति । युक्त्या

स्तर्हणं परम्, अपरमितरत् ; मानञ्च शरीरस्य यथा वक्ष्यमाणं शारीरे परं, ततोऽन्यदपरम् ; पाकवीर्यरसास्तु ये यस्य योगिनस्ते तं प्रति पराः, अयौगिकास्त्वपराः ; ‘आदि’ग्रहणात् प्रकृतिबलादीनां ग्रहणं ; किंवा परत्वापरत्वे वैशेषिकोक्ते ज्ञेये, तत्र देशापेक्षया सन्निकृष्टदेशसम्बन्धिनमपेक्ष्य विदूरदेशसम्बन्धिनः परत्वं, सन्निकृष्टदेशसम्बन्धिन चापरत्वम् स्यात् ; एवं सन्निकृष्टविप्रकृष्टकालापेक्षया च स्थविरे परत्वं यूनि चापरत्वं स्यात् ; वयःप्रभृतिषु परत्वापरत्वं

संख्या स्याद्गणितं योगः सहसंयोग उच्यते ।

द्रव्याणां द्वन्द्वसर्वैक-कर्मजोऽनित्य एव च ॥

हि द्वयं संयुज्यते परिमीयते संस्क्रियते । न समवायेऽप्यन्तर्भवति । स ह्यपृथग्भावो भावानामियन्तु योजना न तथा । पृथग्भूतानामपि योजना पदानां दृश्यते । तस्मात्तेभ्यः पृथगुक्ता युक्तिः । योजनायान्तु युज्यते इति पाठान्तरम् ॥ ३५ ॥

गङ्गाधरः—अथ सङ्ख्या—सङ्ख्येत्यादि । सङ्ख्या स्याद्गणितम् । गण्यते ह्येवं लोके । अयमेक इत्यभ्यासनिरपेक्षा खल्वेकत्वं संख्या । सैवाभ्यास-गुणवती द्वित्वादिश्च संख्याभिधीयते । यथा पुनरयमेकोऽपरश्चैक इति द्वौ । तथायमेकोऽपरश्चैकः परश्चैक इति त्रयः । इत्येवमभ्यासगुणः परापरत्ववती सैकत्वसङ्ख्या द्वित्वादिः संख्या । द्वावेतावेक एतौ चापरौ द्वावेक इति द्वौ । तौ द्वौ तथा चैते त्रय एकस्त्रयश्चापरे द्वे ते एक इति द्वौ त्रयः । एवं त्रयस्त्रयः । त्रयश्चत्वार एकश्चत्वार एतेऽपरे त्वेकश्चत्वार इति द्वौ चत्वारः । इत्येवं संख्यावती च संख्या द्वित्वादिर्न त्वेक एक इति । एकत्वस्यैकत्वाभावात् । कणादेन चोक्तं—“पृथक्कैकत्वयोरेकत्वपृथक्त्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः” इति । पृथक्त्वस्यैकत्वपृथक्त्वाभावः । एकत्वस्य चैकत्वपृथक्त्वाभावो न तु पृथक्त्वस्य एकत्वाभाव एकत्वस्य पृथक्त्वाभाव इति यथासङ्गम् । ययाणुत्वमहत्त्वयोरणुत्वमहत्त्वाभावः । अणुत्वस्याणुत्वमहत्त्वाभावो महत्त्वस्याणुत्वमहत्त्वाभाव इति । तथा चैवं न प्रतीयते द्वित्वात् पृथगेकत्वं न वैकल्यमेकमिति । तथा पृथगन्यतः

यथासम्भवं कालदेशकृतमेवेहोपयोगादुपचरितमप्यभिहितं, यतः गुणे मानादौ न गुणान्तर-सम्भवः । युक्तिश्चेत्यादौ योजना दोषाद्यपेक्षया भेदजस्य समीचीनकल्पना, अत एवोक्तम्—‘या तु युज्यते’,—या कल्पना यौगिकी स्यात्, सा तु युक्तिरुच्यते, अयौगिकी तु कल्पनापि सती युक्तिर्नोच्यते पुत्रोऽप्यपुत्रवत् । युक्तिश्चेयं संयोगपरिमाणसंस्काराद्यन्तर्गताप्यत्युपयुक्तत्वात् पृथगुच्यते ॥ ३५३५ ॥

चक्रपाणिः—संख्यां लक्षयति—संख्या स्याद्गणितमिति । गणितमिहैकद्वित्रीत्यादि । संयोग-माह—योग इत्यादि । सहेति मिलितानां द्रव्याणां योगः प्राप्तिरित्यर्थः, सहेत्यनेनेहाकिञ्चित्करं परस्परसंयोगं निराकरोति । तद्भेदमाह—द्वन्द्वेत्यादि । तत्र द्वन्द्वकर्मजो यथा—युध्यमानयो-र्मेषयोः, सर्वकर्मजो दद्या-भाण्डे प्रक्षिप्यमाणानां माषाणां बहुलमाषक्रियायोगजः, एककर्मजो यथा—वृक्षवायसयोः ; अनित्य इति संयोगस्य कर्मजत्वेनानित्यत्वं दर्शयति ।

विश्ववस्तु विभक्तिः पर्यायित्वात् भागशो ग्रहः ।

तथाप्युक्तं तद्विषये न । यत्प्रकारेण संयोगः ।

पृथक्त्वमेकस्येति । यतः द्रव्यगुणवैभक्त्यात्तरापरिभुक्त कणादिर । तथा चैकत्वाविरक्तो जडान्धु भवते सह्या । तथा च यानिनीयानि । संख्यया-  
व्ययद्वारासन्नाधिकारह्वराः संख्यये । इति बहुव्रीहौ लङ् प्रत्ययेऽथे अन्यऽव्ययादयः  
संख्यया सह लभ्यन्ते । इति । दो त्रयो वेदां तं द्वित्रयः, षड् गावः, पञ्चवा-  
स्त्रिंशद्वटाः । त्रिपञ्चारे पीठे इति त्रयः पञ्च पाराणि क्रोमाः यस्य पीठस्य  
तत् त्रिपञ्चारं पीठम् । पञ्चदशकोणं पीठमिति । लक्षणां पञ्च लेभे चेत्यादयः  
प्रयोगा दृश्यन्ते । सह्याणां दर्शनं तु । तस्मादा दशभ्यः संख्याः संख्यये  
ततः परं सह्याः संख्यये सह्याने चेति प्रमादिविभक्तं तदुक्तमिति ।

अथ संयोगः । द्रव्याणां द्रव्यसर्वककर्मजः सहयोगोऽव्यवधानेन  
मेलनं संयोग उच्यते । स यानित्य एव न तु । येषां कर्मजो न वा  
गुणकर्मजोः कर्मजोऽव्यवधानेन । स च द्रव्यगुणयोर्द्रव्यकर्मजोर्वा तदेकस्य  
कर्मसम्भवे तद्व्याप्यस्य द्रव्याणांमिति । नतः सप्तम्यादप्य भेदः । सप्तम्या  
हि द्रव्यगुणकर्मजो सहयोग उक्तः । द्रव्याणां द्रव्यस्य कर्मजः सर्वेषां  
संयोगाभिजातानां कर्मजः । एकस्य कर्मजः सहयोगो नैकस्य सम्भव-  
तीति द्विवहनां द्रव्याणां सहयोगः । द्रव्यकर्मजः यथा—योधकानयोर्धेययोः  
सहयोगः । सर्वकर्मजो यथा यथे पीठकानानां तिलाणां सर्वेषां सहयोगः  
समकालम् । उत्तरकाले सहयोगस्तु संयोगजः संयोगो न प्रकृतिभूतः संयोगः ।  
एकद्रव्यकर्मजो यथा—धुलपक्षिणोः सहयोगः । स च स्वस्वनित्य एव न तु  
नित्यः कर्मजत्वात् । यस्तु विदेशादागतस्य सुहृद्भिः संयोगः स नैव संयोगः  
व्यवधानात् परन्तु योजना नान युक्तिगुणः । संयोगविभागयोश्च संयोग-  
विभागाभावः सुतरां द्रव्यत्वाभावात् ।

अथ विभागः । विभागस्तु विभक्तिद्रव्याणां द्रव्यसर्वककर्मजोऽनित्य  
एव चेति योजना । तस्य पर्यायो वियोगो भागशो ग्रहश्च । द्रव्याणामिति

विभागमाह—विभागस्त्वित्यादि । विभक्तिर्विभजनम् । विभक्तिमेव विवृणोति—वियोग  
इति ; संयोगस्य विगमो वियोगः ; तत् किं संयोगाभाक् एव वियोग इत्याह—भागशो ग्रह  
इति, भागशो विभक्तत्वेन ग्रहणं ततो भवतीति भावः, तेन विभक्तिरित्येषा  
भावरूपा प्रतीतिः, न संयोगाभावमात्रं स्यात्, किं तर्हि, भावरूपविभागगुणयुक्त इत्यर्थः ।

परिमाणं पुनर्मानं संस्कारः करणं मतम् ।

भावाभ्यसनमभ्यासः शीलनं सततक्रिया ॥

अनेन पृथक्त्वाद्भेदः । योगाद् विगमो वियोगो वियुक्तिर्भागशो ग्रह इति विभिन्नो भागः । द्वन्द्वकम्मैजो यथा—युध्यमानयोः मेषयोरन्योन्यापसरणं वियोगः । सव्वकम्मैजो यथा—पीड्यमानानां तिलानां संयोगोत्तरं वियोगः पुनर्यौगः इत्येवमादिः । एककम्मैजो यथा—वृक्षं त्यजति खग इत्यादि । इति । गुणानां कम्मैणां गुणकम्मैणोद्रव्यगुणयोद्रव्यकम्मैणोश्च न विभागः स्यादद्रव्याणामित्युक्तेः ।

अथ पृथक्त्वम् । “पृथक्त्वं स्यादसंयोगो वैलक्षण्यमनेकता ।” असंयोग इति संयोगविपरीतो द्रव्याणां विभागः, एष त्वसंयोगः सम्यग्योगाभावः संयोगसमवायविपरीतः । यथा मेषयोः संयोगात् पृथक्त्वयोर्विभागः सम्यग्योगरहितः । न हि संयोगविभागयोः सम्यग्योगोऽस्तीति पृथगुच्यते । संयोगात् पृथग्विभागः विभागात् पृथक् संयोगः । तयोश्च वैलक्षण्यं भेदः । तयोश्चानेकता च वर्तते । इति । त्रिविधं पार्थक्यमयोगो भेदोऽनेकत्वमिति द्रव्यगुणकम्मैसु वर्तते । भेदमात्रमभिप्रेत्य कणादेनोक्तं—“पृथगन्यदित्यनर्थान्तरमिति । पृथक्त्वस्य पृथक्त्वैकत्वाभावः । यथा द्रव्यगुणकम्मैणां मेलकः समवायेन तस्य तेषु समवायः स्वरूपेण वर्तनात् तथा रूपादिभ्यः पृथक् पृथक्त्वमिति पृथक्त्वे पृथक्त्वस्वरूपेण वर्तनान्न पृथक्त्वस्य पृथक्त्वमिति । अनेकत्वस्वरूपादेकत्वञ्च नास्ति । द्वित्रादिनिष्ठं ह्यनेकत्वं सदैवानेकं न कदाप्येकं भवतीत्येकत्वाभावः पृथक्त्वस्य ।

अथ परिमाणं—परिमाणं नाम पुनर्मानमिति । मीयतेऽनेनेति मानं पञ्च-पृथक्त्वन्तु—इदं द्रव्यं षट्लक्षणं घटात् पृथगित्यादिका बुद्धिर्यतो भवति, तत् पृथक्त्वं स्यात् ; तच्चाचार्यस्त्रैविध्येनाह—पृथक्त्वमित्यादि । तत्र यत् सर्व्वथाऽसंयुज्यमानयोरिव मेरुहिमाचलयोः पृथक्त्वम्, एतदसंयोग इत्यनेनोक्तम् ; तथा संयुज्यमानानामपि पृथक्त्वं विजातीयानां महिषवराहादीनां, तदाह—वैलक्षण्यमिति, विंशष्टलक्षणयुक्तत्वेन लक्षितं विजातीयानां पृथक्त्वमित्यर्थः ; तथैकजातीयानामप्यविलक्षणानां भाषाणां पृथक्त्वं भवतीत्याह—अनेकतेति । एकजातीयेषु हि संयुक्तेषु न वैलक्षण्यं नाप्यसंयोगः, अथ चानेकता पृथक्त्वरूपा भवतीति भावः ; किंवा पृथक्त्वं गुणान्तरमिच्छन् लोकव्यवहारार्थमसंयोगवैलक्षण्यानेकतारूपमेव ।

यथोदाहृतं पृथक्त्वं दर्शयति मानं प्रस्थादकादि तुलादिमेवम् । करणं गुणान्तराधायकत्वं संस्करणमित्यर्थः, यदवक्ष्यति—“संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते” । भावस्तु

विधम्, महदणुह्रस्वदीर्घपरिमण्डलभेदात् । महतो विपरीतमणुः । अणुत्वमह-  
 त्वयोः अणुत्वमहत्त्वाभावः कर्मणुण्यव्याख्यातः । कर्म हि द्रव्याश्रितं कर्मान्त-  
 रानपेक्षं संयोगविभागकारणं समवायीत्युक्तम्, न तु कर्माश्रितं गुणाश्रितं  
 वोक्तम् । गुणश्च द्रव्याश्रितोऽप्यगुणवानुक्तः । तेन व्याख्यातोऽणुत्वस्याणुत्व-  
 महत्त्वाभावो महत्त्वस्याणुत्वमहत्त्वाभावः । यथा पञ्चाङ्गुलं दारु । दीर्घं महच्चतु-  
 रङ्गुलाद् दारुणः । पञ्चाङ्गुलादणु ह्रस्वश्च चतुरङ्गुलमिति पञ्चाङ्गुलस्य दारुणो महत्त्वं  
 दीर्घं द्वित्र्याद्यङ्गुलस्य दारुणोऽणुत्वं ह्रस्वमिति । अणुत्वमहत्त्वयोर्दध्यंहासपरिमाण-  
 मस्तीति उक्तमणुत्वमहत्त्वाभाव इति । एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते । यथाणुत्व-  
 महत्त्वयोरणुत्वमहत्त्वाभावो व्याख्यातस्तथा दीर्घत्वह्रस्वत्वयोर्दीर्घत्वह्रस्वत्वाभावो  
 व्याख्यातः । यथा पञ्चाङ्गुलं दारु दीर्घं सच्च द्वित्र्याद्यङ्गुलं ह्रस्वमणु चेति  
 पञ्चाङ्गुलदारुणो दैर्घ्यं महत् द्वित्र्याद्यङ्गुलस्य दारुणो ह्रस्वत्वमणु भवतीति दीर्घत्व-  
 ह्रस्वत्वयोर्दीर्घत्वह्रस्वत्वाभावः न तु महत्त्वाणुत्वाभाव इति । अत्र वात्स्यायन  
 उवाच—भावानां स्वभावसिद्धिर्नापेक्षिकत्वात् । ह्रस्वापेक्षाकृतं दैर्घ्यं दीर्घा-  
 पेक्षाकृतं ह्रस्वं न स्वेनात्मनावस्थितं किञ्चित् अपेक्षासामर्थ्यात् । तस्मान्न  
 स्वभावसिद्धिर्भावानामिति । व्याहतत्वादेतदयुक्तम् । यदि ह्रस्वापेक्षाकृतं  
 दीर्घं किमिदानीमपेक्ष्य ह्रस्वमिति गृह्यते ? अथ दीर्घापेक्षाकृतं ह्रस्वं दीर्घं तर्हि  
 चानापेक्षिकम् । एवमितरेतराश्रययोरेकाभावेऽन्यतराभावादुभयाभाव इति  
 अपेक्षाव्यवस्थाऽनुपपन्ना । स्वभावसिद्धावसत्यां समयोः परिमण्डलयोर्द्रव्ययोः  
 आपेक्षिके दीर्घत्वह्रस्वत्वे कस्मान्न भवतः ? अपेक्षायामनपेक्षायाम् च द्रव्ययोः  
 अभेदः । यावती द्रव्येऽपेक्ष्यमाणे तावती द्रव्ये एवानपेक्ष्यमाणे नान्यतरत्र  
 भेदः । आपेक्षिकत्वे तु सति अन्यतरत्र तु विशेषोपजनः स्यादिति । किम्  
 अपेक्षासामर्थ्यमिति चेद् ? द्वयोर्ग्रहणेऽतिशयग्रहणोपपत्तिः । द्वे द्रव्ये पश्यन्नेकत्र  
 विद्यमानमतिशयं गृह्णाति तदीधेमिति व्यवस्यति । यच्च हीनं गृह्णाति तद्  
 ह्रस्वमिति व्यवस्यति । एवञ्चापेक्षासामर्थ्यमिति । एवमणुत्वमहत्त्वयोरपि  
 बोध्यम् । इति । कणाद उवाच—अनित्येऽनित्यं नित्ये नित्यम् ।  
 नित्यं परिमण्डलमिति । अणुत्वमहत्त्वदीर्घह्रस्वनित्ये वस्तुन्यनित्यं  
 नित्ये नित्यं नित्यं परिमण्डलं नित्ये पूर्वतोऽनुवृत्तत्वात् । परिमण्डलमाकाशं

षष्टिकादेर्व्यायामादेश्चाभ्यसनमभ्यासः, अभ्यसनमेव लोकसिद्धाभ्यां पर्यायाभ्यां विवृणोति—  
 शीलनं सततक्रियेति, यं लोकाः शीलनसततक्रियाभ्यामभिदधति, सोऽभ्यास इति भावः ;



इति चतुर्णोक्त्या पुराः सर्व्वं परादयः ।

निश्चिन्ना येन विदितं नै यथावत् प्रवर्त्तते ॥ ३६ ॥

सर्व्वेनोपपन्नं नञ्चाकाशमित्यत्राजित्यम् । तथा परिमण्डलं सर्व्वं तत्रा-  
नित्यं परिमाण्डलयम् । न च परिमण्डलं महत्त्वायुक्तविशेषः । परि सर्व्वतो  
मण्डलं पागमण्डलयम् । सर्व्वेनो वस्तुने द्रव्ये गगने महत् सर्व्वं तणु ।  
तस्मात् परिमण्डले परिमण्डलाभाव इति न तणुमहदीर्घस्वत्वाभाव  
इति । अथ तद्वि वंसीयपनपवर्त्तितपक्वपाणकोलकपशुक्तिपक्वप्रतृतहृद्वादि-  
परिमाणं किं न परिमाणमिति चेत् ? गत्यम् । तत् परिमाणं हि गुरुत्तनिबन्धनं  
तुल्यक्रिययागुण्यं गुणवत्त्वं तस्य परिमाणं परिमाणम् । न त्वेतत् प्रकृतिभूतं  
परिमाणम् । न त्वाविकानुपपन्नपरिमाणनिबन्धनत्वाद् गुरुत्वस्यैव परिमाण-  
संज्ञा वाच्येति ।

अथ संस्कारः । संस्कारः करणं नत इति । वक्ष्यते च रसविमाने—  
करणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः । संस्कारो हि गुणाधान-  
मुच्यते । ते गुणास्तोयानिसन्निकपञ्चाचपन्थनदेशकालवशेन भावनादिभिः  
कालप्रकपभाजनैर्वादिभिश्चाप्यव्यन्ते । इति व्याख्यास्यते चेत्तद्विस्तरेण तत्रैवेति ।

अथाभ्यासः । आवाभ्यसनमभ्यासः शीलनं सततक्रियेति । भावाना-  
मभ्यसनमभ्यास आवृत्तिः । शीलनं पुनः पुनरनुष्ठानं सततकरणं  
क्रियासातत्यम् । येन देहमनोभ्यामेकीभूयाहाराचारविशेषफलं चिरमवतिष्ठते  
सोऽभ्यासः । यथा यदभ्यवहृतं, प्रतिदिनमन्नमभ्यस्तं देहेन सहैकीभूतं  
तत्फलं चिरमवतिष्ठते । यथा च श्लोकादिकं सततमुच्चारितं वाचा मनसा  
सहैकीभूतस्तद्वर्णात्मकध्वनिश्चिरमवतिष्ठते इति तत् पुनरुच्चार्य्यते स्मृतेति । तत्  
संस्कारहेतुरभ्यास इति । यत आहाराभ्यासेन शरीरं संस्कृतं भवति, शास्त्रा-  
ध्ययनेन मनः संस्कृतं भवति बुद्धिश्च संस्कृता सती निर्ममला भवतीति ।

इतीत्यादि । इति परादयः सर्व्वेऽभ्यासान्ता दश गुणाः  
स्वल्पक्षणेभिरुक्ता यैर्दशभिर्गुणैरविदितैर्यथावत् चिकित्सा वैद्यान् प्रवर्त्तते । इत्येतैः  
विदितैरेव गुणैर्वैद्याचिकित्सा यथावत् प्रवर्त्तते । ननु व्यवयिविकाशिनौ  
द्वौ गुणौ नोक्ताविहेति चेत् ? न । तीक्ष्णगुणविशेषत्वात् तयोस्तीक्ष्णेऽन्त-

अथ संयोगसंस्कारविशेषरूपोऽपि विशेषेण चिकित्सोपयुक्तत्वात् पृथगुच्यते । न यथावत्  
प्रवर्त्तत इति । वचनेन शब्दादिषु च गुर्वादिषु च परादीनामप्राधान्यं सूचयति ॥ ३६ ॥

गुणा गुणश्रया नोक्तास्त्वान्द्रु रसगुणान् विष्णुः ।

विभागः स्रव्यगुणान् कर्तुरभिप्रायाः पृथग्विधाः ॥

भावात् । ननु च कणादेन सप्त गुणाः परत्वादयः पठिताः । न तु युक्ति-  
संस्काराभ्यासाश्चयः किं चेत् ? सत्यम् । परत्वादयः सप्त गुणाः प्रकृति-  
गुणा न तु साध्यगुणाः सर्वत्रैव द्रव्यगुणकर्मणो वर्तन्ते इत्यभिप्रायेण प्रकृति-  
गुणपाठे पठितोक्तम्—‘पृथिव्या गन्धः, अपां रसः, तेजसो रूपम्’ । एतेन  
गुर्वादयो द्रवादय उभयादयश्च व्याख्यातम् । कारणगुणपूर्वकाः पृथिव्यादौ  
पाकजाः । पृथिव्यादिषु रूपरसगन्धजाः द्रव्यानित्यत्वात्तन्त्र्याः । एतेन  
नित्येषु नित्या उक्ताः । “यत्राः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागी  
परत्वापरत्वे कर्मणो च स्विद्रव्यसमवायिभावात्प्राणि” । “अस्मद्विषयाक्षुपाणि”  
संयोगविभागयोः संयोगविभागभावोऽप्युदाहरणभ्यां व्याख्यातः । गुणो  
विभाव्यते गुणेनानि । इति परत्वादिसप्तगुणेनानि प्रकृतिगुणः कार्यगुणोऽपि  
विभाव्यते । न तु पाकजगुणेन गुरुत्वादिना गुणो विभाव्यते । इति गुरुत्वादयः  
संस्काराभ्यासयुक्तयश्च कार्यगुणैस्तस्माद् कणादेन नोक्ता गुणपाठे ।  
इति ॥ ३६ ॥

**गङ्गाधरः—**अथ द्रव्येदाहुत्वा रसान् वक्तुं यथा वक्तव्यास्तं प्रकारमाह—  
गुणा इत्यादि । गुणा इति प्रकरणादिह पाथिवादीनां द्रव्याणां कार्यभूतानां  
कार्यगुणा गुरुत्वादयो “यत्राश्रिताः कर्मणो गुणाः कारणं समवायि यत् । तद्रव्यम्”  
इत्यनेन द्रव्याश्रिता एवोक्ताः । न तु कार्यगुणाश्रया उक्ताः । तस्मात् कार्य-  
गुणगुरुत्वाद्याश्रयत्वेनोपदेक्ष्यमाणानां रसानां मधुरादीनां गुणान् गुरुत्वादीन्

**चक्रपाणिः—**सम्प्रति रसानां परस्परसंयोगो गुण उक्तः, तथा चाऽग्रे स्निग्धत्वादिगुणो वाच्यः,  
स च गुणरूपरसे न सम्भवतीति यथा रसानां गुणनिर्देशो बोद्धव्यः, तदाह—गुणा इत्यादि ।  
गुणा गुणाश्रया नोक्ता इति । दीर्घजीवितीये “समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः” इत्यनेन,  
रसगुणानिति रसे स्निग्धत्वादीन् गुणान् निर्दिष्टान् तद् रसाधारद्रव्यगुणानेव विद्यात् । ननु,  
यदि द्रव्यगुणा एव ते, तत् किमिति रसगुणत्वेनोच्यन्त इत्याह—कर्तुरिति तन्त्रकर्तुः, अभिप्राया  
इति । तत्र तत्रोपचारेण तथा सामान्यशब्दादिप्रयोगेण तन्त्रकरणबुद्ध्यः, सामान्यशब्दोपचारादि-  
प्रयोगश्च प्रकरणादिवशादेव स्फुटत्वात् तथा प्रयोजनवशाच्च क्रियते, तच्च प्रकरणादि, “अतश्च  
प्रकृतं बुद्धा” इत्यादौ दर्शयिष्यामः, इह च द्रव्यगुणानां रसेषु यदुपचरणं, तस्यायमभिप्रायः—  
यत्—मधुरादिनिर्द्देशेनैव स्निग्धत्वादिगुणा अपि प्रायो मधुराद्यव्यभिचारिणो द्रव्ये निर्दिष्टा  
भवन्तीति न मधुरत्वं निर्दिश्य स्निग्धत्वादिप्रतिपादनं पुनः पृथक् क्रियत इति ।

अतश्च प्रकृतिं\* बुद्ध्या देशकालान्तराणि च ।

तन्त्रकर्तुरभिप्रायानुपायः श्वार्थसादिशेत् ॥ ३७ ॥

षट् विभक्तीः प्रवक्ष्यामि रसानामत उत्तमम् ।

षट् पञ्चभूतप्रभवाः संख्याताश्च यथा रसाः ॥ ३८ ॥

काव्यगुणान् तद्रसाश्च द्रव्यगुणान् विद्यात् । ननु किमर्थमेवमुपदेक्ष्यन्ति रसांस्तत्तद्रव्याणां तांस्तान् गुणान् रसांश्च तांस्तान् पृथक् पृथगेवोपदेष्टुं नेच्छेदिति ? अत्र उच्यते—कर्तुरभिप्रायाः पृथग्विधाः । इति । यो यत्तन्नस्य कर्त्ता तस्य तस्याभिप्रायाः पृथक्पृथक्प्रकारा भवन्ति न त्वेकप्रकाराः । यो हि यथाकरणे तन्नस्य मृचनं बुध्येत स तथा रचनां करोति । तस्मात् तन्नस्य प्रकृतिं प्रथममुपक्रमे या प्रकृतिर्भवति तां प्रकृतिं प्रकरणं यद्देशान्तरे यत्कालान्तरे तत्तन्त्रोपदेक्षस्तद्देशान्तरं कालान्तरञ्च बुद्ध्या ततस्तत्तन्नकर्तुरभिप्रायानुपायः तन्नयुक्ती बुद्ध्या तन्नस्यार्थं व्याख्याता बुध आदिशेत् । इति । तस्मादस्य तन्नस्य कर्तुरेवमेवाभिप्रायो बोध्यः । रसगुणोपदेशेन द्रव्यगुणा उपदेक्ष्यन्ते । इति । तथैव चोपदेक्ष्यमाणे रसे प्रतिज्ञाते प्राक् तच्चैव कारणमवेक्षमाणाः षण्णां रसानां परस्परेणासंसृष्टानां लक्षणं पृथक्त्वमुपदेक्ष्याम इति ॥ ३७ ॥

गङ्गाधरः—तदुपदेष्टुमाह—पड़ित्यादि । रसानां विभक्तीर्विभागान् षट् प्रवक्ष्यामि । यथा च पञ्चभूतप्रभवाः षट् रसाः सङ्ख्याताः तत्प्रकारांश्च प्रवक्ष्यामि । इति ॥ ३८ ॥

अभिप्रायपृथक्त्वे सति यथा ग्रन्थो बोद्धव्यस्तदाह—अतश्चेत्यादि । तन्न प्रकृतं बुद्ध्या यथा—“क्षाराः क्षीरं फलं पुष्पम्” इत्यत्र उद्भिद्गणश्च प्रकृतत्वात् “क्षीरम्” इति स्नुह्यादिक्षीरमेव क्षीरशब्देन वदेत् ; देशान्तरं बुद्धेति यथा—शिरसि शोधनेऽभिधीयमाने “क्रिमिव्याधौ” इति, तत् शिरोगतक्रिमिव्याधावेव भवति ; कालान्तरे यथा—वसनकालेऽभिहितं “प्रतिग्रहंश्चोषहारयेद्” इति, तत्र प्रतिग्रहशब्देन पात्रमुच्यते, न तु ग्रहणं प्रतिग्रहः ; तन्त्रकर्तुरभिप्रायानिति यथोक्तं । रसेषु गुणारोपणे तद्बोद्धव्यम् ; उपायानिति शास्त्रोपायान् तन्त्रयुक्तिरूपान् इति ; अर्थमभिधेयम् ; यद्यपि प्रकृतादयोऽपि तन्त्रकर्तुरभिप्राया एव, तथापि यत्र प्रकृतत्वादि न स्फुटं प्रत यते, तत्र तन्त्रकर्तुरभिप्रायत्वेन बोद्धव्यम् ॥ ३७ ॥

चक्रपाणिः—षट् विभक्तीरिति । मधुरादिषट् विभागानित्यर्थः ; षट् पञ्चभूतप्रभवा इति

\* प्रकृतमिति चक्रः ।

सौम्याः खल्वापोऽन्तरीक्षप्रभवाः प्रकृतिशीता लघ्व्यश्च  
अव्यक्तरसास्वन्तरीक्षाद् भ्रश्यमानाः । भ्रष्टाश्च पञ्चमहाभूत-  
विकारगुणसमन्विजङ्गमस्थावराणां भूतानां मूर्त्तीरभि-  
प्रीणयन्ति । तासु च मूर्त्तिषु षडभिर्मूच्छन्ति रसाः । तेषां  
षण्णां रसानां सोमगुणातिरेकान्मधुरो रसः । भूम्यग्नि-

गङ्गाधरः—तद्यथा पञ्चभूतप्रभवत्तमादावाह—सौम्या इत्यादि । सोमश्चन्द्रमा-  
स्तस्येमा इति सौम्याः । आपः खल्वन्तरीक्षप्रभवा आकाशादाद्यप्रकाशाः  
प्रकृत्या स्वभावेन शीताः । लघ्व्यश्च प्रकृत्यैव गुरुत्नविबन्धनतोलव्यवहारे यतो  
यतो यद् यद्गुरु ततस्ततस्तत्तद् यल्लघु भवति तालव्यवहारे तथाविधा लघ्व्यो-  
ऽन्त्या अपकृष्टगुरुत्ववत्यः । न तु वायुतेजोवल्लघ्व्य इति । एतदभिप्रायेण  
केचिज्जलं गुरुत्वम् आहुः । अव्यक्तरसाः षण्णां रसानां साम्येन मेलनाद्-  
यथाभूतो रसः स्यात् तथाभूताव्यक्तरसाः । ईदृशाः सौम्या आपोऽन्तरीक्षात्  
सोममण्डलाद् प्रच्युता आकाशाद् भ्रश्यमानास्ततः क्रमेण भ्रष्टा भूमावपतन्त्य  
एवान्तरीक्षे स्थिताः पञ्चमहाभूतगुणविकारगुणसमन्विताः । तत्काले पञ्च-  
महाभूतानां विकारभूता एतदाकाशपवनाकेचन्द्रास्तथा सनतमाकाशं समुड्डीय-  
माना भामास्त्रसरेणवस्तेषां गुणगुरुत्वादिसमन्विताः सत्यस्तद्व्यंगानां  
सेन्द्रियाणां प्राणिनां मनुष्यादीनां स्थावराणाञ्च वृक्षादीनां मूर्त्तीरभि-  
प्रीणयन्ति । तासु च जङ्गमस्थावराणां मूर्त्तिषु तार्भराद्भिः प्रीयमाणानु ताभ्य  
एवाद्भिः पट्टरसा अभिमूच्छन्ति व्यक्तोभावनापद्यन्त । कथामात ? अत  
उच्यते—तेषामित्यादि । तेषां षण्णां रसानां मध्य मधुरा रसः सोमभूत-  
गुणातिरेकात् पञ्चमहाभूतगुणसमवाये साम्योदकप्रीणन सति जलभूम्याः  
पञ्चभूतप्रभवाः सन्तो यथोक्तेन प्रकारेण “सोमगुणातिरेकाद्” इत्यादिना संख्याताः षट्संख्या-  
परिच्छिन्ना भवन्ति, तथा वक्ष्यामीति योजना ॥ ३८ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति रसानामादिकारणमेव तावदाह—सौम्या इत्यादि । सौम्याः सोम-  
देवताकाः, भ्रश्यमाना इति वदता भूमिसम्बन्धव्यतिरेकेणान्तरोक्षेरितैः पृथिव्यादिभिः  
परमाण्वादिभिः सम्बन्धो रसारम्भको भवतीति दर्शयते ; मूर्त्तीरिति व्यक्तीः, अभिप्रीणयन्तीति  
तर्पयन्ति, किंवा जनयन्ति ; अभिमूच्छन्ति रसा इति व्यक्तिं यान्ति ; अत्र चान्तरीक्षमुदकं  
रसकारणत्वे प्रधानत्वाद्भूतम्, तेन क्षितिस्थमपि स्थावरजङ्गमोत्पत्तौ रसकारणं भवत्येव ।

सोमगुणातिरेकादिति अतिरेकशब्देन सर्वेष्वेव रसेषु सर्वभूतस्य सान्निध्यमस्ति,



भूयिष्ठत्वात् कटुकः । वाय्वाकाशातिरिक्तत्वात् तिक्तकः ।

चाम्ले द्रव्येऽग्निगुणबाहुल्ये जलभूम्योः साम्येनोभयरसादम्लः । लवणे द्रव्ये-  
ऽप्यग्निगुणबाहुल्ये भूमिगततोयभूतगुणरसबाहुल्यादुदकरसस्यालपत्वे लवणः  
स्यादिति भेदः । अत एवापामल्पत्वादक्ष्यते । उष्णानामुष्णत्वाल्लवणः परो  
मध्योऽम्लः कटुकश्चान्त्य इति । अम्लो द्विदोदकस्याधिक्यादग्निगुणस्य तन्-  
समत्वान्मध्योष्ण इति । वाय्वग्निभूयिष्ठत्वात् कटुक इति । रसस्य योनि-  
रुदकं तस्माद् भूम्याकाशन्यूनोदकमध्यवाय्वग्निगुणबाहुल्यादुदकभूमिगतरसः  
सौम्योदकप्रीयमाणो विक्रियमाणोऽल्पोष्णवीर्यत्वेन कटुक उत्पद्यते । सुश्रुते-  
ऽप्येवमुक्तम् । वाय्वाकाशातिरिक्तत्वात् तिक्तक इति । रसस्य योनिरुदकम्  
इत्युक्तम् । तस्माद् यस्यां पाञ्चभौतिक्यां मूर्त्तौ तदारम्भकाणां पञ्चानां  
भूतानां द्वे तेजोभूमी न्यने उदकं मध्यमं वाय्वाकाशौ बहुलौ तस्यां जायमानायां  
सौम्योदकप्रीयमाण उदकस्याव्यक्तो रसो विक्रियमाणोऽभिव्यज्यते तिक्तक  
एव । सुश्रुतेऽप्येवमुक्तम् । पवनपृथिव्यतिरेकात् कषाय इति । अत्रापि  
रसस्य योनिरुदकमिति । यस्यां मूर्त्तौ पञ्चभिभूतैरारभ्यमाणायां सौम्यो-  
दकप्रीयमाणायाम् आकाशतेजसी न्यूने मध्यममुदकं पवनपृथिव्यावतिरिक्ते  
तस्यां जायमानायां तदुदकभूमिगतो रसो विक्रियमाणोऽभिव्यज्यते कषाय  
एव । सुश्रुतेऽप्येवमुक्तमिति । एतेन बाह्ये तोयाग्नियोगाहोष्ट्राग्नियोगाच्चाम्ल-  
लवणभावोपपत्तिनिरस्ता आरम्भाभावात् सौम्योदकप्रीयनाभावाच्च ।

अथैवमन्तरीक्षप्रभवसौम्योदकस्य रसाभिव्यक्तौ यद् हेतुत्वमुक्तं तन्न गर्भे  
बालकशरीरस्य रसोत्पत्तौ । तत्र मातुराहारगतमुदकं कारणम् । अनयैव रीत्या  
व्याख्येयम् । विषादिष्वव्यक्तरसाभिनिवृत्तौ तथाणुरसाभिव्यक्तौ चैतया  
रीत्या भूतानां न्यूनाधिकतया संयोगे तदुदकस्य रसो हेतुरुन्नेयः । यथा  
प्राधान्येनात्रो पक्वे मधुरो जायते सोमगुणातिरेकात् तथाम्लोऽपि न्यूनांश-  
भूम्यग्निगुणबाहुल्यादल्पो जायत इति । समानरूपेण षट्सु रसेषु जायमानेषु  
मेलनाद् विषादावव्यक्तरूपेण वर्त्तन्ते षड्रसा न तु षड्भ्योऽतिरिक्त उक्तः ।  
अव्यक्तीभावस्तु खलु रसानां प्रकृतौ भवति । अणुरसेऽणुरससमन्विते वा द्रव्ये  
इति । यत्र सोमगुणातिरेकान्मधुरो जायते तत्र चेन्न्यूनत्वेन भूम्यग्निगुणबाहुल्यं

तोयवातादिसंयोगादिभ्यः किमिति रसान्तराणि नोत्पद्यन्त इति, तदपि भूतस्वभावापर्यनु-  
योगादेव प्रत्युक्तम् ; इह च कारणत्वं भूतानां रसस्य मधुरत्वादिविशेष एव निमित्तकारणत्वम्

पवनवृथिव्यतिरेकात् कषायः । एवमेपां पण्णां रसानां पट्त्व-  
मुपपन्नं न्यूनातिरेकविशेषान्महाभूतानाम् । भूतानामिव  
स्थावरजङ्गमानां नानावर्णाकृतिविशेषः । पट्टतुक्त्वाच्च काल-  
स्योपपन्नो महाभूतानां न्यूनातिरेकविशेषः ॥ ३६ ॥

वचने तदाम्लश्च जायते । यदि तोयाग्निगुणबाहुल्यमवराणां वर्त्तते तत्र  
लवणश्च जायते । तत्र चेद्वाय्वग्निगुणबाहुल्यं वर्त्तते तदाणुकटुको जायते ।  
इत्येवं त्रिपट्टिधा रसः सम्पद्यते । इति । तदाह—एवमेपामित्यादि ।  
एवमुक्तरूपेण महाभूतानामारम्भकाणां न्यूनातिरेकविशेषात् प्राधान्यमध्यम-  
न्यूनादिविशेषात् पण्णां रसानां प्रधानाप्रधानानां पट्त्वमेवोपपन्नं भवति ।  
तत्र दृष्टान्तः—भूतानामिवेत्यादि । यथा स्थावरजङ्गमानां भूतानां प्राणिनां  
महाभूतानां न्यूनातिरेकविशेषान्नानावर्णाकृतिविशेषो जायते तद्वत् । कुत एवं  
भूतानां न्यूनातिरेकविशेषः स्यादिति ? अत उच्यते—पट्टतुक्त्वादित्यादि ।  
कालस्य पट्टतुक्त्वात् तु महाभूतानां तत्र तत्र रसोत्पत्तौ न्यूनातिरेकविशेषः  
स्यात् । हेमन्तः सौम्यः शिशिरश्च सौम्यः । सौम्याग्नेयो वसन्तः । आग्नेयो  
ग्रीष्मः । वर्षाश्च सौम्याग्नेयवायव्याः । शरत् सौम्याग्नेयी । इति । तेषां  
विशेषश्च वायव्यकसौमेभ्यो भवति । तेषां बलाबले हेतुश्चक्रवर्धमणस्वभावः  
काल इति प्रागुक्तं तस्याशितयी—तावेतावकवायू सोमश्च कालस्वभाव-  
मागपरिगृहीताः कालचतुरसदोपदेहवल्निवृत्तिप्रत्ययभूताः समुपदिश्यन्ते ।  
इति ॥ ३९ ॥

उच्यते, तेन नोरसानामपि हि दहनादीनां कारणत्वमुपपन्नमेव व्युत्पादितम् । रसभेदं  
दृष्टान्तेन साधयन्नाह—एवमित्यादि । रसानां पट्त्वं महाभूतानां न्यूनातिरेकविशेषात्  
सोमगुणातिरेकवृथिव्यग्न्यतिरेकादेः षड्वत्पादककारणादुपपन्नम्, षडभ्यः कारणेभ्यः पट् कार्याणि  
स्युरिति युक्तमेवति भावः । भूतानामित्यादि । भूतानां यथा नानाकृतिवर्णविशेषो महाभूतानां  
न्यूनातिरेकविशेषात् तथा रसानामपीत । भूतानां यथोक्तानामतिरेकविशेषहेतुमाह—पट्टतुक्त्वात्  
इत्यादि । पट्टतुक्त्वेन कालो नाना हेमन्तादिरूपतया किञ्चिद्भूतविशेषं क्वचिद् बर्द्धयति, स  
चात्मकार्यं रसं पुष्टं करोति, यथा—हेमन्तकाले सोमगुणातिरेको भवति, शिशिरे वायवा-  
काशातिरेकः, एवं तस्याशितयीोत्तरसोत्पादक्रमेण वसन्तादावपि भूतोत्कर्षो ज्ञेयः, षड्तुकाच्चेति  
चकारेणाहोरात्रकृतोऽपि भूतोत्कर्षो ज्ञेयस्तथाऽदृष्टकृतश्च, तेन हेमन्तादावपि रसान्तरोत्पादः क्वचिद्  
वस्तुन्युपपन्नो भवति, यद्यपि च ऋतुभेदेऽपि भूतोत्कर्षविशेष एव कारणं, यदुक्तम्—“तावेतावक-

तत्राग्निमास्तृतात्मका रसाः प्रायेणोद्धृभाजः । लाघवात्  
प्लवनत्वाच्च वायोरुद्ध्वज्वलनत्वाच्चाग्नेः । सलिलपृथिव्यात्म-  
कास्तु प्रायेणाधोभागभाजः पृथिव्या गुरुत्वान्निम्नगत्वाच्च  
उदकस्य । व्यामिश्रात्मकाः पुनरुभयतोभागभाजः ॥४०॥

गङ्गाधरः—एवं रसवतां द्रव्याणां पाञ्चभौतिकानां मध्ये यत्र द्रव्य  
वत्तेनोऽग्निमास्तृतात्मका रसाः कटुकाः प्रायेणोद्धृभाजः, कस्मात् ?  
वायोर्लाघवात् प्लवनत्वाच्च । प्लवते य उपरि उद्गच्छति स प्लवनस्तत्त्वात्, अग्ने-  
श्चोद्ध्वज्वलनत्वाच्च । प्रायेणेत्युक्त्या कचिद्रव्ये ऊर्द्धभाजो न भवन्ति ।  
सलिलेत्यादि । ये च सलिलपृथिव्यात्मका मधुरा रसास्ते तु प्रायेणाधो-  
भाजो विरेचकाः, कस्मात् ? पृथिव्या गुरुत्वादुदकस्य निम्नगत्वाच्च ।  
प्रायेणेत्युक्त्या कचिन्नाधोभाजः । व्यामिश्रात्मकाः पुनरुभयद्वया भूम्यग्नि-  
भूयिष्ठतोयाग्निभूयिष्ठाः, तिक्तकषाया वाय्वाकाशभूयिष्ठवायुपृथिवीभूयिष्ठा  
उभयभागभाज ऊर्द्धभागाधोभागभाजः । एतेन वायोः कस्मै प्लवनं तेजस ऊर्द्ध-  
ज्वलनमपां निम्नगमनं पृथिव्याः शनैर्गमनमिति ख्यापितम् । ननु यथा सोम-  
गुणातिरेकान्मधुरः भूम्यग्निगुणवाहुल्यादम्ल इत्येवमादयः षड्रसा द्विद्विभूत-  
गुणाधिक्यात् तथान्येऽपि द्विद्विभूतगुणाधिक्यात् सम्भवन्ति रसाः । तद्यथा—  
भूम्यम्बुगुणवाहुल्यादेकः । वाय्वम्बुगुणवाहुल्यादेकः । तोयाकाशवाहुल्यादेकः ।  
वह्नाकाशवाहुल्यादेकः । भूम्याकाशवाहुल्यादेकः । भूमिवायुवाहुल्यादेकः ।  
इत्येवं रसाः षड्भ्योऽधिकाः कथं न भवन्ति ? अत्रोच्यते—भावस्वभावनित्य-  
त्वान्मधुरादयः षडेव रसास्तथाभूतद्विद्विभूतगुणाधिक्याद्भवन्ति । न त्वन्यथा  
द्विद्वित्रिचतुश्चतुर्भूतगुणाधिक्ये । इति ॥ ४० ॥

वायूँ इत्यादि, तथापि बीजाङ्कुरकार्यकारणभाववत् संसारानादितयैव भूतविशेष ऋत्वोः  
कार्यकारणभावो वाच्यः ॥ ३९ ॥

चक्रपाणिः—भूतविशेषकृतं रसानां धर्मान्तरमाह—तत्रेत्यादि । प्रायेणेति न सर्वे,  
रसा इति रसयुक्तानि द्रव्याणि ; प्लवनत्वादिति गतिमत्त्वात्, यद्यपि गतिरधोऽपि स्यात्,  
तथापि लघुत्वपरिगतिरिह वायोरुद्ध्वमेव गमनं करोति, यथा—शास्मलीतूलानाम् । हेत्वन्तर-  
माह—ऊर्द्धज्वलनत्वाच्चाग्नेरिति, अग्नेरप्यूर्द्धगतित्वादित्यर्थः ; निम्नगत्वमधोगत्वमेव ॥ ४० ॥



तेषां पण्णां रसानामेकैकस्य यथाद्रव्यं गुणकर्माण्यनु-  
व्याख्यास्यामः । तत्र मधुरो रसः शरीरसात्म्याद्रसरुधिरमांस-  
मेदोऽस्थिमज्जौजःशुक्राभिवर्द्धन आयुष्यः षडिन्द्रियप्रसादनो  
बलवर्णकरः पित्तविषमारुतघ्नस्तृष्णाप्रशमनः त्वच्यः कण्ठ्यो  
केश्यः प्रीणनः जीवनस्तर्पणो वृंहणः स्थैर्यकरः क्षीण-  
क्षतसन्धानकरो घ्राणमुखकण्ठोष्ठजिह्वाप्रह्लादनो दाहमूर्च्छा-

तद्वाच्यः—इत्येवं भौतिकभावेन रसानामूद्बोध उभयभागप्रेरणकर्माण्युक्तत्वा  
यथाद्रव्यं यस्य रसस्याश्रयो यद्रव्यं तद्रव्यस्य गुणकर्माण्यभिप्रेत्य पण्णां  
रसानामेकैकस्य रसस्य गुणकर्माण्यनुव्याख्यास्यामः इति प्रतिजानीते—  
तेषां पण्णामित्यादि । रसानामेकैकस्य गुणकर्माणि खलु तद्रसाश्रयद्रव्यस्य  
गुणकर्माणि ।

तत्रेत्यादि । तेषु षट्सु रसेषु मध्ये मधुरो रसः श्रेष्ठत्वादादौ  
कम्मत उच्यते । शरीरसात्म्यात् शरीररसस्य समानतया शरीरेण सहात्मी-  
भावस्वभावाद्रसादिसप्तधात्वौजसां वर्द्धनः । येन रसेन द्रव्यमेतानि वर्द्धयति  
स रसो रसादिवर्द्धनः । आयुष्यः प्रभावात् । षडिन्द्रियप्रसादनः । मनस  
इन्द्रियत्वेनाप्रतिषेधादनुमतत्वादिह षडिन्द्रियेत्युक्तम् । बलवर्णकरः । पित्तविष-  
मारुतघ्नः । तृष्णाप्रशमनः । प्रीणयतीति प्रीणनः प्राणकरः । जीवन इति  
जीवयतीत्यायुष्यत्वोक्त्या न पुनरुक्तम् । इह हि मूर्च्छाद्यभिभूतानां सद्यो  
जीवनरक्षणं जीवनमायुष्यत्वं कालप्रकर्षेणायुषो हितत्वं । तर्पणस्तृप्तिकरः ।  
क्षीणस्य क्षतस्य च सन्धानं करोति भग्नसंयोगं करोति । घ्राणादीनां प्रह्लादनः ।  
दाहमूर्च्छाप्रशमनः । षट्पदादीनामिष्टतमः इति (यदुक्तं तन्मूत्रशरीररसपरीक्षार्थम्)

चक्रपाणिः—यथाद्रव्यमिति । यद् यस्य रसस्य द्रव्यमाधारस्तदनतिक्रमेण, एतेन रसानां गुण-  
कर्माणि रसाधारद्रव्ये बोद्धव्ये इति दर्शयति । तत्रेत्यादिना मधुर आदावुच्यते प्रशस्त्यायुष्यादि-  
गुणतया प्रायः प्राणिप्रियतया च ; षडिन्द्रियाणि मनसा समम्, जीवोऽभिधातादिमूर्च्छितस्य  
जीवनः ; आयुष्यस्त्वायुःप्रकर्षकारित्वेन, क्षीणस्य सन्धानकरो घ्राणपोषकत्वेन, किंवा क्षीणश्चासौ  
क्षतश्चेति ; तेन क्षीणक्षतस्य हरःक्षतं सन्दधाति ; षट्पदाद्यभीष्टत्वगुणकथनं प्रमेहपूर्वकृपादि-

प्रश्मनः पट्पदपिपीलिकानामिष्टतमः स्निग्धः शीतो  
गुरुश्च ॥ ४१ ॥

स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः स्थौल्यमाहवा-  
लस्यातिस्वप्नगौरवम् अनन्नाभिलाषम् अग्निदौर्व्रत्यमास्य-  
कण्ठयोर्मांसाभिवृद्धिम्, तथा श्वासकासप्रतिश्यायालसक-  
विसूचिका-शीतज्वरानाहास्य-माधुर्य-वमथु-संज्ञा-स्वर-प्रणाश-  
गलगण्डगण्डमाला-श्लीपद्-गलशोथ-वस्तिधमनी-गलोपलेपा-  
क्ष्यामयाभिष्यन्दान् इत्येवंप्रभृतीन् कफजान् व्याधीन्  
आपादयति ॥ ४२ ॥

अम्लो रसो भक्तं रोचयति अग्निं दीपयति देहं वृंहयति

कर्माणि । गुणास्तु—स्निग्धः शीतो गुरुश्चेति । मधुररससमानाधिकरणाः  
स्निग्धादयस्त्रयो गुणा रसादिवद्धेनादीनि च कर्माणि । तेन मधुररसद्रव्य-  
गुणा ये ते गुणाः कर्माणि चतानि विद्यात् ॥ ४१ ॥

गङ्गाधरः—अस्यातियोगे दोषानाह—स एवंगुण इत्यादि । एवमुक्त्वा  
गुणा गुणकर्माणि यस्य स एवंगुणोऽपि मधुरो रसोऽत्यर्थमुपयुज्यमान एक  
एव स्थौल्यादीन् कफजान् व्याधीन् आपादयति । न तु सम्यग्योगेनायोगेन  
मिथ्यायोगेन वा, नवा अन्यरससहातिमात्रयोगेन । आस्यकण्ठयोर्मांसाभि-  
वृद्धिम् । शीतज्वरः शीतयुक्तज्वरः । संज्ञास्वरयोः प्रणाशः । गलशोथो गले  
उत्सेधमात्रं गलशुण्ड्यादिकं न तु गलगण्डः । वस्त्यादुत्रपलेपः । अक्ष्यामया अक्षि-  
रोगाः । अभिष्यन्दो मुखनासादिस्रावो न तु नेत्राभिष्यन्दो नाना रोगविशेषो-  
ऽक्ष्यामयवचनेन तस्योक्तत्वादिति ॥ ४२ ॥

गङ्गाधरः—प्रह्लादसाधर्म्यात् हृदयतर्पणमम्लरसं कर्मगुणाभ्यामाह—अम्लो

ज्ञानोपयुक्तं, यदुक्तम् ‘मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च’ इति, तथा रिष्टे वक्ष्यति—“मक्षिका-  
कान्तम्” इति, अनेन च मधुरत्वं ज्ञायते ; अक्ष्यामयेनैवाभिष्यन्दे लब्धे विशेषोपादानाथ  
पुनर्वचनं, किंवा, अभिष्यन्दो नासादिष्वपि ज्ञेयः ॥ ४१॥४२ ॥

चक्रपाणिः—हृदयं तर्दयतीति हृद्यो भवति, शुक्लरूपकर्दयतीति सारयति, बलेदयति तथा

ऊर्जयति मनो बोधयति इन्द्रियाणि दृढीकरोति बलञ्च  
वर्द्धयति वातमनुलोमयति हृदयं तर्पयति आस्यमास्त्रावयति  
भुक्तमपकर्षयति क्लेदयति जरयति प्रीणयति लघुरुष्णः  
स्निग्धश्च ॥ ४३ ॥

स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो दन्तान् हर्षयति  
तर्पयति संमीलयत्यक्षिणी संबीजयति रोमाणि कफं विलास-  
यति पित्तमभिवर्द्धयति रक्तं दूषयति मांसं विदहति कायं  
शिथिलीकरोति क्षीणजतदुर्बलानां \* श्वथुमापादयति । अपि  
च क्षताभिहतदृष्टदग्धभग्नशूलप्रच्युतावमूत्रितपरिसर्पितच्छिन्न-

रस इत्यादि । ऊर्जयति संन्यासादिभिरचेतनस्य मनसः प्रबोधनपूर्वकजीवनं  
स्थापयति । मनो बोधयति मूर्च्छादिभिरचेतनं मनो बोधयति । इन्द्रियाणि  
दश । स्वेषु कर्मसु । बलञ्च वर्द्धयति मनोबोधकत्वात् पार्थिवत्वाच्च । वातमनु-  
लोमयति पार्थिवत्वेन गुरुत्वात् । हृदयं तर्पयति हृदयस्थमनस्तर्पणात् । आस्य-  
मास्त्रावयति आग्नेयत्वेन तीक्ष्णत्वात् । भुक्तमपकर्षयति स्वप्रभावादधस्तात्  
नयति, भुक्तं क्लेदयति भुक्तं जरयति । प्रीणयति प्रीणनं करोति । इत्येवं  
कर्म । अम्लो रसो लघुरुष्णः स्निग्धः । लघूष्णस्निग्धसमानाधि-  
करणः । लघ्वादयो गुणास्त्रयोऽम्लरसद्रव्ये वर्तन्ते । भक्तरोचनादीनि च  
कर्माणि ॥ ४३ ॥

गङ्गाधरः—अतिमात्रोपयोगे दोषमाह—स एवंगुण इत्यादि । सोऽम्लो  
रसः सम्यग्योगयुक्त एवंगुणोऽपि एक एवायमम्लरसोऽत्यर्थमुपयुज्यमानो  
दन्तान् हर्षयति । अक्षिणी संमीलयति मुद्रीकरोति । लोमानि संबीज-  
यति उद्गमयति । कफं विलासयति गालयति । पित्तमभिवर्द्धयति । रक्तं  
दूषयति । मांसं विदहति । कायं शिथिलीकरोति । दुर्बलानां श्वथु-  
मापादयति । अपि च क्षतादीनि पाचयति आग्नेयस्वभावात् ।

जरयति भुक्तमेव । अवमूत्रितं मूत्रविषैर्जन्तुभिः, परिसर्पितञ्च स्पर्शविषैः कारुण्डा-  
दिभिः ॥ ४३।४४ ॥

भिन्नविश्लिष्टोद्विद्धोतिष्ठादीनि पाचयति, आग्नेयस्वभावात्  
परिदहति कण्ठमुरो हृदयञ्च ॥ ४४ ॥

लवणो रसः पाचनः क्लेदनो दीपनश्च्यवनश्छेदनो भेदन-  
स्तीक्ष्णः सरो विकश्ययः स्रंस्यवकाशकरो वातहरः स्तम्भवन्ध-  
संघातविधननः सर्वरसप्रत्यनीकभूत आस्यमास्त्रावयति कफं  
निष्यन्दयति मार्गान् विशोधयति सर्वशरीरावयवान् सृष्टू-  
करोति राचयत्याहारयोगी नात्यर्थं गुरुः स्निग्ध उष्णश्च ॥ ४५ ॥

स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः पित्तं कोपयति  
रक्तं वद्धेयति तर्षयति मूच्छयति मोहयति तापयति दारयति  
अवमृत्रितं सूत्रविषप्राणिभिर्मूत्राते यत्र गात्रप्रदेशे । परिसपितं सविष-  
प्राणिभिः स्पृष्टं छिन्नं द्विधाभूतं शस्त्रेण । भिन्नं शङ्कुनाशये विद्धम् ।  
विश्लिष्टमभिघातादिना विभक्तरूपम् । उद्विद्धमूढेतो विद्धं कण्टकादिना ।  
उत्पिष्टं शिलादिभिरुपरिष्ठात् पिष्टम् । तथाग्नेयस्वभावात् कण्ठं परिदहति  
हृदयञ्च परिदहतीत्यभ्यातियोगनिमित्तं कर्म । समानहीनमिथ्यायोगेभ्यस्तु  
नैवत्र, न वा रसान्तरसहितोपयोगाच्चेति ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः—आग्नेयस्वभावस्य लवणस्य कर्मगुणानाह—लवणो रस  
इत्यादि । च्यवनः स्रावकरः । विकाशी तीक्ष्णप्रभेदः—“विकाशी विकशत्येव  
सन्धिवन्धं विमोक्षयन्” इति । अयःसंसी विष्यन्दनशीलः । अवकाशकरः  
स्रावादिकरणादाकाशांशप्रकाशकरः । स्तम्भादिविधमनः विनाशनः । सर्व-  
रसप्रत्यनीकभूतः सर्वेषां रसानां परिभवकरः । दृश्यते हि यत्र लवणोऽति-  
मात्रस्तत्र रसान्तरस्य न व्यक्तता । आहारयोगी आहारद्रव्यसंस्कारकरत्वेन  
उपयोगशीलः । इति लवणरसद्रव्यस्य लवणरसद्वारा कर्माणि । गुणास्तु  
नात्यर्थं गुरुः स्निग्ध उष्णश्च ॥ ४५ ॥

गङ्गाधरः—अस्यात्यर्थोपयोगे दोषमाह—स एवंगुण इत्यादि । सम्यग्-  
योगेनैवमुक्तप्रकारगुणकर्मपि स लवणो रस एक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः पित्तं  
कोपयति । रक्तं वद्धेयति । तपयति । मूच्छयति तमः प्रवेशयति । मोहयति

चक्रपाणिः—विकाशी क्लेदच्छेदनः, अयःसंसी विष्यन्दनशीलः, सर्वरसप्रत्यनीकभूत इति

कुण्ठाति मांसानि प्रगालयति कुष्ठानि विषञ्च वर्द्धयति शोफान् स्फोटयति दन्तांश्च्यावयति पुंस्त्वमुपहन्ति इन्द्रियाण्युप-  
रुणद्धि पलिपलितस्खालित्यमापादयति । अपि च लोहितपित्ता-  
म्लपित्तविसर्पवातरक्तविचर्च्चिकेन्द्रलुप्तप्रभृतीन् विकारान् उप-  
जनयति ॥ ४६ ॥

कटुको रसो वक्त्रं शोधयति अग्निं दीपयति भक्तं शोषयति  
घ्राणमास्त्रावयति चक्षुर्विरेचयति स्फुटीकरोतीन्द्रियाणि अल-  
सकश्चयथूपचयोदर्दाभिष्यन्दस्नेहस्वेदप्लेदमलानुपहन्ति रोच-  
यत्यशनम् कण्डूं विलालयति घ्राणानवसादयति क्रिमीन्  
हिनस्ति मांसं विलेखयति शोणितसङ्घातं भिनत्ति बन्धान्

वैचित्त्यं जनयति । मांसानि कुण्ठाति हिनस्ति । कुष्ठानि प्रगालयति ।  
विषं भुक्तं शरीरस्थं वर्द्धयति । शोफान् स्फोटयति विदारयति । दन्तांश्च्याव-  
यति च्युतान् करोति । बलिः शिथिलीभूतं चम्पं । पलितं केशशुक्लता ।  
स्खालित्यं केशोन्मूलिभावो नेन्द्रलुप्तं नाम । अपि च लोहितपित्तादीन्  
विकारानुपजनयति । अम्लपित्तन्तु अष्टोदरीये यद्यपि नोक्तं तथापि महा-  
रोगाध्याये पित्तव्याधिष्ववगन्तव्यम् । इन्द्रलुप्तं स्खालित्यं नाम रोगविशेषो न  
तु केशोन्मूलनमिति ॥ ४६ ॥

गङ्गाधरः—लवणस्याग्नेयत्वसाधर्म्यात् कटुकमाह—कटुको रस इत्यादि ।  
वक्त्रं शोधयति मुखगतकृदं छेदयति । भक्तं भुक्तं शोषयति । घ्राणं  
घ्राणेन्द्रियाधिष्ठानम् । इन्द्रियाणि स्फुटीकरोति प्रव्यक्तानीन्द्रियाणि करोति ।  
अलसकादीनुपहन्ति । उपचयः सञ्चयः । स्नेहं शरीरादेः स्निग्धत्वम् । कण्डूं  
विलालयति विलीनां करोति । घ्राणान् अवसादयति अवसन्नान् करोति । मांसं  
विलेखयति विलिखनं खननविशेषः । शोणितसंघातं भिनत्ति द्रवीकरोति ।

यत्र मात्रातिरिक्तो लवणो भवति तत्र नान्यो रस उपलक्ष्यते ; आहारयोगीत्याहारे सदा युज्यते,  
मोहयति वैचित्त्यं कुरुते, मूर्च्छयतीति संज्ञानाशं करोति ॥ ४५॥४६ ॥

छिनत्ति मार्गान् विवृणोति श्लेष्माणं शमयति लघुरुष्णो  
रुक्षश्च ॥ ४७ ॥

स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो विपाकप्रभावात्  
पुंस्त्वमुपहन्ति रसवीर्य्यप्रभावात् मोहयति ग्लपयति सादयति  
कर्षयति मूर्च्छयति नमयति तमयति भ्रमयति कण्ठं परिदहति  
शरीरतापमुपजनयति बलं क्षिणोति तृष्णाञ्चोपजनयति । अपि  
च वाय्वग्निगुणबाहुल्याद् भ्रममदवमथु-<sup>\*</sup>-कम्पतोदभेदैश्चरण-  
भुजपीलुपृष्ठपार्श्वप्रभृतिषु मारुतजान् विकारानुपजनयति ॥ ४८ ॥

बन्धान् परस्परसंश्लिष्टान् छिनत्ति विश्लेषं करोति । मार्गान् विवृणोति  
स्फटीकरोति । श्लेष्माणं शमयति । इत्येवंकर्मा कटुको रसः खलु द्रव्या-  
श्रितः सन् भवति । अस्य समानाधिकरणो गुणश्च लघुरुष्णो रुक्षश्च ।  
इति ॥ ४७ ॥

गङ्गाधरः—एवंगुणकर्मा सम्यग्योगेन कटुको रसोऽत्यर्थयोगेन यथा  
स्यात् तदाह—स एवंगुण इत्यादि । सम्यग्योगयुक्तस्त्वेवंगुणः स कटुको  
रस एक एव रसान्तरयोगमन्तरेणात्यर्थमुपयुज्यमानः पुंस्त्वमुपहन्ति विपाक-  
प्रभावात् । मोहयति रसवीर्य्यप्रभावात् कटुरसप्रभावात् रुक्षोष्णप्रभावाच्च ।  
कटुरसस्य कटुविपाकस्तत्प्रभावात् पुंस्त्वोपघाती न तु रसप्रभावाद् वीर्य्य-  
प्रभावाद्वा । कणाशुष्योर्हि रसतः कटुत्वेऽपि विपाकतो माधुर्याद्बृष्यत्वम् ।  
रसवीर्य्यप्रभावात् तु सर्वत्रैव द्रव्ये स्थितो मोहयति । सर्वत्रैव विपाकप्रभावाद्  
वृष्यत्वावृष्यत्वमवधार्यम् । ग्लपयति हर्षं नाशयति । सादयत्यवसादयति ।  
कर्षयति शरीरधातूनपकृष्टान् करोति । मूर्च्छयति अन्धकारमिव दशयंश्चेतो  
हरति । नमयति गात्राणि । तमयति किञ्चिद्ग्लानिं जनयति । भ्रमयति  
शरीरम् । कण्ठं परिदहति । शरीरतापमुपजनयति । बलं क्षिणोति हिनस्ति ।  
अपि च वाय्वग्निगुणबाहुल्यात् कटुको रसः पुनरत्यर्थमेक एवोपयुज्यमानः  
खलु भ्रमादिभिलिङ्गैश्चरणादिषु मारुतजान् रोगानुपजनयति । पीलु

चक्रपाणिः—विपाकस्य प्रभावो विपाकप्रभावः, विपाकश्च कटूनां कटुरेव, रसस्य वीर्य्यस्य  
च प्रभावो रसवीर्य्यप्रभावः ; अयञ्च वक्ष्यमाणे सर्वत्र हेतुः ; चरणादीनां साक्षाद् ग्रहणं, तत्रैव

तिक्तो रसः स्वयमरोचिष्णुररोचकघ्नो विषघ्नश्च क्रिमिघ्नो  
मूर्च्छादाहकण्डूकुष्ठतृष्णाप्रशमनः त्वङ्मांसयोः स्थिरीकरणो  
ज्वरघ्नो दीपनः पाचनः स्तन्यशोधनो लेखनः क्लेदमेदोवसा-  
लसीका-पूयस्वेद-मूत्रपुरीष-पित्तश्लेष्मोपशोषणो रुक्षः शातो  
लघुश्च ॥ ४६ ॥

स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो रौक्ष्यात्  
खरविशदस्वभावाच्च रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि  
उपशोषयति स्रोतसां खरत्वमुपपादयति बलमादत्ते कषयति  
ग्लपयति मोहयति भ्रमयति वदनमुपशोषयत्यन्यांश्च वातजान्  
विकारानुपजनयति ॥ ५० ॥

हस्ततलम् । अग्नेरपि रुक्षोष्णलघुगुणैर्वातगुणसामान्याद् वातवृद्धकल-  
मिति ॥ ४८ ॥

गङ्गाधरः—अथ कटुकस्य वायवीयत्वसामान्यात् तिक्तरसमाह—तिक्तो रस  
इत्यादि । स्वयं तिक्तो रसो न रोचिष्णुर्न रोचतेऽथचारोचकं रोगं हन्ती-  
त्यरोचकघ्नः । शरीरस्थविषघ्नश्च क्रिमिघ्नश्च । मूर्च्छादिप्रशमनः । त्वङ्मांसयोः  
स्थिरीकरणः स्थैर्येकृत् । लेखनः किञ्चिद्विदरणः । क्लेदादिशोषणम् । इत्ये-  
तानि तिक्तरसद्रव्यस्य कर्माणि गुणाश्च तद् रससमानाधिकरणा रुक्षः शीतो  
लघुश्चेति त्रयः ॥ ४९ ॥

गङ्गाधरः—स एवमित्यादि । सम्यग्योगाद् एवगुणकर्मापि स तिक्तो  
रसोऽत्यथमेक एव रसान्तरेणासंसृष्टः उपयुज्यमानः रौक्ष्यात् रौक्ष्यसहाव-  
स्थानाद् बलमादत्ते गृह्णाति । खरविशदस्वभावाच्च खरविशदसहावस्थान-  
स्वभावाच्च पुनः रसादीन्युपशोषयति । ततश्च स्रोतसां खरत्वमुपपादयति ।  
बलश्चादत्ते गृह्णाति । कषयति शरीरम् । मोहयति चित्तम् । भ्रमयति  
गात्रम् । वदनमुपशोषयति । अपि चान्यान् वातजांश्च रोगानुप-  
जनयतीति ॥ ५० ॥

प्रायो वातविकारभावात् ; अत्र च विपाकप्रभावादिकथनमुदाहरणार्थम्, तेन मन्त्रादेषु विषा-

कषाया रसः संशमनः संग्राही संधारणः पीडनो रोपणः  
शोषणः स्तम्भनः श्लेष्मपित्तरक्तशमनः शरीरक्लेदस्योपयोक्ता  
रुक्षः शीतो गुरुश्च ॥ ५१ ॥

स एवंगुणाऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमान आस्यं शोषयति  
हृदयं पीडयत्युदरमाध्मापयति वाचं निगृह्णाति स्रोतांस्यव-  
वध्नाति श्यावत्वमुपपादयति पुंस्त्वमुपहन्ति विष्टभ्य  
जरयति \* वातमूत्ररेतःपुरीषाण्यवगृह्णाति बलमादत्ते कर्षयति  
म्लापयति तपयति स्तम्भयति खरविशदरुक्षत्वात् पक्षबध-  
ग्रहापतानकादितप्रभृतींश्च वातजान् विकारानुपजनयति ॥५२॥

गङ्गाधरः—वायवीयत्वसाधर्म्यात् कषायरसमाह—कषायो रस इत्यादि ।  
संशमन इति—“न शोषयति यद् दोषान् समान् नोदीरयत्यपि । शमीकरोति च  
क्रद्धांस्तत् संशमनमुच्यते ॥” इति । संग्राही चलद्रवधातुसंक्षेपकारी ।  
सन्धारणश्चलत्स्तम्भनकारी । पीडन आकृष्य सङ्कोचकरः । रोपणः व्रणस्य  
मांसादिपूरणः । शोषणः क्लेदादीनां शुष्कताकरः । स्तम्भनः स्खलतां  
चलतां वा भावानां स्थिरीकरणः । श्लेष्मपित्तरक्तानां प्रशमनः । शरीर-  
क्लेदस्योपयोक्ता आचूषणः । इत्येतानि कषायरसद्रव्यस्य कर्माणि । गुणाश्च  
तद्रससमानाधिकरणा रुक्षः शीतो गुरुश्चेति त्रयः ॥ ५१ ॥

गङ्गाधरः—स एवमित्यादि । सम्यग् योगादेवंगुणकर्माणि कषायो रसः स  
एक एव रसान्तरयोगमन्तरेणात्यर्थमुपयुज्यमानः । आस्यं शोषयति । हृदयं  
पीडयति । वाचं निगृह्णाति कण्ठवन्धात् । स्रोतांस्यववध्नाति रुणद्धि । श्यावत्व  
शरीरादेरुपपादयति । पुंस्त्वमुपहन्ति कटुविपाकप्रभावात् । विष्टभ्य भुक्तान्तरं  
जरां गच्छति । वातादीनवगृह्णाति । बलमादत्ते गृह्णाति । कर्षयति शरीरधातून् ।  
म्लापयति कान्तिक्षयं करोति । स्तम्भयति द्रवचलान् भावान् । अपि च  
खरादित्वात् पक्षबधादीन् वातजान् विकारानुपजनयति । इति । इत्येवं  
कादि कार्यमुन्नेयम् । ग्लपयति हर्षक्षयं करोति । पीडनो व्रणपीडनः, शरीरक्लेदस्योपयोक्तेति  
आचूषकः, शीतो लघुश्चेत्यकारप्रश्लेषादलघुः ; अवगृह्णातीति बद्धानि करोति ॥ ४७—५२ ॥

\* विष्टभ्य जरां गच्छतीति पाठान्तरम् ।



एवमेते षड् रसाः पृथक्त्वेनकत्वेन वा मात्रशः सम्यगुप-  
युज्यमाना उपकारका भवन्त्यध्यात्मलोकस्य, अपकारकाः  
पुनरतोऽन्यथा भवन्ति उपयुज्यमानाः, तान् विद्वानुपकारार्थ-  
मेव मात्रशः सम्यगुपयोजयेदिति ॥ ५३ ॥

भवन्ति चात्र ।

शीतं वीर्येण यद् द्रव्यं मधुरं रसपाकयोः ।

तयोरम्लं यदुष्णञ्च यच्चोष्णं कटुकं तयोः \* ॥

द्विद्विभूताधिकद्रव्याणि पृथक् षड्रसभेदेनोक्तानि । एषु च शीतोष्णगुरुलघु-  
स्निग्धरुक्षाः प्राधान्येनोक्ता यथारसं यथाभूतगुणाश्च प्राधान्येन खरविशदादयो-  
ऽनुक्ता अपि तत्तद्द्विद्विभूतगुणा उन्नेयाः । य उक्ता एकैकपृथिव्यादि-  
भूतबहुलपञ्चभूतात्मकानां पाथिवादीनां पञ्चानां द्विरसादीनां द्रव्याणाञ्च  
गुणा यथारसं भूतगुणा उन्नेयाः ॥ ५२ ॥

गङ्गाधरः—उपसंहरति—एवमेत इत्यादि । एवमुक्तप्रकारेणैते षड्रसाः  
पृथक्त्वेनैकैकशो मात्रया मात्रया खलूपयुज्यमाना एकत्वेन वा मिलितत्वेन वा  
मात्रश उपयुज्यमाना अध्यात्मलोकस्यात्मानमधिकृत्य वृत्तमानस्य लोक-  
स्योपकाराय भवन्ति । अपकारकाः पुनरतोऽन्यथा खल्वमात्रया त्वेक-  
त्वेनातिमात्रादित उपयुज्यमाना भवन्तीति तान् विद्वान् ज्ञात्वा उपकारार्थमेव  
मात्रशः सम्यगुपयोजयेदिति ॥ ५३ ॥

गङ्गाधरः—अथैषां द्रव्याणाम् आरम्भकभूतन्यूनमध्याधिकतरतमादिभेदेन  
असङ्ख्येयानां गुणकर्मोपदेशो यथा कर्तव्यस्तत्राह श्लोकान्—भवन्ति चात्रेति ।  
शीतमित्यादि । यद्द्रव्यं वीर्येण शीतं रसपाकयोर्मधुरं तस्य गुणसंग्रहो रसोप-

चक्रपाणिः—पृथक्त्वेनेति एकैकशां मात्रशः ; एकत्वेनेत्येकीकृत्य समुदयं मात्रश इत्यर्थः ;  
मात्रश इति मात्रया ; तच्चैकीकरणं द्वित्र्यादिभिः सर्ववैज्ञेयम् ; अध्यात्मलोकस्येति सर्वप्राणि-  
जनस्य ; अन्यथेति अमात्रया ॥ ५३ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति रसद्वारेणैव द्रव्याणां वीर्यमाह—शीतमित्यादि । यद्द्रव्यं रसे  
पाके च मधुरम्, तच्छीतं वीर्येण ज्ञेयम् ; तथा तयोरिति रसपाकयोर्यदम्लं द्रव्यम्, तदुष्णं  
वीर्येण ; तथा यच्च द्रव्यं तयोरिति रसपाकयोः कटुकमुक्तम्, तच्चोष्णं वीर्येण ; स्यादिति  
शेषः ; किंवा यच्चोष्णं कटुकं तयोरिति पाठः ; अत्र यद् रसतो मधुरं तद्वीर्यतः शीतमिति

\* यद् द्रव्यं कटुकं तयोरिति चक्रसम्मतः पाठः ।

तेषां रसोपदेशेन निर्देश्यो गुणसंग्रहः ।

वीर्यतो विपरीतानां \* पाकतश्चोपदेक्ष्यते ॥

देशेन मधुरमित्युपदेशेन निर्देश्यो निर्देशः कर्तव्यो बुद्धिमद्भिः । सोमगुणातिरेकान् पञ्चभूतारब्धद्रव्ये मधुरो रसोऽभिव्यज्यते इत्युक्त्या तन्मधुररससहचरितास्तु नियता गुणाः स्निग्धगुरुशीताः । स्वादुमधुरं पच्यते इति च वक्ष्यते, तेन मधुर-रसोपदेशेन शीतवीर्यमधुरविपाकौ ज्ञेयौ । पृथिव्यामम्बुप्रवेशे तदुभयाज्जाता गुणा गुरुखरकठिनमन्दस्थिरविशदसान्द्रस्थूलगन्धास्तथापां द्रवस्निग्धशीतमन्द-सरसान्द्रमृदुपिच्छिला गुणा इत्येषां गुणानां संग्रहो निर्देश्यो भवति ।

तथा यद्द्रव्यं तयो रसपाकयोरम्लं वीर्येणोष्णं तस्यापि रसोपदेशेनाम्ल-रसोपदेशेन गुणसंग्रहो निर्देश्यः । भूम्यग्निगुणभृतिष्ठत्वादम्लः स च लघुरुष्णः स्निग्ध इत्युक्त्या तथा अम्लोऽम्लं पच्यते इत्युक्त्याम्ल इति रसमात्रोपदेशेनोष्ण-वीर्याम्लरसपाकलघुस्निग्धा ज्ञेयाः । तथापि भूम्यग्न्योरनभिधवाच्च शेषा गुणा ये भूमेर्गुरुखरकठिनमन्दस्थिरविशदसान्द्रस्थूलगन्धाः, अनेनैव ये उष्णतीक्ष्ण-सूक्ष्मलघुरुक्षविशदरूपाणि गुणास्तेषामपि गुणानां संग्रहो निर्देश्यः ।

एवं यच्च द्रव्यं वीर्येणोष्णं तयो रसपाकयोः कटुकं मरिचादिकं तस्यापि कटुरसोपदेशेन गुणानां संग्रहो निर्देश्यः । वाय्वग्निगुणभृतिष्ठत्वात् कटुकः, स च लघुरुष्णो रुक्षश्चेत्युक्त्या कटुतिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटु-रित्युक्त्या च कटुकमितिमात्रोपदेशेन लघुरुक्षोष्णवीर्यकटुरसपाका ज्ञेयाः । तत्रापि शेषाणां वाय्वग्निगुणानां वायोलेघुशीतरुक्षखरविशद-

वक्तव्ये यद् रसपाकयोरिति करोति, तन्मधुररसोचितपाकस्यैव द्रव्यस्य शीतवीर्यताप्राप्त्यर्थम् ; एवमम्लकटुकयोरपि वाच्यम् ।

तेषामिति मधुरपाकादीनाम्, रसोपदेशेनेति रसमात्रकथनेनैव, यतः विपाकोऽपि रसत एव प्रायो ज्ञायते, यद् वक्ष्यति—“कटुतिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः” इत्यादि ; एतच्च न सर्वत्रेत्याह—वीर्यत इत्यादि । वीर्यतोऽविपरीतानां रसद्वारा वीर्यज्ञानम्, न तु रसविरुद्धवीर्याणाम्, यथा—महापञ्चमूलादीनाम् ; न केवलं रसेन, किं तर्हि पाकत उपदेक्ष्यते । गुणसंग्रहः—“शुक्रहा बद्धविष्मूत्रो विपाको वातलः कटुः” इत्यादिना, स च वीर्यतोऽविरुद्धानां विज्ञेयः, यदि तत्र वीर्यं विरोधि स्यात्, तदा विपाकोऽपि यथोक्तगुणकारी न स्यात् ; किंवा, पाकतश्चाविपरीतानां रसोपदेशेन गुणसंग्रहः शीतोष्णलक्षणो निर्देश्यः ;—यस्यास्तु पिप्पल्याः

\* वीर्यतोऽविपरीतानामिति चक्रः ।

यथा पयो यथा सर्पिर्यथा वा चव्यचित्रकौ ।

एवमादीनि चान्यानि निर्दिशेद्रसतो भिषक् ॥ ५४ ॥

मधुरं किञ्चिदुष्णं रयात् कषायं तिक्तमेव च ।

यथा महत् पञ्चमूलं यथा वानूपमामिषम् \* ॥

सूक्ष्मस्पर्शगुणानामग्नेरुष्णतीक्ष्णसूक्ष्मलघुरुक्षविशदरूपगुणानां मेलनेन यादृशलघुत्वादयो भवन्ति तादृशानां तेषां गुणानां संग्रहो निर्दिश्यः । विपरीतानां वीर्यतः पाकतश्च विपरीतानां मधुराम्लकटुकानां वीर्यतः पाकतश्चोपदेक्ष्यते गुणसंग्रह इति । यच्च व्याख्यायते—यद्द्रव्यं रसपाकयोर्मधुरं तद्वीर्येण शीतं, यच्च रसपाकयोरम्लं तद्वीर्येणोष्णं, यच्च रसपाकयोः कटुकं तद्वीर्येणोष्णमिति । तदयुक्तम् । तेषां रसोपदेशेन निर्दिश्यो गुणसंग्रह इति वचनस्यासङ्गतेः ॥ ५३ ॥

**गङ्गाधरः**—तथा च शीतवीर्यमधुररसमधुरपाकद्रव्याणां मधुररसोपदेशेन गुणसंग्रहः—यथा पयो यथा च सर्पिमधुरं स्निग्धगुरुशीतादिकम्, एवमुष्णवीर्याम्लरसाम्लपाकद्रव्याणामम्लरसोपदेशेन गुणसंग्रहो यथा—भक्ष्यं चालिताफलमम्लं तेन लघूष्णस्निग्धत्वादिसंग्रहः, एवमुष्णवीर्यकटुरसकटुपाकद्रव्याणां कटुरसोपदेशेन शेषगुणसंग्रहो यथा—चव्यचित्रकौ । तत्र चित्रकः—“कटुकः कटुकः पाके वीर्योष्णश्चित्रको मतः” इति वक्ष्यते । तेन लघूष्णरक्षादीनामपि संग्रहः । एवमादीनि चान्यानि शीतवीर्यमधुररसमधुरपाकाणि द्रव्याणि मधुररसतो यथा तथोष्णवीर्याम्लरसाम्लपाकानि द्रव्याणि चाम्लरसतस्तथोष्णवीर्यकटुरसकटुपाकानि द्रव्याणि कटुरसतो भिषग्गुणतो निर्दिशेत् ॥ ५४ ॥

**गङ्गाधरः**—वीर्यतो विपाकतश्च विपरीतानां मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाणां वीर्यतश्च पाकतश्चोपदेशो यथा तदाह—मधुरमित्यादि । किञ्चिद्द्रव्यं यथानूपमामिषं मधुरं वीर्यत उष्णं तद्वीर्यतो रसतश्च निर्दिश्यम् । तथा कटुकाया अपि विपरीतमधुरपाकित्वम्, न तत्र कटुकरसत्वेनोष्णत्वमित्यर्थः ; अस्मिंश्च पक्षे “उपदेक्ष्यते” इति “यथा पयः” इत्यादिना सम्बध्यते । तान्येवाविपरीतवीर्यविपाकान्याह—यथा पय इत्यादि । पयःप्रभृतीनि हि द्रव्यगुणकथनेनाविरुद्धवीर्यविपाकान्युपदेष्टव्यानि ॥ ५४ ॥

**चक्रपाणिः**—सम्प्रति यत्र विरुद्धवीर्यविपाकरसेनोष्णत्वादि निर्दिश्यं तदाह—मधुरमित्यादि ।

\* यथान्जानूपमामिषमिति चक्रधृतः पाठः ।

लवणं सैन्धवं नोष्णमम्लमामलकं तथा ।

अर्कागुरुगुडूचीनां तिक्तानामौष्ण्यमुच्यते ॥ ५५ ॥

किञ्चिदम्लं हि संग्राहि किञ्चिदम्लं भिनत्ति च ।

यथा कपित्थं संग्राहि भेदि चामलकं तथा ॥

पिप्पलीनागरं वृष्यं कटु चावृष्यमुच्यते ।

कषायः स्तम्भनः शीतः सोऽभयायामतोऽन्यथा ॥ ५६ ॥

किञ्चित् द्रव्यं कषायं तिक्तमेव च किञ्चिद् द्रव्यं यथा बृहत्पञ्चमूलं वीर्यत उत्पन्नं तद्वीर्यत उपदेक्ष्यते । कषायतिक्तौ शीतावुक्तौ । ननु तिक्तकषाययोः पाक एकान्तेन कटुस्तेन तयो रसोपदेशेन गुणसंग्रहो निर्देश्यः कुतो नोक्त इति चेत् ? न ; रसपाकवीर्याणामसामान्यात् । प्रायेण हि तिक्तकषाययोः शीतं वीर्यं कटुः पाक इति । अपरमुदाहरति—लवणमित्यादि । सर्व्वं लवण-मत्यर्थं गुरु स्निग्धमुष्णं सैन्धवन्तु लवणं नोष्णवीर्यम् । तथा सर्व्वमम्लमुष्णं लघुस्निग्धमामलकमम्लं नोष्णमिति वीर्यतो विपरीतं वीर्यतो निर्देश्यम् । तथार्कागुरुगुडूचीनां तिक्तानामौष्ण्यप्रवीर्यं न शीतं सर्व्वं तिक्तं शीतमुक्तमिति । वीर्यतोऽर्कादय उपदेक्ष्याः ॥ ५५ ॥

गङ्गाधरः—इति वीर्यतो विपरीतान्युदाहृत्य पाकतोऽमुदाहरति—किञ्चिदम्लमित्यादि । अम्लस्याम्लपाके सृष्टविष्मूत्रता कर्म । तत्र किञ्चिदम्लं द्रव्यं संग्राहि यथा कपित्थं फलं संग्राहि, तेनानुमीयते कपित्थं कटुपाकम् । वक्ष्यते हि—“शुक्रहा वद्विष्मूत्रो विपाके वातलः कटुः” इति तस्मात् पाकत उपदेक्ष्यते द्रव्यम् । आमलकञ्चाम्लं भेदि शीतञ्च तस्मात् पाकतोऽविपरीतं वीर्यतो विपरीतं वीर्यत उपदेक्ष्यते । एवं सर्व्वं कटु द्रव्यं कटुपाकादुष्णशुक्रघ्नत्वादवृष्यम् । पिप्पलीनागरन्तु वृष्यम् तस्मान्मधुरपाकञ्च । पाकतो विपरीतं पाकत उपदेक्ष्यते । कषायः सर्व्वः स्तम्भनः शीतश्च ।

किञ्चित्कषायञ्चोष्णं तिक्तञ्चोष्णमिति योजना, कषायतिक्तलवणादीनामुदाहरणमसूत्रितानामपि प्रकरणात् कृतम् ; महत् पञ्चमूलं विल्वादि पञ्चमूलमिह, एतच्च तिक्तस्य कषायस्य चोष्णताया उदाहरणम् ; अज्ज्ञानूपाभिषन्तु मधुरस्योष्णवीर्यत्वेन ॥ ५५ ॥

चक्रपाणिः—वीर्यप्रसङ्गादन्यदप्यम्लादीनां विरुद्धगुणमाह—किञ्चिदित्यादि । अभयायामतो-

तस्माद् रसोपदेशेन न सर्व्वं द्रव्यमादिशेत् ।

दृष्टं तुत्तरसेऽप्येवं द्रव्ये द्रव्ये गुणान्तरम् ॥ ५७ ॥

रौक्ष्यात् कषायो रुक्षाणामुत्तमो मध्यमः कटुः ।

तिक्तोऽवरस्तथोष्णानामुष्णतश्चलवणः परः ॥

कटुपाकात् स्तम्भनः । सोमगुणः स्तम्भनश्च शीतश्च । अभयायां हरीतक्यां विपर्ययो रेचनश्चोष्णश्च । इति वीर्य्यतो विपरीता कषाया हरीतकी पाक-  
तश्च विपरीता रेचनत्वात् । तस्मात् सर्व्वं द्रव्यं न रसोपदेशेनादिशेत् । यत्तु  
शीतवीर्य्यमधुररसमधुरपाकं तन्मधुररसोपदेशेन आदिशेत् । यच्चोष्ण-  
वीर्य्याम्लरसाम्लपाकं तदप्यम्लरसोपदेशेनादिशेत् । एवं यदुष्णवीर्य्यकटु-  
रसकटुपाकं तदपि कटुरसोपदेशेनादिशेदेति निगमनम् । इति ॥ ५६/५७ ॥

गङ्गाधरः—अथैषां मधुरादीनां गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरुक्षाणां न्यून-  
मध्याधिक्यानि सन्ति न वेति ? अत आह—रौक्ष्यादित्यादि । रुक्षाणाम्  
उक्तानां कषायकटुतिक्तानां मध्ये कषायो रसो रौक्ष्यादुत्तमो रुक्षः । पवन-  
पृथिव्यतिरिक्तपञ्चभूतारब्धत्वात् । तत्र हि न्यूनैः स्वाग्न्यम्बुभिरधिकाभ्यां  
पवनपृथिवीभ्यामारभ्यमाणे कार्य्ये भूयसाल्पावजयात् भूयस्योश्च पवनपृथिव्योः  
पृथिव्या विरोधिगुणाभावात्, पवनस्य रौक्ष्यगुणस्यावजयाभावात् पोषणाच्च  
रौक्ष्यमधिकं कषायरसद्रव्ये भवतीति । कटुस्तु तेषां रुक्षाणां कषायकटु-  
तिक्तानां मध्ये रौक्ष्यान्मध्यमो रुक्षः, वाय्वग्निभूयिष्ठपञ्चभूतारब्धत्वात् । तत्र  
हि न्यूनैः पृथिव्यम्बुगगनैरधिकाभ्यां वाय्वग्निभ्यामारभ्यमाणे कटुरसद्रव्ये भूयि-  
ष्टाभ्यां वाय्वग्निगुणाभ्यामल्पानां शेषाणां गुणावजये भूयिष्ठयोर्द्वयोरेव वाय्वग्न्यो  
रौक्ष्यगुणावेकीभूय मध्यमो रौक्ष्यगुणो भवति । कथं नाधिकः स्यात् ? उच्यते  
भूयिष्ठयोर्वाय्वग्नोरुभयो रौक्ष्येऽपि मूत्तत्वाभावेनाल्पबलात् स्निग्धगुणानामपाम्  
अंशस्यात्र पृथिव्याकाशाभ्यामधिकस्य स्निग्धगुणस्य निःशेषेणावजये वाय्वग्न्यो  
रौक्ष्यं मध्यमं भवति । कषायद्रव्यारम्भे तु पवनपृथिवीभ्यां भूयसीभ्याम्  
अमूत्तमूर्त्ताभ्यां प्रबलाभ्यामपां स्नेहावजये शेषोऽधिक एव रौक्ष्यगुणो वर्त्तते ।  
इति । तेषामेवं रुक्षाणां कषायकटुतिक्तानां मध्ये तिक्तो रसो रौक्ष्यादवरः,

न्यथेति अभयायां कषायो रसो भेदनश्चोष्णदचेत्यर्थः । रौक्ष्यादिति रौक्ष्येण कषायं उत्तम इति

मध्योऽम्लः कटुकश्चान्त्यः स्निग्धानां मधुरः परः ।

मध्योऽम्लो लवणश्चान्त्यो रसः स्नेहान्निरुच्यते ॥

वाय्वाकाशातिरिक्तपञ्चभूतारब्धत्वात् । तत्र हि न्यूनैः पृथिव्यप्तेजोभिरधिकाभ्यां वाय्वाकाशाभ्याश्चारभ्यमाणे तित्तरसद्रव्ये भूयसा वायुनाल्पानां गणावजयेऽपि स्नेहावजयशेषोऽल्पो रक्षो वृत्तेते । तत्राकाशस्यामूत्तस्य साहाय्ये वञ्चल्यत्वादिति । अथोष्णा लवणाम्लकटुका उक्तास्ते किं तुल्या उष्णा न्यूनाधिका वेति ? अत उच्यते—तथोष्णानामुष्णत्वाल्लवणः परः । इति । उष्णानां लवणाम्लकटुकानां मध्ये लवण उष्णत्वात् परः श्रेष्ठः, तोयाग्निगुणभूयिष्ठपञ्चभूतारब्धत्वात् । तत्र हि न्यूनैः पृथिवीवाय्वाकाशैर्भूयिष्ठाभ्यां तोयाग्निभ्याम् आरभ्यमाणे लवणद्रव्ये भूयिष्ठाभ्यां तोयाग्निभ्यां न्यूनानां शेषाणाम् अनुष्णानामवजयादुष्णो गुणोऽधिको वृत्तेते । तोयगुणेनापि तुल्येन शीतगुणेन अवजयाभावात् । तेषामुष्णानां मध्येऽम्लस्त्रूष्णत्वान्मध्यमः । भूम्यग्निभूयिष्ठपञ्चभूतारब्धत्वात् । तत्रापि न्यूनैराकाशवायुतोयैरधिकाभ्यां भूम्यग्निभ्यामारभ्यमाणेऽम्लरसद्रव्ये भूम्यग्निभ्यां शेषाणामवजये तोयगुणावजयतो मध्यम उष्णोऽनेवृत्तेते नाधिक इति । कटुकश्चान्त्यः । तेषामुष्णानां लवणाम्लकटूनां मध्ये कटुकोऽन्त्य उष्णत्वादल्प उष्णः, वाय्वग्निभूयिष्ठपञ्चभूतारब्धत्वात् । तत्र हि न्यूनैराकाशाम्बुपृथिवीभूतैरधिकाभ्यां वाय्वग्निभ्यामारभ्यमाणे द्रव्ये कटुरसे वाय्वग्निभ्यां शेषाणामवजये तोयस्य शैत्येन सह वायोः शैत्यमग्निगुणोष्णस्य तुल्यमेकीभूतं प्रबलं भवति । तेन प्रबलेन शैत्येनाग्निगुणौष्ण्यं किञ्चिज्जितावशिष्टमल्पं वृत्तेते न त्वधिकम् । अथ तर्हि मधुराम्ललवणाः स्निग्धा उक्तास्तेऽपि किं तुल्या अथ किं न्यूनमध्याधिका वृत्तन्त इति ? अत उच्यते—स्निग्धानां मधुरः पर इति । स्निग्धानां मधुराम्ललवणानां मध्ये मधुरो रसः स्नेहात् परः उत्तमः स्निग्धः, सोमगुणातिरिक्तपञ्चभूतारब्धत्वात् । तत्र हि न्यूनैराकाशवाय्वग्निभूमिगुणैरारभ्यमाणे मधुररसद्रव्ये भूमिगततोयाधिकभूतगुणाभ्यामेकीभूताभ्यां प्रबलाभ्यामधिकस्निग्धाभ्यां शेषाणामवजये वाय्वादिरौक्ष्यस्याबलस्यावजयादधिकः स्नेहो वृत्तेते । मध्योऽम्लो रसस्तेषां स्निग्धानां मधुराम्ललवणानां मध्येऽम्लो रसः स्नेहगुणतो मध्यः स्निग्धः । भूम्यग्निगुणभूयिष्ठपञ्चभूतारब्धत्वात् । तत्र हि न्यूनैराकाशवाय्वम्बुभिरधिकाभ्यां रक्षतमः, तित्तो रक्षः, कटुस्तु मध्वो रक्षतरः ; एवमन्यत्रापि । कटुकश्चान्त्य इत्यवर इत्यर्थः ।

तिक्तात् कषायो मधुरः शीताच्छीततरः परः \* ।

स्वादुर्गु रूखादधिकः कषायाल्लवणोऽवरः ॥

भूम्यग्निभ्याञ्चारभ्यमाणेऽम्लरसद्रव्येऽधिकाभ्यां भूम्यग्निभ्यां शेषाणामवजये भूमिगततोयस्नेहेन सह तोयभूतस्य न्यूनस्य च स्नेह एकीभूतोऽग्निभूतस्य भूयिष्ठस्य रक्षगुणेन प्रवलेनाल्पावजये मध्यमः स्नेहो वर्तते । लवणस्त्वन्तर्गो रसः स्नेहान्निरुच्यते । स्निग्धानां मधुराम्ललवणानां मध्ये लवणो रसः स्नेहात् अन्त्यो जवन्यः, तोयाग्निभूयिष्ठपञ्चभूतारब्धत्वात् । तत्र हि न्यूनैराकाश-वायुपृथिवीभूतैरधिकाभ्याञ्च तोयाग्निभ्यामारभ्यमाणे लवणरसद्रव्ये तोया-ग्निभ्यां शेषाणां नूतनानामवजये तोयस्नेहोऽग्ने रक्षस्य तुल्यत्वेन भूमिगततोय-स्नेहेन युक्तोऽधिकबलः सन्नल्पः स्नेहो वर्तते इति ।

अथ तिक्तकषायमधुराः शीता उक्तास्ते किं तुल्या नूतनमध्याधिका वा स्युरिति ? अत उच्यते—“तिक्तात् कषायो मधुरः शीताच्छीततरः परः” इति । शीतात् तिक्ताच्छीततरः कषायो मध्यमशीतः । परो मधुर उत्तमः शीतः । कस्मात् ? सोमगुणातिरिक्तपञ्चभूतारब्धत्वान्मधुरस्य । भूवायुभूयिष्ठपञ्च-भूतारब्धत्वात् कषायस्य । खवायुगुणभूयिष्ठपञ्चभूतारब्धत्वात् तिक्तस्य । तत्र हि सोमभूतगुणशीतस्य तोयवाय्वोभू मिगततोयस्थस्याधिक्यान्मधुरद्रव्येऽधिकं शैत्यम् । कषायरसद्रव्ये पवनस्य शैत्यं बलवद् भूगततोयशैत्यं मध्यं तोयभूतस्य शैत्यमल्पमिति बह्वे रूणत्वावजये मध्यमशैत्यं वर्तते । तिक्तरसद्रव्ये तु वायोः शैत्यं प्रबलं तोयस्य भूगततोयस्य च शैत्यमल्पमेकीभूतमग्निरूणावजये त्वल्पं शैत्यं शेषं स्यादिति । एवं तर्हि मधुराम्ललवणा गुरव उक्तास्तेऽपि । क तुल्या नूतनमध्याधिका वा वर्तन्ते इति ? अत उच्यते—स्वादुर्गु रूखादधिक इति । गरूणां मधुराम्ललवणानां मध्ये स्वादुर्मधुरो गुरुत्वादधिकः सोमातिरिक्त-पञ्चभूतारब्धत्वात् । तत्र हि तोयस्य भूमितो लघोर्वाय्वग्न्याकाशेभ्यो गुरोः भूमेश्च गरोगौ रवैक्यादधिकमेव गुरुत्वम् । कषायाल्लवणोऽवर इति—कषायो गुरुत्वान्मध्यमः पवनपृथिव्यतिरिक्तपञ्चभूतारब्धत्वात् । तत्र हि नूतन-भूतावजये भूमिगततोयस्यालघुत्वाद् गुरुत्वरूपं गुरुत्वं भूमिगुरुत्वेन मिलितं प्रबलं लवणोऽवर इति गुरुत्वेनेत्यर्थः । अम्लात् कटुरित्यादावम्लात् कटुर्लघुः, ततः कटुकात् लाघवेन अम्लादुत्तमात् तिक्तो लघुत्वेनोत्तमोत्तमः, उत्तमात् कटुकादुत्तमोत्तमः ।

\* “मध्योत्कृष्टावराः शैत्यात् कषायस्वादुतिक्ताः” इति पाठान्तरम् ।



अम्लात् कटुस्ततस्तिक्तो लघुत्वादुत्तमोत्तमः ।

केचिन्नमनामवरमिच्छन्ति लवणं रसम् ।

गौरवे लाघवे चैव सोऽवरस्सूभयोरपि ॥ ५८ ॥

सत्स्वानिष्ठानिष्ठानाममूर्तानां लघुत्वमवजित्य मध्यमं गुरुत्वं वृत्तं । तस्मात् कषायाद्वरो गुरुलवणः तोयान्यतिरिक्तपञ्चभूतारब्धत्वात् । तत्र हि नूनभूतानां लघुत्वावजये तोयस्याल्पगुरुत्वं भूमिगुरुत्वेनैकीभूतमप्यल्पं वृत्तं । इति ।

तर्हि चाम्लकटुतिक्ता लघव उक्तास्ते किं तुल्या न्यूनमध्याधिका वेति ? अत उच्यते—“अम्लात् कटुस्ततस्तिक्तो लघुत्वादुत्तमोत्तमः” इति । अम्लो रसो लघुरवरः । तस्मादम्लालघोरुत्तमो लघुः कटुः । उत्तमालघोः कटुकादुत्तमो लघुस्तिक्त इतुत्तमोत्तमो लघुस्तिक्तः । तत्र हि भूम्यग्निभूमिष्ठ-पञ्चभूतारब्धत्वादम्लरसद्रव्ये न्यूनभूतानां भूम्यग्निभ्यां जये भूमेर्गुरुत्वमग्ने-लघुत्वम् । तयोस्तुल्ययोरवजयाभावाल्लघुत्वमल्पम् । कटुरसद्रव्ये च वाय्वग्नि-भूमिष्ठपञ्चभूतारब्धत्वादन्यूनभूतावजयंऽधिकाभ्यां वाय्वग्निभ्यां लघुभ्यां मध्यमं लघुत्वं वृत्तं । यत आकाशात् स्थूलोऽग्निरिहारम्भकः । वाय्वाकाशातिरिक्त-पञ्चभूतारम्भात् तु तिक्तोऽतिलघुः । वहिराकाशात् स्थूल इति वाय्वाकाशाारब्ध-त्वादतिलघुस्तिक्त इति । अत्र केचिद् यदाहुस्तत् दशयति—केचिदित्यादि । अमूनां लघूनां मध्ये लवणमवरं लघुं केचिदिच्छन्ति न त्वम्लमवरं लघुमिच्छन्ति । ततो गुरुणामवरमम्लमिच्छन्तीति तथात्वेऽपि न विरोधः स्यात् ॥ ५७ ॥

कस्मादिति ? अत उच्यते—गौरवे इत्यादि । अस्माकं सोऽम्लो गौरवेऽवरः सन् लाघवे चैवावरो भवेदित्युभयोरपि सोऽम्लो लवणश्चावर इति । तथा च यथाम्लो गुरुस्तथा लवणो गुरुर्यथा चाम्लो लघुस्तथा लवणो लघुरिति गुरुलाघवे तुल्यौ भवतोऽम्ललवणाविति । तथा सति—कषायकटुतिक्त-लवणाम्लमधुरा उत्तरोत्तरं स्नेहाधिकाः पूर्वपूर्वं रुक्षाधिकाः । लवणाम्ल-कटुतिक्तकषायमधुराः उत्तरोत्तरं शीताः पूर्वपूर्वमुष्णा अधिका इत्येवं

एकीयमतमाह—केचिदित्यादि । एकीयमतं वचनभङ्गा स्वीकुर्वन्माह—गौरव इत्यादि । एतेन गौरवे लाघवे चावरत्वं लवणस्य स्वीकुर्वन् गौरवेऽवर इत्यनेनाम्लकटुतिक्तेभ्यो गुरुत्वं स्वीकरोति लवणस्य, लाघवे चावर इत्यनेनाम्लादपि लघुतोऽल्पं लाघवं लवणस्य स्वीकरोति ; न च वाच्यम्,—अम्ले पृथिवी कारणं लवणे तु तोयं, ततः पृथिव्यपेक्षया तोयजन्यस्य



परश्चातो विपाकानां लक्षणं संप्रवक्ष्यते ।

कटुतिक्तकषयाणां विपाकः प्रायशः कटुः ।

अम्लोऽम्लं पच्यते स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा ॥ ५६ ॥

कस्मान्नोक्तमिति चेत् ? न । यथा हि लवणाम्लौ गुरुलाघवे तुल्यौ तथा तिक्तलवणौ रुक्षस्निग्धाभ्यां तुल्यौ कटुतिक्तौ शीतोष्णाभ्यां तुल्यौ भवत इति तस्मात् कमभङ्गः । एवमपि कषायकटुतिक्तानामत्यल्पपस्निग्धत्वं प्रसज्यते । मधुराम्ललवणानामत्यल्पादिरुक्षत्वम् । लवणाम्लकटुकानामत्यल्पादिशीतत्वं प्रसज्यते । कटुतिक्तकषयाणामत्यल्पादुष्णत्वमिति । न च तत्तद्गुणस्तत्र तत्र वृत्ते । तस्मादुक्तप्रकारेणोपदिष्टम् ॥ ५८ ॥

गङ्गाधरः—नन्वेते मधुरादयो यद्गुणकर्माण उक्ताः कथं तत्फलमभिनिष्पद्यत इति ? अतो विपाकमाह—परश्चात् इत्यादि । अनः परश्च विपाकानां लक्षणं संप्रवक्ष्यते यैः पाकैः फलमभिनिष्पद्यते । तद् यथा—कट्वित्यादि । विपाक इति पाकः पचनं द्रव्याणां स्वरूपरसयोः परा वृत्तिः । सा च स्वरूपान्तरत्वेन रसान्तरत्वेन च परिणतिः । तस्या विशेषो विपाकः । जाठराग्नियोगेन भुक्तानां द्रव्याणां पाकेन जायमाने किट्टसाररूपेण पृथक्त्वे यः सारभागो द्रवरूप आद्यो रसाख्यो धातुः किट्टभागश्च सूत्रपुरीषरूपो मलधातुश्च तद्रस-मलधातुभूतरसान्तरवद्द्रव्यान्तरत्वेन भुक्तानां परिणतिविशेषोऽत्र विपाकः । उक्तञ्च—“जाठरेणाग्निना योगाद् यदुदेति रसान्तरम् । रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः ॥” इति । कस्य रसस्य किं रसान्तरत्वेनोदयः परिणामः स्यादिति ? अत आह—“कटुतिक्तकषयाणां विपाकः प्रायशः कटुः” इति । भुक्तानां द्रव्याणां यः कटुस्तिक्तः कषायो वा रसः, स स रसः खलु जाठरेण अग्निना पच्यमानानां भुक्तानां द्रव्याणां रसाख्यधातुरूपेण परिणामे तत्पाकेन पच्यमानः सन् प्रायशः कटुविपाकः स्यात् । कटुश्च कटुविशेषेणाभिनिष्पन्नः संस्तत्र रसाख्ये धातौ वृत्ते । तिक्तश्च रसः कटुविशेषरूपेणाभिनिष्पन्नः संस्तत्र रसधातौ वृत्ते । कषायश्च कटुविशेषरूपेणाभिनिष्पन्नः संस्तत्र रसधातौ

लवणस्यैव लाघवमुचितमिति, यतः न भूतनिवेशेन गौरवलाघवे शक्ये अवधारयितुम्, तथा हि—तोयातिरेककृतो मधुरः पृथिव्यतिरेककृतात् कषयात् गुरुर्भवति ॥ ५६—५८ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति विपाकस्यापि रसरूपत्वाल्लक्षणमाह—परमित्यादि । प्रायोग्रहणात्

वर्त्तते । प्रायश इत्यनेन कणाशुण्डादीनां कटुतां कटुरसस्य मधुरः  
पाकः । पटोलपत्रवेत्राग्रादीनाञ्च तिक्तानां तिक्तरसस्य च मधुरः पाकः । तथा  
हरीतक्यादीनां कषायद्रव्याणां कषायरसस्य मधुरः पाको न विरुध्यते ।  
एवमम्लो रसोऽम्लं पच्यते । प्रायशोऽम्लो रसोऽम्लविशेषरूपेणाभिनिष्पन्नः  
संस्तत्र रसधातौ वर्त्तते । प्रायश इत्यनेनामलकस्याम्लस्याम्लो रसो मधुरः  
पच्यते । इति न विरुध्यते । तथा स्वादुमधुरं लवणस्तथा । स्वादुमधुरो रसः  
प्रायशो मधुरं यथा स्यात् तथा विपच्यते । मधुरविशेषरूपेणाभिनिष्पन्नः संस्तत्र  
रसाख्यधातौ वर्त्तते । तथा लवणश्च रसो मधुरं यथा स्यात् तथा प्रायशः  
पच्यते । मधुररसविशेषरूपेणाभिनिष्पन्नः संस्तत्र रसधातौ वर्त्तते । प्रायश  
इत्यनेनातसीतैलं मधुराम्लं विपाके कटुकमिति । पांशुजं लवणं कटु । इति  
रसोपदेशेन कटुपाकश्चोक्त इति विरोधः । अथ सुश्रुते दृश्यते तद्वथा—  
“तत्राहुरन्ये प्रतिरसं पाक इति । केचित् त्रिविधमिच्छन्ति मधुरमम्लं कटुकञ्च  
इति । तत् तु न सम्यक्, भूतगुणादागमाच्च अम्लविपाको नास्ति । पित्तं हि  
विदग्धमम्लतामुपैति अग्नेर्मेन्दवात् । स यदेव लवणोऽप्यन्यः पाको  
भविष्यति । श्लेष्मा हि विदग्धो लवणतामुपैति । मधुरो मधुररसस्याम्लो-  
ऽम्लस्य । एवं सर्वेषामिति केचिदाहुः । दृष्टान्तञ्चोपदिशन्ति यथा—तावत्  
क्षीरं स्थालीगतमभिपच्यमानं मधुरमेव स्यात् तथा शालियवमुद्गादयः प्रकीर्णाः  
स्वभावमुच्चरकालेऽपि न परित्यजन्तीति तद्वत् । केचिद्वदन्ति अवलवन्तो  
बलवतां वशमायान्तीत्येवमनवस्थितिस्तस्मादसिद्धान्त एषः । आगमे हि  
द्विविध एव पाको मधुरः कटुश्चेति । तयोर्मधुराख्यो गुरुः कटुकाख्यो लघुरिति ।  
तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां द्वैविध्यं भवति गुणसाधर्म्यात् गुरुता लघुता  
च । पृथिव्यापश्च गृह्यः शेषाणि लघूनि । तस्माद् द्विविध एव पाक इति ।  
भवन्ति चात्र । द्रव्येषु पच्यमानेषु येष्वम्बुपृथिवीगुणाः । निर्वर्त्तन्तेऽधिकास्तत्र  
पाको मधुर उच्यते ॥ तेजोऽनिलाकाशगुणाः पच्यमानेषु येषु तु । निर्वर्त्तन्ते-  
ऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते ॥ इति ।” तत् कथमत्राम्लविपाकवचनं  
सङ्गच्छत इति ? अत्रोच्यते कैश्चिन्—ब्रीहिकुलत्थादीनामम्लपाक उपलभ्यते  
पित्तकोपलिङ्गेन । तथाम्बुपृथिवीगुणानामाधिक्येनाभिनिवृत्त्या मधुरः पाको  
गुरुरक्तः । तेजोवाय्वाकाशगुणानामाधिक्येनाभिनिवृत्तत्रा कटुकः पाको लघुः  
पिप्पलीकुलत्थादीनां रसानुगुणपात्रितां दर्शयति ; कटुकादिशब्देन तदाधारं द्रव्यमुच्यते, यतः  
न रसाः पच्यन्ते, किन्तु द्रव्यमेव ; लवणस्तु तथेति लवणोऽपि मधुरविपाकप्राय इत्यर्थः ;

इति चेत् तर्हि कः पाकोऽम्लस्य तोयाग्निगुणभूयिष्ठस्य ? भूम्यग्निगुणबहुलस्य  
 मुश्रुतोक्तस्य लवणस्य कपायस्य तु पवनपृथिवीगुणबहुलस्य च कः पाक इति ।  
 मधुरकटुपाकव्यतिरिक्तपाकस्वीकारमन्तरेण नोपपत्तिः स्यादिति । य एवाम्ल-  
 पाकश्चरकेणोक्तः स मुश्रुतेनोष्णवीर्यमुच्यते ततस्तन्त्रकारयोर्न विरोधः ।  
 मुश्रुतेनाम्लपाको यत् खण्डितः पित्तं हि त्रिदग्धमम्लतामुपैत्यग्नेर्मन्दत्वात्,  
 तदनभ्रपगमान्निरस्तमिति । एष सिद्धान्तो न मनोरमः स्यात् । यदि  
 हि व्रीहिकुलत्थादीनामम्लपाक उपलभ्यते तदा पाकस्य त्रैविध्ये सिद्धे  
 मुश्रुतोक्तद्वैविध्यं व्याहन्यते । तदथेमम्लपाको वीर्यमुष्ण इति वचनमयुक्तम् ।  
 वीर्येण रसविपाकाभिभवात् । लवणकटुकद्रव्ययोरपुष्णवीर्यमस्ति किमर्थं  
 तद्विपाकः स्वीकृत इति ? अथात्र ब्रूमः । बह्वैर्मान्देन विदग्धस्य पित्तस्य  
 अम्लत्वे भुक्तानां षड्रसानामम्लः पाकः । स चेदिष्टस्तदा कफस्य विदग्धस्य  
 लवणत्वे भुक्तानां षड्रसानां लवणः पाकश्चतुर्थे एव स्वीकार्यः स्यादिति वच-  
 नेन भूतगुणादागमाच्चेति वचनेन च तेषां त्रिविधपाकः प्रत्याख्यातः । ये केचित्  
 षड्रसस्याहारस्य प्राकृतवैकारिकसाधारणत्वेन त्रिविधः पाको मधुरोऽम्लः कटुक-  
 श्चेत्याहुः ; ये चैके प्रतिरसं पाक इत्याहुः ; न तु षड्रसस्याहारस्य भुक्तस्य  
 पण्णां रसानां मध्ये कटुतिक्तकपायाणां प्रायशोऽवैकारिकः कटुर्विपाकोऽम्लस्य  
 अम्लो मधुरलवणयोर्मधुर इति पाकत्रयं प्रत्याख्यातम् । जतूकर्णेनाप्युक्त—  
 कटादीणां कटुर्विपाकोऽम्लोऽम्लस्य शेषयोर्मधुर इति । तथा च  
 षड्रसेषु द्रव्येषु भुक्तेषु येषु पच्यमानेषु भ्रम्बुपृथिव्योर्गुर्व्यार्गुणा गुरुखरादयो  
 द्रवादयोऽधिका व्यक्तत्वेनाभिनिर्व्वर्त्तन्ते सजातीयरूपान्तरत्वेन निष्पद्यन्ते,  
 तत्र द्रव्येषु स पाको मधुरो नामोच्यते स गुरुः पाक उच्यते, गुरुगुण-  
 साधर्म्याद्भ्रम्बुपृथिव्योः । तस्मादत्र मधुरशब्दो गुरुपाके पारिभाषिको न तु  
 मधुररसाख्ये पाके । त्रयो हि रसा मधुरकपायलवणा गुरव उक्ताः । उत्तम-  
 मध्यमावरास्ते तत्तद्रसद्रव्याणि तथैव गुरुणि तथैव चिरमध्यावरकाले पच्यन्त  
 इति गुरुपाक उक्तः, न तु मधुरलवणयोः रसमात्रयोः पाको मधुर उक्तः ।  
 इह तु मधुररसद्रव्यलवणरसद्रव्ययोः पच्यमानयोर्मधुरो रसो लवणश्च रसो  
 मधुरविशेषरूपेण पच्यते । तत्र मधुररससहचरिताः स्निग्धगुरुशीताश्च तद्विशेषेण  
 नितरां पच्यन्ते । लवणरससहचरितास्तु गुरुः स्निग्ध उष्णश्चेति त्रयोऽपि  
 विपाकलक्षणन्तु जठराग्नियोगादाहारस्य निष्ठाकाले यो गुण उत्पद्यते, स विपाकः, वचनं हि  
 “जठरेणाग्निना योगाद् यदुदेति रसान्तरम् । आहारपरिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः” ॥५९॥

मधुरत्वेन पाकान्मधुररससहचराः स्निग्धगुरुशीता विशेषेण पच्यन्ते, न तूष्णत्वम् औष्ण्यविशेषेण पच्यते । इति लवणस्य गुरोगुरुपाके पृथिवीगुणानां सजातीयतयाधिक्येनाभिनिवृत्तौ नोष्णगणसजातीय उष्णो न भवति मधुर-  
रसपाकात् । लवणारम्भकाग्निगुणविनाशे भूमितोयगुणोद्रेकात् । निःसारत्वाद्  
वह्नेः । भूमितोययोः ससारत्वादुद्रेके जेषाणां भूमितोयगुणानामाधिक्येनाभि-  
निवृत्तिर्भवेत्तिति द्वयोः अविरोधः । एवं कषायरसद्रव्ये पच्यमाने कषायो रसः  
कटुरसविशेषरूपेण पच्यते । तत्र कषायरससहचरा रुक्षशीतगुरवस्तु गुणाः  
पाकात् अमृतस्य वायोरपगमे तद्गुणस्य शीतस्यापगमे पार्थिवगुणा अधिकत्वे-  
नाभिनिव्वेत्तन्ते । तस्मादयं गुरुः पाको रसपाके कटुरपि मधुर उच्यते । एवं  
लघुपाकस्य संज्ञा कटुरुक्तः—“तेजोऽनिलाकाशगुणाः पच्यमानेषु येषु तु ।  
निव्वेत्तन्तेऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते ॥” इति । तथा च—अम्लकटु-  
तिक्ता अधममध्यमोत्तमा लघव उक्तास्ततस्तत्तद्रसद्रव्याणि तथैव लघूनि ।  
तथैवावरमध्यमोत्तमकाले पच्यन्ते । इति लघुपाक उक्तो भूतगुणपाक एव ।  
न तु अम्लकटुतिक्तरसानां पाक उक्तः । इह तु कटुतिक्तकषायाणां  
कटुरसपाकोऽम्लस्याम्लरसपाक उक्तः । तस्मादम्लकटुतिक्तद्रव्येषु पच्य-  
मानेषु खल्वम्लरसद्रव्यपाकेऽत्राग्निगुणानामम्लरसव्यतिरिक्तानामाधिक्येन  
अभिनिवृत्तिर्भवति । अतोऽधमलघुपाक उक्तः । तत्राम्लो रसस्त्वम्ल एव  
पच्यते विशेषरूपेण तत्राम्लो रसो न तोयगुणो न वाग्निगुण उभयगुण-  
योगे हि तोयस्याव्यक्तरसः परिणम्याम्लः पूर्वज्जातः पश्चादम्लविशेष-  
रूपेण पच्यत इत्यतोऽयं लघुपाकरूपः कटुपाको भूतगुणानामम्ल  
रसस्य पुनरम्ल एव पाक इत्यविरोधः । कटुतिक्तद्रव्याणां पाके  
तिक्तस्य कटरूपेणाभिनिवृत्तिः पाकतो हि तिक्तस्याकाशस्याप्रतिघाता-  
मूर्त्तित्वेन तद्गुणपरिणामाभावेन प्रतिघातामूर्त्तिमतो वायोगुणपरिणामे  
तेजोगुणयोगात् कटुभावनिष्पत्तिरिति । इत्यश्च रसपाकाभिप्रायेण त्रिधा  
पाक उक्तः । सुश्रुते भूतगणपाकाभिप्रायेण द्विधा पाक उक्तो गुरुश्च लघुश्चेति  
क्रमेण मधुरसंज्ञः कटुसंज्ञः । इति । इत्येवं भूतगुणपाके रसपाके चावलवन्तो  
बलवतां वशमापद्यमाना नाभिव्यज्यन्ते । बलवन्तश्चाबलवतोऽवजित्याधिक-  
त्वेनाभिव्यज्यन्ते । इति सर्व्वमतानि साधूनि । वक्ष्यते हि “विरुद्धगुण-  
समवाये भूयसाल्पमवजीयते” इति । इमे मधुराम्लकटुरूपेण रसानां त्रयो  
विपाकाश्चरमपरिणामा रसाख्या आद्यधातौ गुणा भवन्ति । न तु पाकारम्भ-

मधुरो लवणाम्लौ च स्निग्धभावात् त्रयो रसाः ।

वातमूत्रपुरीषाणां प्रायो मोक्षे सुखा मताः ॥

कटुतिक्तकषयाश्च रुक्षभावात् त्रयो रसाः ।

दुःखाय मोक्षे दृश्यन्ते वातविण्मूत्ररेतसाम् ॥ ६० ॥

शुक्रहा वृद्धविण्मूत्रो विपाको वातजः कटुः ।

मधुरः स्त्रुष्टविण्मूत्रो विपाकः कफशुक्रलः ॥

चरमपर्यन्तं पच्यमाने षड्रसद्रव्ये प्रथममध्यमचरमास्त्रवस्थासु मधुराम्लकटु रूपाः, ते च वक्ष्यन्ते ग्रहण्यध्याये—“अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः । मधुराख्यात् कफो भावात् फेनभाव उदीयते ॥ परन्तु पच्यमानस्य विदग्ध-स्याम्लभावतः । आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते ॥ पकाशयन्तु प्राप्तस्य शोध्यमाणस्य वह्निना । परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कफभावतः ॥” इत्यादि । एवं पक्वस्याहारस्य प्रसादपाको रसो नाम धातुः । किट्टपाको मूत्रपुरीषकरूपित्वात् इति ॥ ५९ ॥

गङ्गाधरः—अथ विपाकानां प्रभावमुपदेष्टुं तत्कारणरसानां प्रभावमाह—मधुर इत्यादि । स्निग्धभावादुत्तममध्यमाधमस्निग्धत्वाद्वातादीनां प्रमोक्षे प्रायः क्रमेणोत्तममध्यमाधमरूपेण सुखाः सुखकरा मताः । प्रायःपदेन कपित्थादीनामम्लादिरसा ग्राहिणः । कटुित्यादि । कटुतिक्तकषयाश्चेति कषायकटु-तिक्तास्त्रयो रसा रुक्षभावादुत्तममध्यमाधमरुक्षत्वाद्वातादीनां मोक्षे क्रमेणोत्तम-मध्यमाधमरूपेण दुःखाय दृश्यन्ते । अतिग्राहिणः कषाया मध्यग्राहिणः कटुका अल्पग्राहिणस्तिक्ता इति ॥ ६० ॥

गङ्गाधरः—अत एव विपाकस्य प्रभावमाह—शुक्रहेत्यादि । कटुर्विपाकः

चक्रपाणिः—सम्प्रति वक्ष्यमाणविपाकलक्षणे मधुराम्लपाकयोर्वातमूत्रपुरीषानवरोधकत्वे तथा कटोर्विपाकस्य वातमूत्रपुरीषविवर्धकत्वे हेतुमाह—मधुर इत्यादि । अत्र मधुराम्ललवणा विपाकनिष्ठाः पाकं गता अपि सन्तः स्नेहगुणयोगाद् वातमूत्रपुरीषाणां विसर्गं सुखेन कुर्वन्तीति वाक्यार्थः ; तेन मधुराम्लपाकयोरेतत् समानं लक्षणम् ; एवं कटुतिक्तकषायेष्वपि विपर्ययेऽपि वाक्यार्थः ॥ ६० ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति विपाकलक्षणं हेतुव्युत्पादितं शुक्रहत्वादिविशेषयुक्तं वक्तुमाह—शुक्रहा इत्यादि । अतोऽन्यथेति लघुः ।

पित्तकृत् सृष्टविण्मूत्रः पाकोऽम्लः शुक्रनाशनः ।

तेषां गुरुः स्यान्मधुरः कटुकाम्लावतोऽन्यथा ॥

विपाकलक्षणस्याल्प-मध्यभूयिष्ठतां प्रति ।

द्रव्याणां गुणवैशेष्यान् तत्र तत्रोपलक्षयेत् ॥ ६१ ॥

शुक्रहा वडविण्मूत्रो वातलक्ष । एवं कटुरसस्य ये पूर्वोक्ताः कर्मविशेषा वक्तुं शोधयतीत्यारभ्य लघुरूपो रक्षश्चेत्यन्ताः । मधुरो विपाकः श्रेष्ठस्नेह-भावात् श्रेष्ठः सृष्टविण्मूत्रकफशुक्रलः पूर्वोक्तमधुररसगुणश्च ।

अथाम्लः पाकः स्नेहभावस्य मध्यत्वान्मध्यमरूपेण सृष्टविण्मूत्रः शुक्रनाशनश्च मध्यमः । पित्तकृच्च । एवं पूर्वोक्ताम्लरसगुणश्च बोध्यः । इति । ननु विपाकादेव यदि द्रव्यगुणोदयः स्यान् तदा पणानां रसानां गणः कथं स्यादिति चेत् ? न । प्राग्विपाकाद्वि रसकार्यं भवति पाकादुत्तरं विपाककार्यं भवति । अथैषां त्रयाणां विपाकानां संबन्तरमाह—तेषा-मित्यादि । तेषां मधुराम्लकटुविपाकानां मध्ये मधुरः पाको गुरुः स्यादतो गुरुतोऽन्यथा लघुपाको कटुकाम्लौ । तथा हि सुश्रुतादविरोधः । एषां विपाकलक्षणस्य शुक्रहेत्यादिकर्मणः स्वल्पमध्यभूयिष्ठतां प्रति द्रव्याणां

सम्प्रति यथोक्तविपाकलक्षणानां द्रव्यभेदे कचिदल्पत्वं कचिन्मध्यत्वं कचिच्छेत्-कृत्स्नत्वं यथा स्यात्, तदाह—विपाकेत्यादि । विपाकलक्षणस्याल्पभूयिष्ठतामुपलक्षयेत्, प्रति-प्रतिद्रव्याणां गुणवैशेष्यात् हेतोरित्यर्थः, एतेन द्रव्येषु यथा वैशेष्यं मधुरत्वमधुरतरत्वमधुर-तमत्वादि, ततो हेतोर्विपाकानामल्पत्वादयो विशेषा भवन्तीत्युक्तं भवति । अत्र केचित् ब्रुवते—प्रतिरसं पाको भवति, यथा—मधुरादीनां पणानां पञ्चमधुरादयः पाका इति । केचित् ब्रुवते—बलवतां रसानामबलवन्तो रसा वशतां यान्ति, ततश्चानवस्थितः पाकः ; तत्रैतद् द्वितयपाक-व्यवस्थाकरणमनाहत्य सुश्रुतेन द्विविधः पाकः—‘मधुरः’ ‘कटु’श्चाङ्गीकृतः, द्वैविध्यञ्च—पञ्च-भूतात्मके द्रव्ये पृथिवीतोयातिरेकान्मधुरपाको भवति, शेषलघुभूतातिरेकात् तु कटुकः पाको भवति, यदुक्तम्—“द्रव्येषु पच्यमानेषु येषु स्युः पृथिवीगुणाः । निर्वर्त्तन्तेऽधिकास्तत्र पाको मधुर उच्यते ॥ तेजोऽनिलाकाशगुणाः पच्यमानेषु येषु तु । निर्वर्त्तन्तेऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते ॥” इति ; प्रतिरसपाके तथानवस्थितपाके च द्रव्यं रसगुणैव तुल्यं पाकावस्थायामपि स्यात्, तेन कश्चित् विशेषो विपाके न तत्र बुध्यत इति सुश्रुतेन तत् पक्षद्वयमुपेक्षितमिति साधु कृतम् ; तृतीयाम्ल-पाकनिरासः पुनर्दोषमावहति, यतः ब्रीहिकुलत्थादीनामम्लपाकतया पित्तकृत्त्वमुपलभ्यते । अथ मन्यसे—ब्रीह्यादेरुष्णवीर्यत्वेन तत्र पित्तकृत्त्वम् ; तत्र मधुरस्य ब्रीहेस्तन्मते च मधुर-

गणवैशेष्यादल्पमध्यश्रेष्ठत्वात् तत्र तत्र विपाककर्मसु स्वल्पमध्यमश्रेष्ठत्वमुप-  
लक्षयेत् । तेन मधुररसविपाको मधुरः श्रेष्ठो विष्मृत्रमोक्षे कफशुक्रवृद्धौ च ।  
लवणरसविपाको मधुरस्त्वल्पः सृष्टविष्मृत्रः कफशुक्रलश्चाल्पः । अम्लश्च  
मध्यमः सृष्टविष्मृत्रः शुक्रनाशनश्च मध्यमः । तिक्तकटुकपायाणां तिक्तरस-  
विपाकः कटुरल्परूपेण शुक्रहा वद्धविष्मृत्रा वातलश्च । कटुरसविपाकः

विपाकस्योष्णवीर्यनायामपि सत्यां न पित्तकतृत्वमुपपद्यते रसविपाकः स्यामेकस्य वीर्यस्य बाध-  
नीयत्वात् । किञ्च, अम्लपाकत्वाद् ब्रीह्यादेः पित्तमम्लगुणमुत्पद्यते, यदि तु तदुष्णवीर्यताकृतं  
स्यात् तदा कटुगुणभूयिष्ठं पित्तं स्यात् । इत्येते च ब्रीहिभक्षणादम्लोद्गारादिना अम्लगुणभूयिष्ठ-  
नैवेति : किञ्च, पृथिवीसोमगुणातिरेकान्मधुरपाको भवति, वायव्यग्न्याकाशातिरेकाच्च कटु-  
र्भवतीत्यपेक्षया यदा व्याग्निश्रुणातिरेकता स्यात्, तदा सोमग्न्यात्मकस्याम्लस्योत्पादः कथं  
प्रतिक्षेपणीयः ? अथवा तन्त्रकारयोः किमनयोरेकेन वचनमात्रविरोधेन कर्तव्यम् ? यतः  
यदम्लपाकं चरको ब्रूते, तत् सुश्रुतेन वीर्योष्णमिति कृत्वा समाधीयते, तेन न कश्चित् द्रव्यगुणे  
विरोधः, यत् तु सुश्रुते अम्लपाकनिरामार्थं दूषणमुच्यते—“पित्तं हि विदग्धमम्लतामुपैति”  
इत्यादिना, तदनभ्युपगमादेव निरस्तम् । ननु लवणस्य मधुरपाकित्वे पित्तरक्तादिकर्तृत्वमनुप-  
पन्नं, तथा तिक्तकपाययोः कटुपाकित्वे पित्तहन्तृत्वमनुपपन्नम्, नैवम, सत्यपि लवणस्य मधुर-  
पाकित्वे तत्र लवणे रस उष्णश्च वीर्यं यदस्ति, तेन तु पित्तरक्तादिकारकत्वम् ; विपाकस्तु तत्र  
पित्तरक्तहरणलक्षणे कार्यं बाधितः सन् “सृष्टविष्मृत्रः” इत्यादिना लक्षणेन लक्ष्यत एव । एतेन,  
यदुच्यते—लवणे मधुरो विपाकश्चेत्, रसवीर्याभ्यां बाधितः सन् स्वकार्यकरो न स्यात्, तत्  
किं तेनोपदिष्टेति तन्निरस्तं स्यात्, यतः अस्त्येव सृष्टविष्मृत्रतादिना तत्र लवणे मधुरविपाकित्वं  
लक्षणीयम् ; अनया दिशा तिक्तकपाययोरपि पूर्वपक्षपरिहारः । अन्ये तु दोषभयात् लवणोऽम्लं  
पच्यत इति व्याख्यानयन्ति “लवणस्तथा” इत्यत्र ‘तथा’पदेन विप्रकृष्टस्याम्लस्य कर्षणादिति,  
तत्र, “कटुादीनां कटुको विपाकोऽम्लोऽम्लस्य शेषयोर्मधुरः” इति जतूकर्णवचनात् ; न च वाच्यम्,—  
कस्मात् त्रय एव विपाका भवन्ति, न पुनस्तिक्तादयोऽपीति, यतः भूतस्वभाव एवैषः, येन मधुरा-  
दयस्त्रय एव भवन्ति, भूतस्वभावाश्चापर्यनुयोज्याः । ननु, यश्च रसविपरीतः पाकः—यथा—  
लवणस्य मधुरः, तिक्तकपाययोश्च कटुः, स उच्यताम्, यस्तु समानगुणो मधुरस्य मधुरोऽम्लस्य  
अम्लः कटुकस्य वा कटुकः, तत्कथने किं प्रयोजनम्, यतः रसगुणैरेव तत्र विपाकगुणोऽपि  
ज्ञास्यते, नैवम्, येन, लवणादिवद्विसदृशरसान्तरोत्पादशङ्कानिरासार्थमपि तत्रानुगुणोऽपि  
विपाको वक्तव्य एव, विपाकजश्च रस आहारपरिणामन्ते भवति, प्राकृतस्तु रसो विपाकविरुद्धः  
परिणामकालं वर्जयित्वा ज्ञेयः, तेन, पिप्पल्याः कटुकरसत्वमादौ कष्टस्थलेष्मक्षेपणसुख-  
शोधनादिकर्तृत्वेन सप्रयोजनम्, मधुरविपाकत्वन्तु परिणामेन वृष्यत्वज्ञापनेन सप्रयोजनम् ;  
तथा यत्र विपाकस्य रसाः समानगुणतयानुगुणा भवन्ति, तत्र बलवत् कार्यं भवति ;  
विपर्यये तु दुर्बलमिति ज्ञेयम् ; एतच्च पाकत्रयं द्रव्यनियतं ग्रहण्यध्याये वक्ष्यमाणाहारावस्था-

मृदुतीक्ष्णगुरुलघु-स्निग्धरुजाण्यशीतलम् ।

वीर्यमष्टविधं केचित् केचिद् द्विविधमास्थिताः ॥

शीतोष्णमिति वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया ।

नावीर्यं कुम्भे किञ्चित् सत्त्वा वीर्यकृता हि सा ॥

कदुमध्यमरूपेण । कपायरसविपाकः कदुमत्तरूपेणेति । इत्येवं द्रव्याणां स्नेहरीक्ष्यादिगुणवैशेष्यादल्पमध्यश्रेष्ठत्वादुपलक्ष्य ब्रूयात् ॥ ६१ ॥

**गङ्गाधरः**—ननु स्नेहादयो गुणाः किं कुर्वन्ति कदा वेति ? अत आह—  
मृद्वित्यादि । मृदादिकमष्टविधं वीर्यमास्थिताः केचिदपरे केचिच्छीतोष्ण-  
मित्येव द्विविधं वीर्यमास्थिताः । इति । मुश्रुते चोक्तं—“तत्र वीर्यं द्विविधम्  
उष्णं शीतञ्चाग्नीषोमीयत्वाज्जातः । केचिदष्टविधमाहुः—उष्णं शीतं स्निग्धं  
रुक्षं विशदं पिच्छिलं मृदु तीक्ष्णञ्च इत्येतानि वीर्याणि स्वयन्गुणोत्कर्षाद्  
रसमभिभूयात्पकम्भे कुर्वन्ति । इति ।” तत्र य इमे गुणा वीर्यसंज्ञकाः शीतोष्ण-  
स्निग्धरुक्षमृदुतीक्ष्णविशदपिच्छिलास्तेषां तीक्ष्णोष्णावाग्नेयौ शीतपिच्छिला-  
वम्बुगुणभूयिष्ठौ पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठः स्नेहः । वातवग्निभूयिष्ठं रौक्ष्यम् ।  
तोयाकाशभूयिष्ठं मृदुत्वम् । सितिसमीरणभूयिष्ठं वैशद्यम् । गुरुलघुविपाका-  
वृत्तगुणौ । तत्रोष्णस्निग्धौ वातशौ । शीतमृदुपिच्छिलाः पित्तघ्नाः । तीक्ष्णरुक्ष-  
विशदाः श्लेष्मघ्नाः । गुरुपाको वातपित्तघ्नः । लघुपाकः श्लेष्मघ्नः । तेषां मृदु-  
शीतोष्णतीक्ष्णाः स्पर्शग्राह्याः । पिच्छिलविशदौ चक्षुःस्पर्शाभ्याम् । स्निग्धरुक्षौ  
चाक्षुषौ । शीतोष्णौ सुखदुःखोत्पादनेनेति । अत्र पिच्छिलविशदौ न  
वीर्यसंज्ञयोक्तौ गुरुलघू च वीर्यसंज्ञयोक्तौ । मुश्रुते विपाकावुक्तावेति । तत्र  
स्वमतमाह—वीर्येन्वित्यादि । क्रियते येन या क्रिया तस्यां क्रियायां तस्य सा  
क्रिया साधनं वीर्यं भवति । तहि किं द्रव्याणां गुणाः कर्माणि च  
चिन्त्यान्यचिन्त्यानि प्रभावाख्यानीति सर्व्वं वीर्यं भवतीति ? अत  
आह—नावीर्यमित्यादि । किञ्चिदप्यवीर्यं वस्तु न किञ्चित् कर्म  
पाकात् भिन्नमेव, तत्र ह्यविशेषेण सर्व्वेषामेव रसानामवस्थावशात् त्रयः पाका वाच्याः “अन्नस्य  
भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः” इत्यादिना ग्रन्थेन ॥ ६१ ॥

**चक्रपाणिः**—एकीयमतेन वीर्यलक्षणमाह—मृद्वित्यादि । एतच्चैकीयमतद्वयं पारिभाषिकीं  
वीर्यसंज्ञां पुरस्कृत्य प्रवृत्तम् । वैद्यके हि रसविपाकप्रभावव्यतिरिक्ते प्रभूतकार्यकारिणि गुणे  
“वीर्यम्” इति संज्ञा, तेन अष्टविधवीर्यवादिमते पिच्छिलविशदादयो गुणा न रसादिविपरीतं



रसो निपाते द्रव्याणां विपाकः कर्मनिष्ठया ।

वीर्यं याददधीवासान्निपाताच्चोपलभ्यते ॥ ६२ ॥

कुरुते । कस्मात् ? सर्वा क्रिया हि यस्माद्वीर्यकृता द्रव्येष्वारोप्यते । सुश्रुतेऽप्येवम् । येन कुर्वन्ति तद्वीर्यमिति तथा द्विधा वीर्यमष्टधा वीर्यञ्चानयोद्वयोर्मतेऽन्तर्भूतं भवति । ननु सुश्रुते चोक्तम्—“तद् द्रव्यमात्मना किञ्चित् किञ्चिद्वीर्येण सेविनम् । किञ्चिद्रसविपाकाभ्यां दोषं हन्ति करोति वा ॥” इति । स्वयञ्चात्राध्याये पूर्वमुक्तं—तत्र किञ्चिद्रव्याणि गुणप्रभावादेव काम्मुकाणि भवन्ति । द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावाद् गुणप्रभावात् यत् कुर्वन्ति तत् कर्म इत्यादि । तत् कथं नावीर्यं कुरुते किञ्चित् सर्वा वीर्यकृता हि सा इति सङ्गच्छते ? उच्यते—तद्द्रव्यमात्मना किञ्चिदिति यदुक्तं तदात्मना स्ववीर्येण प्रभावेणेति च द्रव्यस्य वीर्येणेति ततो नानुपपत्तिः ।

यद्यप्येवं द्रव्याणां स्वप्रभावो वीर्यं गुणाश्च रसादयः सर्वाणि वीर्याणि तत् कथं रसादीनां भेद उपलभ्यत इति ? अत उच्यते—रसो निपात इत्यादि । द्रव्याणामभ्यवहित्यमाणानां मुखे रसनायां निपाते रसो मधुरादिः

कार्यं प्रायः कुर्वन्ति, तेन तेषां रसाद्युपदेशेनैव ग्रहणं, मृदादीनान्तु रसाद्यभिभावकत्वमस्ति, यथा—पिप्पल्यां कटुरसकार्यं पित्तकोपनमभिभूय तद्गते मृदुशीतवीर्यं पित्तमेव शमयत इति, तथा कषाये तित्तानुरसे महति पञ्चमूले तत्कार्यं वातकोपनमभिभूय उष्णेन वीर्येण तद्विरुद्धं वातशमनमेव क्रियते, तथा मधुरेऽपीक्षौ शीतवीर्यत्वेन वातवृद्धिरित्यादि ; यदुक्तं सुश्रुते—“एतानि खलु वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षात् रसमभिभूयात्मकर्म दर्शयन्ति” इत्यादि ; शीतोष्ण-वीर्यवादिमतन्तु अग्नीषोमीयत्वाजगतः शीतोष्णयोरेव प्राधान्याज्ज्ञेयम् ; उक्तञ्च—“नानात्मकमपि द्रव्यमग्नीषोमौ महाबलौ । व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित्” ॥ एतच्च मतद्वयमप्याचार्यस्य परिभाषासिद्धमनुमतमेव, येन उत्तरत्र “रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते” इत्यादौ पारिभाषिकमेव वीर्यं निर्देक्ष्यति । पारिभाषिकवीर्यसंज्ञापरित्यागेन तु शक्तिपर्यायस्य वीर्यस्य लक्षणमाह—वीर्यं शक्तिरित्यादि । वीर्यमिति शक्तिः, येनेति रसेन वा विपाकेन वा प्रभावेण वा गुर्वादपिपरत्वादिभिर्वा गुणैर्या क्रिया तर्पणह्लादनशमनादिरूपा कृत्स्ना क्रियत इत्युपदिश्यते, तस्यां क्रियायां तद्रसादि वीर्यम्, अत एवोक्तं सुश्रुते,—“येन कुर्वन्ति तद् वीर्यम्” इति । अत्रैव लोकप्रसिद्धानुपपत्तिमाह—नावीर्यमित्यादि । अवीर्यमशक्तिमित्यर्थः ; वीर्यकृतेति वीर्यकृता कृता वीर्यकृता ।

रसादीनामेकद्रव्यनिविष्टानां भेदेन ज्ञानार्थं लक्षणमाह—रसो निपात इत्यादि ।

रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते ।

विशेषः कर्मणाञ्चैव प्रभावस्तस्य स स्मृतः ॥

कटुकः कटुकः पाके वीर्यपिण्डश्चित्रको भवति ।

तद्वद् दन्ती प्रभावात् तु विरेचयति ज्ञानवत् ॥

उपलभ्यते । न तु सर्वं वीर्यम् ; तर्हि विपाकोऽपि वीर्यं निपाते द्रव्याणां नोपलभ्यते । कथमुपलभ्यते ? तदाह—विपाकः कर्मनिष्ठयेति । द्रव्याणां भुक्तानां यावन्ति कर्माणि तावतां कर्मणां निष्ठया परिसमाप्ता विपाक उपलभ्यते । तर्हि रसविपाकयोर्वीर्ययोरुपलब्धिकारणमुत्तवा शेषं यावद्वीर्यं संब तदुपलब्धिमाह—वीर्यं यावदित्यादि । द्रव्याणां रसनायां निपातात् प्रभृति शरीरेऽधीवासाद् यावदुपलभ्यते । कदाचित् कस्यचित् रसस्योपलब्धिनिपाते विपाकस्य कर्मनिष्ठया शेषाणां यथाहमिति ॥ ६२ ॥

गङ्गाधरः—ननु द्रव्याणां गुणाः कर्माणि च दृश्यन्ते पदार्थाः, द्रव्यप्रभावश्च कीदृश इति ? अत उच्यते—रसेत्यादि । यत्र वस्तुनि रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यस्य रसस्य यत् कार्यं यस्य विपाकस्य च यत् कार्यं यस्य वीर्यस्य च यत् कार्यं तत्तस्य सामान्यं यत्र वस्तुनि लक्ष्यते तत्र कर्मणाञ्च यो विशेषो लक्ष्यते स कर्मणां विशेषस्तस्य वा वस्तुनः प्रभावः स्मृतः । तदुदाहरति—कटुक इत्यादि । चित्रकः कटुको रसे पाके च कटुकः । वीर्यं चोष्णः । तस्य निपात इति रसनायोगे, कर्मनिष्ठयेति कर्मणो निष्ठा निष्पत्तिः कर्मनिष्ठा क्रिया-परिसमाप्तिः—रसोपयोगे सति योऽन्त्याहारपरिणामकृतः कर्मविशेषः ककशुक्राभिवृद्ध्यादिलक्षणः, तेन विपाको निश्चीयते ; अधीवासः सहावस्थानं, यावदधीवासादिति यावच्छरीरनिवासात्, एतच्च पाकात् पूर्वं निपाताच्चोद्धं ज्ञेयम् । निपाताच्चेति शरीरसंयोगमात्रात्, तेन किञ्चिद् वीर्यमधीवासादुपलभ्यते, यथा—आनूपमांसादेरुणत्वम्, किञ्चिच्च निपातादेव लभ्यते, यथा—मरीचादीनां तीक्ष्णत्वादि, किञ्चिच्च निपाताधीवासाभ्याञ्च, यथा—मरीचादीनां दीपनीयादीनाम् एव ; एतेन रसः प्रत्यक्षेणैव, विपाकस्तु नित्यपरोक्षस्तत्कार्येणानुमीयते, वीर्यन्तु किञ्चिदनुमानेन, यथा—सैन्धवगतं सैत्यम् आनूपमांसगतं वा औष्ण्यं, किञ्चिच्च वीर्यं प्रत्यक्षेणैव यथा—राजकागतं तैक्ष्ण्यं घ्राणेन, पिच्छिलविशदस्निग्धरुक्षादयः चक्षुःस्पर्शनाभ्यां निश्चीयन्ते इति वाक्यार्थः । एतच्च वीर्यं सहजं कृत्रिमञ्च ज्ञेयम् ; एतच्च यथासम्भवं गुहलब्धादिषु वीर्येषु लक्षणं ज्ञेयम्, द्रव्याणामिति उपयुजमानद्रव्याणाम् ; एतच्च वीर्यलक्षणं पारिभाषिकमेव ॥ ६२ ॥

चक्रपाणिः—प्रभावलक्षणमाह—रसवीर्येत्यादि । सामान्यमिति तुल्यता, विशेषः कर्मणाम् इति दन्त्याद्याश्रयाणां विरेचनत्वादीनां ; सामान्यं लक्ष्यत इत्यनेन रसादिकार्यत्वेन यन्नाव-

विषं विषघ्नमुक्तं यत् प्रभावस्तत्र कारणम् ।

ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत् प्रभावप्रभावितम् ॥

मणीनां धारणीयानां कर्म यद् विविधात्मकम् ।

तत् प्रभावकृतं तेषां प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते ॥ ६३ ॥

तस्य कार्यं सामान्यं कटुस्मस्य यत् कार्यं कटुपाकस्य यत् कार्यमुष्ण-  
वीर्यस्य च यत् कार्यं तत्तल्लक्ष्यते न चाधिकं कर्म लक्ष्यते । तद्वद् दन्ती  
रमे कटुका पाके कटुका वीर्यं चोष्णा तत्तद्रसपाकवीर्याणां कर्माणि  
शुक्रहवनविष्मत्रवन्धादीनि यानि तेषु मध्ये सर्वं सामान्यं लक्ष्यते  
विशेषस्तु विरेचनं कर्म लक्ष्यते यत्तत् प्रभावान्मानवं विरेचयति ।  
अपरश्च—विषमित्यादि । विषं विषघ्नं यदुक्तं जङ्गमविषघ्नं  
स्थायरविषं, स्थावरविषघ्नं जङ्गमविषं विपरीतगतिताम् । जङ्गमविषमूर्द्ध्वं  
स्थायरविषमधोगमिति परस्परं गतिविपरीतत्वेन मिथो नाशकमपि यद्गति-  
विपर्ययः स प्रभावादवेति । यच्चोर्ध्वानुलोमिकं द्रव्यं मदनादित्रिष्टनादिकं  
तदपि प्रभावप्रभावितम् । एवं चन्द्रकान्तादीनां मणीनां ग्रहपीडादिशान्त्यर्थ-  
मपामार्गमूलादीनां धारणीयानां यद्वाहविषादिग्रहपीडादिप्रशमनादिकं विवि-  
धात्मकं कर्म दृश्यते तेषां प्रभावकृतं तत्तत् कर्म न तु रसपाकवीर्यकृतं  
भवति । न तु येन या क्रिया क्रियते तस्यां क्रियायां तस्य तद्वीर्यमुक्तम् ।  
ततो वीर्यमेव प्रभावः कथं वीर्यसामान्ये कर्मविशेष एष प्रभावोऽतिरिच्यत  
इति ? अत आह—प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते इति । येन कुर्वन्ति तद्वीर्यमिति

धारयितुं शक्यते कार्यं, तत् प्रभावकृतमिति सूचयति, अत एवोक्तम्—‘प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते’ ;  
रसवीर्यविपाकतयाचिन्त्य इत्यर्थः । अस्मैव दूरभिगमत्वादुदाहरणानि बहून्वाह—कटुक  
इत्यादिना । तद्वदन्ती चित्रकसमानगुणा, विषघ्नमुक्तमिति ‘तस्माद् दंष्ट्राविषं मौलम्’  
इत्यादिना ; ऊर्ध्वानुलोमिकमिति युगपत् उभयभागहरम् ; किंवा, ऊर्ध्वंहरं तथानुलोमकरञ्च ।

कर्म यद्विविधात्मकमिति विषहरणशूलहरणादि ; एतच्चोदाहरणमात्रम्, तेन, जीवन-  
मेध्यादिद्रव्यस्य रसाद्यचिन्त्यं सर्वं ‘प्रभावः’ इति ज्ञेयम् ; प्रभावश्चेह द्रव्यशक्तिरभि-  
प्रेता, सा च द्रव्याणां सामान्यविशेषः—दन्तीत्वादियुक्ता व्यक्तिरेव, यतः शक्तिर्हि स्वरूपमेव  
भावानाम्, नातिरिक्तं किञ्चिद्भिन्नान्तरं भावानाम्, एवं प्रवेशान्तरोक्तगुणप्रभावेष्वपि वाच्यम्,  
यथोक्तं—‘द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावाद् गुणप्रभावाद्’ इत्यादि ; न च वाच्यम्—दन्त्यादिरेव

किञ्चिद् रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापःम् ।

द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किञ्चन ॥

साधारणलक्षणेन रसपाकवदस्पर्शादिगुरुत्वाद्यवादीनि कर्माणि च सर्वाणि वीर्याणि भवन्ति । तत्र यस्य यत्कर्म तत् तस्य चिन्तया निर्वक्तुं शक्यं तद्व्यतिरिक्तं द्रव्यस्य यत् कर्मविशेषः सोऽचिन्त्यः तत्तद्रसपाकगुणकर्मभिः कार्यतया चिन्तयितुमशक्यस्ततः प्रभावः शक्तिविशेष उच्यते । प्रभवनं प्रभावः सामर्थ्यं स्वस्वारम्भकद्रव्यसंयोगे समवेतानां तेषां द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वात् तत्र द्रव्यात् सजातीयद्रव्यान्तरं जायते गुणात् सजातीय-गुणान्तरं जायते । कर्मणान्तु सजातीयकर्मारम्भकत्वनियमाभावात् कर्मा-साध्यकर्मभावाच्च यत्र विजातीयं कर्म तदारम्भकद्रव्याणां कर्माप्यारभन्ते । तद्विजातीयं कर्म स्वत्वचिन्त्यं स प्रभाव उच्यते । कार्यभूतं कर्मेदं कर्म-पदार्थः प्रभावः । कार्यद्रव्यं दन्तादिकं तत्कर्मविशेषेण स्वीयेन प्रभावेण विरेचनादि कर्म करोतीति ॥ ६३ ॥

गङ्गाधरः—तथा चोच्यते—किञ्चिदित्यादि । द्रव्यन्तु रसेन किञ्चित् कर्म कुरुते । अपरं किञ्चित् कर्म वीर्येण वीर्यसंज्ञकेन गुणाष्टकेन कुरुते । किञ्चन कर्म गुणेन रसवीर्यसंज्ञगुणव्यतिरिक्तेन गन्धादिस्थिरमरादिना कुरुते । किञ्चन कर्मे पाकेन कुरुते । किञ्चन कर्म स्वस्य प्रभावेण कुरुते । इति प्राधान्यादद्रव्यप्रभाव उदाहृतः । रसादीनां खलु मधुरादीनामपि यत् स्वस्वलक्षणं स्वभावसिद्धं तत् तस्य तस्य प्रभावकृतमुन्नेयम् । यथाग्ने रूपां प्रकाशयति भूमे रूपां तमो न प्रकाशयति । औष्ण्यं दहति शैत्यं शीतयतीत्येवमादि सर्वं प्रभाववदेव नाप्रभावं किञ्चिदस्ति द्रव्यं वा गुणो वा कर्म वेति ।

स्वरूपत एव विरेचयति, तेन किमिति जलाद्युपहता दन्ती न विरेचयतीति ; प्रतिबन्धका-भावविशिष्टस्यैव प्रभावस्य कारणत्वात्, जलोपहतायां दन्त्यां जलोपवातः प्रतिबन्धक इत्याद्यनु-सरणीयम् ; नैयायिकशक्तिवादे—या च विषस्य विषमत्वे उपपत्तिरुक्ता ऊर्द्धाधोगामित्वविरोध-लक्षणा, सान्तर्भागीत्वात् प्रभावादेव स्यात्, एवमुर्द्धानुलोमिकत्वादौ पार्थिवत्वादिलक्षणेऽपि वाच्यम् ॥ ६३ ॥

रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तान्यपोहति ।

गुणसाम्ये \* रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम् ॥

सम्यविपाकवीर्यं हि प्रभावश्चाप्युदाहृतः ।

पराणां रसानां विलासमुपदेक्ष्याम्यतः परम् ॥ ६८ ॥

ननु मृदुतीक्ष्णादयोऽष्टौ गुणाः कथं वीर्यसंज्ञया पृथगुपदिश्यन्ते इति ? अत उच्यते—रसनित्यादि । द्रव्ये यो रसो वर्तते यदि पाकश्च स एव रसः स्यात् तदा न विरोधः स्यात् । यत्र द्रव्ये रसपाकयोर्विरोधो वर्तते यथा—तिक्तः पित्तशमनस्तस्य पाकः कटुः पित्तवर्द्धनस्तत्र विपाको रसमपोहति स्वबलगुणोत्कर्षात् । तिक्तस्तु प्राग्विपाकात् स्वकर्म करोति पाके तु कटुः सन् तिक्तकर्म न कृत्वा कटुकर्म करोतीति । वीर्यन्तु मृदुतीक्ष्णादिगुणाष्टकं तौ रसविपाकौ विरोधिनो अपोहति स्वबलगुणोत्कर्षात् । यथार्कागुरु-गुडूचीनां तिक्तं रसं कटुश्च विपाकमुष्णवीर्यमपोहति । निपातावधि यावदधी-वासं तिक्तकायकटुपाककायं न कृत्वोष्णवीर्यकायमेकादीनि कुर्वन्ति । प्रभावस्तु तानि रसविपाकवीर्याण्यपोहति स्वबलगुणोत्कर्षात् । यथा दन्ती कटुरसकायं कटुपाककायमुष्णवीर्यकायश्च निरस्य प्रभावकायं विरेचनं करोति । कुत एवं बलावलं रसादीनामिति ? अत उच्यते—गुणसाम्य इत्यादि । रसादीनां रसविपाकवीर्यप्रभावाणां गुणकर्मतया विशेषे सत्यपि द्रव्यस्य कायभूतस्य द्रव्यगुणकर्मसमुदायात्मकस्यारम्भकाणां द्रव्याणां प्राधान्याद् द्रव्यांशस्य प्राधान्यं गुणकर्मणामारम्भकाणामप्राधान्यात् तदारब्धगुणकर्मणा-मपि रसविपाकवीर्यसंज्ञप्रभावाणां गुणीभावाद् गुणसंज्ञा तद्गुणभाव-साम्येऽपि खल्वतिबलं रसादधिकं बलं विपाकस्य विपाकाद्वीर्यस्य वीर्यात् प्रभावस्य यत् तन्नेसर्गिकं स्वाभाविकं स्वभावसिद्धं न तु कारणजमिति । सुश्रुतेऽप्युक्तं—“एतानि वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षात् रसमभिभूयात्मकम्व कुर्वन्ति । यथा—तावन्महत् पञ्चमूलं कषायं तिक्तानुरसं वातं शमयेदुष्ण-वीर्येणात् । तथा कुलथः कषायः कटुकः पलाण्डुः स्नेहभावाच्च । मधुर-

चक्रपाणिः—विज्ञात्रतेऽनेनेति विज्ञानं लक्षणमित्यर्थः ॥ ६८ ॥

\* बलसाम्ये इति वा पाठः ।

स्नेहनप्रीणनाह्लाद-मार्दवैरुपलभ्यते ।

मुखस्थो मधुरश्चास्यं व्याप्नुवन् लिम्पतीव च ॥

इक्षुरसो वातं वद्धयति शीतवीर्य्येत्वात् । कटुका पिप्पली पित्तं शमयति मृदुशीतवीर्य्येत्वात् । अम्लमामलकं लवणं सैन्धवञ्च । तिक्ता काकमाची पित्तं वद्धयति उष्णवीर्य्येत्वात् । मधुरा मत्स्याश्च । कटुकं मूलकं श्लेष्माणं वद्धयति स्निग्धवीर्य्येत्वात् । अम्लं कपित्थं श्लेष्माणं शमयति रुक्षवीर्य्य-त्वान्मधुरं क्षौद्रञ्च । तदेवं निदर्शनमात्रमुक्तम् । भवन्ति चात्र । ये रसा वातशमना भवन्ति यदि तेषु वै । रौक्ष्यलाघवशैत्यानि न ते हन्युः समीरणम् ॥ ये रसाः पित्तशमना भवन्ति यदि तेषु वै । तैक्ष्ण्यौष्ण्यलघुताश्चापि न ते तनु-कर्मकारिणः ॥ ये रसाः श्लेष्मशमना भवन्ति यदि तेषु वै । स्नेहगौरवशैत्यानि बलासं वद्धयन्ति ते ॥ तस्माद्वीर्य्यं प्रधानमिति । नेत्याहुरन्ये । विपाकः प्रधान-मिति । कस्मात् ? सम्यङ्मिथ्याविपाकत्वात्, इह सर्व्वद्रव्याण्यभ्यवहृतानि सम्यङ्मिथ्याविपाकानि गुणं दोषं वा जनयन्तीति । पाको नास्ति विना वीर्य्याद्वीर्य्यं नास्ति विना रसात् । रसो नास्ति विना द्रव्यात् द्रव्यं श्रेष्ठमतः स्मृतम् ॥ जन्म तु द्रव्यरसयोरन्योन्यापेक्षिकं स्मृतम् । अन्योन्यापेक्षिकं जन्म यथा स्याद् देहदेहिनोः ॥ वीर्य्यसंज्ञा गुणा येऽष्टौ तेऽपि द्रव्याश्रयाः स्मृताः । द्रव्ये द्रव्याणि यस्माद्धि विपच्यन्ते न षड्रसाः । श्रेष्ठं द्रव्यमतो ज्ञेयं शेपा भावा-स्तदाश्रयाः ॥ अमीमांस्यान्यचिन्तानि प्रसिद्धानि स्वभावतः । आगमेनोप-योज्यानि भेषजानि विचक्षणैः ॥ प्रत्यक्षलक्षणकलाः प्रसिद्धाश्च स्वभावतः । नौषधीहेतुभिर्विद्वान् परीक्षेत कथञ्चन । सहस्रेणापि हेतूनां नाम्ब्रह्मादि-र्विरेचयेत् । तस्मात् तिष्ठेत् तु मतिमानागमे न तु हेतुषु ॥” इति ।

अथोपसंहरति—सम्यगित्यादि । अतः परं विपाकवीर्य्यप्रभावाणामुदा-हरणात् परम् । विज्ञानं विज्ञानसाधनं स्वरूपतो लक्षणम् ॥ ६४ ॥

गङ्गाधरः—तद्यथा—स्नेहनेत्यादि । मधुरो रसो मुखस्थः सन् स्नेहनादिभिः कर्म्मभिस्तु रसनेन्द्रियेणोपलभ्यते । अम्लोऽप्येभिरुपलभ्यते । तद्वागृत्तरथम् आह—मुखस्थ इत्यादि । मुखस्थः सन्नास्यं व्याप्नुवन् लिम्पतीव मुखमुपलभ्यते । न त्वन्ये रसा आस्यं व्याप्नुवन्त आस्यं लिम्पन्तीवोप-लभ्यन्ते ।

दन्तहर्षान्मुखास्त्रावात् स्वेदनान्मुखबोधनात् ।  
 प्राश्यैवाम्लरसं विद्याद् विदाहाच्चास्यकण्ठयोः ॥  
 प्रीणयन्\* क्लेदविष्यन्द-भाह्वं कुरुते मुखे ।  
 यः शीघ्रं लवणो ज्ञेयः स विदाहान्मुखस्य च ॥  
 संवेजयेद् यो रसनां निपाते मुह्यतीव† च ।  
 विदहन् मुखनासाक्षि-संस्त्रावी स कटुः स्मृतः ॥  
 प्रतिहन्ति निपाते यो रसनं स्वदते न च ।  
 स तिक्तो मुखवैशद्य-शोषप्रह्लादकारकः ॥

अम्लविज्ञानमाह—दन्तेत्यादि । अम्लं रसं प्राश्यैव तद्रसद्रव्यं दन्त-  
 हर्षादितो विद्याद् । दन्तहर्षश्च मुखस्त्रावश्च स्वेदनश्च मुखप्रबोधनश्चास्य-  
 कण्ठविदाहश्चाम्लप्राशने स्यादिति ।०। एवञ्च लवणप्राशनेऽपि स्यात्  
 तद्ग्रावृत्त्यर्थमाह—प्रीणयन्नित्यादि । यो रसः प्राश्यमानः खलु प्राशि-  
 तारं जनं प्रीणयन् मुखे क्लेदादीनि कुरुते शीघ्रं न तु दन्तहर्षं कुरुते  
 स रसो मुखस्य विदाहाच्च लवणो ज्ञेय इति । मधुरस्य मुखविदा-  
 हादिकर्माभावादम्ललवणाभ्यां भेदः, दन्तहर्षाभावाल्लवणस्याम्लतो भेदः ।  
 तर्हि मुखविदाहश्च कटुकादपि भवतीति ? अत आह—संवेजयेदित्यादि ।  
 यो रसो मुखे निपाते रसनं संवेजयेदुद्वेजयेत् । मुह्यतीव मोहयतीव  
 यः । मुखनासाक्षि विदहन् यो मुखविदाहा स्यात् स कटुकः स्मृतः ।  
 इति पूर्वाभ्यां भेदः ।

तिक्तरसविज्ञानमाह—प्रतिहन्तीत्यादि । यो रसो मुखे निपाते  
 रसनं प्रतिहन्ति न च स्वदते । रसनस्य तदा स्वादनक्रियायामनुत्साहः  
 प्रतिघातः । स्वदते हि न । लवणकटुकयोरेवं रसप्रतिघातकत्वे तद्वारणार्थं  
 स्वदते न चेति । यथा मधुराम्लौ स्वदते न तथा लवणकटुकाविति तद-

चक्रपाणिः—प्रलीयन्निति विलीनो भवन्, संस्त्रावयतीति संस्त्रावी । विकसातीति हृदय-  
 विकसनशीलः, उक्तं हि सुश्रुते—“हृदयं पीडयति” इति ॥ ६५ ॥

\* प्रीणयन्नित्यत्र प्रलीयन् इति पाठान्तरम् ।

† मुह्यतीवेत्यत्र तुदतीवेति वा पाठः ।

वैषम्य\*स्तम्भजाड्यैर्यो रसनं योजयेद् रसः ।

वध्नातीव च यः कण्ठं कषायः स विकाश्यथ ॥ ६५ ॥

एवमुक्तवन्तं भगवन्तमात्रेयं पुनरग्निवेश उवाच ।  
भगवन् ! श्रुतमेतद्वितथमर्थसम्पद्युक्तं भगवतो यथावद्द्रव्य-  
गुणकर्मधिकारे वचः । परन्तु आहारविकाराणां वैरोधिकानां  
लक्षणमनतिसंक्षेपेणोपदेश्यमानं शुश्रूषामहे इति ॥ ६६ ॥

तमुवाच भगवानात्रेयः, देहधातुप्रत्यनीकभूतानि द्रव्याणि  
देहधातुभिर्विरोधमापद्यन्ते—परस्परगुणविरुद्धानि कानिचित्  
व्यावृत्त्यर्थमाह—मुखेत्यादि । मुखस्य लेपस्त्रावविष्यन्दकरणमन्तरेणैवापैच्छिल्यं  
वैशद्यम्, शोषः शुष्कीभावः, अप्रह्लादः आह्लादाभावः । स तिक्तो रसः स्मृतः ।  
कषायविबानमाह—वैषम्येत्यादि । यो रसस्तु मुखे निपतितः  
सन् रसनं वैषम्यस्तम्भजाड्यैर्योजयेत्, कण्ठश्चातीव च वध्नाति, विकाशी च  
सन्धिवन्धं विमोक्षयन् विकशति स कषायो रसः स्मृतः । सुश्रुते तूक्तं  
हृदयं पीडयतीति ॥ ६५ ॥

गङ्गाधरः—एवमित्यादि । एवमित्याहारविनिश्चये द्रव्याणां रसविपाक-  
वीर्यप्रभावानुक्तवन्तं भगवन्तमात्रेयं गुरुमग्निवेश उवाच । यदुवाच तदाह—  
भगवन्नित्यादि । भगवन् ! भगवतः श्रुतमेतद्द्रव्यगुणकर्मधिकारे यथा-  
वद्वितथमर्थसम्पद्युक्तं वच उक्तम् । परन्तु खल्वाहारविकाराणामोदन-  
व्यञ्जनादीनां वैरोधिकानामनतिसंक्षेपेण भगवतोपदिश्यमानं लक्षणं भगवतः  
शुश्रूषामहे वयमिति ॥ ६६ ॥

गङ्गाधरः—तमुवाचेति । तं तथा पृष्ठवन्तमग्निवेशं भगवानात्रेय उवाच ।  
यदुवाच तदाह—देहधातित्यादि । देहधातुप्रत्यनीकभूतानीति देहधातूनां

चक्रपाणिः—संप्रति विरुद्धाहारं वक्तुमाह—एवमित्यादि । शरीरधातुविरोधं कुर्वन्तीति  
वैरोधिकाः, लक्ष्यते वैरोधिकमनेनेति लक्षणं—वैरोधिकाभिधायको ग्रन्थ एव ; “यत् किञ्चिद्दोष-  
मास्त्रान्यम्” इत्यादि वैरोधिकलक्षणं ज्ञेयम् ॥ ६६ ॥

चक्रपाणिः—देहधातुप्रत्यनीकभूतानीति देहधातूनां रसादीनां वातादीनाञ्च प्रकृतिस्थानां



कानिचित् संयोगात् संस्कारादपराणि देशकालमात्रादिभि-  
श्चापराणि तथा स्वभावादपराणि । द्रव्याणि तत्र यान्याहार-  
मधिकृत्य भूयिष्ठम् उपयुज्यन्ते तेषामेकदेशं वैरोधिकम् अधि-  
कृत्य उपदेक्ष्यामः ॥ ६७ ॥

न मत्स्यान् पयसा सहाभ्यवहरेत्, उभयं ह्येतन्मधुरं  
मधुरविपाकान्महाभिष्यन्दि, शीतोष्णत्वाद्विरुद्धवीर्यं विरुद्ध-

रसादीनां पुरीषमूत्रवातपित्तकफादीनां स्वेदादीनाञ्च प्रकृतिस्थानां प्रत्यनीक-  
भूतानि गुणविपरीतगुणयोगेन नाशकभूतानि द्रव्याणि देहधातुभिः सह  
विरोधमापद्यन्ते न समानगुणानि । इत्याहारविकाराणां वैरोधिकानां  
लक्षणम् ।

ननु देहधातुप्रत्यनीकानि कानि द्रव्याणि कथं भवन्तीति ? अत उच्यत—  
परस्परेत्यादि । कानिचिद् द्रव्याणि देहधातुसमगुणान्यपि द्रव्यान्तरसंयोगात्  
परस्परं गुणतो विरुद्धानि भवन्ति । अपराणि कानिचिद् द्रव्याणि संस्कारात्  
परस्परगुणविरुद्धानि भवन्ति । एवमपराणि कानिचिद् द्रव्याणि देशकाल-  
मात्राप्रकृतिवयोऽवस्थादिभिर्योगेनैकशोऽपि विरुद्धगुणानि भवन्ति । तथा  
स्वभावादपराणि कानिचिद् द्रव्याणि स्वरूपत एव देहधातुविपरीतगुणतया  
गुणविरुद्धानि भवन्ति । तानि देहधातुप्रत्यनीकानि द्रव्याणि । तत्राहारमधि-  
कृत्य यानि द्रव्याणि यथाभूयिष्ठं यथा स्यात् तथोपयुज्यन्ते तेषां  
द्रव्याणामेकदेशं कियद्रव्यं वैरोधिकमधिकृत्योपदेक्ष्यामः । इति प्रति-  
ज्ञातम् ॥ ६७ ॥

गङ्गाधरः—तद्यथा—न मत्स्यानित्यादि । मत्स्यान् निखिलान् पयसा  
सह नाभ्यवहरेत् । कस्मात् ? उभयमित्यादि । हि यस्मादुभयं मत्स्याश्च  
पयश्चेत्युभयं रसे मधुरं मधुरविपाकाच्च महाभिष्यन्दि भवति । पयसः शीत-  
वीर्यत्वान्मत्स्यस्योष्णवीर्यत्वात् विरुद्धवीर्यं तस्माच्छोणितदूषणाय तत् पयसा

प्रत्यनीकस्वरूपाणि, विरोधमापद्यन्त इति देहधातूनां विरोधमाचरन्ति दूषयन्तीति यावत् ;  
यथाभूतानि द्रव्याणि देहधातुभिर्विरोधमापद्यन्ते तदाह—परस्परविरुद्धानि कानिचिदित्यादि ।  
तत्र परस्परविरुद्धानि यथा—“न मत्स्यान् पयसाऽभ्यवहरेदुभयं ह्येतद्” इत्यादिनोक्तानि ;

वीर्यत्वाच्छोणितद्रूपणाय महाभिष्यन्दित्वाङ्गोपरोधाय  
चेति ॥ ६८ ॥

तदनन्तरमात्रं यच्चनमनु भद्रकाप्योऽग्निदेशमुवाच । सर्वानेव  
नव मत्स्यान् पयसा सहाभ्यवहरेदन्यत्र कस्माच्चिलिचिमात् ।  
स पुनः शकली सर्वतो रोहितराजी रोहितप्रकारः प्रायो भूमौ  
चरति । तं चेत् पयसा सहाभ्यवहरेन्निःसंशयं शोणितजानां  
विरुद्धजानाञ्च \* व्यर्धानामन्यतममथवा मरणमवाप्नु-  
यात् ॥ ६९ ॥

सह मत्स्यभोजनं महाभिष्यन्दित्वाङ्गोपरोधाय च तद्ववतीत्यनेन ज्ञापितम् ।  
रसपाकतस्तुल्यानां संयोगेऽतिमात्रं तद्रसमानं भवति । रसतस्तुल्यानि पाकतः  
चद्भिन्नानि स्युस्तेषां संयोगान्न तथातिमात्रं विरुद्धत्वम् । पाकतस्तुल्यानां  
रसतो भिन्नानाञ्च संयोगेऽपि न तथातिमात्रं विरुद्धत्वमिति ॥ ६८ ॥

गङ्गाधरः—तदनन्तरमित्यादि । भद्रकाप्यो यदुवाच तदाह—सर्वानेव  
इत्यादि । एकं चिलिचिमं मत्स्यं विना सर्वानेव मत्स्यान् पयसाऽभ्यव-  
हरेत् । कः पुनश्चिलिचिम इत्यत आह—स पुनः शकली नान्दलिमत्स्य इति  
ख्यातो भवति । सर्व्वतः सर्व्वपार्श्वे रोहितवणेराजी रोहितमत्स्याकारश्च  
प्रायो भूमौ चरति । तं चिलिचिमं चेत् पयसाभ्यवहरेत् तदा निःसंशयं  
संयोगविरुद्धं यथा—‘तदेव निकुचं पक्वं न माय’ इत्यादिनोक्तम्, यत् संस्कारादिविरुद्धगुण-  
कथनं विना साहित्यमात्रेण विरुद्धमुच्यते, तत् संयोगविरुद्धम् ; मत्स्यपयसोस्तु यद्यपि सहोप-  
योगो विरुद्धत्वेनोक्तः, तथाप्यसौ गुणविरुद्धत्वेन कथित इति गुणविरोधकस्यैवोदाहरणम् ; विरोधश्च  
विरुद्धगुणत्वे सत्यपि कचिदेव द्रव्यप्रभावात् स्यात्, तेन पङ्गसाहारोपयोगे मधुराभ्योर्विरुद्ध-  
शीतोष्णवीर्ययोर्विरोधो न भावनीयः ; संस्कारविरुद्धं यथा—‘न कपोतान् सर्पपतैलमृष्टान्’  
इत्यादि । देशो द्विविधः—भूमिः शरीरञ्च ; तत्र भूमिविरुद्धं यथा—‘तदेव भस्मपांशुपरि-  
ध्वस्तम्’ किंवा ‘यत् किञ्चिदगोचरभूतम्’ तद्देशविरुद्धम् ; शरीरविरुद्धं यथा—‘उष्णार्त्तस्य  
मधु मरणाय’ ; कालविरुद्धं यथा—‘पर्युषिता काकमाची मरणाय’ ; मात्राविरुद्धं यथा  
—‘समधृते मधुसर्पिषी मरणाय’ ; आदिग्रहणाद् दोषप्रकृत्यादिविरुद्धानां ग्रहणं ; स्वभावविरुद्धं,  
यथा—विषम् ।

\* विरुद्धजानाञ्चेति पाठान्तरम् ।

नेति भगवानात्रेयः,—सर्वानेव मत्स्यान् न पयसा  
सहाभ्यवहरेद्विशेषतस्तु चिलिचिमम्\* सहि महाभिष्यन्दित्वात्,  
स्थूललक्षणभवानेतान् व्याधीनुपजनयत्यामविषमुदीरयति  
च ग्राम्यान्पौदकानि पिशितानि च मधुगुड़तिलपयोमाष-  
मूलकमारिषैर्विरुद्धान्यैश्च नैकध्यमाददीत ; तन्मूलं  
हि वाधिर्यान्ध्य† जाड्यविकलमूकतामैन्मिन्यमथवा मरण-  
मवाप्नोतीति । न कपोतान् सर्पपतैलभृष्टान् मधुपयोभ्यां  
शोणितजानां विरुद्धाहारजानाञ्च व्याधीनामन्यतमं व्याधिमाप्नुयात् । मरणं  
वाप्नुयात् ॥ ६९ ॥

गुग्गाधरः—इति भद्रकाप्यवचनं निश्चय्य नेत्यात्रेय उवाच । कस्मान्नेत्युच्यते  
तत्राह—सर्वानेवेत्यादि । सर्वानेव मत्स्यान् पयसा नाभ्यवहरेत् । विशेषतस्तु  
चिलिचिमं पयसा नाभ्यवहरेत् । कस्मात् ? स हीत्यादि । हि यस्मात् स  
चिलिचिमो महाभिष्यन्दी यतस्ततः पयसा सह संयोगेऽतिमहाभिष्यन्दी भूत्वा  
स्थूललक्षणभवान् स्थूलाहारजलक्षणैरुत्पन्नानेतान् विरुद्धाहारजान् शोणित-  
दुष्टिजान् व्याधीनुपजनयति तथामविषमलसकमुदीरयति चेति तत्त्वम् ।  
सुश्रुतेऽप्युक्तं—“सर्वान्श्च मत्स्यान् पयसा विशेषेण चिलिचिमं नाशनीयात्”  
इति । अथापरमाह—ग्राम्येत्यादि । ग्राम्याद्यन्यतममांसं मध्वाद्यन्यतमैश्च सहकध्यं  
नाददीत, कस्मात् ? तन्मूलं हीत्यादि । हि यस्मात् तद्ग्राम्यादिमांसमध्वादि-  
संयोगविरुद्धाहारमूलमान्ध्यादिकमथवा मरणञ्च । जाड्यमव्यक्तवचनं, विकलं  
मनसो वैकल्यं व्याकुलत्वं, मूकता वाग्रहितत्वं, मैन्मिन्यं सानुनासिकवचनत्व-  
मिति । सुश्रुते च—“न विरुद्धान्यैवेसामधुपयोगुड़मापर्वा ग्राम्यान्पौदक-  
पिशितादीन्यभ्यवहरेत्” इति । न कपोतानित्यादि । वनकपोतान्

वैरोधिकमधिकृत्येति वैरोधिकमुद्दिश्य, शीतोष्णत्वादिति—पथः शीतम् उष्ण-  
वीर्याश्च मत्स्याः, शेषं मधुरत्वादि समानम् ; एतच्च द्रव्यप्रभावादेव विरोधि । “स पुनः  
शकली” इत्यादिना नान्दिनिरिति ख्यातो मत्स्य उच्यते ॥ ६७—६९ ॥

चक्रपाणिः—ग्राम्यपिशितादीनि मध्वादीनामन्यतरेणापि विरुद्धानि ; कलमूकतेति कल-

\* महाभिष्यन्दितमत्त्वादिति वा पाठः ।

† इतः परं वेपथ्विति अधिक, तथा “विकलमूकता” इत्यत्र “कलमूकता” इति चक्रसम्मतः  
पाठः ।

सहाभ्यवहरेत् । तन्मूलं हि शोणिनाभिप्यन्दधमनी-  
प्रविचयापस्मारशङ्खकगलगण्डरोहिणीनामन्यतमं प्राप्नोत्यथवा  
मरणम् । तथा न मूलकलशुनकृष्णगन्धाज्जकसुमुखसुरसादीनि  
भक्षयित्वा पयः सेव्यं कुष्ठावाधभयात् । न जातुशाकं  
न च निकुचं पक्वं मधुपयोभ्यां सहोपयोज्यम्, एतद्धि मर-  
णायाथवा वलवर्णतेजोवीर्यापरोधाय अलघुव्याधये पाण्ड्याय  
चेति । तदेवं निकुचं पक्वं न मापसूपगुडसर्पिर्भिः सहोप-  
भोज्यं वैरोधिकत्वात् । तथाम्रात्रातकमातुलुङ्गनिकुचकरमर्द-  
मोचदन्तशठवदरकोषाम्रभव्यजाम्बवकपित्थतिन्तिङ्गीपारावता-

सर्षपतैलभृष्टान् मधुपयोभ्यां सह नाभ्यवहरेत् । कस्मात् ? तन्मूलं हीत्यादि ।  
शोणिताभिप्यन्दनं धमनीप्रविचयः धमनीनां विस्तारभावः । एषामन्यतमं  
प्राप्नोत्यथवा मरणमिति । सुश्रुते चोक्तं—“न मधुपयोभ्यां कपोतान् सर्षप-  
तैलभृष्टानघात्” इति । तथेत्यादि । मूलकादीनामन्यतमं भक्षयित्वा न पयः  
सेव्यम् । कृष्णगन्धा शोभाजनम् । अज्जकं पर्णाशभेदः । सुमुखस्तुलसी-  
भेदः । सुरसः पर्णाशः । कस्मात् ? कुष्ठावाधभयात् । न जातुशाकमित्यादि ।  
जातुशाकं वंशतिका । पक्वं निकुचं डहुः । पयोमधुभ्यां नोपयोज्यं नाशनीयात्,  
एतद्धि यतस्तन्मरणायाथवा वलवर्णवीर्यतेजसामुपरोधाय, अलघुव्याधये गुरु-  
व्याधये पाण्ड्याय चेति । तदेवमित्यादि । एवं तन्निकुचं पक्वं माषादिभिः  
सह नोपयोज्यं वैरोधिकत्वात् । तथाम्रेत्यादि । आम्राद्यम्लं सर्व्वं द्रवमद्रवश्च  
पयसा सह विरुद्धम् । अम्लञ्चेत्युक्त्या मधुराम्रादीनां न पयसा सह विरोधः ।  
कोषाम्रं बालाम्रम् । करमर्दः पानीयामलकम् । पारावतो जम्बीरविशेषः ।

मूकता अव्यक्तवचनता ; पौष्करादीनां मधुपयोभ्यां सहाभ्यवहारो विरुद्धः, पौष्करं पुष्करपत्ररूपं  
शाकं, रोहिणी कटुरोहिणी, धमनीप्रविचयः सिराजग्रन्थः ; जातुशाकं वंशपत्रिका ; वैरोधिक-  
त्वादित्यनेन प्रकरणलब्धस्यापि वैरोधिकत्वस्य पुनरभिधानं सामान्योक्तषाण्ड्यादिव्याधिकर्तृतोप-  
दर्शनार्थम्, एवमन्यत्रापि सामान्येऽपि वैरोधिकत्वमात्राभिधाने वक्तव्यम् ; तथाम्लेत्यादौ ‘अम्ल’  
ग्रहणेन लब्धस्याप्यम्लादीनामभिधानं विशेषविरोधसूचनार्थम् ; सर्व्वग्रहणेनैव द्रवाद्रवाम्ले  
प्राप्ते पुनर्द्रवाद्वचनं ‘सर्व्व’शब्दस्य द्रवाद्वाम्लकात्स्न्यार्थताप्रतिपादनार्थं, भवति हि प्रकरणात्

जोड़पनसनारिकेलदाड़िमामलकान्येवंप्रकाराणि चान्यानि  
सर्व्वश्चास्त्रं द्रवमद्रवश्च पयसा सह विरुद्धम्, तथा कङ्क वरक-  
मुकुष्ठककुलत्थमाषनिष्पावाः पयसा सह विरुद्धाः ॥ ७० ॥

पद्मोत्तरिकाशाकं शार्करो मैरेयो मधु च सहोपयुक्तं विरुद्धं  
वातश्चातिकोपयति । हारिद्रकः सर्षपतैलभृष्टो विरुद्धः पित्त-  
श्चातिकोपयति । पायसो मन्थानुपानो विरुद्धः श्लेष्माणश्चाति-  
कोपयति, उपोदिका तिलकल्कसिद्धा हेतुरतीसारस्य । बलाका  
वारुण्या सह कुल्माषैरपि विरुद्धा, सैव शूकरवसाभृष्टा सद्यो  
व्यापादयति । मयूरमांसम् एरण्डसीसकामिप्लुष्टमेरण्डतैल-  
युक्तं सद्यो व्यापादयति । -हारीतकमांसं हरिद्रामिप्लुष्टं  
आक्षोढ़ः आखरोटः । तथेत्यादि । कङ्कः कामनिस्तृणधान्यभेदः । वरको  
वनकोद्रवः ॥ ७० ॥

गङ्गाधरः—पद्मोत्तरिकेत्यादि । पद्मोत्तरिकाशाकं कुसुम्भशाकं, शार्करो  
मैरेयः शकेराकृतो मैरेयः, मधु चेति त्रयं सहोपयुक्तम् । हारिद्रकः पक्षि-  
विशेषः । पायस इति पायसं भुक्त्वा मन्थं द्रवेणालोदितं सक्तुकमनुपिवति  
यस्तस्य स पायसो विरुद्धः । उपोदिका पुदिना तिलकल्कलिप्ता पक्वाति-  
सारस्य हेतुः । बलाका काणवकी वारुण्या सह विरुद्धा, कुल्माषैः काञ्जिकैः  
सहापि विरुद्धा, सैवेति बलाकैव शूकरवसायां भृष्टा । मयूरमांसमेरण्डसीसका-  
वसक्तमेरण्डपत्रवृन्तनालावलग्नमेरण्डकाष्ठाग्निना प्लुष्टं दग्धं पुनरेरण्ड-  
तलयुक्तं भक्षितम् । सुश्रुते च—“कपिञ्जलमयूरलावतिचिरिगोधाश्चैरण्ड-

एकदेशेऽपि सर्व्वव्यपदेशः, यथा—“सर्व्वान् भोजयेद्” इति, किंवा, सर्व्वग्रहणमम्लपाकानामपि  
ग्रीह्यादीनां ग्रहणार्थम् ; पयसेति तृतीययैव सहार्थं लब्धे पुनः ‘सह’ इत्यभिधानं केवलाम्लादि-  
युक्तस्यैव विरोधितोषदर्शनार्थम्, तेन अम्लपयःसंयोगे गुडादिसंयोगे सति विरुद्धत्वं न दुग्धाम्नादी-  
नाम् ; वनको वनकोद्रवः, पद्मोत्तरिका कुसुम्भः, शार्कर इति मैरेयविशेषणम्, अति वातं  
कोपयतीतिवचनेन पित्तकफावलपं कोपयतीति बोधयति, एवं पित्तश्चातिकोपयति कफश्चाति-  
कोपयतीत्येतयोरपि वाच्यम् ; हारिद्रको हरिताल इति ख्यातः पक्षी ; बलाका वारुण्या सह

\* हारिद्रकमांसं हारिद्रसासकावसक्तम् इति पाठान्तरम् ।

सद्यो व्यापादयति । तदेव भस्मपांशुपरिध्वस्तं सन्नौद्रं मरणाय । मत्स्यनिस्तालनसिद्धाः पिप्पल्यस्तथा काकमाची मधु च मरणाय । मधु चोष्णमुष्णार्त्तस्य च मधु मरणाय, मधुसर्पिषी समधृते, मधु वारि चान्तरीक्षं समधृतं, मधु पुष्करवीजं, मधु पीत्वोष्णोदकं, भल्लातकोष्णोदकं, तक्रसिद्धः काम्पिप्लवः, पर्युषिता काकमाची, अङ्गारशूलयो भासश्चेति विरुद्धानि इत्येतद् यथाप्रश्नमभिनिर्दिष्टं भवतीति ॥ ७१ ॥

दाव्वमिसिद्धा एरण्डतैलसिद्धा वा नाद्यात्” इति । हारीतकः पुनर्हारीद्रपक्षिविशेषस्तस्य मांसं हरिद्रानालादिकृतामिप्लष्टम् । पूर्वं सार्पपतैलभृष्टं विरुद्धमुक्तमिति न पुनरुक्तम् । तदेव हारीतकमांसं हरिद्रामिप्लष्टं भस्मपांशुपरिध्वस्तं क्षौद्रयुक्तं मरणाय भवति । मत्स्यनिस्तालनं मत्स्यभञ्जने क्रियमाणे निर्गतं यन्मत्स्यस्यैव तैलं तेन पक्वाः पिप्पल्यो भक्षिता मरणाय स्युः । तथा चोक्तं जतूकर्णे—“मत्स्यवसासिद्धाः पिप्पल्यः” इति । तथाच काकमाची मत्स्यनिस्तालनसिद्धा मरणाय । तथाच सुश्रुते—“मत्स्यपरिपचने सिद्धां शृङ्गवेरपरिपचने वा सिद्धां काकमाचीं नाद्यात्” इति । तथाच मधु मत्स्यनिस्तालनयुक्तं मरणाय भवति । सुश्रुते तु “गुडेन काकमाचीं मधुना मूलकं गुडेन वाराहं मधुना च सह विरुद्धम्” इति । मधु चोष्णं कृतं मरणाय । अन्यातपादिना तूष्णेनार्त्तस्य नरस्य मधु पीतं मरणाय भवति । समधृते समानमानमिते मधुसर्पिषी मिलिते भक्षिते मरणाय भवतः । समधृतं मधु चान्तरीक्षजलञ्च मिश्रितं पीतं मरणाय भवति । मधुपुष्करवीजं पद्मवीजसहितं मधु पीतं मरणाय । मधु पीत्वोष्णजलं पीतं पीत्वा चोष्णजलं मधु पीतं मरणाय भवतीति । “मधु चोष्णोदकानुपानम्” इति सुश्रुतः । भल्लातकोष्णोदकं संयुक्तं मरणाय । तक्रसिद्धः काम्पिप्लो मरणाय, पर्युषिता पक्वा काकमाची

विरुद्धा, तथा कुलमापैश्च बलाका विरुद्धा ; एरण्डसीसकावसकमिति, सीसको हि भट्टित्रकरणकाष्ठमुच्यते ; तदेवेति हारीद्रकमांसम् ; मत्स्या निस्तालयन्ते पच्यन्ते यस्मिन् तन्मत्स्यनिस्तालनम्, किंवा निस्तालनं वसा, जतूकर्णेऽप्युक्तम्—“मत्स्यवसासिद्धाः पिप्पल्यः” इति ; काकमाची मधु चेति संयोगविरुद्धम् ; भासो गोष्ठकुटः ॥ ७०।७१ ॥

भवन्ति चात्र ।

यत्किञ्चिदौषमुत्क्रिय \* न निर्हरति कायतः ।

आहारजातं तत्सर्वमहितायोपदिश्यते ॥ †

पर्युषिता मरणाय, अङ्गारशूल्यो भासश्चेति भासो गोष्ठकुक्कुटः स चाङ्गा-  
राग्निना शूलविद्धः पक्षो मरणाय भवतीति ॥ ७१ ॥

गङ्गाधरः—अनुक्तवैरोधिकसंग्रहार्थमाह—भवन्ति चात्रेत्यादि । यत्किञ्चि-  
दित्यादि । आह्रियते जिह्वया गलाधः क्रियते इत्याहारस्तस्य जातं समूहः ।  
औषधादीनामप्याहारस्त्वतो बोध्यम् । यत्किञ्चिदाहारजातमशितत्वादितपीत-

चक्रपाणिः—अनुक्तवैरोधिकसंग्रहार्थमाह—यत् किञ्चिदित्यादि । आह्रियत इत्याहारो भेषजम्

\* उत्क्रियेत्यत्र आत्माव्य इति चक्रसम्मतः पाठः ।

† इतः परं श्लोकाश्चैतेऽष्टादश कचिदधिका दृश्यन्ते । यथा—

यच्चापि देशकालाग्नि-सात्म्यासात्म्यानिलादिभिः । संस्कारतो वीर्यतश्च कोष्ठावस्थ्याक्रमैरपि ॥

पारहारोपचाराभ्यां पाकात् संयोगतोऽपि च । विरुद्धं तच्च न हितं हृत्संपद्धिधिमिश्र यत् ॥

विरुद्धं देशतस्त्वावद् रक्षतीक्ष्णादि धन्वनि । आनूपे स्निग्धशीतादि भेषजं यन्निषेव्यते ॥

कालतोऽपि विरुद्धं यच्छीतरक्षादिसेवनम् । शीते काले तथोष्णे च कटुकोष्णादिसेवनम् ॥

विरुद्धमनले तद्वदन्नपानं चतुर्विधे । मधुसर्पिः समधृतं मात्रया तद् विरुध्यते ॥

कटुकोष्णादिसात्म्यस्य स्वादुशीतादिसेवनम् । यत् तत् सात्म्यविरुद्धन्तु विरुद्धं त्वनिलादिभिः ॥

या समानगुणाभ्यास-विरुद्धा औषधक्रिया । संस्कारतो विरुद्धं तद् यज्जोष्यं विषवद् भवेत् ॥

एरण्डसीसकासक्तं शिखिमांसं तथैव हि । विरुद्धं वीर्यतो ज्ञेयं वीर्यतः शीतलात्मकम् ॥

तत् संयोज्योष्णवीर्येण द्रव्येण सह सेव्यते । क्रूरकोष्ठस्य चात्यल्पं मन्दवीर्यमभेदनम् ॥

मृदुकोष्ठस्य गुरु च भेदनीयं तथा बहु । एतत् कोष्ठविरुद्धन्तु विरुद्धं स्यादवस्थया ॥

श्रमव्यवायव्यायाम-सक्तरयानिलकोपनम् । निद्रालसस्यालसस्य भोजनं श्लेष्मकोपनम् ॥

यच्चानुत्सृज्य विष्मूत्रं भुङ्क्ते यश्चाबुभुक्षितः । तच्च क्रमविरुद्धं स्याद् यच्चातिक्षुद्रशानुगः ॥

परिहारविरुद्धन्तु वराहादीन् । नपेय्य यत् । सेवेतोष्णं घृतादींश्च पीत्वा शीतं निषेवते ॥

विरुद्धं पाकतश्चापि दुष्टदुर्गुहसाधतम् । अपक्वतण्डुलात्यर्थ-पक्वदग्धञ्च यद् भवेत् ॥

संयोगतो विरुद्धं तद् यथाम्लं पयसा सह । अमनोरुचितं यच्च हृद्विरुद्धं तदुच्यते ॥

सम्पद्धिरुद्धं तद् विद्यादसंजातरसन्तु तत् । अतिक्रान्तरसं वापि विपन्नरसमेव वा ॥

ज्ञेयं विधिविरुद्धन्तु भुज्यते निभृतेन यत् । तदेवंविधमन्यं स्याद् विरुद्धमुपयोजितम् ॥

सात्म्यतोऽल्पतया वापि दीप्ताग्नेरतरुणस्य च । स्नेहव्यायामबालनो विरुद्धं दितथं भवेत् ॥ इति

धनानां श्लोकानां चक्रसम्मतो टीका तु—“यच्चापि देशकालाग्नि इत्यादिग्रन्थं केचित्  
पठन्ति ; तद व्यक्तमेव ॥” इति ।



लीढं दोषमुत्क्रिय कायतो न निहरति न वहिः करोति, तत् सर्वमाहारजातम् अहितायोपदिश्यते । एतेनान्यत्रोक्तान्यनुमतानि । तथाच सुश्रुते यान्यधिकानि तद्यथा—“काकमाची पिप्पलीमरिचाभ्याम् । नाडीभङ्गशाककुक्कुटदधीनि च नैकध्यम् । पित्तेन वा मांसानि । सुराकुशरापायसांश्च नैकध्यम् । सौवीरकेण सह तिलशङ्कुलीम् । मत्स्यैः सहेक्षुविकारान् । कदलीफलं नालफलेन पयसा दध्ना तक्रेण वा । निकुचफलं पयसा दध्ना माषमूषेन वा मधुना घृतेन च । प्राक् पयसः पयोऽन्ते वा इति संयोगादहितानि ।” संस्कारकर्मणो यथा—“कपिञ्जलमयूरलावतित्तिरिगोधाश्चैरण्डदावर्गप्रसिद्धा एरण्डतैलसिद्धा वा नाद्यात् । कांस्यपात्रे दशरात्रपयुःप्रषितं सर्पिः । मत्स्यपरिपचने शृङ्गवेरपरिपचने वा सिद्धां काकमाचीम् । नारिकेलेन ब्राह्मवसापरिभृष्टां बलाकाम् । मानविरुद्धां यथा—स्नेहौ मधुस्नेहौ जलस्नेहौ वा विशेषादान्तरीक्षोदकानुपानौ । अत ऊर्ध्वं रसद्वन्द्वानि रसतो वीर्यतो विपाकतश्च विरुद्धानि यथा—तत्र मधुराम्लौ रस-वीर्येविरुद्धौ । मधुरलवणौ च मधुरकटुकौ च सव्वेतः । मधुरतिक्तौ रसविपाकाभ्याम् । मधुरकषायौ चाम्ललवणौ रसतः । अम्लकटुकौ रसविपाकाभ्याम् । अम्लतिक्तौ अम्लकषायौ च सव्वेतः । लवणकटुकौ रसवीर्याभ्याम् । लवणतिक्तौ लवणकषायौ च सव्वेतः । कटुतिक्तौ रसवीर्याभ्याम् । कटुकषायौ तिक्तकषायौ च रसतः । तरतमयोगयुक्तांश्च भावानतिरुक्षानतिस्निग्धानत्युष्णानतिशीतानित्येवमादीनि विवर्जयेत् । भवन्ति चात्र । विरुद्धान्येवमादीनि रसवीर्येविपाकतः । तान्येकान्ताहितान्येव शेषं विद्याद्विधाहितम् ॥ सात्त्विकतोऽल्पतया वापि दीप्तानेस्तरुणस्य च । स्निग्धव्यायामबलिनां विरुद्धं वितथं भवेत् ॥ व्यायामशीलो बलवान् । शिशुश्च स्निग्धोऽग्निमांश्चापि महाशनश्च । आप्नोति रोगान् न विरुद्धजातानभ्यासतश्चाल्पतया च जन्तुः ॥” इति । अथैषु मध्ये पयसा मत्स्यादीन् संयोगात् । साषपतैलभृष्टकपोतादीन् संस्कारात् । भस्मपांशुपरिध्वस्तहारीतकमांसादीन् भूदेशतः । उष्णार्चस्य मधु चेत्यादीन् शरीरदेशतः । पयुःप्रषितकम्पिलकादीन् कालतः । मधुसर्पिषी समधृते इत्यादिना मात्रातः । आदिना दोषव्याधिप्रकृतिभ्यस्तु वाते कषायरसादीन् रसतः । एवं प्रकृतितश्च । पिण्डालुकादीन् गुल्मादिव्याधितः । विषादीन् स्वभावतो विरुद्धान् विद्यादिति । यानि खलु द्विरसादीनि द्रव्याण्युक्तानि यथायथं द्विदोषादिष्योज्यानि तानि अपि, दोषमास्त्राव्येति दोषानुत्क्रिष्टरूपान् जनयित्वा न निर्हरतीति ; अनेन वमनविरचनद्रव्याणि निराकरोति, तानि हि दोषानास्त्राव्य निर्हरन्ति ।



पाण्ड्यान्ध्यवीसर्पदकोदराणां  
 विस्फोटकोन्मादभगन्दराणाम् ।  
 मूर्च्छामदाभ्मानगलग्रहाणां  
 पाण्ड्यामयस्यामविषस्य चैव ॥  
 किलासकुष्ठग्रहणीगदानां  
 शोफाम्लपित्त-<sup>\*</sup>ज्वरपीनसानाम् ।  
 सन्तानदोषस्य तथैव मृत्यो-  
 विरुद्धमन्नं प्रवदन्ति हेतुम् ॥ ७२ ॥

एषां खलु परेषाञ्च वैरोधिकनिमित्तानां व्याधीनामिमे  
 भावाः प्रतीघातकरा भवन्ति । यथा वमनं विरेचनं

द्रव्यसहजान्येवोपयोज्यानि न संयोगादित् उपयोक्तव्यानि रसद्वन्द्वादीनां विरुद्ध-  
 त्वाद् इति । न तु तत् सव्येमहितायोपदिश्यत इति यदुक्तं, तत् कस्मै कस्मै  
 अहितायेति ? अत उच्यते—पाण्ड्यान्ध्येत्यादि । पाण्ड्यं क्लैव्यं चतुर्विधं  
 वक्ष्यते । सन्तानदोषस्येति—मृतवत्सादिदोषस्य तथान्यविधदोषस्य । एषां  
 वैरोधिकानां द्रव्यान्तरयोगात् न विरुद्धता भवति । यथा घृतमधुशकरा  
 इति त्रयं न विरुद्धम् ॥ ७२ ॥

गङ्गाधरः—ननु वैरोधिकाहारजव्याधीनां प्रतीकाराः के भवन्तीति ? अत  
 उच्यते—एषामित्यादि । एषां पाण्ड्यान्ध्यादीनामपरेषामनुक्तानाञ्च वैरोधि-  
 काहारनिमित्तानां व्याधीनां प्रतीकारा इमे वक्ष्यमाणा भावा वमनादयो भवन्ति ।  
 इमे के भावा इति ? अत उच्यते—तद्व्यथेत्यादि । संशोधनार्थं वमनं विरेचनञ्च ।

पाण्ड्यं नपुंसकता, सन्तानदोषो मृतवत्सत्त्वादि, एतच्च वैरोधिककथनं विशेष-  
 वचनेन बाध्यते, तेन लक्षुनस्य क्षीरेण पानं कचिन्न विरोधि, यदुक्तं—‘साधयेच्छुद्धशुष्कस्य  
 लक्षुनस्य चतुष्पलम् । क्षीरोदकेऽष्टगुणिते क्षीरशेषञ्च पाययेत्’ ॥ तथा ‘मूलकस्वरसं क्षीरम्’  
 इत्यादिप्रयोगेषून्नेयम् ; किंवा अनेकद्रव्यसंयोगादत्र विरोधिनामविरोधः, विरोधिमात्रसंयोग एव

\* शोफाम्लपित्तेत्यत्र शोषाज्जपित्तेति चक्रः ।

तद्विरोधिनाश्च द्रव्याणां संशमनार्थमुपयोगस्तथाविधैश्च द्रव्यैः  
पूर्वमभिसंस्कारः शरीरस्येति ॥ ७३ ॥

भवति चात्र ।

विरुद्धाशनजान् रोगान् प्रतिहन्ति विरेचनम् ।  
वमनं शमनञ्चैव पूर्व वा हितसेवनम् ॥ ७४ ॥

तत्र श्लोकाः ।

मतिरासीन्महर्षीणां या या रसविनिश्चये ।  
द्रव्याणि गुणकर्मभ्यां द्रव्यसंख्या रसाश्रया ॥

तद्विरोधिनाश्च द्रव्याणां संशमनार्थमुपयोगः । यद्यद्विरुद्धं द्रव्यमुपयुक्तं भवति  
तद्विरुद्धद्रव्याणां विरोधीनि यानि द्रव्याणि भवन्ति तेषामुपयोगः प्रयोगः  
कत्तव्यः । तथाविधश्च द्रव्यैस्तत्तद्विरुद्धद्रव्यविरोधिद्रव्यैरभ्यवहन्तैः शरीरस्य  
अभिसंस्कारो भावविरुद्धद्रव्याहारजदोषहरगुणाधानमिति ॥ ७३ ॥

गङ्गाधरः—तत्र प्रमाणश्लोकः । भवति चात्र । विरुद्धेत्यादि । पूर्व वा  
हितसेवनं शरीरस्य तत्तद्विरुद्धद्रव्यविरोधिद्रव्यसेवनेन पूर्वमभिसंस्कार इति  
व्याख्यातम् ॥ ७४ ॥

गङ्गाधरः—अथाध्यायार्थसंग्रहार्थमाह—तत्र श्लोका इति । मतिरिति  
रसविनिश्चये भद्रकाप्यादीनां रसरस्यैकत्वादितिः, एक एवेत्यारभ्य उप-  
देक्ष्याम इत्यन्तेन । ततोऽग्रेत्यारभ्य तत्फलमित्यन्तेन गुणकर्मभ्यां द्रव्याणि ।  
ततो भेदश्चैषामित्यारभ्य संख्यामतिपतन्ति हीत्यन्तेन रसाश्रया त्रिषष्टिरसभेदेन

विरोधी भवति ; यत्तु मधुन उष्णेन वमनेन संयुक्तस्य मदनफलादिद्रव्यसंयोगेऽविरोधार्थमुक्त-  
मपक्वगमनादि, तन्मधुनो द्रव्यान्तरसंयोगेऽप्युष्णसम्बन्धविरोधित्वेन, यतः विषान्वयं मधु, विषस्य  
चोष्णं विरोधि ; लशुनादीनान्तु द्रव्यान्तरासंयोगे सत्येव मेलको विरुद्ध इति शास्त्रवचनात्  
उच्यते । तद्विरोधिनामिति चाष्ट्यादिहराणाम् ; तथाविधैरिति विरुद्धाहारजन्यव्याधिविरुद्धैः ;  
अभिसंस्कार इति सततोपयोगेन शरीरभावनम् ; किंवा तथाविधैरिति रसायनप्रयोगैः ; एतच्च  
अनागतव्याधिचिकित्सितं ज्ञेयम् ॥ ७२—७४ ॥

चक्रपाणिः—संग्रहे द्रव्यसंख्या रसाश्रया इति “भेदश्चैषाम् इत्यादिना, रससंख्या हि पर-

कारणं रससंख्याया रसानुरसलक्षणम् ।  
 परादीनां गुणानाञ्च लक्षणानि पृथक् पृथक् ॥  
 पञ्चात्मकानां षट्त्वञ्च रसानां येन हेतुना ।  
 ऊर्ध्वानुलोमभाजश्च यद्गुणातिशयाद् रसाः ॥  
 षण्णां रसानां षट्त्वे च अतिभुक्ता विभक्तयः ।  
 उद्देशश्चापवादश्च द्रव्याणां गुणकर्मणि ॥  
 प्रवरावरमध्यत्वं रसानां गौरवादिषु ।  
 पाकप्रभावयोर्लिङ्गं वीर्य्यं संख्याविनिश्चयः ॥  
 षण्णामास्वाद्यमानानां रसानां यत् स्खलक्षणम् ।  
 यद् यद्विरुध्यते यस्माद् येन यत्कारि तैव यत् ॥

द्रव्यसंख्या त्रिषष्टिः । ततः संयोगाः सप्तपञ्चाशदित्यारभ्य हेतुलिङ्गोपशान्तिषु  
 इत्यन्तेन रससंख्यायाः कारणम् । व्यक्त इत्यादिना रसो नास्तीह सप्तम  
 इत्यन्तेन रसानामनुरसानाञ्च लक्षणम् । ततः परापरत्वे इत्यारभ्य प्रवर्तते  
 इत्यन्तेन परादीनां गुणानां सप्रयोजनानि स्वरूपनिर्देशलक्षणानि पृथक् पृथक् ।  
 चकारात् गुणागुणाश्रया नोक्ता इत्यारभ्याथेमादिशेदित्यन्तेन तन्त्रव्याख्या-  
 नोपदेशः । षड्विभक्तीरित्यारभ्य न्यूनातिरेकविशेष इत्यन्तेन पञ्चात्मकानां  
 रसानां भूतद्वयाधिक्येन पाञ्चभौतिकत्वं षट्त्वं तस्य हेतुश्च । ततस्तत्रेत्यादिना  
 पुनरुभयतो भाज इत्यन्तेन यद्गुणातिशयाद्रसा ऊर्ध्वानुलोमभाजः । तेषां  
 षण्णामित्यारभ्य सम्यगुपयोजयेदित्यन्तेन षण्णां रसानां षट्त्वे अतिभुक्तानाम्  
 एकैकस्यातिमात्रभुक्तानां विभक्तयो विभागाः । शीतं वीर्य्येणेत्यारभ्य द्रव्याणां  
 गुणकर्मणि उद्देशश्चापवादश्च । चकारात् तदुदाहरणानि । ततो रौक्ष्यादिति  
 आरभ्य सोऽवरस्तृभयोरपीत्यन्तेन रसानां गौरवादिषु प्रवरावरमध्यत्वम्, परञ्चात  
 इत्यारभ्य तत्रोपलक्षयेदित्यन्तेन पाकस्य लिङ्गम्, ततः परं मृदुतीक्ष्णेत्यारभ्य  
 वीर्य्यसंख्या, वीर्य्यन्तित्यारभ्य कृता हि सेत्यन्तेन वीर्य्यम्, रसो निपात इत्या-  
 रभ्य रसपाकादिज्ञानं, रसवीर्य्येत्यारभ्य उदाहृत इत्यन्तेन सोदाहरणं प्रभाव-  
 लिङ्गम् । षण्णां रसानामित्यारभ्य सर्वाकाशय इत्यन्तेन षण्णामास्वाद्यमानानां

माहं तो द्रव्यसंख्यैव निर्गुणत्वाद् रसानामित्यर्थः । कारणं रससंख्याया इति “रसानां तत्र

वैरोधिकनिमित्तानां व्याधीनामौषधश्च यत् ।

आत्रेयभद्रकाप्यीये तत् सर्व्वमवदन्मुनिः ॥ ७५ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते श्लोकस्थाने

आत्रेयभद्रकाप्यीयो नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥२६॥

रसानां स्वस्वलक्षणं यत्तत् । तत एवमुक्तमित्यारभ्य सर्व्वमहितायोपदिश्यत  
इत्यन्तेन यस्माद्धेतोयद्येन सह विरुध्यते यच्च करोति । ततः पाण्ड्येत्यारभ्य  
हेतुमित्यन्तेन वैरोधिकद्रव्यनिमित्ता व्याधयस्तेषाञ्च व्याधीनामौषधश्च यत्तत् ।  
एषां स्वत्वित्यारभ्य हितसेवनमित्यन्तेन तत्सर्व्वमस्मिन्नात्रेयभद्रकाप्यीयेऽध्याये  
मुनिरात्रेयः पुनर्व्वसुरवददिति ॥ ७५ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि, पूर्व्ववत्, इत्यात्रेयभद्र-  
काप्यीयोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इति श्रीगङ्गाधरकविरक्तकविराजकृते चरकजलपत्रकल्पतरौ मूत्रस्थानीय-

षड्विंशात्रेयभद्रकाप्यीयाध्यायजलपाख्या षड्विंशी शाखा ॥२६॥

याग्यत्वाद्” इत्यादिना ; विभक्तयो भेदाः “तत्र मधुरः” इत्यादिना ; उद्देशो द्रव्याणां, “शीतं  
वीर्य्येण” इत्यादिना, अपवादो द्रव्याणाम्, “मधुरं किञ्चिद्” इत्यादिना ॥ ७५ ॥

इति चरकचतुरानन-श्रीनञ्चक्रपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्व्वेददीपिकायां सूत्रस्थान-

व्याख्यायाम् आत्रेयभद्रकाप्यीयो नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः ।

अथातोऽन्नपानविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

इष्टवर्णगन्धरसस्पर्श विधिविहितमन्नपानं प्राणिनां प्राणि-

गङ्गाधरः—अथाहारद्रव्याणां प्रभेदरसनहचरितगुणकर्मवीर्यविपाकप्रभावान् सामान्यत उक्त्वा प्रतिद्रव्यं विशेषत उपयोगार्थं वक्तुमन्नपानविधिम् अध्यायमारभते—अथान इत्यादि । अन्नमशनखादनं चर्वणसामान्यात् । पानं पानलेहरूपं द्रव्याणां गलाश्लेष्मणसामान्यात् । अन्नञ्च पानञ्चान्नपाने विधीयते अस्मिन्ननेन वेति अन्नपानविधिरिति कश्चित्, तन्न, यतोऽस्मिन्नध्यायेऽन्नपानयोर्विधानमस्ति । तस्मादन्नपानयोर्विधीयतः उपदेशतः सोऽन्नपानविध्युपदेशस्तमधिकृत्यकृतोऽध्याय इति । अन्नपानविधिमत्र तद्धितलुक् । सर्वं पूर्ववद्व्याख्यातव्यम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—कोऽसावन्नपानविधिरुपदेष्टव्य इति ? अत उच्यते—इष्टेत्यादि । इष्टाः प्रायेण सर्वजनाभिमता वर्णगन्धरसस्पर्शा येषां द्रव्याणां तेषां विधिना इन्द्रियोपक्रमणीयोक्तेन नारत्नपाणिरित्यादिना वक्ष्यमाणरसविमानोक्तेन तदाहारविधानमित्यादिना विहितं कृतमन्नञ्च पानञ्च प्राणिनां स्थावर-

चक्रपाणिः—सम्प्रति सामान्येनोक्तानां गुणकर्मभ्यां प्रतिव्यक्त्यनुक्तानां प्रतिव्यक्तिप्रायोपयोगिद्रव्यस्य विशिष्टगुणकर्मकथनार्थमन्नपानविधिरध्यायोऽभिधीयते ; अत्रोत्पन्नस्य छप्रत्ययस्य लुक् ; अत्रान्ने काठिन्यसामान्यात् खाद्यम्, पाने च द्रवत्वसामान्यात् लेह्यमवरुद्धं ज्ञेयम् ; अन्नपानं विधीयते विशिष्टगुणकर्मयोगितया प्रतिपाद्यतेऽनेनेत्यन्नपानविधिः, द्रव्याणां गुणकर्मकथनमेव चान्नपानविधिः, यतः तद्धि ज्ञात्वान्नपानं विधीयते ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—किं तदन्नपानं करोतीत्याह—इष्टेत्यादि । इष्टमभिमतं हितञ्च, किंवा इष्टमिति प्रियं हितञ्च, विरोधि ह्यप्रियम् ; हितन्तु विधिविहितशब्देनैव प्राप्यते ; विधिर्वक्ष्यमाणरसविमाने—“तदेतदाहारविधानम्” इत्यादिग्रन्थवाच्यः ; तथेन्द्रियोपक्रमणीये च “नारत्नपाणिः” इत्यादिनोक्तं विधानं, तेन विधिना विहितं विधिविहितम् ; अत्र वर्णादिषु शब्दाग्रहणमन्नपाने प्रायःशब्दस्याविद्यमानत्वात् ; वर्णादिषु यद्यत् प्रथममन्नपाने गृह्यते, तत्तत् पूर्वमुक्तम् ; रसस्तु स्पर्शस्य पश्चाद्गृह्यमाणोऽपि प्रश्नान्वयथापनाथे स्पर्शस्याग्रे कृतः ; प्राणिनामित्यनेनैव लब्धेऽपि

संज्ञकानां प्राणमाचक्षते कुशलाः । प्रत्यक्षफलदर्शनात्  
तदिन्धना ह्यन्तरग्नेः स्थितिस्तत् सत्त्वमूज्जयति । तच्छरीर-

जङ्गमानां वृक्षादिमनुष्यादीनां चेतनाचेतनानां मध्ये प्राणिसंज्ञकानां चेतनानां  
प्राणं प्राणहेतुत्वात् । आयुर्वृतमितिवत् । वृक्षादया हि प्राणिनोऽपि न  
लोके प्राणिसंज्ञयोच्यन्ते । तस्मादुक्तं प्राणिसंज्ञकानामिति । न च तेषाम्  
अपीष्टवणगन्धरसस्पर्शपृथिवीरसपानेनैवाप्याय्यन्ते प्राणा न तु विहितान्नपानेन  
विधिर्हि शास्त्रेऽन्नपानयोरुपदिष्टः न तु यस्य यथान्नपानाभ्यां शरीरमविकलम्  
आप्याय्यते स तस्यान्नपानविधिः । भवतु वा न चास्ति वृक्षादीनामचेतनप्राणि-  
नाम् अन्नमिति । बुभुक्षमाणानां प्रथमतोऽन्नपानीययोरिष्टवणं दर्शनेन मनसा  
श्रद्धेयत्वं स्यात् । श्रद्धापूर्वकान्नपानयोर्ह्येतत् प्राणहेतुत्वमिति ख्यापितम् ।  
एवं गन्धरसस्पर्शानामपि तत्रोपयोगित्वं ज्ञेयम् । पूर्वं खल्वन्नं पानं वा  
दृश्यते ततो गन्ध उपलभ्यते ततः स्पृश्यते ततश्च रस्यते रस इति क्रमेण वण-  
गन्धस्पर्शरसमित्यानुपूर्विकं युज्यमानमपि स्पर्शस्य किञ्चिदनिष्टत्वेऽपि न  
प्राणहेतुत्वहानिराहारस्य भवति । रसस्य त्वनिष्टत्वं बहुतरप्राणहेतुहानिरन्न-  
पानयोरिति स्पर्शात् प्राधान्यख्यापनार्थं रसस्य पूर्वमुपादानं कृतमाचार्येण ।  
पञ्चानां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानामर्थानामन्नपानीयद्रव्येषु वृत्तावपि शब्दस्य  
इष्टत्वानिष्टत्वयोरन्नपानस्य प्राणहेतुत्वे तूपायगिताभावाच्चापादानं कृतमिति ।  
ननु कुता हतोः कुशलास्तथाविधमन्नपानं प्राणमाचक्षते इति ? अत उच्यते,  
प्रत्यक्षफलदर्शनात् । अत्रान्नपानयोर्भुक्त्वापीतयां लोके प्रत्यक्षेण प्राणजनकत्वं  
दृष्ट्वा कुशलास्तथाविधान्नपानं प्राणमाचक्षते इति । ननु तथाविधान्नपानयोः  
प्राणवृद्धिः फलं कथं स्यादिति ? अत उच्यते । तदिन्धनेत्यादि । तत्तथाविधान्न-  
पानं लोकि काश्चिस्थितिकारणमिन्धनमिवेन्धनं यस्या अन्तरग्निस्थितेः सा

‘प्राणिसंज्ञकानाम्’ इति वचनं स्थावरप्राणिप्रतिषेधार्थम्, वृक्षादयो हि वनस्पतिवर्गानुकारोपदेशात्  
शास्त्रे प्राणिन उक्ताः, न तु लोके प्राणिसंज्ञकाः, किं तर्हि ? जङ्गमा एव ; इह च मनुष्यस्यैव  
अधिकृतत्वेऽपि सामान्येन सकलप्राणिप्राणहेतुतया आहारकथनं मनुष्यव्यतिरिक्तेऽपि प्राणिनि  
आहारस्य प्राणजनकत्वोपदर्शनार्थम् ; प्राणमिति प्राणहेतुत्वात्, यथा—“आयुर्वृतम्” । अथ  
कथं तत् प्राणमाचक्षत इत्याह—प्रत्यक्षफलदर्शनादिति, प्रत्यक्षैणैव आहारं विधिना कुर्वतां प्राणा  
अनुवर्तन्ते इति तथा निराहाराणां प्राणा न ह्यवतिष्ठन्ते इति दृश्यत इत्यर्थः, प्रत्यक्षशब्दश्चेह  
स्फटप्रमाणे वर्तते, यतः प्राणानामन्नकार्यत्वमनुमानगम्यमेव ; अन्नकार्यत्व एव प्राणानां हेतुम्

धातुव्यूहबलवर्णैर्न्द्रियप्रसादकरं यथोक्तमुपसेव्यमानं विपरीत-  
महिताय सम्पद्यते । तस्माद्धिताहितावबोधनार्थमन्नपान-  
विधिमखिलेनोपदेक्ष्यामोऽग्निवेश ॥ २ ॥

तथा । उक्तं हि “बलमारोग्यमायुश्च प्राणाश्चाग्नौ प्रतिष्ठिताः” इति, एतेन तथा-  
विधान्नपानयोः प्राणहेतुत्वदन्तराग्निस्थितिहेतुत्वं ज्ञापितं भवति । तयोः  
कर्मान्तरमाह—तदित्यादि । येन यथोक्तमुपसेव्यमानमन्नपानं तत्सत्त्वं तस्य  
मन ऊज्जयति बलवत् करोति, चौरादिक ऊज्जे बलजीवनयोरिति । कर्मान्तर-  
माह—तच्छरीरेत्यादि । तदन्नपानं येन पुंसा यथोक्तमुपसेव्यते तस्य तदन्न-  
पानं शरीरधातुव्यूहबलादिकरं शरीरस्य धातवो रसरक्तादयस्तेषां व्यूहं संघातं  
बलञ्च वणञ्च इन्द्रियप्रसादञ्च करोति । विपरीतं यथोक्तविधिविपर्ययेणोप-  
सेव्यमानमन्नपानमहिताय प्राणाग्निस्थितिसत्त्वबलशरीरधातुव्यूहबलवर्णै-  
न्द्रियप्रसादानां विपर्ययाय सम्पद्यते । तस्माद्धेतोहिताहितानामवबोधार्थम्  
अन्नपानयोर्विधिं विधायकमत्यन्ताप्राप्तस्योपयोगप्रकारस्य प्रापकं नियोगमुप-  
देक्ष्याम इति व्याचष्टे कश्चित् तन्न । विधिर्ह्यत्र प्रकारवचनो न विधायकवचनः ।  
तस्मादखिलेनान्नपानप्रकारमुपदेक्ष्यामोऽग्निवेशेति । यद्यप्यत्र वक्ष्यते अन्न-  
पानैकदेशोऽयमुक्तः प्रायोपयोगिकः इति तथाप्यनुक्तानां द्रव्यगुणकर्मणामुप-  
संहारवचनेन निखिलेनोपदेशो नानुपपन्नः ॥ २ ॥

आह ‘तदिन्धना’ इत्यादिनां ; अग्निहेतुश्च प्राणहेतुः, ततोऽन्नं प्राणा इति भावः, उक्तं हि—  
“बलमारोग्यमायुश्च प्राणाश्चाग्नौ प्रतिष्ठिताः” ; किंवा पूर्वमन्नपानस्य प्राणहेतुत्वमुक्तम्,  
‘तदिन्धना हि’ इत्यादिनाग्निहेतुत्वं वक्ष्यते ; सत्त्वमूर्जयतीति मनोबलं करोति, धातुव्यूहो  
धातुसङ्घातः ; विपरीतम् अविधिस्थितम् । अन्नपानं विधीयते येन ज्ञानेन तं विधिं द्रव्यगुण-  
कर्मरूपम्, तथा, चरशरीरावयवादिरूपञ्चाखिलेन कास्तेऽप्युपदेक्ष्यामः, यद्यपि चेह द्रव्यं  
प्रतिप्रतिगुणकर्मभ्यां न निर्देक्ष्यति, वक्ष्यति हि—“अन्नपानैकदेशोऽयमुक्तः प्रायोपयोगिकः”  
इति, तथाप्यनुक्तानां द्रव्याणामपि चरशरीरावयवाद्युपदेशेन, तथा पूर्वोक्त्यायोक्तपार्थिवादि-  
द्रव्यगुणकथनेन च तद्विधानामप्युक्तं स्यादित्यत उक्तम्—‘अखिलेन’ इति, वक्ष्यति हि—“यथा  
नानौषधं क्खिद्देशजानां वचो यथा । द्रव्यन्तु तत्तथा वाच्यमनुक्तमिह यद् भवेत् ॥” तथा, “चरः  
शरीरावयवः” इत्यादि ; किंवा, विविशब्दोऽशितपीतलीढखादितप्रकारवाची, तेन चाशितादयः  
सर्व एवाखिलेन वाच्याः, तत्कारणभूतानि तु द्रव्याणि रक्तशाल्यादीन्येकदेशेनोक्तानि, अतो  
वक्ष्यति—“अन्नपानैकदेशोऽयमुक्तः” इति ॥ २ ॥

तत्स्वभावादुदकं क्लेदयति, लवणं विष्यन्दयति, क्षारः पाचयति, मधु सन्दधाति, सर्पिः स्नेहयति, क्षीरं जीवयति, मांसं वृंहयति, रसः प्रीणयति, सुरा जर्जरीकरोति, सीधुरव-

गङ्गाधरः—तथान्नपानयोः साधारणयोर्गुणकर्मण्यभिधाय तदुपयोगं प्राधान्यात् गुणकर्मभिर्द्रव्याण्युपदिश्यन्ते—तदित्यादि । तत्स्वभावादिति वक्ष्यमाणानामिहोदकादीनां यद्यत् कर्म वक्ष्यते तत्तत्कर्मकृदेव स्वभावः । स्वस्वतत्स्वभावात् । तथाच उदकं यत् क्लेदयति तत्तत्क्लेदकृद्द्रव्यत्वस्वभावात् । इहान्नपानप्रकरणात् उदकस्यान्नपानसाधनं यत् कर्मणः प्राधान्यं तदुपदेशेन श्रेष्ठतमोपदेशे यदुक्तम् उदकमाश्वासकराणां जलं स्तम्भनानामिति तन्न व्याहन्यते । यदि चान्नसाधने बह्वेरेपि प्राधान्यमुदकवत् तुल्यं तथाप्याहारे बह्वैरुपयोगाभावादुदकस्याभ्यवहृतानामपि क्लेदकत्वादादावुपदेशः । क्लेदोऽवयवसंयोगकाठिन्यविनाशजन्यद्रवीभावस्तज्जनकव्यापार उदकस्येति । लवणं द्रव्यं विष्यन्दयति तत्स्वभावात् स्नायति स्नावजनकव्यापारो लवणस्य सैन्धवादेरिति अन्नोपकरणव्यञ्जनद्रव्यसाधनोपयोगित्वेनोदकादप्राधान्यं लवणस्य । क्षारः पाचयतीति । क्षारो भस्मीभूतद्रव्यकृतविकारविशेषो यवक्षारादिः यत्किञ्चित् पचन्तम् उष्माणं प्रेरयति तत्स्वभावात् । सैन्धवादिभ्योऽप्राधान्यात् तदनुवचनं कचिदुपयोगात् । मधु सन्दधाति संश्लेषं करोति तत्स्वभावात् मधु चाहारोपयोगितयैवेहोक्तम् । सर्पिः स्नेहयति तत्स्वभावात्—दैवादिकं जिष्णिह लृ प्रीतिस्नेहनयोः । प्रयोजके णिच् । सर्पिषोऽप्युपकरणं व्यञ्जनादि-संस्कारत्वेन वचनम् । क्षीरं जीवयति तत्स्वभावात् । आयुर्जीवनं तत् करोति । शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगं द्रढयति । मांसं वृंहयति तत्स्वभावात् । भौवादिको

चक्रपाणिः—अन्नपाने च वक्तव्ये यद्द्रव्यं प्राय उपयुज्यते, तस्य सामान्यगुणमभिधाय वर्गसंग्रहेण गुणमुपदेक्षयति ; उदकाभिधानञ्चाग्रे कृतमुदकस्यान्ने पाने च व्याप्रियमाणत्वात् ; तदित्युदाहरणम्, किंवा, स स्वभावो यस्य स तत्स्वभावस्तस्मात् क्लेदनस्वभावादित्यर्थः ; यद्यपि “उदकमाश्वासकराणाम्” “जलं स्तम्भनानाम्” इत्युक्तं, तथापि इहानुक्तक्लेदककर्माद्यभिधानार्थं पुनरुच्यते ; इह जललवणादीनां यत् कर्मोच्यते तत्तेषामितरकर्मभ्यः प्रधानं ज्ञेयम्, अग्न्याधिकारे तु तत्कर्मकृतृत्वद्रव्यान्तरप्रशस्तता ज्ञेया । क्षारः पचन्तमग्निं प्रेरयति, तेन पाचयतीति हेतौ णिच् ; स्नेहयतीत्यादौ तु “तत् करोति तदाचष्टे” इति णिच् ; सन्दधातीति विश्लिष्टानि



धमति, द्राक्षासवो दीपयति, फाणितमाचिनोति, दधि शोफं  
जनयति, पिण्याको \* ग्लपयति, प्रभूतान्तर्मलस्तु माषसूपः,  
दृष्टिशुक्रघ्नः चारः, प्रायः पित्तलमम्लमन्यत्र दाडिमामलकात्,

वृद्धिं ध्वनिवृद्धोरिति—मांसं वृंहत् प्रेरयति । रसो मांसस्य रसः प्रीणयति  
न त्वस्वभावात् । प्रीण तपेणे । तपयति तृप्तिं जनयति । सुरा जज्जरी-  
करोति तत्स्वभावात् । शरीरशैथिल्यं करोति रक्तमेदोबाहुल्यात् । तदुक्तं  
हारीतेन—सुरा जज्जरीकरोत्यसृङ्मेदो बाहुल्यात् । सीधुरवधमति तत्स्वभावात्  
अवधमति विलिखति शरीरं धातूनामनेकाथेत्वात् । सीधुरवधमति व्याह्याग्नि-  
प्रबोधनादिति हारीत उवाच । द्राक्षासवो दीपयति तत्स्वभावाद्गिन् प्रज्वल-  
यति । फाणितमाचिनोति तत्स्वभावादोषाणामाचितिं करोति । दधि शोफं  
जनयति तत्स्वभावात्, दोषजं शोफम् । पिण्याको ग्लपयति तत्स्वभावात्,  
तिलकल्कः हर्षक्षयं करोति । प्रभूतान्तर्मलो माषसूपस्तत्स्वभावात् । प्रभूतो  
बहुलोऽन्तर्मलः पुरीषं भवति यस्मात्, स तथा माषसूपः । माषो बहुमल इति  
माषाधिकारसामान्यस्य बहुमलकरत्वात् तदेकस्य विकारस्य सूपस्यापि पुन-  
रिहानुवादः । दृष्टिशुक्रघ्नः क्षारस्तत्स्वभावात् । पाचकत्वं कम्मे प्रागुक्तम्  
अन्तर्वाह्यप्रयोगाभिप्रायेणेह पुनर्विपाके दृष्टिशुक्रघ्नः तत्समुक्तम् । प्रायः पित्तलम्  
म्लमन्यत्र दाडिमामलकात् तत्स्वभावात् । प्रायोऽम्लं द्रव्यं, पित्तलं  
तत्स्वभावात् । पाके रसे वीर्यं चाम्लोष्णत्वात् । दाडिमामलकन्तु वीर्येण

त्वङ्मांसादीनि संश्लेषयति ; रसो मांसरसः, प्रीणयतीति क्षीणान् पुष्णाति न त्वतिवृद्धं करोति,  
तेन मांसकर्मणा वृंहणेन समं नैक्यम् ; जज्जरीकरोति श्लथमांसाद्युपचयं करोति, यदुक्तम्  
हारीते—“सुरा जज्जरीकरोत्यसृङ्मेदो बाहुल्याद्” इति, तथाह्यत्रैवोक्तम्—“सुरा कृशादीनां  
पुष्ट्यर्थम्” इति ; अवधमयतीति विलिखतीत्यर्थः, अनेकार्थत्वाद्वातूनाम्, वचनं हि—“लेखनः  
शीतरसिकः” इति, तथा हारीतेऽप्युक्तं—“सीधुरवधमयति वाय्वग्निप्रबोधनाद्” इति ।  
आचिनोति दोषानिति शेषः, तत्रान्तरवचनं हि—“वातपित्तकफांस्तस्मादाचिनोति च फाणितम्”  
इति । पिण्याकस्तिलकल्कः, निघण्टुकारस्त्वाह—“पिण्याको हरितशिग्रुः” ; ग्लपयति हर्षक्षयं  
करोति ; प्रभूतान्तर्मलस्य पुरीषस्य कर्त्ता प्रभूतान्तर्मलः, यद्यपि “माषो बहुमलः” इति वक्ष्यति,  
तथापि माषविकृतेः सूपस्येह गुणकथनम्, तेन न पुनरुक्तम्,—न चावश्यं प्रकृतिधर्म्मो विकृतिम्  
अनुगच्छात्, यतः शक्तूनां सिद्धिपिण्डिका गुरवः स्युः, तस्मान्माषविकृतावपि मलवृद्धिदर्शनार्थम्

\* पिण्याक इत्यत्र पिण्याकशकमिति क्वचित् ।

प्रायः श्लेष्मलं मधुरमन्यत्र मधुनः पुराणाद् यवगोधूमाच्च, प्रायः-  
स्तित्कं वातलमवृष्यश्च अन्यत्र वेत्राग्रपटोलपत्रात्, प्रायः कटुकं  
वातलमवृष्यश्च अन्यत्र पिप्पलीविश्वभेषजात्, प्रायः कषायं  
वातलमवृष्यं स्तम्भनं शीतञ्चान्यत्र हरीतक्याः, प्रायो  
लवणं श्लेष्मलमवृष्यञ्चान्यत्र सैन्धवात् ॥ ३ ॥

शीतं स्वभावः । रसविपाकावपोह पित्तं शमयति न पित्तं वृद्धयति । प्रायः  
श्लेष्मलं मधुरमन्यत्र मधुनः पुराणाद् यवगोधूमात् तत्स्वभावात् । प्रायो मधुरं  
द्रव्यं श्लेष्मलं तत्स्वभावात् । रसे हि मधुरं पाके च मधुरं वीर्यं च शीतम् ।  
तत्र मधु हृत्पूष्णवीर्येण मधुररसविपाकावपोह श्लेष्माणं शमयति । पुराणश्च  
यवो गोधूमश्च न हिमः, नवस्य हिमत्वात् । विपाके च कटुस्तस्मान्न श्लेष्मलः ।  
प्रायस्तित्कं वातलमवृष्यश्चान्यत्र वेत्राग्रपटोलपत्रात् । तित्कद्रव्यं प्रायो वातलम्  
अवृष्यश्च रसे तित्कत्वात् पाकं कटुत्वात् वीर्यं शीतत्वात् । वेत्राग्रं पटोलपत्रञ्च न  
वातलं नावृष्यं पाके हि मधुरं रसमपोह वातं शमयति वृष्यश्च भवति । शीतं  
वीर्यश्च पित्तं शमयति वृषस्यति च । प्रायः कटुकं वातलमवृष्यश्चान्यत्र  
पिप्पलीविश्वभेषजात् । कटुकं द्रव्यं मरिचादिकं प्रायो वातलमवृष्यश्च रसे  
पाके कटुत्वाद्वीर्यं चोष्णत्वात् । पिप्पली विश्वभेषजश्च मधुरपाकाच्छीतवीर्याच्च  
कटुरसमपोह न वातं वृद्धयति नावृष्यत्वञ्च करोति । प्रायः कषायं वातलम्  
अवृष्यं स्तम्भनं शीतञ्चान्यत्र हरीतक्याः । कषायद्रव्यं प्रायो वातलमवृष्यं  
स्तम्भनं शीतञ्च । कटुपाकात् वातलमवृष्यं स्तम्भनञ्च शीतवीर्यादल्पवृष्यम् ।  
हरीतकी तूष्णवीर्यात् प्रभावाच्च न स्तम्भनी वृष्या च । प्रायो लवणं श्लेष्मलम्  
अवृष्यश्चान्यत्र सैन्धवादिति सैन्धवं हि नोष्णं पित्तं शमयति वृष्यश्च प्रभावात्

एतदभिधानम् ; क्षारस्य पाचनत्वगुणोऽभिहितः, इह तु, 'दृष्टिशुक्रप्लव'—दोष इति पृथगुच्यते ।  
प्रायः पित्तलमिति विशेषेणान्येभ्यो लवणकटुकेभ्योऽम्लं पित्तलम् ; एवमन्यत्रापि 'प्रायः'-  
शब्दो विशेषार्थो वाच्यः, किंवा, 'प्रायः'शब्दोऽम्लेन सम्बध्यते; अत्र पित्तमादावम्लजन्यतयोक्तं  
दोषप्राधान्यस्यानियतत्वाद्, उक्तं हि—“न ते पृथक् पित्तकफानिलेभ्यः” इति, तथा, “समपित्त-  
कफानिलाः” इति, किंवा पित्तोष्मा वह्निः, स चेहास्त्रपानपचने प्रधानम्, यदुक्तम्—“यदन्न  
देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषकम् । तत्राग्निर्हेतुराहारान् न ह्यपकाद् रसादयः ॥” इति ; तेनेह वह्नि-  
कारणपित्तजनकमेवादावुच्यते, यतश्च पित्तजनकमग्रे वक्तव्यम्, उक्तो रसप्रधानमपि मधुरो नादौ  
उक्तः ; मधुन इति विच्छेदपाटेन नवानवरस्य मधुनः कफाकर्तृत्वं दर्शयति ; इह च षड्रसस्यैव

यवका हायनाः पांशु-वाप्या नैषधकादयः ।  
 शालीनां शालयः कुव्वन्त्यनुकारं गुणागुणैः ॥ ५ ॥  
 शीतः स्निग्धोगुरुः \* स्वादुस्त्रिदोषघ्नः स्थिरात्मकः ।  
 पष्टिकः प्रवरो गौरः कृष्णगौरस्ततोऽनु च ॥

पहः ॥ तस्मादल्पान्तरगुणः कलमः शालयोऽपराः । इति । एतच्चाह—महां-  
 स्तस्यानु कलमस्तस्याप्यनु ततः परे । इति । रक्तशालितोऽनु अल्पान्तर-  
 गुणो महान् शालिस्तस्यानु अल्पान्तरगुणः कलमस्ततः परे शकुनाहतादयः स्तप-  
 नीयान्ताः । इह रक्तशालितोऽल्पान्तरगुणो महाशालिः, सुश्रुते कलमः कलमा-  
 दनन्तरकदमकादिभ्यः षड्भ्यः स्वल्पान्तरगुणो महाशालिरित्येवं यत्किञ्चि-  
 दल्पान्तरगुणवचनभेदो नाद्रियते कुशलैरिति ।० यवका इत्यादि । यवकाः  
 शालिधान्यविशेषास्तथा हायनकाः वाप्या नैषधकाप्रभृतयः शालय एव  
 शालीनां रक्तशाल्यादीनां गुणागुणैरनुकारं कुव्वन्ति । एते पूर्वपूर्वतो-  
 ऽनुगुणाभावात् पृथगुक्ताः सर्वे हि शाल्यनुकारेण गुणागुणान् कुव्वे-  
 न्तीति ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—हैमन्तिकानां शूकधान्यानां गुणानुत्तवा षष्टिकानां गुणानाह  
 शीत इत्यादि । द्विविधं शूकधान्यं सुधान्यकुधान्यभेदात् । तत्र सुधान्यं  
 त्रिविधं शालिषष्टिकव्रीहिभेदात् । तत्र शालिगुणानन्तरं षष्टिकजाति-  
 सामान्यादेष गुणसंग्रहः । षष्टिकः प्रवरः षष्टिकेषु मध्ये प्रवरः श्रेष्ठः षष्टिक-  
 नामा गौरः षष्टिकः । शीतश्च स्निग्धश्चागुरुश्च स्वादुश्च त्रिदोषघ्नश्च स्थिरात्मकश्च  
 स्थैर्यकृच्च (ग्राही च) । यः प्रवरः षष्टिकः गौरः षष्टिकः शुक्रषष्टिकः । ततोऽनु

पाकित्वे बद्धवत्त्वं प्रभावादेव, महांस्तस्यान्विति रक्तशालेरनु, तेन रक्तशालिगुणात् महा-  
 शालेर्मनागल्पाः, एवं तस्यानु कलम इत्यत्रापि वाच्यम्, तस्येति महाशालेः, ततः पर इति  
 शकुनाहतादयः, इत्युत्तरोत्तरमल्पगुणा इत्यर्थः ।

गुणागुणैरिति । शालीनां रक्तशाल्यादीनां ये गुणास्तृष्णाघ्नत्वन्निमलापहत्वादयः,  
 तेषामगुणैस्तद्गुणविपरीतैर्दोषैः यवकादयोऽनुकारं कुव्वन्ति, ततश्च यवकास्तृष्णाघ्ननिमलादिकरा  
 इति स्युः ; गुणशब्दश्चेह प्रशंसायाम् ; षष्टिकगुणैर्दोषप्रश्लेषादगुरुरिति बोद्धव्यम्, मात्रा-

वरकोद्दालकौ चीन-शारदोद्दाल-<sup>\*</sup>-दर्दुराः ।

गन्धलाः कुरुबिल्लाश्च + पट्टिकालयान्तरा गुणैः ॥

मधुरश्चांम्लपाकश्च ब्रीहिः पित्तकरो गुरुः ।

बहुमूत्रपुरीषोऽणस्त्रिदोषस्त्वेव पाटलः ॥ ६ ॥

अल्पगुणः कृष्णगौरः पट्टिकः, वरक उद्दालकश्चीनः शारदोद्दालो दर्दुरः गन्धलाः कुरुबिल्लाश्चेत्येते पट्टिकाः पट्टिकनामपट्टिकस्यालयान्तरा गुणैरल्पभेदाः । अल्परूपाः शीताः स्निग्धा गुरवः स्वादवस्त्रिदोषघ्नाः स्थिरात्मकाश्चेति । सुश्रुते चोक्तं—“पट्टिकाङ्गुकमुकुन्दकपीतक-प्रमोदक-काकलकासनपुष्पक-महापट्टिक-चूर्णककुरवककेदारकप्रभृतयः पट्टिकाः । रसे पाके च मधुराः शमना वात-पित्तयोः । शालीनाश्च गुणैस्तुल्या वृंहणाः कफशुक्रघ्नाः ॥ पट्टिकः प्रवरस्तेषां कषायानुरसो लघुः । मृदुः स्निग्धस्त्रिदोषघ्नः स्थैर्यकृद्बलवद्धनः ॥ विपाके मधुरो ग्राही तुल्यो लोहितशालिभिः । शेषाः स्वल्पान्तर्गुणाः पट्टिकाः क्रमशो गुणैः ॥ इति ।

अथ ब्रीहियुगानाह—मधुरश्चेत्यादि । ब्रीहिराशुधान्यस्य संज्ञा । ब्रीहिः आशुधान्यजातिर्मधुरश्चांम्लपाकश्च पित्तकरश्च गुरुश्च बहुमूत्रश्च बहुपुरीषश्च बहुष्मा च भवति । तत्र पाटलः पाटलवर्णो ब्रीहिविदोषकृद्भवतीति । सुश्रुते च—कृष्णब्रीहि-शालामुख-जतुमुख-नन्दीमुख-लावाक्षक-त्वरितक-कुक्कुटण्डक-पारावतक-पाटलप्रभृतयो ब्रीहयः । कषायमधुराः पाके मधुरा वीर्ययतोऽहिमाः । अल्पामिष्यन्दिनस्तुल्याः पट्टिकैर्वृद्धवच्चसः । कृष्णब्रीहिवेरस्तेषां कषायानुरसो लघुः । तस्मादल्पान्तर्गुणाः क्रमशो ब्रीहयोऽपरे ॥ इति । इह पाके मधुरा इति अम्लपाकाश्चेत्यनेन विरोधो नाशङ्क्यः । सुश्रुतेऽम्लपाकं नोक्त्वा मधुरकटुपाकौ गुरुलघुपाकयोः संज्ञया तूक्तौ । तेन पृथिव्यम्बुगुणाधिक्याभिनिवृत्तिकपाको मधुरो नाम गुरुपाको न तु मधुररसे पाको मधुरपाकस्तस्मादम्ले रसे पाकस्तु भूमिगुणाधिक्याभिनिवृत्तिक इति न विरोध इति । एषां शालिषट्टिकब्रीहीणां क्षेत्रविशेषे जातानां गुणविशेषा उक्ताः सुश्रुते—दग्धायामवनौ जाताः शालयो-लघुपाकिनः । कषाया बद्धविष्मूत्रा रुक्षाः श्लेष्मापकर्षणाः ॥ स्थलजाः कफ-शितीये षट्टिको लघुः पठितः, ततोऽणु चेति गौरषट्टिकादल्पान्तर्गुणः । वरकोद्दालकादयः षट्टिकविशेषाः, केचित् कुधान्यानि वरकादीनि वदन्ति । ब्रीहिरिति शारदाशुधान्यस्य संज्ञा ।

\* शारदोज्ज्वलेति वा पाठः ।

+ गन्धनाः कुरुबिल्लाश्च इति चक्रोक्तपाठः ।

सकोरदूषः श्यामाकः कषायमधुरो लघुः ।  
 वातलः श्लेष्मपित्तघ्नः शीतसंग्राहिशोषणः ॥  
 हस्तिश्यामाकनीवार-तोयपर्णीगवेधुकाः ।  
 प्रशान्तिकाम्भःश्यामाक-लोहिताणुप्रियङ्गवः ॥  
 मुकुन्दो झिण्डिरमुखो वरुकावरकास्तथा\* ।  
 शिविरोत्कटजूर्णाख्याः श्यामाकसदृशा गुणैः ॥ ७ ॥

पित्तघ्नाः कषायाः कटुकान्वयाः । किञ्चित्सतित्तमधुराः पवनानलवर्द्धनाः ॥  
 कैदारा मधुरा दृष्या वल्याः पित्तनिवर्हणाः । ईपत्कषायाल्पमला गुरवः  
 कफशुक्रलाः ॥ रोष्यातिरोष्या लघवः शीघ्रपाका गुणोत्तराः । अदाहिनो  
 दोषहरा वल्या मूत्रविवर्द्धनाः ॥ शालयश्छिन्नरूढा ये रक्षास्ते वद्धवच्चैसः ।  
 तिक्ताः कषायाः पित्तघ्नाः लघुपाकाः कक्षापहाः । विस्तरेणायमुद्दिष्टः शालि-  
 वर्गो हिताहितः ॥ इति । इह शालिशब्दः शालिषष्टिकत्रीहिवचनः, न  
 केवलहैमन्तिकधान्यवचनः, शालिवर्गशब्दस्य शालिशब्देन शाल्यादीनां त्रयाणां  
 संग्रहादिति ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—अथ कुधान्यगुणानाह—सकोरदूष इत्यादि । कोरदूषः कङ्गुः  
 श्यामाकः श्यामायासस्य बीजं, कषायमधुरः, कषायलघुत्वाद्वातलः, श्लेष्मघ्नः  
 शीतकषायमधुरत्वात्, पित्तघ्नः, लघुवीर्यत्वाद्वातलः श्लेष्मघ्नः शीतवीर्यत्वात्  
 पित्तघ्नः, कषायलघुत्वाद् ग्राही च शोषणश्च । हस्तिश्यामादयस्तु गुणैः  
 श्यामाकसदृशा भवन्ति । हस्तिश्यामाको दृढच्छामायासबीजम् । नीवारः  
 तोयपर्णी गवेधुकः प्रशान्तिका अम्भः-श्यामाकः लोहिताणुः प्रियङ्गुः मुकुन्दः  
 वाकसतृणः झिण्डिरमुखी वरुका वरकः शिविरः उत्कटः जूर्णाख्याः

पाटलो व्रीहिविशेषः तन्वान्तरे पथ्यते—‘त्रिदोषस्त्वेव पाटलः’ इति । सुश्रुते पाटलशब्देन  
 एतद्व्यतिरिक्तो धान्यविशेषो ज्ञेयः, तेन तद्गुणकथनेन नेह विरोधः ॥ ५।६ ॥

चक्रपणिः—कोरदूपादयः कुधान्यविशेषाः, कोरदूषः कोद्वयः, कोरदूषस्य केवलस्य श्लेष्म-  
 पित्तघ्नत्वं, तेन, यदुक्तं रक्तपित्तनिदाने—“यदा जन्तुर्यवकोहालककोरदूषप्रायाभ्यन्तानि भुङ्क्ते”  
 इत्यादिना पित्तकर्तृत्वम् कोरदूषस्य, तत् तत्रैवोक्तनिष्पावकाञ्जिकादियुक्तस्य संयोगमहिम्ना  
 बोद्धव्यम् । श्यामाकादयोऽपि तृणधान्यविशेषाः । हस्तिश्यामाकः श्यामाकभेद एव, नीवार

\* “मुकुन्दो झिण्डिरगुणं टी चारुकावरकास्तथा” इति कचित् पाठान्तरं दृश्यते ।

रुक्षः शीतो गुरुः स्वादुर्वहुवातशकृद् यवः ।

स्थैर्यकृत् सकषायश्च वल्यः श्लेष्मविकारजित् ॥

सर्वे तृणसम्भवाः । सुश्रुते च अथ कुशान्यवर्गः—कोरुद्वपकश्यामाक-  
नीवार-शान्तनु-नुवरोदालकप्रियङ्गु-मधूलिका-नान्दीमुखीकुरुविन्द-गवेषुकवरु-  
तोयपर्णीमुकुन्दक-वेणुयवप्रभृतयः । उष्णाः कषायमधुरा रक्षाः कटु-  
विपाकिनः । श्लेष्मघ्ना वद्धनिष्यन्दा वातपित्तप्रकोपणाः ॥ कषायमधुरास्तेषां  
शीताः पित्तापहाः स्मृताः । कोद्रवश्च सनीवारः श्यामाकश्च सशान्तनुः ॥  
कृष्णारक्ताश्च पीताश्च इवेनाश्चैव प्रियङ्गवः । यथोत्तरं प्रशानाः स्यु रक्षाः  
कफहराः स्मृताः ॥ मधूली मधुरा शीता स्निग्धा नान्दीमुखी तथा । विशोषी  
तत्र भूयिष्ठं वरुकः समुकुन्दकः ॥ रक्षा वेणुयवा ज्ञेया वीर्य्योष्णाः कटु-  
पाकिनः । वद्धमूत्राः कफहराः कषाया वातकोपनाः ॥ इति । ७ । शकृधान्येषु  
यवादीनामोदनकल्पनानहतादोदनकल्पनार्हान् शाल्यादीनुत्त्वा यवादीनाह—  
रुक्ष इत्यादि । यवो रुक्षश्च शीतश्च वीर्य्येण रसे स कषायः स्वादुमधुरः । बहु-  
वातशकृत् । अधोवायुसरणं बाहुल्येन भवति, शकृत्सरणञ्च बाहुल्येन प्रभावात् ।  
वल्यश्च । विपाकोऽस्य मधुर एव कषायसहितत्वाद् यथान्येषां केवलमधुराणां  
मधुरो विपाको न तथा, तेन मध्यलग्नुपाकः शीतवीर्य्यात् पित्तजित् ।  
श्लेष्मविकारजयश्च प्रभावात् । उक्तञ्च सुश्रुते—यवः कषायो मधुरो हिमश्च  
कटुर्विपाके कफपित्तहारी । व्रणेषु पथ्यस्तिलवच्च नित्यं प्रवद्धमूत्रो बहुवात-  
वर्चाः ॥ स्थैर्य्याग्निमेधास्वरवणेकृच्च सपिच्छिलः स्थूलविलेखनश्च । मेदो-  
मरुतृङ्घ्रणोऽतिरुक्षः प्रसादनः शोणितपित्तयोश्च ॥ इति । अत्र कटुः पाके-  
ऽनतिलघुः ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—यवविशेषो वेणुयवो गुणकर्मभ्यामुच्यते—रुक्ष इत्यादि । रक्षो-

ओडिका, गवेषुको घुलुङ्गः,—स ग्राम्यारण्यभेदेन द्विविधः, प्रशतिका ओडिकैव स्थलजा  
रक्तशूका, अम्भःश्यामाका जलजा ओडिका लोके क्षरा इत्युच्यते, प्रियङ्गुः कायनीति प्रसिद्धा,  
मुकुन्दो वाक उत्तम इति, चाहः शागवीजम्, वरुकः सामवीजम्, शिविरस्तीरभुक्तौ सिद्धक  
इत्युच्यते, जूर्णाहो जोनार इति ख्यातः ॥ ७ ॥

चक्रपाणिः—यवस्य गुरोरपि बहुवातत्वं रुक्षत्वाद् । किंवा, सुश्रुते यवो लघुः पठितः,

रुक्षः कषायानुरसो मधुरः कफपित्तहा ।

मेदःक्रिमिविषघ्नश्च बल्यो वेणुयवो मतः ॥ ८ ॥

सन्धानकृद्वातहरो गोधूमः स्वादुशीतलः ।

जीवनो वृंहणो वृष्यः स्निग्धः स्थैर्यकरो गुरुः ॥

नान्दीमुखी मधुली च मधुरस्निग्धशीतले ।

इत्येवं शूकधान्यानां पूर्वो वर्गः समाप्यते ॥ ९ ॥

[ इति शूकधान्यवर्गः । १ । ]

ऽतिरुक्षः । कषायानुमधुरो रसोऽस्य । पाके च मधुरः कफपित्तहा रुक्ष-  
वीर्यान् । मेदःक्रिमिविषघ्नः प्रभावात् । बल्यश्च । अपरे च यवा एतद्गुणानु-  
सारेण गुणकर्मभ्यामुन्नेया आभ्यामप्राधान्यादनुक्तत्वेनाभ्यां किञ्चिन्न्यून-  
तरगुणा वाच्याः । उक्तञ्च सुश्रुते—एभिर्गुणैर्हीनतरांश्च किञ्चिद्  
विद्याद्यवेभ्योऽतियवान् विशेषैरिति ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—गोधूममाह—सन्धानकृदित्यादि । गोधूमः सन्धानकृद् भग्नानां  
संश्लेषकृत् । वातहरः प्रभावात् । स्वादुशीतलत्वाच्च पाके च मधुरः । तस्माज्जीव-  
नश्च वृंहणश्च वृष्यश्च । स्थैर्यकरः स्थिरगुणत्वात् । गोधूमविशेषाणाञ्च गुणानाह  
—नान्दीमुखीत्यादि । गोधूमविशेषौ द्वे नान्दीमुखी-मधुलिके मधुरे स्निग्ध-  
शीतले भवतः । सुश्रुते तु कुधान्यमध्ये पठित्वा सामान्यत उक्ताः—उष्णाः  
कषायमधुरा रुक्षाः कटुविपाकिनः । श्लेष्मघ्ना वद्वनिष्यन्दा वातपित्त-  
प्रकोपणाः ॥ इति । ततो विरोधः परिहार्यः कुधान्यविशेषौ हिते नेमे द्वे  
गोधूमप्रकरणे पठितत्वादिति । वर्गं समापयति—इत्ययमित्यादि । पूर्वो वर्गः  
शूकधान्यवर्गः समाप्यते ॥ ९ ॥

[ इति शूकधान्यवर्गः । १ । ]

तेन अत्राप्यगुरुरिति मन्तव्यम्, बल्यञ्च स्रोतःशुद्धिकरत्वात् प्रभावाद् वा । अस्य च शीत-  
मधुरकषायत्वेनानुक्तमपि पित्तहन्त्वं लभ्यत एव, तेन सुश्रुते—“कफपित्तहन्ता” इत्युक्त-  
मुपपन्नम् ॥ ८ ॥

चक्रपाणिः—गोधूमस्य स्वादुशीतस्निग्धादिगुणोपयोगात् श्लेष्मकर्तृत्वं भवत्येव, अत एव  
सुश्रुते—“श्लेष्मकरः” इत्युक्तम् । यत् तु वसन्ते कफप्रधाने यवगोधूमभोजनम् इत्युक्तं, तत् पुराण-  
गोधूमाभिप्रायेण ; पुराणश्च गोधूमः कफं न करोतीत्युक्तमेव “प्रायः श्लेष्मलं मधुरम्” इत्यादिना  
ग्रन्थेनात्रैवाध्याये । नान्दीमुखी यविका, मधुली गोधूमभेदः । इत्ययमत्र ‘इति’ प्रकारार्थः ।

कषायमधुरो रक्तः शीतः पाके कटुलघुः ।

श्लेष्मपित्तप्रशमनो मुद्गः सूप्योत्तमो मतः ॥

वृष्यः परं वातहरः स्निग्धोऽणमधुरो गुरुः ।

वलयो बहुमलः पुंस्त्वं मादः शीघ्रं ददाति च ॥

गङ्गाधरः—क्रमिकत्वात् शमीधान्यवर्ग उच्यते । सूपयोनिः शमीधान्यमुच्यते । तत्र प्राधान्यादादौ मुद्गगुणानाह—कषायमधुर इत्यादि । सूप्योत्तमो मुद्गः कषायमधुरो रसे वीर्ये रक्तो लघुश्च शीतश्च । पाके कटुः प्रभावात् । श्लेष्मपित्त-प्रशमनश्च तस्माद्रक्तप्रशमनश्च । सूपस्यायं सूप्यः । सुश्रुते तु—मुद्गवनमुद्गकलाय-मुकुष्टकममूरमङ्गल्यचणकसतीनत्रिपुटकहरेण्वादकीप्रभृतयो वैदल्याः । कषाय-मधुराः शीताः कटुपाका मरुत्कराः । वद्धमूत्रपुरीषाश्च पित्तश्लेष्महरास्तथा ॥ नात्यर्थं वातलास्तेषु मुद्गा दृष्टिप्रसादनाः । प्रधाना हरितास्तत्र वन्या मुद्गसमाः स्मृता ॥ इति । अन्यत्र च—कृष्णमुद्गा महामुद्गा गौरहरितपीतकाः । श्वेता रक्ताश्च निर्दिष्टा लघवः पूर्वपूर्वतः ॥ इति । एवंगुणविशेषा अपि मुद्ग-जातितः किञ्चिद्भेदो नाद्रियते कुशलैः । तस्मान्मुद्गसामान्यगुणा इहोक्ता न विशेषाणाम् ।

वृष्य इत्यादि । परमुत्कृष्टं वृष्यो मापस्तस्मात् पुंस्त्वं शीघ्रं ददाति । परमुत्कृष्टं वातहरश्च स्निग्धोऽणमधुरत्वात् गुल्मश्च । वलयश्च तस्मात् । बहुमलश्च प्रभावात् । सुश्रुते च—“माषो गुरुभिन्नपुरीषमूत्रः स्निग्धोऽणवृष्यो मधुरोऽनिलघ्नः । सन्तपणस्तन्यकरो विशेषाद् वलप्रदः शुक्रकफावहश्च” ॥ इति । शुक्रवृद्धिविरेककृदिति कश्चिदाह । परं वृष्य इत्युक्त्या शुक्रस्रुतिवृद्धिकरवृष्यत्वं माषस्योक्तम् । वृष्यं हि त्रिविधमुक्तं तन्त्रान्तरे—शुक्रस्रुतिकरं किञ्चित् किञ्चिच्छुक्रविवर्द्धनम् । स्रुतिवृद्धिकरं किञ्चिद् त्रिविधं वृष्यमुच्यते ॥ इति । ०। समाप्त इति वक्तव्ये समाप्यत इति यत् करोति, तेन ज्ञापयति—यत् बहुद्रव्यत्वान्नायं समाप्तो गुणः, किन्तु यथाकथञ्चित् प्रसिद्धगुणकथनेन समाप्यते; एवमन्यत्रापि षष्ठो वर्गः समाप्यत इत्यादौ व्याख्येयम् ॥ ९ ॥

[ इति शूकधान्यवर्गः । १ । ]

चक्रपाणिः—धान्यत्वेन शमीधान्यवर्गे निरूपयितव्ये प्रधानत्वात् मुद्गो निरुच्यते, सूप्यं सूपयोग्यं शमीधान्यं, तत्रोत्तमः सूप्योत्तमः । वृष्य इत्यादिमाषगुणे, स्निग्धोऽणमधुरत्वादिगुण-योगादेव वातहरत्वे लब्धे पुनस्तदभिधानं विशेषवातहन्तृत्वप्रतिपादनार्थम्; एवमन्यत्राप्येवं-जातीये व्याख्येयम्, पुंस्त्वं शुक्रं ; शीघ्रमिति वचनेन शुक्रस्रुतिकरत्वलक्षणमपि वृष्यत्वं माषस्य



राजमापः सरो मध्यः कफशुक्राम्लपित्तकृत् ।  
 तत् स्वादुर्वानलो रुजः कषायो विशदो गुरुः ॥  
 उष्णाः कषायाः पाकेऽम्लाः कफशुक्रानिलापहाः ।  
 कुलत्था ग्राहिणः कास-हिक्राश्वासाशसां हिताः ॥  
 मधुरा मधुराः पाके ग्राहिणो रुजशीतलाः ।  
 मुकुष्टकाः प्रशस्त्वे रक्तपित्तज्वरादिषु ॥

मापजान्या राजमापगुणमाह—राजमापो वरवटीति लोकेऽलसान्नाभिधानान्तरम् । सरः सारकः । गुरुस्वादुत्वेऽपि रुक्षविशदवीर्ययाद्वानलः । द्वे हि वीर्ये गुरु-वीर्यविरोधिनी बलवती । स्वादुकषायत्तान्मधुरपाकः । स्वल्प इतरमधुरद्रव्यापेक्षया । सुश्रुते तु—कषायभावान्न पुरीषभेदी न मूत्रलो नैव कफस्य हर्ता । स्वादुर्विपाके मधुरोऽलसान्नः सन्तर्पणः सन्न्यरुचिप्रदश्च । आरप्यमापा गुणतः प्रदिष्टा रुक्षाः कषायाश्च विशाहितश्च । इति । अलसान्नो राजमापः ।

उष्णा इत्यादि—कुलत्था उष्णाः कषायरसाः पाके अम्लाः प्रभावान् । कफशुक्रानिलापहाः । ग्राहिणः । कासादिहिताः । सुश्रुते तु—उष्णः कुलत्थो रसनः कषायः कटुर्विपाके कफमारुतघ्नः । शुक्राश्मरीगुल्मनिमूदनश्च संग्राहकः पीनसकासहारी ॥ आनाहमेदोगुदकीलहिका-श्वासापहः शोणितपित्तकृच्च । कफस्य हन्ता नयनामयघ्नो विशेषतो वन्यकुलत्थ उक्तः ॥ इति ।

मधुरा इत्यादि । मुकुष्टकाः कृष्णमुद्गा न तु वनमुद्गाः । सुश्रुते—प्रधाना हरितास्तत्र वन्या मुद्गसमाः स्मृताः । मुकुष्टकाः क्रिमिकरा इति पृथक् पाठात् । मुकुष्टका रसपाकयोर्मधुरा अपि प्रभावाद्दीर्यतो रुक्षशीतलाः । तस्माद् ग्राहिणः । रक्तपित्तादिषु तस्माच्छस्यन्ते ।

दर्शयति, शुक्रस्रुतिकरणञ्च वृष्यशब्देनोच्यत एव, वचनं हि—“शुक्रस्रुतिकरं किञ्चित् किञ्चिच्छुक्र-विवर्द्धनम् । स्रुतिवृद्धिकरं किञ्चित् त्रिविधं वृष्यमुच्यते ॥” तदेवं सम्पूर्णवृष्यत्वं माषे बोद्धव्यम् । राजमापगुणकथने तत्त्वादुरिति माषवत् स्वादुः, किंवा, रुक्षश्चेत्यादि पाठान्तरम् । उष्ण इत्यादिना कुलत्थगुणः, कुलत्थश्च शुक्रकृष्णचित्रलोहितभेदेन चतुर्विधो भवति, तथा ग्राम्यवन्यभेदेन च द्विविधोऽपि, अत एव तन्तान्तरे—“वन्यकुलत्थस्तद्वच्च विशेषात् नेत्ररोगनुद्” इत्युक्तम् ।

चणकाश्च ममूराश्च खण्डिकाः सहरेणवः ।  
 लघवः शीतमधुराः सकषाया विरुक्षणाः ॥  
 पित्तश्लेष्मणि शस्यन्ते सूषेष्वालेपनेषु च ।  
 तेषां ममूरः संग्राही कलायो वातलः परः ॥  
 क्षिग्धोष्णो मधुरस्तिक्तः कषायः कटुकस्तिक्तः ।  
 त्वच्यः केश्यश्च बल्यश्च वातघ्नः कफपित्तकृत् ॥

चणका इत्यादि—खण्डीका वत्तुलकलायाः । हरेणवश्च वत्तुलकलाय-  
 भेदा न तु सतीनः । स च वत्तुलकलायविशेषो न तु त्रिपुटकलायः । सुश्रुते  
 सतीनहरेणवोः पृथक्पाठान् । तद्यथा—वातलाः शीतमधुराः सकषाया विरु-  
 क्षणाः । कफशोणितपित्तघ्नाश्चणकाः पुंस्त्वनाशनाः ॥ हरेणवः सतीनाश्च विब्रेया  
 बद्धवच्चेसः । सूषेष्वालेपनेषु च शस्यन्ते, आलेपनेषु व्रणादीनामिति । चणका-  
 दीनां मध्ये ममूरकलाययोर्विशेषमाह—तेषामित्यादि । तेषां चणकखण्डीक-  
 ममूरहरेणूनां मध्ये ममूरः संग्राही, कलायः खण्डीको वातलः परः । सुश्रुते च  
 —कषाया मधुराः शीताः कटुपाका मस्तकराः । बद्धमूत्रपुरीषाश्च पित्तश्लेष्महारा-  
 स्तथा ॥ मुद्गादिसामान्यगुणास्तत्र विशेषगुणाः । विपाके मधुराः प्रोक्ता ममूरा  
 बद्धवच्चेसः । मुकुटकाः क्रिमिकराः कलायाः प्रचुरानिलाः । आदुकी कफ-  
 पित्तघ्नी नातिवातप्रकोपणी ॥ इति ।

शमीधान्यत्वात् तिलगुणमाह—स्निग्ध इत्यादि । तिलः कृष्णादिजातिः ।  
 स्निग्धश्चोष्णश्च वीर्यात्, रसतस्तु मधुरतिक्तकषायकटुकः । त्वच्यस्त्वचे हितः,  
 केशाय हितो बलाय हितश्च प्रभावात् । तिक्तकषायकटुकत्वेऽपि स्निग्धोष्ण-  
 वीर्याद्वातघ्नः । तथात्वेऽपि प्रभावात् पित्तकफकृत् । स्निग्धेन कफकृत्व-  
 वदुष्णत्वेन कफघ्नत्वापत्त्यास्तथोष्णत्वेन पित्तकरत्ववत् स्निग्धत्वेन पित्तघ्न-  
 त्वापत्त्याश्च । सुश्रुते तु—ईषत्कषायो मधुरः सतिक्तः संग्राहकः पित्तकर-  
 स्तथोष्णः । तिलो विपाके मधुरो बलिष्ठः स्निग्धो व्रणालेपन एव पथ्यः ॥

मुकुटको मोठ इति ख्यातः ; चणकः प्रसिद्धः ; खण्डिका त्रिपुटकलायः, हरेणुर्वत्तुलकलायः ।  
 कलायो वातल इति त्रिपुटकलायः । तिलगुणो यद्यपि विशेषेण नोक्तः, तथापि प्रधाने कृष्णतिले  
 ज्ञेयः, उक्तं हि सुश्रुते—“तिलेषु सर्वेष्वसितः प्रधानो, मध्यः सितो हीनतरास्ततोऽन्ये” इति ।

मधुराः शीतला गुठ्यो बलघ्नयो रुक्षणात्मिकाः ।  
 सस्नेहा बलिभिर्भक्ष्या विविधाः शिम्बिजातयः ॥  
 शिम्बी रुक्षा कषाया च कोष्ठवातप्रकोपनी ।  
 न च वृष्या न चक्षुष्या विष्टभ्य च विषच्यते ॥  
 आढकी कटुपित्तघ्नी वातला कफवातनुत् ।  
 अवल्लगुजः सेंडगजो निष्पावो वातपित्तलाः ॥  
 काकाण्डोमात्मगुप्तानां माषवत् फलमादिशेत् ।  
 द्वितीयोऽयं शमीधान्य-वर्गः प्राक्तो महर्षिणा ॥ १० ॥

[ इति शमीधान्यवर्गः । २ । ]

दन्त्योऽग्निमेधाजननोऽल्पमूत्रः स्त्वच्योऽथ केश्योऽनिलहा गुरुश्च । तिलेषु  
 सर्वेष्वसितः प्रधानो मध्यः सितो ह्रीनतरास्तथान्ये ॥ इति ।

शमीधान्यत्वाच्छिम्बगुणानाह—मधुरा इत्यादि । विविधाः शिम्बिजातयो  
 मधुराश्च शीतलाश्च गुठ्यश्च बलघ्नाश्च रुक्षणात्मिकाश्च । ताः सस्नेहाः स्नेहेन  
 संस्कृता बलवद्भिर्भक्ष्या गुरुत्वाच्च । सुश्रुते च—रुक्षः कषायो विषशोफशुक्र-  
 वलाशदष्टिष्यकृद् विदाही । कटुविपाके मधुरस्तु शिम्बः प्रभिन्नविष्मारुत-  
 पित्तलश्च ॥ सितासिताः पीतकरक्तवर्णा भवन्ति येऽनेकविधास्तु शिम्बाः ।  
 यथादितस्ते गुणतः प्रधाना ज्ञेयाः कटूणां रसपाकयोश्च ॥ सहाद्वयं मूलक-  
 जाश्च शिम्बाः कुशिम्बवल्वीप्रभवास्तु शिम्बाः । ज्ञेया विपाके मधुरा रसे च  
 बलप्रदाः पित्तनिवहणाश्च ॥ विदाहवन्तश्च भृशश्च रुक्षा विष्टभ्य जीर्ण्यन्त्यनिल  
 प्रदाश्च । रविप्रदाश्चैव सुदुग्जराश्च सर्वे स्मृता वैदलिकाश्च शिम्बाः ॥ इति ।

शिम्बीगुणमाह—शिम्बी वैदलयोनिमुद्रादीनां शिम्बी अपरिणताव-  
 स्थिकी शिम्बीत्युच्यते । विदाहवन्तश्चेत्यादिना प्रोक्ताः ।

शिम्बत्वादाढकीगुणमाह—आढकीत्यादि । कफवातयोर्मिलितयोर्नोदिनी,  
 नातिवातला । अवल्लगुजः सोमराजीशिम्बः । एडगजस्य शिम्बः । निष्पावः  
 शिम्बश्च । एते वातपित्तलाः ।

काकाण्डेत्यादि । काकाण्डः कृष्णशिम्बः । उमा अतसी, आत्मगुप्ता  
 विविधाः शिम्बिजातय इति, कृष्णपीतरक्तश्चेत्कुशिम्बभेदा इत्यर्थः । शिम्बी रुक्षेत्यादि केचित्  
 पठन्ति । आढकी तुवरी, वातलेति च्छेदः ; कफवातनुदित्यवल्लगुजेंडगजयोर्वीजस्य गुणः ।

गोम्वराश्वतरोप्राश्व-द्वीपिसिंहर्चवानराः ।

वृकऽव्याघ्रो तरक्षुश्च वभ्रुमाज्जिरमृषिकाः ॥

लोपाको जम्बुकः श्येनो वान्तादश्चापवायसौ ।

शृकरश्मिवा । एषां फलं गुणकर्मभ्यां मापवदादिगेत्, सुश्रुते तु—माषैः समानं फलमात्मगुप्तमुक्तञ्च काकाण्डफलं तथैव । उष्णातसी स्वादुरसानिलघ्नी पित्तोल्बणा स्यात् कटुका विपाके । इति । कश्चित् स्वतन्त्रे काकाण्डोमात्म-गुप्तयोरिति पठति । तन्न, सुश्रुते काकाण्डफलमित्युक्त्या काकाण्डोमा-शब्दमाचक्षणस्य भ्रान्तिः स्फुटीभवति । सुश्रुते शिम्बप्रकरणात् सिद्धार्थ-सपपकुमुम्भशिम्बगुणा उक्ताः । तद्यथा—पाके रसे चापि कटुः प्रदिष्टः सिद्धार्थकः शोणितपित्तकोपी । तीक्ष्णोष्णरुक्षः कफमारुतघ्नस्तथागुणश्चासित-सपपोऽपि । कटुविपाके कटुकः कफघ्नो विदाहिभावादहितः कुमुम्भः । इति । शृकधान्यशमीधान्यानां नवत्वानवत्वे प्रशस्त्याप्रशस्त्यादिकमुत्तरकालं वक्ष्यते । वगं समापयति । द्वितीयोऽयमित्यादि । महर्षिणा पुनर्व्वसुना ॥ १० ॥

[ इति शमीधान्यवर्गः । २ । ]

क्रमिकत्वान्मांसवर्गमाह—गोखरेत्यादि । अस्मिंस्तन्त्रे व्यवहारार्थं गवादि-कुररान्ता मृगपक्षिणः प्रसन्न भक्षयन्तीति प्रसहाख्या उच्यन्ते । तत्र खरो गर्हभः । अश्वतरः खचरः । द्वीपी चित्रव्याघ्रः, ऋक्षो भल्लूकः । वृको व्याघ्रविशेषः, वृहत् कुकुरसदृशः । पशुहिंसकः प्रायेण कचिन्मनुष्यं दिनस्ति । व्याघ्रो वृहद्-व्याघ्रः । तरक्षुः प्रायेण मृगभक्षको व्याघ्रविशेषः । वभ्रुरतिलोमशः कुकुरः पर्व्वते भवति । लोपाकः क्षुद्रशृगालः । जम्बुकः शृगालः । वान्तादः कुकुरः । श्येनवज्रैमेतदन्ता मृगाः । श्येनः पक्षिविशेषः, वाज इति लोके शिकरापक्षीति द्वौ भेदौ । चासः फिङ्गा इति लोके पक्षिविशेषः, वायसो द्विविधः काकः ।

निष्पावो वल्लः । काकाण्डः शृकरशिम्बिः, उमा अतसी, ऊर्गापाठे तस्यैवोर्णा ; शमीधान्यवर्ग इति शमी शिम्बिस्तदन्तर्गतं धान्यम् ॥ १० ॥

[ इति शमीधान्यवर्गः । २ । ]

चक्रपाणिः—सूत्रानन्तरं मांसस्य व्यञ्जनत्वे प्राधान्यात् मांसवर्गाभिधानम् । खरो गर्हभः, अश्वतरो वेगसरः, स चाश्वायां खराजातः ; द्वीपी चित्रव्याघ्रः, ऋक्षो भल्लूकः, वृकः कुकुरानु-कारो पशुशत्रुः, तरक्षुर्व्याघ्रभेदस्तरच्छ इति ख्यातः ; वभ्रुरतिलोमशः कुकुरः पर्व्वतोपकण्ठे भवति, केचिद् बृहन्नकुलमाहुः ; लोपाकः स्वल्पशृगालो महालाङ्गूलः, श्येनः पक्षी प्रसिद्धः,

शशघ्नी मधुहा भास-गृध्रोल्ककुलिङ्गकाः ।  
 धूमिका कुररश्चेति प्रसहा मृगपक्षिणः ॥ ११ ॥  
 श्वेतः श्यामश्चित्रपृष्ठः कालकः काकुनीमृगः ।  
 कूर्चिका चिल्लिटो भेको गोधा शल्लकगण्डकौ ।  
 कदली नकुलः श्वाविदिति भूमिशयाः स्मृताः ॥ १२ ॥  
 सृमरश्चमरः खड्गो महिषो गवयो गजः ।  
 न्यङ्कुर्वगाश्चानूपा मृगाः सर्वे रुरुस्तथा ॥ १३ ॥

शशघ्नी पक्षिभेदो जाङ्गिरिति ख्यातः । मधुहा मधुआ नाम पक्षिभेदः । भासो मत्स्यभक्षः चिल इति ख्यातः पक्षी । कुलिङ्गको वयड इति ख्यातः पक्षी हरिद्रावणमस्तको वनचटकः । धूमिका चटकः । कुररः कुरा पक्षी, यस्तु नखेन विद्धा मत्स्यान् जलादुद्धरति । इति वान्तादवज्जं श्येनादयः पक्षिणः । इति प्रसहजातिः ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—श्वेतादयो भूमिशयसंज्ञाः, भूमौ गच्छं शरते इति, उच्यन्ते विलेशया इति । श्वेतवर्णः स्वनामख्यातः । श्यामः सामापक्षी । चित्रपृष्ठः स्वनामख्यातः, देशविशेषि ख्यातः । कालकः क्षुद्रचटकः । काकुनीमृगः काउनिमृगः । कूर्चिका कूर्चियामत्स्यः । चिल्लिटो लोके चियाड इति । शल्लकः सेजाड इति लोके । गण्डकः स्वर्णगोधा । कदली कदलीहट्टः । नकुलः । श्वाविच्च शल्लकिप्रभेदः वृहत्सेज्जड इति । इत्येते भूमिशया विलेशयाः गुहाशयाश्चोच्यन्ते । इति भृशयवगः ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—सृमर इत्यादि । सृमरादिरुपपद्यन्ता मृगा आनपाः, अनूपदेशे चरन्तीति आनूपसंज्ञा भवन्ति । तत्र सृमरः महाशूकरः, चमरः केशवलाङ्गूलः, वान्तादः कुकुरः, चासः ( चापः ) कनकवायस इति ख्यातः, शशघ्नी पाङ्गिरिति ख्याता, भासो भस्मवर्णपक्षी, शिखावान् प्रसहादः, कुलिङ्गः कालचटकः ॥ ११ ॥

चक्रपाणिः—काकुनीमृगो मालुयासर्प इति ख्यातः, तस्य श्वेत इत्यादयश्चत्वारो भेदाः ; कुर्चीका सङ्कुचः ; चिल्लिटश्चियारः, शल्लको महाशल्लकः, शल इति ख्यातः ; गण्डको गोधाभेदः, कदली कदलीहट्ट इति ख्यातः, श्वाविच्च सेज्जक इति ख्यातः ॥ १२ ॥

चक्रपाणिः—सृमरो महाशूकरः, चमरः केशमृत्युः, खड्गो गण्डकः, गवयो गवाकारः, न्यङ्कुर्हरिणः, रुरुर्बहुशृङ्गो हरिणः ॥ १३ ॥

कूर्म्मः कर्कटको मत्स्यः शिशुमारस्तिमिङ्गिलः ।

शुक्तिशङ्खोद्रकुम्भीर-चुलुकीमकरादयः ।

इति वारिशयाः प्रोक्ताः— ॥ १४ ॥

—वक्ष्यन्ते वारिचारिणः ।

हंसः क्रौञ्चो वलाका च वकः कारण्डवः प्लवः ॥

शगरी पुष्कराहश्च केशरी माणतुण्डिकः ।

मृणालकण्ठो मद्गुश्च कादम्भवः काकतुण्डिकः ॥

खड्गो गण्डारः, गवयो गोसदृशः पशुः, न्यङ्कुर्हरिणः । रुरुर्वहुभृङ्गो हरिणः ।  
इति सर्व्वे मृगा आनूपाः । इत्यानूपवर्गः ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—कूर्म्म इत्यादि । कूर्म्मादयो वारिणि जायन्ते शेरत इति वारिशया  
उच्यन्ते । तत्र कूर्म्मो द्विविधस्त्रिविधो वा कमठक्षुद्रकमठकच्छपभेदात् ।  
कर्कटकः ककटः । मत्स्यो रोहितादिः । तिमिङ्गिलः स्वनामख्यातः समुद्रजः ।  
शुक्तिशङ्खौ प्रसिद्धौ । उद्र उद्विङ्गालः प्रायो मत्स्यशुक् । चुलुकी बृहच्छिशुमारः ।  
आदिना ग्राहादयः । इति वारिशयाः प्रोक्ताः । इति वारिशयवर्गः ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—अथ वारिचारिणो वक्ष्यन्ते—हंस इत्यादि । हंसादयः खगा  
वारिणि चरन्तीति वारिचारिणो वारिचरसंज्ञा भवन्ति । तत्र हंसो राजहंसादि-  
चतुर्विधः । क्रौञ्चो नाम बृहद्वकः कौच इति ख्यातः । वलाका काणवकी ।  
वकः शेतवकः । कारण्डवः पानीयकौड इति ख्यातः । प्लवो भेयापक्षी । शरारी  
पक्षी प्रसिद्धः । पुष्करारी नारालीपक्षी । केशरी दीर्घालीति लोके पक्षी ।  
माणतुण्डिकः मातुण्डी पक्षी । मृणालश्च मद्गुश्च पानीयकौडीप्रकारपक्षिविशेषः ।

चक्रपाणिः—शिशुमारो गोतुण्डनक्रः, तिमिङ्गिलः सामुद्रो महामत्स्यः, शुक्तिमुक्ताप्रभवो  
जन्तुः, उद्रो जलविङ्गालः, कुम्भीरो घटिकावान्, चुलुकी शुशु इति ख्यातः । शिशुमारादीनां  
मत्स्येन ग्रहणे प्राप्ते विशेषव्यवहाराथ पुनरभिधानम् ॥ १४ ॥

चक्रपाणिः—हंसश्चतुर्विधोऽपि राजहंसादिर्ग्राह्यः, क्रौञ्चः कोञ्च इति ख्यातः, वकः पाण्डुरपक्षः,  
बलाका शुक्ला, कारण्डवः काकवक्रः, प्लवः स्वनामप्रसिद्धः, शरारिः शरालीति लोके, मद्गुः

उत्क्रोशः पुण्डरीकाक्षो मेघरावोऽम्बुकुक्कुटी ।  
 आरा नन्दीमुखी वाटी सुमुखाः सहचारिणः ॥  
 रोहिणी कामकाली च सारसो रक्तशीर्षकः ।  
 चक्रवाकस्तथा चान्ये खगाः सन्त्यम्बुचारिणः ॥ १५ ॥  
 पृषतः शरभो रामः श्वदंष्ट्रो मृगमातृकः ।  
 शशोरणौ कुरङ्गश्च गोकर्णः कोट्टकारकः ॥  
 चारुष्को हरिणैर्णौ च सम्बरः कालपुच्छकः ।  
 ऋष्यश्च वरपोतश्च विज्ञेया जाङ्गला मृगाः ॥ १६ ॥

कादम्बस्तादृशपक्षी । काकतुण्डकः श्वेतपानीयकौडी । उत्क्रोश उच्चैः क्रोशकृत्, वृहच्चिल इति लोके । पुण्डरीकाक्षः पुण्डरियापक्षिभेदः । मेघरावो मेघनादपक्षी । अम्बुकुक्कुटी जलकुक्कुटः । आरा पक्षिविशेषः स्वनामख्यातः । नन्दीमुखी वाटी च पक्षिभेदौ स्वनामख्यातौ । सुमुखाः सहचारिणश्च रोहिणी च कामकाली च पक्षिभेदा देशविशेषे तत्तन्नामानः । सारसः प्रसिद्धः । रक्तशीर्षकः । चक्रवाकप्रकारः चक्रवाकः प्रसिद्धः । तथान्ये कईमखचादयः । इति वारिचर-पक्षिवगः ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—पृषत इत्यादि । पृषदादयो मृगा जाङ्गलसंज्ञा भवन्ति । तत्र पृषत् हरिणविशेषः । शरभ उष्ट्रप्रमाणमहाशृङ्गपशुभेदः । रामो हिमालये महामृगः । श्वदंष्ट्रः चतुर्दंष्ट्रः कार्तिकपुरे प्रसिद्धमृगः । मृगमातृकः पृथूदरगवाकृति-वृहद्धरिणः । शशः प्रसिद्धः । उरणः शशकविशेषः । कुरङ्गो हरिणविशेषः । गोकर्णः गोम्वाहरिणः । कोट्टकारश्च चारुष्कश्च हरिणश्च हरिणभेदाः ।

पानीयकाकः, कादम्बः कलहंसः, काकतुण्डकः श्वेतकारण्डवः, उत्क्रोशः कुरल इति ख्यातः, पुण्डरीकाक्षः पुण्डरः, मेघरावो मेघनादः, मेघरावश्चातक इत्यन्ये, तन्न, तस्य वारिचरत्वाभावात्, अम्बुकुक्कुटी जलकुक्कुटी, आरा स्वनामख्याता, नन्दीमुखी पत्राटी सारसः प्रसिद्धः, रक्तशीर्षकः सारसभेदो लोहितशिराः, अम्बुचारिण इति जले प्लवन्त इत्यर्थः ॥ १५ ॥

चक्रपाणिः—पृषतश्चित्रहरिणः, शरभोऽष्टपाद उष्ट्रप्रमाणो महाशृङ्गः पृष्ठगतचतुष्पादः काश्मीरे प्रसिद्धः, रामः हिमालये महामृगः, श्वदंष्ट्रा चतुर्दंष्ट्रा कार्तिकपुरे प्रसिद्धः, मृगमातृका स्वल्पा पृथूदरा हरिणजातिः, कुरङ्गो हरिणभेदः, गोकर्णो गोमुखहरिणविशेषः, हरिणस्ताम्रवर्णः,

लावो वर्तीरकश्चैव वार्तीकः सकपिञ्जलः ।

चकोरश्चोपचक्रश्च कुक्कुभो रक्तवर्त्तकः \* ।

लावाद्या विष्किगरत्वेने— ॥ १७ ॥

—वक्ष्यन्ते वर्त्तकादयः ।

वर्त्तको वर्त्तिका चैव वर्ही तित्तिरिक्कुक्कुटौ ॥

कङ्कशारपदेन्द्राभ-गोनर्दङ्गिर्वर्त्तकः ।

क्रकरोऽवकरश्चैव + वारङ्गाश्चेति विष्किगः ॥ १८ ॥

एणः कृष्णसारः । सम्बरः कालपुच्छकः ऋष्यश्च वरपोतश्च हरिणभेदाः ।

सुश्रुते शशो विलेशयत्वेनोक्तो गुणभेदाथः । इति जाङ्गलमृगवर्गः ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—जाङ्गलपक्षिणां संज्ञान्तरमाह—लाव इत्यादि । लावाद्या एते विष्किरा विष्किरसंज्ञा विकीर्य भक्षयन्तीति । विष्किग द्विविधाः गुणविशेषार्थं भिद्यन्ते । लावाद्याश्च वर्त्तकादयश्च । तत्रैते लावाद्याः । लावश्च वर्त्तीरकश्चेत्यादयो रक्तवर्त्तकान्ताः । तत्र लावः प्रसिद्धः । वर्त्तीरः कपिञ्जलविशेषः । वार्तीकश्च कपिञ्जलभेदः । कपिञ्जलः श्वेततित्तिरिः । चकोरः प्रसिद्धः । उपचक्रश्चकोरविशेषः । कुक्कुभः कुकुया । रक्तवर्त्तकः रक्तवर्णवटेर इति लोके । इत्येते लावाद्या विष्किरा उक्ताः ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—वर्त्तकादयो विष्किग अत उद्धृ वक्ष्यन्ते । तद्यथा : वर्त्तक इत्यादि । वर्त्तको वटेरः पक्षी । वर्त्तिका क्षुद्रवटेरः । वर्ही मयूरः । तित्तिरि-रुक्ताद्रिन्नः तित्तिरिः । कुक्कुटो वन्यश्च ग्राम्यश्च । कङ्कः कोक इति लोके । शारपदेन्द्राभो मल्लकङ्कः । गोनर्दो दौडकङ्कः । गिरिवर्त्तकः पर्वतस्थवटेरः ।

एणः कृष्णसारः, ऋष्यो नीलाण्डो हरिणः, चारुष्कादयोऽपि हरिणभेदा एव । शशस्तु सुश्रुते विलेशयेषु पठितः, तद् गुणान्तरार्थम् ॥ १६ ॥

चक्रपाणिः—लावः प्रसिद्धः, वर्त्तीरः कपिञ्जलभेदः, कपिञ्जलो गौरतित्तिरिः, वार्तीकश्चक्रभेदः सङ्घातचारी, उपचक्रश्चकोरभेदः, कुक्कुभः प्रसिद्धः, रक्तवर्णक इति कुक्कुभविशेषणम्, तेन स्थूल-कुक्कुटो गृह्यते ॥ १७ ॥

चक्रपाणिः—वर्त्तकः, वट्टर्ही ख्याते, वर्त्तिका स्वल्पप्रमाणजात्यन्तरमेव, केचित् तु वर्त्तकस्त्रियं वर्त्तिकां वदन्ति, अस्याश्च ग्रहणं स्त्रीलिङ्गभेदोऽपि विशेषलाघवप्रतिपेक्षार्थम्, अन्यथा, स्त्रीत्वेन



शतपत्रो भृङ्गराजः कोयष्टिर्जीवजीवकः ।  
 कैरातः कोकिलोऽत्यूहो गोपपुत्रः प्रियानुजः ॥  
 लट्वालट्ठपको वभ्रुर्वटहा डिण्डिमानकः ।  
 जटी दुन्दुभिधाङ्कोर-लौहपृष्ठकुलिङ्गकाः ॥  
 कपोतशुकसारङ्गाश्चिरटीकङ्कयष्टिकाः ।  
 शारिकाः कलविङ्कश्च चटकोऽङ्गारचूडकः ।  
 पारावतः पानविक इत्युक्ताः प्रतुदा द्विजाः ॥ १६ ॥

क्रकरः कयेर इति लोके । अवकरः क्रकरभेदः । बारडाश्च क्रकरविशेषाः ।  
 इति वत्तकादयो विप्रिकरसंज्ञा भवन्ति ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—शतपत्रेत्यादि । शतपत्रादयः पानविकान्ता द्विजाः प्रतुदसंज्ञा  
 भवन्ति । तत्र शतपत्रः काष्ठकुटारिकः । भृङ्गराजः प्रसिद्धः शुकपक्षिसमवर्णाकृतिः ।  
 कोयष्टिः कोरुक् इति ख्यातः । जीवजीवकः, विषदशने मृत्युः । कैरातकः  
 कोकिलभेदः । कोकिलः प्रसिद्धः । अत्यूहः डाउकः । गोपपुत्रः स्वनामख्यातः ।  
 प्रियानुजो देशभेदे ख्यातः । लट्वा लटापक्षीति ख्यातः । लट्ठपकः लाट्ठा  
 पक्षीति ख्यातः । वभ्रुः पिङ्गलपक्षी । वटहा वडहा पक्षी । डिण्डिमानकः  
 स्वनामख्यातः । जटी जटापक्षी । दुन्दुभिधाङ्कोरः दुग्धुयापक्षी । लौह-  
 पृष्ठश्च कुलिङ्गभेदः । कुलिङ्गकः वायइ इति लोके । कपोतो घुघुः । शुकः  
 प्रसिद्धः । सारङ्गश्चातकः । चिरटी चिटाइ पक्षी । कङ्कः काउन् पक्षी । यष्टिका  
 याइट् पक्षी । शारिका शालिक-मयना-गाङ्गशालिकभेदात् त्रिविधा । कल-  
 विङ्को गृहचटकः । चटको वनचटकः । अङ्गारचूडकः बुल्लुबुल इति लोके । पारा-  
 वतः कपोतः । पानविकः कपोतभेद इति । प्रतुद्य भक्षयन्तीति प्रतुदसंज्ञा  
 द्विजाः पक्षिणः उक्ताः । इति प्रतुदवर्गः ॥ १९ ॥

वर्तिकाद् वर्तिकाया लाघवं स्याद् ; वर्ही मयूरः ; शारपदेन्द्राभो मल्लकङ्कः, गोतर्ही घोडाकङ्क  
 इति ख्यातः, क्रकरः प्रसिद्धः । लावादिवर्तिकादिगणद्वयकथनं गुणभेदाद्यर्थम् ॥ १८ ॥

चक्रपाणिः—शतपत्रः काष्ठकुट्टकः, भृङ्गराजः प्रसिद्धो भ्रमरवर्णः, कोयष्टिः कोडा इति  
 ख्यातः, जीवजीवको विषदर्शनमृत्युः, अत्यूहो डाहुकः, दायूह इति प्रसिद्धः पाठः, लट्वा फेञ्जाको  
 रक्तपुच्छाधोभागः, लट्ठपकोऽपि तद्भेदः, डिण्डिमानक डिण्डिमवदत्कटध्वनिः, कुलिङ्ग इति वन-

प्रसह्य भक्षयन्त्येते प्रसहास्तेन संज्ञिताः ।

भूशया विलशायित्वादानूपानूपसंश्रयात् ॥

जले निवासाज्जलजा जलेचर्याज्जलेचराः ।

स्थलजा जाङ्गलाः प्रोक्ता मृगा जङ्गलचारिणः ॥

विक्रीय विष्किराश्चैव प्रतुघ प्रतुदास्तथा ।

योनिरष्टविधा तेषां मांसानां परिकीर्तिता ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—अथ यथैषां प्रसहादिसंज्ञा कृता, तदाह—प्रसहेत्यादि । प्रसह्य हठादाय भक्षयन्तीति गवाद्यस्तेन प्रसह्य भक्षणेन प्रसहाः संज्ञिताः ॥ १ ॥ भूशया विले शायित्वादिति भुवि गत्तं शयितुं शीलमेषामिति विलशायित्वं तस्माच्छागादयो भूशयाः संज्ञिताः ॥ २ ॥ आनूपोऽनूपसंश्रयात् । अनूपो जलसमीपदेशस्तत्र संश्रयाचरणस्थित्यादिकरणात् सृमरादिरानूपः संज्ञितः ॥ ३ ॥ जले निवासाज्जलजा इति, जले जाता निवसन्तीति कूर्मादयो वारिजा वारिशयाः संज्ञिताः ॥ ४ ॥ जले चर्याज्जलचरा इति । स्थले जाता एव जले चरन्तीति जले चरणशीलत्वात् हंसादयो जलेचरा वारिचारिणः संज्ञिताः ॥ ५ ॥ स्थलजा जाङ्गलाः प्रोक्ता इति । स्थले जायन्ते इति जाङ्गलसंज्ञिताः पृषदादयः प्रोक्ताः, यतस्ते मृगा जङ्गलचारिणः जङ्गले चरन्ति ॥ ६ ॥ विक्रीय विष्किराश्चैवेति । मण्डूकप्लुत्या भक्षयन्तीत्यनुवर्तते । विक्रीय चञ्चुचरणाभ्यां विक्षिप्य ये भक्षयन्तीति ते लावादयो वत्तकादयश्च विष्किराः संज्ञिताः । वर्णागमाद्विष्किरेति रूपसिद्धिः ॥ ७ ॥ प्रतुघ प्रतुदास्तथेति भक्षयन्तीत्यनुवृत्त्या । प्रतुघ बहुधा चञ्चुचरणाभ्याम् अभिहत्य ये भक्षयन्ति ते शतपत्रादयस्तेन प्रतुदाः संज्ञिताः ॥ ८ ॥ इति तेषां गवादीनां मांसानामष्टविधा प्रसहादिभेदेन योनिः परिकीर्तिता । सुश्रुते तु मांसवगश्चापदिष्टः । तद्यथा—जलेशया आनूपा ग्राम्याः क्रव्यभुज एकशफा

चटकाकारः पीतमस्तकः वाण इति लोके, कलविह्वो ग्राम्यचटकः, चटकस्तु देवकुलचटकः स्वल्प-प्रमाणः । यान्यत्रानुक्तान्यप्रसिद्धानि तानि तद्विद्योपदेशान्तरिभ्यो ज्ञेयानि ॥ १९ ॥

चक्रपाणिः—प्रसहादिसंज्ञानिरूप्य लक्षणमाह—प्रसह्येति हठात्, आनूपानूपसंश्रयादिति पूर्वत्रासिद्धविधेरनित्यत्वादानूपानूप इत्यत्र लोपस्य सिद्धत्वेनैव संहिता ज्ञेया । जलेचर्यादिति जलवासिनामेव हंसादीनां जले चरणमात्रत्वं बोद्धव्यम् । स्थलजा इत्युक्तेर्गजादिष्वपि स्थल-

जाङ्गलाश्चेति पष्पांमवर्गाः तेषां वर्गाणामुत्तरोत्तरं प्रधानतमाः । ते पुनः  
 द्विविधाः—जाङ्गला आनूपाश्चेति । तत्र जाङ्गलवर्गोऽष्टविधः, तद्यथा—जङ्गला  
 विष्किराः प्रतुदा गुहाशयाः प्रसहाः पर्णमृगा विलेशया ग्राम्याश्चेति । तेषां  
 जङ्गलविष्किरां प्रधानतमाः । तत्रैगहरिणप्यकुरङ्गकरालकृतमालशरभश्वदंष्ट्रा-  
 पृषतचारुष्कर्मगमानुकाप्रभृतयो जङ्गला मृगाः ॥ १ ॥ लावतिचिरिकपिञ्जल-  
 वर्त्तिग्वत्तिंकावत्तंकनपुकावातीकचकोरकलविङ्कमयूरककरोपचक्रककुक्कुट-  
 सारङ्गजनपत्रककुत्तिचिरिकुरगहृकयवलकप्रभृतयो जाङ्गला विष्किराः ॥ २ ॥  
 कपोतपागवनभृङ्गराजपरभृतकोयष्टिककुलिङ्गगृहकुलिङ्गगोक्षोडकडिण्डि-  
 मानकशनपत्रकमानुनिन्दकभेदाशिशुकामारिकाअवलगुलीगिरिशालंकालसुगृही-  
 तञ्जरीटकहारीतदान्यूहप्रभृतयः प्रतुदाः ॥ ३ ॥ सिंहव्याघ्रवृकतरक्षवृक्षद्वीपि-  
 सार्ज्जरशृगालमृगेर्वाल्कप्रभृतयो गुहाशयाः ॥ ४ ॥ काककङ्कुररचाप-  
 धामशशयान्युलूकचिल्लिङ्ग्येनगृध्रप्रभृतयः प्रसहाः ॥ ५ ॥ मदगुमूषिकवृक्ष-  
 शायिकाऽवकुशपूतियासवानरप्रभृतयः पर्णमृगाः ॥ ६ ॥ श्वाविच्छलक-  
 गोशशशवृषदंशलोपाकलोमशकर्णकदलीमृगप्रियकाजगरसर्पमूषिकनकुल-  
 महावभ्रुप्रभृतयो विलेशयाः ॥ ७ ॥ अश्वाश्वतरगोरखरोष्ट्रवस्तोरभ्रमेदः-  
 पुच्छकप्रभृतयो ग्राम्याः ॥ ८ ॥ जाङ्गलानामेवमष्टधाभेदकथनं वर्गशो गुण-  
 भेदोपदेशाथम् । तद्यथा—जङ्गला मृगाः कषाया मधुरा लघवो वातपित्तहराः  
 तीक्ष्णा हृद्या वस्तिशोधनाश्च ॥ १ ॥ विष्किरा लघवः शीतमधुराः कषाया  
 दोषोपशमनाश्च ॥ २ ॥ प्रतुदाः, कषायमधुरा रुक्षाः फलाहारा मरुत्कराः ।  
 पित्तश्लेष्महराः शीता वटमूत्रालपवर्चसः ॥ ३ ॥ गुहाशयाः, मधुरा गुरवः  
 स्निग्धा वल्या मारुतनाशनाः । उष्णवीर्या हिता नित्यं नेत्रगुह्यविका-  
 रिणाम् ॥ ४ ॥ प्रसहाः, एते सिंहादिभिः सर्व्वे समाना वायसादयः । रस-  
 वीर्य्यविपाकेषु विशेषाच्छोषिणे हिताः ॥ ५ ॥ पर्णमृगाः, मधुरा गुरवो  
 वृष्याश्चक्षुष्याः शोषिणे हिताः । सृष्टमूत्रपुरीषाश्च कासारश्व्वासनाशनाः ॥ ६ ॥  
 विलेशयाः, वर्च्चा मूत्रं संहतं कुर्य्युरेते, वीर्य्ये चोष्णाः पूर्व्ववत् स्वादुपाकाः ।  
 वातं हन्तुः श्लेष्मपित्तश्च कुर्य्युः, स्निग्धाः कासश्वासकार्श्यपहाश्च ॥ ७ ॥ ग्राम्या  
 वातहराः सर्व्वे वृंहणाः कफपित्तलाः । मधुरा रसपाकाभ्यां दीपना  
 बलवद्धनाः ॥ ८ ॥ इति । इत्यष्टविधा जाङ्गलाः । आनूपास्तु पञ्चविधा उक्ताः,

जातेषु प्रसक्तिः स्यादित्याह—जाङ्गलचारिण इति । विकीर्य्येत्यत्र भक्षयन्तीति शेषः । एवं  
 प्रतुद्येत्यत्र अपि, प्रतुद्येति बहुधाऽभिहत्य ॥ २० ॥

प्रसहा भूशयानूप-वारिजा वारिचागिणः ।

गुरुष्णस्निग्धमधुरा वलोपचयवर्द्धनाः ॥

वृष्याः परं वातहराः कफपित्तविवर्द्धनाः ।

हिता व्यायामनित्येभ्यो नरा दीप्ताग्रयश्च ये ॥

प्रसहानां विशदेस मांसं मांसशिलां म्रिषक् ।

जीर्णाशोऽग्रहणादोष-शोषार्त्तानां प्रयोजयेत् ॥ २१ ॥

तद्यथा—आनूपवगेस्तु पञ्चविधः । तद्यथा—कूलचराः पुषाः कोशस्थाः पादिनो मत्स्याश्चेति । तत्र गजगवयमहिपहरुचमरसृमररोहितवराहखड्गि-गोकणकालपुच्छकोन्द्रन्यङ्कुरण्यगवयप्रभृतयः कूलचराः । १० । वातपित्तहरा वृष्या मधुरा रसपाकयोः । शीतञ्च वलितः स्निग्धा मूत्रलाः कफवर्द्धनाः ॥ ११ ॥ हंससारसक्राश्चक्रवाक-कुररकादम्बकारण्डवजीवजीवकवकवलाका-पुण्डरीक-प्लवशारीरनन्दीमुखीमध्व-वक्रोशकाचाक्षमल्लिकाक्षथुक्काक्षपुष्करशायिकाकोनाल-काम्बुकुङ्कुटिकामेघरावश्वेनचरणप्रभृतयः पुषाः संघातचारिणः । १० । रक्तपित्त-हराः शीताः स्निग्धा वृष्या मरुजितः । सृष्टमूत्रपुरीषाश्च मधुरा रसपाकयोः ॥ १२ ॥ शङ्खशङ्खनखशुक्तिशम्बूकभल्लूकप्रभृतयः कोशस्थाः ॥ ३ ॥ कूष्मकुम्भोरककटक-कृष्णककटकशिथुमारप्रभृतयः पादिनः । १० । शङ्खकूर्मादयः स्वादु-रसपाका मरुनुदः । शीताः स्निग्धा हिताः पित्ते वच्चस्याः ज्येष्मपित्तलाः ॥ १४ ॥ मत्स्या वक्ष्यन्ते । इत्येवंगुणशेषकथनाथं गणश एव सामान्येन विशेषतस्तु पुनरुपदेक्ष्यते । इति । अस्मिंस्तु तन्त्रे प्रसहभूशयजाङ्गलविष्किरप्रतुदवगेभेदेनोक्तास्ते सुश्रुते जाङ्गलत्वसामान्यादपृथा विशेषादुक्ता जाङ्गलादिभेदेन । ये चास्मिंस्तन्त्रे आनूप-वारिशयवारिचरवर्गा उक्तास्ते सुश्रुते आनूपत्वसामान्यात् पञ्च विशेषाः कूल-चरादित्वसामान्येनोक्ता इति न विरोधः । तत्तत्सामान्येनैतत्सामान्येन ये केचिद् गुणकर्मभेदास्ते च यत्किञ्चिद्वैलक्षण्यान्नाद्रियन्ते कुशलैः ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—तथा चाष्टयोनीनां वर्गशो गुणकर्मण्याह—प्रसहा इत्यादि । प्रसहादयः पञ्च वर्गाः । गुरुष्णस्निग्धमधुरा वलोपचयवर्द्धनाः । वृष्याश्च परमुत्कृष्टं वातहराः, कफपित्तविवर्द्धनाश्च । व्यायामनित्येभ्यो हिताः, ये च नरा दीप्ताग्रयस्तेभ्योऽपि हिताः । इति पञ्चवगेसामान्यगुणकर्मणि ।

चक्रपाणिः—प्रसहा द्विविधा मांसादा व्याग्रह्येनादयः, तथा अमांसादाश्च गवादयः, तेन

लावाद्यो वैष्किरो वर्गः प्रतुदा जाङ्गला मृगाः ।  
 लघवः शीतमधुराः सकषाया हिता नृणाम् ।  
 पित्तोत्तरे वातमध्ये सन्निपाते कफानुगे ॥ २२ ॥  
 विष्किरा वर्त्तकाद्यास्तु प्रसहाल्पान्तरा गुणैः ॥  
 नातिशीतगुरुस्निग्धं मांसमाजमदोषलम् ।  
 शरीरधातुसामान्यादनभिष्यन्दि वृंहणम् ॥  
 मांसं मधुरशीतत्वाद् गुरु वृंहणमाविकम् ।

विशेषतस्त्वाह—प्रसहानामित्यादि । मांसाशिनां प्रसहानां द्वीपिसिंहवृक-  
 व्याघ्रादीनां मांसं भिषक् जीर्णार्शोग्रहणीदोषशोषार्त्तानां विशेषेण  
 प्रयोजयेत् ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—लावाद्य इत्यादि । लावाद्यो वैष्किरो वर्गो न तु वर्त्तकादिः ।  
 प्रतुदाश्च जाङ्गलाश्च मृगाः सत्त्वं लघवः शीताश्च मधुराश्च सकषायाः पित्तोत्तरे  
 वातमध्ये कफानुगे सन्निपाते नृणां हिताः ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—विष्किरा इत्यादि । वर्त्तकाद्यास्तु विष्किराः प्रसहाल्पान्तरा  
 गुणैरल्पभेदाः । गुरुष्णेत्यादिभिरुक्तैः प्रसहस्य गुणैः किञ्चिदल्पगुणाः ।

अष्टानां वर्गाणां गुणानुत्त्वा ज्ञातुं गुणानाह—नातीत्यादि । आजं मांसं  
 नातिशीतं नातिगुरु नातिस्निग्धमदोषलञ्च । नृणां शरीरधातुभिः सह  
 सामान्याद् गुणसामान्यादनभिष्यन्दि च वृंहणञ्च । सुश्रुते तु—नातिशीतो  
 गुरुः स्निग्धो मन्दपित्तकफः स्मृतः । लघुलस्त्वनभिष्यन्दी तेषां पीनसनाशनः ॥  
 इति । तेषां ग्राम्याणां मध्ये । मन्दपित्तकफत्वेऽपि दोषलत्वव्याघातो नेष्यते ।  
 प्रशस्तदोषं लाति इत्यर्थात् ।

मांसमित्यादि । आविकं मांसं मधुरशीतत्वात् गुरु वृंहणमिति । सुश्रुतेऽपि  
 चोक्तम्—वृंहणं मांसमौरभ्रं पित्तश्लेष्मावहं गुरु । मेदःपुच्छोद्भवं वृष्यमौरभ्र-

मांसादानां विशेषमाह—प्रसहानामित्यादि । जीर्णत्वेनार्शोग्रहणीनां चिरानुबन्धं दर्शयति ।  
 प्रतुदा इत्यत्र, तथा, जाङ्गला इत्यत्र चकारो लुप्तनिर्दिष्टः ; कफानुगे इति च्छेदः ॥ २१२२ ॥

चक्रपाणिः—शरीरधातुसामान्यादिति मनुष्यमांससमानत्वात्, एतेन शीतगुरुस्निग्धत्वेन  
 युक्तमप्याजमांसं शरीरधातुसाम्यात् कफं न करोतीत्युक्तं स्यात्, आविकं मांसं मधुरशीतत्वेन

योनावजावी व्यामिश्र-गोचरत्वादनिश्चितौ ॥

सामान्येनोपदिष्टानां मांसानां स्वगुणैः पृथक् ॥ २३ ॥

केषाञ्चिद् गुणवैशेष्याद् विशेष उपदेक्ष्यते ।

गुरूष्णस्निग्धमधुराः स्वरवणवलप्रदाः ॥

वृंहणाः शुक्रलाश्रोक्ता हंसा मारुतनाशनाः ।

दर्शनश्रोत्रमेधाग्नि-वयोवर्णस्वरायुषाम् ।

वर्ही हिततमो वल्यो वातघ्नो मांसशुक्रलः ॥

सदृशं गुणैः । इति । मेदःपुच्छो मेषविशेषः, पुच्छे यस्य स्थूलमांसपिण्डं वर्तते । इति ।

नन्वष्टविधयोनिव्यतिरिक्तावेतावजावी किं भवत इति ? तत्राह—योनावित्यादि । द्वावजावी व्यामिश्रगोचरत्वाद् ग्राम्यारण्यचरणशीलत्वाद् योनावनिश्चितौ न ग्राम्यौ न जाङ्गला इत्यतः पृथगष्टम्य उक्तौ ।

नन्वष्टयोनीनां गणशः सामान्येनोक्ता गुणा एव किं सन्ति न विशेषेणेति ? अत आह—सामान्येनेत्यादि ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—केषाञ्चिन्न तु सर्व्वेषां गुणैर्विशेष उपदेक्ष्यते । तत्रादौ वारिचरेष्यते—गुरूष्णेत्यादि । गुरूष्णस्निग्धमधुरा इति बहुवचनात् राजहंसमल्लिक-धातृराष्ट्रक्षुद्रहंसभेदेन हंससामान्यस्यैवैते गुणाः ख्यापिताः । सुश्रुतेऽपि गुरूष्णमधुरस्निग्धः स्वरवणवलप्रदः । वृंहणः शुक्रलस्तेषां हंसो मारुतनाशनः ॥ इति आनूपवर्गे संघातचारिष्वेषूक्तम् ।

दर्शनेत्यादि । वर्त्तकादिविष्किरेषु मध्ये वर्ही दर्शनादीनां हिततमः ।

पित्तहरमपि बोद्धव्यम्, अत एव शरद्विधावप्युक्तम्—“उरभ्रशरमान्” इति । रक्तपित्तनिदाने तु “वराहमहिष” इत्यादिना द्रव्यान्तरसंयुक्तस्यैवाविकमांसस्य रक्तपित्तकर्तृत्वं ज्ञेयम् । योनाविति प्रसहाद्यष्टविधजातौ ; भिश्रगोचरत्वादिति कदाचिदानूपसेवनात्, कदाचिद् धन्वसेवनात्, कदाचिदुभयसेवनात्, अजाव्योरनिश्चितयोनित्वमित्यर्थः ; अत्र, “अनिश्चिते” इति योनिविशेषणम्, किंवा, अजा च अवी च एते अनिश्रिते ; ननु यद्येवं, तदा तित्तिरिरपि धन्वानूपसेवनात् विष्किरगणे पठनीयः, नैवं, तित्तिरिजातिविशेषस्य धन्वानूपयोर्नियमेन निषेवणात् गुणनियमः पार्य्यते कर्तुंम् ; अभ्यजयोस्तु नियमोऽयं नास्ति, यतः, केचिदजावी धन्वमात्रचरे, केचिन्धानूपमात्रचरे, केचिन्नाभ्य-मात्रचरे ; तेन, तयोर्नियमचरकृतौ योनिभेदः कर्तुं न पार्य्यते ॥ २३ ॥

चक्रपाणिः—केषाञ्चिदिति वक्ष्यमाणमयूरादीनां ; गुणवैशेष्यादिति विशिष्टगुणज्ञालित्वात् ।

स्निग्धाश्चोष्णाश्च वृष्याश्च वृंहणाः स्वरबोधनाः ।  
 वल्ग्याः परं वातहराः स्वेदनाश्चरणा युधाः ॥  
 गुरुष्णो मधुरो नानि-धन्वानूपनिषेवणात् ।  
 तित्तिरिः स जयेच्छीघ्रं त्रिदोषाननिलोत्वणान् ॥  
 पित्तश्लेष्मविकारेषु सरक्तेषु कपिञ्जलाः ।  
 मन्दवातेषु शस्यन्ते शैत्यमाधुर्यलाघवात् ॥  
 लावाः कषायमधुरा लघवोऽग्निविवर्द्धनाः ।  
 सन्निपातप्रशमनाः कटुकाश्च विपाकतः ॥ २४ ॥

वातघ्नो मांसशुक्रलक्षः । सुश्रुतेऽपि विष्किरवर्गं—मयूरः स्वरमेधाग्नितक्-  
 श्रोत्रेन्द्रियदायकः । स्निग्धोष्णोऽनिलहा वृष्यः स्वेदवर्णवलावहः ॥ इति ।  
 अन्यत्र च । वर्ही हृक्श्रोत्रमेधाग्नि-वयोवर्णस्वरायुषाम् । हितो वल्गो गुरुश्चोष्णो  
 वातघ्नो मांसशुक्रलः । इति । तथान्यत्र च । हेमन्तकाले शिशिरे वसन्ते सेव्यं  
 हि मायूरमुशन्ति मांसम् । उष्णो हि वर्ही विषभोजनत्वादूर्पाशरद्वीष्म  
 मुखेष्वपथ्यम् । चरणायुधाः कुक्कुटाः आग्न्याः ग्राम्याश्च । वत्तंकादिविष्किरेषु  
 मध्ये । सुश्रुते च विष्किरवर्गं—वृंहणः कुक्कुटो वन्यस्तद्वद् ग्राम्यो गुरुस्तु सः ।  
 वातरोगक्षयवर्मी-विषमज्वरनाशनः ॥ इति ।

तित्तिरिरित्यादि । वत्तंकादिविष्किरेषु स तित्तिरिः । त्रिदोषान् वातो-  
 ल्वणान् शीघ्रं जयेत् । सुश्रुतेऽपि—विष्किरेषु, ईषद्गुरुष्णमधुरो वृष्यो  
 मेधाग्निवर्द्धनः । तित्तिरिः सर्वदोषघ्नो ग्राही वर्णप्रमादनः । हिक्काश्वासानिल-  
 हरो विशेषाद् गौरतित्तिरिः । पित्तश्लेष्मेत्यादि । लावादिविष्किरेषु मध्ये  
 कपिञ्जलाः शैत्यमाधुर्यलाघवात् सरक्तेषु मन्दवातेषु पित्तविकारेषु श्लेष्म-  
 विकारेषु च शस्यन्ते बहुवचनात् । सुश्रुते च विष्किरवर्गं—रक्तपित्तहरः शीतो  
 लघुश्चापि कपिञ्जलः । कफोत्थेषु च रोगेषु मन्दवाते च शस्यते ॥ इति ।

लावा इत्यादि । लावादिविष्किरेषु लावाः कषायमधुरा अपि कटुपाकाः  
 मयूरस्य गुरुत्वस्निग्धत्वं वत्तंकादिगणपठितत्वेनैव लब्धं सन् पुनरुच्यते विशेषार्थम् ;  
 एवमन्यत्रापि गणोक्तगुणकथनेन लब्धस्य पुनः कथने व्याख्येयम् । चरणायुधः  
 कुक्कुटः ; धन्वानूपनिषेवणादिति हेतुकथनेन य एव धन्वानूपनिषेवी तित्तिरिः स एव यथोक्त-  
 गुण इति ज्ञेयः ; एवमन्येऽपि ये गवादयो धन्वानूपनिषेविणस्तेऽपि तित्तिरिसमानगुणाः स्युः ;

गोधा विपाके मधुरा कषायकटुका रसे ।  
 वातपित्तप्रशमनी वृंहणी बलवर्द्धनी ॥  
 शल्वको मधुरोऽम्लश्च विपाके कटुकः स्मृतः ।  
 वातपित्तकफश्च श्वासकासहरस्तथा ॥  
 कषाया विशदाः शीता रक्तपित्तनिवर्हणाः ।  
 विपाके मधुराश्चैव कपोता गृहवासिनः ॥  
 तेभ्यो लघुतराः किञ्चित् कपोता वनवासिनः ।  
 शीताः संग्राहिणश्चैव स्वल्पं मृदुतराश्च \* ते ॥

प्रभावात् । सुश्रुते च—विष्किर्मध्ये, संग्राहो दीपनश्चैव कषायमधुरो लघुः । लावः कटुविपाकश्च मन्निपाते च पूजितः ॥ इति ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—गोक्षेन्यादि । भूशयेषु मध्ये गोधा रसे कषायकटुका अपि विपाके मधुरा प्रभावान्न तु कटुका । सुश्रुते च—विलेशयेषु, गोधा विपाके मधुरा कषाय-कटुका रसे । वातपित्तप्रशमनी वृंहणी बलवर्द्धनी । द्विधा गोधा, स्वर्णगोधिका वन्यगोधिका चेति, द्वयोरेवैते गुणाः । शल्वक इत्यादि । विलेशयेषु शल्वको रसे मधुराम्लश्च प्रभावाद्विपाके कटुकः । रक्तपित्तादिहरश्च । सुश्रुते च—विलेशयेषु, शल्वकः स्वादुपित्तघ्नो लघुः शीतो विपाकः । इति ।

कषाया इत्यादि । प्रतुदेषु मध्ये कपोताः पारावता गृहवासि-वनवासि-भेदाद्विदिधाः । तत्र गृहवासिनः पारावताः कषाया विशदाश्च । कषाया रसेऽपि प्रभावाद्विपाके मधुराः । तेभ्यो गृहवासिपारावतेभ्यः किञ्चिल्लघुतरा वनवासिनः । पारावता ये कपोतास्तेभ्यो मृदुतरास्ते शीताः स्वल्पं संग्राहिण-श्चैव भवन्ति । सुश्रुते च—प्रतुदवर्गं, रक्तपित्तप्रशमनः कषायो विशदोऽपि च । विपाके मधुरश्चापि गुरुः पारावतः स्मृतः ॥ इति । पारावतसामान्यस्य गुणा उक्ताः । काणकपोतगुणाश्चोक्ताः, कषायस्वादुलवणो गुरुः काण-तिक्तिरिस्तु विशेषेणेति तित्तिरः साक्षादुक्तः ; किंवा, तित्तिरेरेव एवंगुणत्वे धन्वानूपनिषेवणं हेतुः, नान्यत्र गवादेरनूपदेशादेरिति ज्ञेयम् ॥ २४ ॥

चक्रपाणिः—कपोता गृहवासिन इति पारावताः । चटका मधुरा इति केचित् पठन्त्येव,

स्वल्पमूत्रकराश्चेति चक्रसम्मतः पाठः ।



शुक्रमांसं कषायाम्लं विपाके कटु शीतलम् ।  
 शोषकासक्षयहितं संग्राहि लघु दीपनम् ॥  
 चटका मधुराः स्निग्धाः कफशुक्राभिवर्द्धनाः ।  
 सन्निपातप्रशमनाः शमना मारुतस्य च ॥  
 वलवीर्य्यकराश्चैते क्लीबत्वमुपहृत्यते ।  
 कषायो विशदो रुक्षः शीतः पाके कटुर्लघुः ॥  
 शशः स्वादुः प्रशस्तश्च सन्निपातेऽनिलावरे ।  
 मधुरा मधुराः पाके त्रिदोषशमनाः शिवाः ।  
 लघवो बद्धविण्मूत्राः शीताश्चैणाः प्रकीर्त्तिताः ॥

कपोतकः । इति । काणः क्षुद्रः कपोतो घृष्टुरिति ख्यातः । प्रतुदेषु भेदाशिनो गुणाश्चोक्ताः सुश्रुते—सर्व्वेदोषकरस्तेषां भेदाशी मलदूषकः । इति । तेषामिति प्रतुदानां मध्ये । शुक्रमांसमित्यादि । प्रतुदेषु शुक्रमांसं विपाके यथासम्भवात् कटु तस्माच्च संग्राहि लघु चोपपद्यते । प्रतुदेषु सुश्रुते—कुलिङ्गो मधुरः स्निग्धः कफ-शुक्रविवर्द्धनः । रक्तपित्तहरो वेश्म कुलिङ्गस्त्वतिशुक्रलः ॥ इति । कुलिङ्गश्चटकः । तद्गुणमाह—चटका इत्यादि । चटका इति बहुवचनेन जातिमात्रं ख्यापितं, तेन कुलिङ्गचटकयोरेष गुणसंग्रहः । कफशुक्राभिवर्द्धना अपि मिलितत्रिदोष-शमनाः प्रभावात् । मारुतस्य च शमनाः ।

कषाय इत्यादि । जाङ्गलमृगेषु शशः स्वादुः कषायो रसे लघुर्लक्षविशद-शीतो वीर्य्यं पाके कटुः सन्निपाते वातावरे शस्यते । सुश्रुते—विलेशयेषु, कषायमधुरस्तेषां शशः पित्तकफापहः । नातिशीतलवीर्य्यत्वाद्वाते साधारणो मतः ॥ इति ।

मधुरा इत्यादि । जाङ्गलमृगेषु एणाः कृष्णसारा रसे मधुराः पाके च मधुराः, त्रिदोषशमनाः संस्पृष्टानां त्रयाणां दोषाणां शमनाः । शिवा मङ्गलाः । लघवो बद्धविण्मूत्राः शीताश्च वीर्य्येण । सुश्रुते च—जङ्गलानां, कषायो मधुरो हृद्यः पित्तासृक्कफरोगहा । संग्राही रोचको वल्यस्तेषामेणो ज्वरा-पहः ॥ मधुरो मधुरः पाके दोषघ्नोऽनलदीपनः । शीतलो बद्धविण्मूत्रः सुगन्धि-

ये तु न पठन्ति, तेषां मते चटकस्य प्रतुदसामान्यगुणलब्धं वृष्यत्वं “तृप्तिं चटकमांसानां गत्वा

गव्यं केवलवातेषु पीनसे विषमज्वरे ।

शुष्ककासश्रमात्यग्नि-मांसक्षयाहितञ्च तत् ॥

गुरुष्णा मधुरा वल्या वृंहणाः पवनापहाः ।

मत्स्याः स्निग्धाश्च वृष्याश्च बहुदोषाः प्रकीर्त्तिताः ॥

हरिणो लघुः ॥ एणः कृष्णस्तयोर्बोहो हरिणस्तान्न उच्यते । न कृष्णो न च तान्नश्च कुरङ्गः सोऽभिधीयते ॥ इति ।

गव्यमित्यादि । प्रसहेषु गव्यं मांसं केवलवातादिषु हितम् । इति । सुश्रुते ग्राम्यवर्गे—श्वासकासप्रतिश्याय-विषमज्वरनाशनम् । श्रमात्यग्निहितं गव्यं पवित्रमनिलापहम् ॥ अश्वादिमांसानां गुणाश्चोक्ताः । औरभ्रवन् सलवणं मांस-मेकशफोद्भवम् । अल्पाभिष्यन्द्ययं वर्गो जाङ्गलः समुदाहृतः ॥ दूरे जलान्त-निलया दूरे पानीयगोचराः । ये मृगाश्च विहङ्गाश्च तेऽल्पाभिष्यन्दिनो मताः ॥ अतीवासन्ननिलयाः समीपोदकगोचराः । ये मृगाश्च विहङ्गाश्च महाभि-ष्यन्दिनस्तु ते ॥ इति ।

गुरुष्णा इत्यादि । वारिशयवर्गेषु । मत्स्या गुरुष्णा मधुराश्च रसे पाके च मधुराः । उष्णाः प्रभावात् । पवनापहाः स्निग्धत्वात् । बहुदोषा नाना-व्याधिकराः । सुश्रुते पञ्चविधा आनूपा उक्ताः—कूलचराः, प्लवाः, कोशस्थाः, पादिनो मत्स्याश्चेति । तत्र मत्स्यास्तु द्विविधाः नादेयाः सामुद्राश्च । तत्र नादेया रोहितपाठीनपाटलाराजीववर्मिणो मत्स्यकृष्णमत्स्यवागुज्जारमुरलसहस्र-दंष्ट्रप्रभृतयः । नादेया मधुरा मत्स्या गुरवो मारुतापहाः । रक्तपित्तकराश्चोष्णा वृष्याः स्निग्धाल्पवच्चसः । कषायानुरसस्तेषां शष्पशैवालभोजनः । रोहितो मारुतहरो नात्यर्थं पित्तकोपनः । पाठोनः श्लेष्मलो वृष्यो निद्रालुः पिशिता-शनः । दूषयत्यम्लपित्तन्तु कुष्ठरोगं करोत्यसौ ॥ मुरलो वृंहणा वृष्यः स्तन्य-श्लेष्मकरस्तथा । सरस्तङ्गागसम्भूताः स्निग्धाः स्वादुरसास्तथा । महाहृदेषु बलिनः स्वल्पेऽम्भस्यबलाः स्मृताः ॥ इति । तथान्यत्र च । मत्स्यास्तु वृंहणाः सर्वे गुरवः शुक्रवद्धेनाः । वल्याः स्निग्धोष्णमधुराः कफपित्तकराः स्मृताः । व्यायामाध्वरतानाश्च दीप्ताग्नीनाश्च शस्यते । मत्स्याशिनी न बाधन्ते प्रायशो वातजा गदाः । महाप्रमाणा गुरवः शुक्रला वद्धवच्चसः । क्षुद्रमत्स्यास्तु लघवो ग्राहिणो ग्रहणीहिताः । कृष्णमत्स्या लघुस्निग्धा वातघ्ना वद्विवद्धेनाः । योऽनुपिबेत् पयः” इत्यादिवृष्यप्रयोगादेव लभ्यते ; मयूरादीनान्तु बहवो गुणा गणोक्तगुणाधिका

पाण्डुरा दोषलाः स्निग्धा गुरुवो भिन्नवर्चसः । उल्लिखो मधुरः स्निग्धः पित्त-  
 श्लेष्मप्रकोपणः । वृणां व्यायामनित्यानां हितो वह्निप्रदीपनः । एलङ्गः  
 स्निग्धमधुरो गुरुविष्टमिमीतलः । अन्यत्र । एलङ्गो मधुरो वृष्यः संग्राही  
 कफपित्तजित् । पव्वतो वातहा स्निग्धः शुक्रलो वलवर्द्धनः । तन्त्रान्तरे ।  
 पव्वतो मधुरः स्निग्धः कषायानुरसो गुरुः । शिलिन्दः श्लेष्मलो  
 वलयो विपाके मधुरो गुरुः । वातपित्तहरो वृष्य आमवातहरो मतः ।  
 शकुलो मधुरो वृष्यः कषायो विशदो लघुः । अन्यत्र च । शकुलो मधुरो  
 ग्राही रुक्षः पित्तामजिद्गुरुः । भाङ्गो मधुरो वृष्यः कषायानुरसो गुरुः ।  
 वर्म्मिमत्स्यस्तथा वृष्यो मधुरो रक्तपाकयोः । तन्त्रान्तरे तु । वर्म्मिमत्स्यो  
 गुरुवृष्यः कषायो रक्तपित्तहा । वर्म्मिषो वातहा स्निग्धो ग्रहणीदोषनाशनः ।  
 कुलिशो मधुरा हृद्यः कषायो दोषनो मतः । शृङ्गो तु वातशमनो स्निग्धो श्लेष्म-  
 प्रकोपिणी । अन्यत्र तु । शृङ्गो स्वादुरस्ता स्निग्धो वृंहणी कफकापिनी ।  
 मदगुरो मधुरो वृष्यो विपाके मधुरो गुरुः । अन्यत्र च । मदगुरा मधुरः  
 स्निग्धः संग्राही शुक्रलो गुरुः । कवय्यः स्निग्धमधुरा वलया वातकफापहा ।  
 चलदङ्गोऽनभिष्यन्दी हितो वाते च रोचनः । गङ्का मधुरो रुक्षः कषायः  
 शीतलो लघुः । शकली राहिताकारा प्रायो भूमा चरत्यसौ । मत्स्य-  
 श्विलिचिमो नाम वल्मीगइसमो गुणैः । सर्व्वेवातकरश्चैव कफनाशन  
 उत्तमः । वल्मीगङ्गो लघू रुक्षोऽनभिष्यन्दी च पूव्वेतः । गुच्छमत्स्यो गुरुः  
 स्निग्धः श्लेष्मलो वातनाशनः । आङ्गिमत्स्यो गुरुः स्निग्धो वातश्लेष्म-  
 प्रकोपणः । वायुषो मधुरो वृष्यो वृंहणो धातुवर्द्धनः । भेकाटो मधुरः शीतो  
 वृष्यः श्लेष्मकरो गुरुः । गर्गरो मधुरः स्निग्धो वातपित्तविनाशनः । चित्रफलो  
 गुरुः स्वादुः स्निग्धो वृष्यो वलप्रदः । फली स्वादुगुरुः स्निग्धो बलकृच्छ्र-  
 वर्द्धनी । नन्दावत्तस्तु संग्राही कफपित्तविनाशनः । वाचः स्वादुगुरुः स्निग्धः  
 श्लेष्मलो वातपित्तजित् । चिङ्गटस्तु गुरुग्राही मधुरो वलवर्द्धनः । वेदः-  
 पित्तास्रजिद्वृष्यो रोचनश्च कफप्रदः । चिङ्गटी मधुरा हृद्या वातघ्नी श्लेष्मला  
 गुरुः । स्निग्धास्यकफरोगघ्नी श्रेष्ठा प्रोष्ठी प्रकीर्त्तिता । प्रोष्ठी तिक्ता कटुः  
 स्वादुः शुक्रला कफवातजित् । चन्द्रकस्त्वनभिष्यन्दी मधुरो वलवर्द्धनः ।  
 दण्डकः कफजित् तिक्तो वातपित्तहरो लघुः । चम्पकुन्दो गुरुवृष्यो मधुरो वात-  
 पित्तजित् । त्रिकण्टः पित्तहा रुक्षो दीपनः कफजिह्वलघुः । खलिशः कथितो  
 इति पृथक् पाठः कृतः । “मांसं वृंहणानाम्” इत्यनेनैवाग्रयाधिकारवचनेन मांसस्य वृंहणत्वे

बल्यो वातहरो वृष्यश्चतुष्यः श्लेष्मवर्द्धनः ।

मेधास्मृतिकरः पथ्यः शोषघ्नः कूर्म्म उच्यते ॥

स्नेहनं वृंहणं वृष्यं श्रमघ्नमनिलापहम् ।

वाराहं पिशितं पल्यं रोचनं स्वेदनं गुरु ॥

ग्राही कषायो वातकोपनः । रुक्षो लघुः शूलहरः किञ्चिदापावनाशनः ।  
गरा चाजीर्णजननी गुर्वी श्लेष्मप्रकोपणी । गुर्वी पाके च मधुरा भोजिका  
दोषकोपनी । पोताधानास्तु सर्वेषां सुस्निग्धा गुरुरोचनाः । मत्स्यकूर्म्म-  
खगाण्डानि स्वादुवाजीकराणि च । कट्पाकीनि रुच्यानि वातश्लेष्महराणि  
च । कुथिता दोषला मत्स्याः शुष्का विष्टम्भिदुज्जराः । लवणैर्भाविता  
मत्स्याः कफपित्तकराः सराः । इति । सामुद्रास्तु मुश्रुते—निमि-निमिङ्गिल-  
कुलिशपाकमत्स्यनिरालकनन्दिवारलकमकरगणेरकचन्द्रकमहामीनराजीवप्रभृतयः  
सामुद्राः । सामुद्रा गुरवः स्निग्धा मधुरा नानिपित्तलाः । उष्णा वातहरा वृष्या  
वर्चस्व्याः श्लेष्मवर्द्धनाः । बलावहा विशेषेण मांसाशित्वात् समुद्रजाः ।  
समुद्रजेभ्यो नादेया वृंहणत्वाद् गुरुत्तरा । तेषामप्यनिलघ्नत्वाच्चौण्ड्रकौप्या  
गुणोत्तरौ । स्निग्धत्वात् स्वादुपाकत्वात् तयोर्वाप्या गुणोत्तराः । नादेया  
गुरवो मध्ये यस्मात् पुञ्जास्यचारिणः । सरस्तङ्गागजानान्तु विशेषेण शिरो  
लघु । अदूरगोचरा यस्मात् तस्मादुत्सोदपानजाः । किञ्चिन्मुक्त्वा शिरोदेश-  
मत्यर्थं गुरवस्तु ते । अधस्ताद्गुरवो ब्रूया मत्स्याः सरसिजास्तु ये । उरौ-  
विचरणात् तेषां पूर्वैर्मङ्गं लघु स्मृतम् । इति मत्स्याः ।

बल्य इत्यादि । वारिशयेष कूर्म्मौ जातिः, बल्यो वातहरः इत्येवमादि-  
गुणकर्म्म प्रभावात् । शोषघ्नो राजयक्ष्मघ्नः । शोथघ्न इति भ्रान्ताः पठन्ति ।  
ग्राम्याब्जानूपं पिशितलवणमित्यादिना शोथे निदानतया वज्जेनवचनात् ।  
मुश्रुते तु—शङ्खकूर्म्मादयः स्वादु-रसपाका मरुन्मुदः । शीताः स्निग्धा हिताः  
पित्ते वर्चस्व्याः श्लेष्मवर्द्धनाः । कृष्णः कर्कटकस्तेषां बल्यः कोष्णोऽनिला-  
पहः । शुक्लः सन्धानकृत् सृष्ट-विष्मूत्रोऽनिलपित्तहा ॥ इति ।

स्नेहनमित्यादि । आनूपेषु वाराहं पिशितं वृंहणमित्यादिगुणम् ।

लब्धे “शरीरवृंहणे नान्द” इत्यादिवचनं प्रकरणप्राप्तत्वेन तथा तस्यैवार्थस्य दाढ्यार्थश्च  
ज्ञेयम् ॥ २५ ॥

स्निग्धोष्णं मधुरं वृष्यं माहिषं गुरु तर्पणम् ।  
 दाढ्यं वृंहत्वमुत्साहं स्वप्नश्च जनयत्यपि ॥  
 धातृराष्ट्रचक्रोराणां दक्षाणां शिखिनामपि ।  
 चटकानाञ्च यानि स्युरण्डानि च हितानि च ॥  
 रेतःक्षीणेषु कासेषु हृद्दरोगेषु क्षतेषु च ।  
 मधुराण्यविदाहीनि सद्योबलकराणि च ॥  
 शरीरवृंहणे नान्यदादां मांसाद् विशेष्यते ।  
 इति वर्गस्तृतीयोऽयं मांसानां परिकीर्तितः ॥ २५ ॥

[ इति मांसवर्गः । ३ । ]

स्निग्धोष्णमित्यादि । तर्पयति तर्पणं माहिषं मांसं प्रकरणात् । सुश्रुते  
 च—गजगवयादयः कूलचरा आनूपाः पशवः । वातपित्तहरा वृष्या मधुरा  
 रसपाकयोः । शीतला बलिनः स्निग्धा मूत्रलाः कफवर्द्धनाः ॥ विरुक्षणो  
 लेखनश्च वीर्योष्णः पित्तदूषणः । स्वाद्वल्लवणस्तेषां गजः श्लेष्मानिलापहः ॥  
 गवयस्य तु मांसं हि स्निग्धं मधुरकासजित् । विपाके मधुरश्चापि व्यवायस्य तु  
 बद्धेनम् ॥ स्निग्धोष्णमधुरो वृष्यो माहिषस्तर्पणो गुरुः । निद्राणुं स्वबलस्तन्य  
 बद्धेनो मांसदादौ कृत् ॥ रुरुमांसं समधुरं कषायानुरसं स्मृतम् । वातपित्तोपशमनं  
 गुरु शुक्रप्रवर्द्धनम् । तथा चमरमांसन्तु स्निग्धं मधुरकासजित् । विपाके मधुरश्चापि  
 वार्तापित्तप्रणाशनम् । सृमरस्य तु मांसञ्च कषायानुरसं स्मृतम् ॥ वातपित्तोप-  
 शमनं गुरु शुक्रविवर्द्धनम् ॥ स्नेहनं वृंहणं वृष्यं शीतलं तर्पणं गुरु । स्निग्धं  
 श्रमानिलहरं वाराहं बलवर्द्धनम् ॥ कफघ्नं खड्गिपिशितं कषायमनिलापहम् ।  
 पित्र्यं पवित्रमायुष्यं बद्धमूत्रं विरुक्षणम् ॥ गोकर्णमांसं मधुरं स्निग्धं मृदु  
 कफापहम् । विपाके मधुरश्चापि कफपित्तविनाशनम् ॥ इति ।

सन्ध्वमांसस्य विशेषफलमाह—शरीरेत्यादि । शरीरवृंहणे मांसादन्यत्  
 आद्यं स्वाद्यं न विशिष्यते इति । वर्गं समापयति, इतीत्यादि ॥ २५ ॥

[ इति तृतीयो मांसवर्गः । ३ । ]

पाठा शुषा शटीशाकं वास्तुकं सुनिषण्णकम् ।  
 विद्याद् ग्राहि त्रिदोषत्रं वच्चोभेदि च वास्तुकम् ॥  
 त्रिदोषशमनी वृष्या काकमाची रमायनी ।  
 नात्युष्णशीतवीर्या च भेदिनी कुष्ठनाशिनी ॥  
 राजक्षवकशाकन्तु त्रिदोषशमनं लघु ।  
 ग्राहि शस्तं विशेषेण ग्रहण्यशोविकारिणाम् ॥  
 कालशाकश्च कटुकं दीपनं गरशोफजित् ।  
 लघूष्णं वातलं रुजं कालीयं \* शाकमुच्यते ॥

गङ्गाधरः—क्रमिकत्वान्मांसवर्गानन्तरं शाकवर्गमाह—पाठेत्यादि । वक्ष्यते  
 वर्गसमाप्तौ । चतुर्थः शाकवर्गोऽयं पत्रकन्दफलाश्रय इति । तेन शाकं गुण-  
 कर्मभ्यां वक्तुं पाठादीनां यत्र पत्रादिविशेषेणोपदेक्ष्यते तत्र यथायोग्यं  
 पत्रादिकं विद्यात् । यद्यप्यन्यत्रोक्तम् । पत्रं पुष्पं फलं जालं कन्दं संस्वेदजं  
 तथा । शाकं षड्विधमुद्दिष्टं गुरु विद्यात् यथोत्तरमिति । तथापि सुश्रुते—  
 पुष्पञ्च पत्रञ्च फलं तथैव यथोक्तं ते लघवः प्रदिष्टाः इति वचनेन यथायथं  
 फलपत्रपुष्पाणां पूर्वं पूर्वं लघु परं परं गुरु विद्यात् इह तु गुणकथनं सामान्यत  
 एव बोध्यम् । पाठा आकनिधिः । शुषा कासमहः । शटी हरिद्रापत्राकृतिः ।  
 वास्तुकं वधुयाशाकम् । सुनिषण्णकं निद्रालुः तेषां पत्राणां वास्तूकवज्जं  
 ग्राहित्वात् सर्वेषां त्रिदोषघ्नत्वं विद्यात् । वास्तूकन्तु वच्चोभेदि ।  
 त्रिदोषेत्यादि । कुष्ठनाशिनीत्यन्ताः काकमाचीगुणाः । नात्युष्णशीत-  
 वीर्या मध्यवीर्या । अस्याः पत्रमेव शाकम् । राजक्षवकेत्यादि । राजक्षवकं  
 दुग्धिकापत्रम् । कालशाकमित्यादि । सुश्रुतेऽपि—दीपनं कालशाकन्तु  
 गरदोषहरं कटु । लघूष्णमित्यादि । कालीयशाकं लघूष्णरुक्षत्वाद्वातलम् ।

चक्रपाणिः—शाकानामपि व्यञ्जनत्वेनानन्तरमुपदेशः । शुषा कासमहः, शटी स्वनाम-  
 प्रसिद्धा, वास्तुकं टक्कवास्तुकम् । नात्युष्णशीतवीर्येति नोष्णत्वं प्रकर्षप्राप्तमस्या नापि शीतत्वम्  
 इत्यर्थः ; यत् तु सुश्रुते “तित्ता काकमाची वातं शमयत्युष्णवीर्यत्वाद्” इत्युक्तं, तद्वीर्यवादि-  
 मतेन, भूत एव द्रव्यगुणे सुश्रुतेऽपि नात्युष्णशीतमेव पठितम् । राजक्षवको दुग्धिका, कालशाकं

\* कालात्यमिति पाठान्तरम् ।

दीपनी चोष्णवीर्या च ग्राहिणी कफमारुते ।  
 प्रशस्यतेऽम्लचाङ्गे री ग्रहण्यशोहिता च सा ॥  
 मधुरा मधुरा पाके भेदिनी श्लेष्मवर्द्धिनी ।  
 वृष्या स्निग्धा च शीता च मदघ्नी चाप्युपोदिका ॥  
 रुचो मदविषघ्नश्च प्रशस्तो रक्तपित्तिनाम् ।  
 मधुरो मधुरः पाके शीतलस्तण्डुलीयकः ॥  
 मण्डूकपर्णी वेत्राग्रं कुचेलो वनतिक्तकम् ।  
 कर्कोटकावल्लुजकौ पटोलं शकुलादनी ॥  
 वृषपुष्पाणि शाङ्गेष्टा केवुकं सकटिल्लकम् ।  
 नाडीकलायं गोजिह्वा वार्त्ताकी तिलपर्णिका ॥  
 कौलकं कार्कशं नैम्बं शाकं पार्ष्णिकञ्च यत् ।  
 कफपित्तहरं तिक्तं शीतं कटु विपच्यते ॥

दीपनीत्यादि । अम्लचाङ्गेरी अम्लरोलीति ख्याता । मधुरेत्यादि ।  
 उपोदिका पुदिनापत्रम् । रुक्ष इत्यादि । तण्डुलीयकोऽल्पमारिषः ।  
 मण्डूकपर्णीत्यादि । मण्डूकपर्णी मन्थुमणी । वेत्राग्रं वेत्रस्य कोमलाग्रम् ।  
 कुचेलोपत्रम् । वनतिक्तकं श्वेतबहला । कर्कोटकं कौकरोलाख्यस्य फलम् ।  
 अवल्लुजं वागुजीपत्रबीजम् । पटोलं पत्रं फलञ्च । शकुलादनी कटुरोहिणीपत्रम् ।  
 वृषपुष्पाणि वासकपुष्पाणि । शाङ्गेष्टा काकतिक्तिका । केवुकं केउफलम् ।  
 कटिल्लकः कारवेल्लः । नाडी नाडीशाकं डौडा इति लोके । कलायं वचुल-  
 कलायपत्रम् । गोजिह्वा दूर्वाशाकम् । वार्त्ताकुः प्रसिद्धा । तिलपर्णी  
 एङ्गजापत्रं फलञ्च । कौलकं पटोलफलम् । कार्कशं स्वल्पकर्कोटक-  
 फलम् । निम्बं निम्बपत्रम् । पार्ष्णिकञ्च शाकं क्षेत्रपर्णीपत्रम् । सर्वमिदं  
 कफपित्तहरमित्यादिगुणं तत्र विशेष उन्नेयः ।

कालिया इति ख्यातम्, कालाख्यमिति कालशाकमेवोच्यते पुनः, अन्ये तु “कालायम्” इति  
 पठन्ति । मण्डूकपर्णी मणिमणि ख्याता, कुचेलो अकर्णविद्रिकाभेदः ; वनतिक्तकं पथ्यसुन्दरम्,  
 अवल्लुजो वागुजी, शकुलादनी कटुरोहिणी, शाङ्गेष्टा काकतिक्ता, कटिल्लकः पुनर्नवा, नाडी नाडीचः,

सर्वाणि सूप्यशाकानि फज्जी चिल्ली कुतुम्बुकः ।  
 आलुकानि च सर्वाणि सपत्राणि कठिञ्जरः ॥  
 शणशात्मलिपुष्पाणि कर्वुदारः सुवर्चला ।  
 निष्पावः कोविदारस्य पत्तूरश्चुञ्चुपर्णिका ॥  
 कुमारजीवो लोहाकः पालङ्का मारिषस्तथा ।  
 कलम्बुनालिकासूर्यः कुसुम्भवृकधूमकौ ॥  
 लक्ष्मणा च प्रपुन्नाडा नलिनीका कुठेरकः ।  
 लोणिका यवशाकश्च कुष्माण्डकमवलगुजम् ॥

सर्वाणीत्यादि । सूप्यस्य सूपयोनिमुद्रचणकादेः शाकानि पत्राणि ।  
 फज्जी ब्रह्मयष्टीपत्रम् । चिल्लिगौ इवास्तुकम् । कुतुम्बुकः द्रोणपुष्पीपत्रम् ।  
 सर्वाण्यालुकानि पिण्डालुकमध्वालुकादीनि सपत्राणि तेषां पत्राणि ।  
 कठिञ्जरः कुठेरकपत्रम् । कर्वुदारपुष्पम् । सुवर्चला सूर्यभक्तापुष्पम् । कोवि-  
 दारस्य काञ्चनस्य निष्पावः शिम्बाफलम् । पत्तूरः शालिञ्जः । चुञ्चुपर्णिका  
 चैचुयाशाकं लोके एरण्डपर्णीत्युच्यते । कुमारजीवो जीवशाकम् । लोहाको  
 लुट्टियाशाकम् । पालङ्का ख्यातो लोके । मारिषः डौडालट्टिया ।  
 कलम्बुः कलमीशाकम् । नालिका गोलाडीचः । सूर्यः सुरीः राज्ञी तस्याः  
 पत्र राइशाकम् । कुसुम्भः प्रसिद्धः । वृकधूमकः भूमिमारिषः । लक्ष्मणा  
 खनामख्याता तस्याः पत्रम् । प्रपुन्नाडा एडगजा तस्य पत्रं, फलन्तु शमीधान्ये  
 प्रागभिहितम् । नलिनीका पद्ममृणालम् । नीलिनीकेति पाठे नीलीपत्रम् ।  
 कुठेरकः पर्णासभेदः । लोणिका लुणइशाकम् । यवशाकं क्षेत्रवास्तुकशाकम् ।

कलायं वर्तुलकलायम्, तिलपर्णिका हुलहुलिका, गोजिह्वा दाब्बिपत्रिका, कुलकः कारवेल्लकः,  
 केचिद् तु कुलकं पटोलभेदमाहुः, कर्कशः स्वल्पकर्कोटकः ।

सूप्यशाकानि माषपर्ण्यादीनि, फज्जी ब्राह्मणयष्टिका, चिल्ली गोंडवास्तुकं, कुतुम्बुको  
 द्रोणपुष्पिका, आलुकादीनि पिण्डालुकादीनि, कर्वुदारः काञ्चनः, सुवर्चला सूर्य-  
 भक्तिका, केचिन्न फलकमाहुः, पत्तूरः शालिञ्जः, चुञ्चुपर्णिका नाडीचभेदः, कुमारजीवो जीवशाकं,  
 लोहाको लोहामारिषः, नालिका गोनाडीचः, आसुरी राजिका मण्डको वा, वृकधूमको भूमिशिरीषः,  
 लक्ष्मणा खनामख्याता, नलिनी पद्ममृणालं, नीलिनीपाठपक्षे वुह्वा, यवशाकं क्षेत्रवास्तुकं,



दीपनी चाश्वरीर्या च ग्राहिणी कफमारुते ।  
 प्रशस्यतेऽम्लचाङ्गे री ग्रहणशोहिता च सा ॥  
 मधुरा मधुरा पाके भेदिनी श्लेष्मवर्द्धिनी ।  
 वृष्या स्निग्धा च शीता च मदघ्नी चाप्युपोदिका ॥  
 रुजो मदविषघ्नश्च प्रशस्तो रक्तपित्तिनाम् ।  
 मधुरो मधुरः पाके शीतलस्तरुदुर्लीयकः ॥  
 मण्डूकपर्णी वेत्राग्रं कुचेलो वनतिक्तकम् ।  
 कर्कोटकावल्लुजकौ पटोलं शकुलादनी ॥  
 वृषपुष्पाणि शाङ्गेष्टा केवुकं सकटिल्लकम् ।  
 नाडीकलायं गोजिह्वा वार्त्ताकी तिलपर्णिका ॥  
 कौलकं कार्कशं निम्बं शाकं पार्ष्णिकञ्च यत् ।  
 कफपित्तहं तिक्तं शीतं कटु विपच्यते ॥

दीपनीत्यादि । अम्लचाङ्गेरी अम्लरोलीति ख्याता । मधुरेण्यादि ।  
 उपोदिका पुदिनापत्रम् । रुज इत्यादि । तरुदुर्लीयकोऽल्पमारिषः ।  
 मण्डूकपर्णीत्यादि । मण्डूकपर्णी मन्युमणी । वेत्राग्रं वेत्रस्य कोमलाग्रम् ।  
 कुचेलोपत्रम् । वनतिक्तकं श्वेतवहला । कर्कोटकं कौकरोलाख्यस्य फलम् ।  
 अवल्लुजं वागुजीपत्रबीजम् । पटोलं पत्रं फलञ्च । शकुलादनी कटुरोहिणीपत्रम् ।  
 वृषपुष्पाणि वासकपुष्पाणि । शाङ्गेष्टा काकतिक्तिका । केवुकं केउफलम् ।  
 सकटिल्लकः कार्वेलः । नाडी नाडीशाकं डौडा इति लोके । कलायं वर्तुल-  
 कलायपत्रम् । गोजिह्वा दूर्वाशाकम् । वार्त्ताकुः प्रसिद्धा । तिलपर्णी  
 एङ्गजापत्रं फलञ्च । कौलकं पटोलफलम् । कार्कशं स्वल्पकर्कोटक-  
 फलम् । निम्बं निम्बपत्रम् । पार्ष्णिकञ्च शाकं क्षेत्रपर्णीपत्रम् । सर्वमिदं  
 कफपित्तहरमित्यादिगुणं तत्र विशेष उन्नेयः ।

कालिया इति ख्यातम्, कालाख्यमिति कालशाकमेवोच्यते पुनः, अन्ये तु “कालायम्” इति  
 पठन्ति । मण्डूकपर्णी मणिमणि ख्याता, कुचेलो अकर्णविद्रिकाभेदः ; वनतिक्तकं पथ्यसुन्दरम्,  
 अवल्लुजो वागुजी, शकुलादनी कटुरोहिणी, शाङ्गेष्टा काकतिक्ता, सकटिल्लकः पुनर्नवा, नाडी नाडीचः,

सर्वाणि सूप्यशाकानि फञ्जी चिल्ली कुतुम्बुकः ।  
 आलुकानि च सर्वाणि सपत्राणि कठिञ्जरः ॥  
 शणशाल्मलिपुष्पाणि कर्वुदारः सुवर्चला ।  
 निष्पावः कोविदारस्य पत्तूरश्चुञ्चुपर्णिका ॥  
 कुमारजीवो लोहाकः पालङ्काय मारिषस्तथा ।  
 कलम्बुनालिकासूर्यः कुसुम्भवृकधूमकौ ॥  
 लक्ष्मणा च प्रपुन्नाडो नलिनीका कुठेरकः ।  
 लोणिका यवशाकश्च कुष्माण्डकमवल्लुगजम् ॥

सर्वाणीत्यादि । सूप्यस्य सूपयोनिमुद्रचणकादेः शाकानि पत्राणि ।  
 फञ्जी ब्रह्मयष्टीपत्रम् । चिल्विगौ इवास्तुकम् । कुतुम्बुकः द्रोणपुष्पीपत्रम् ।  
 सर्वाण्यालुकानि पिण्डालुकमध्वालुकादीनि सपत्राणि तेषां पत्राणि ।  
 कठिञ्जरः कुठेरकपत्रम् । कर्वुदारपुष्पम् । सुवर्चला सूर्यभक्तापुष्पम् । कोवि-  
 दारस्य काञ्चनस्य निष्पावः शिम्बाफलम् । पत्तूरः शालिञ्चः । चुञ्चुपर्णिका  
 चैचुयाशाकं लोके एरण्डपर्णीत्युच्यते । कुमारजीवो जीवशाकम् । लोहाको  
 लुटियाशाकम् । पालङ्काः ख्यातो लोके । मारिषः डौडालटिया ।  
 कलम्बुः कलमीशाकम् । नालिका गोलाइचिः । सूर्यः सुरीः राज्ञी तस्याः  
 पत्र राइशाकम् । कुसुम्भः प्रसिद्धः । वृकधूमकः भूमिमारिषः । लक्ष्मणा  
 खनामख्याता तस्याः पत्रम् । प्रपुन्नाड एडगजा तस्य पत्रं, फलन्तु शमीयान्ये  
 प्रागभिहितम् । नलिनीका पद्ममृणालम् । नीलिनीकेति पाठे नीलीपत्रम् ।  
 कुठेरकः पर्णासभेदः । लोणिका लुणइशाकम् । यवशाकं क्षेत्रवास्तुकशाकम् ।

कलायं वत्तुलकलायम्, तिलपर्णिका हुलहुलिका, गोजिह्वा दाम्बिपत्रिका, कुलकः कारवेल्लकः,  
 केचित् तु कुलकं पटोलभेदमाहुः, कर्कशः स्वल्पकर्कोटकः ।

सूप्यशाकानि माषपर्ण्यादीनि, फञ्जी ब्राह्मणयष्टिका, चिल्ली गौडवास्तुकं, कुतुम्बुको  
 द्रोणपुष्पिका, आलुकादीनि पिण्डालुकादीनि, कर्वुदारः काञ्चनः, सुवर्चला सूर्य-  
 भक्तिका, केचित् फलकमाहुः, पत्तूरः शालिञ्चः, चुञ्चुपर्णिका नाडीचभेदः, कुमारजीवो जीवशाकं,  
 लोहाको लोहामारिषः, नालिका गोनाडीचः, आसुरी राजिका मण्डको वा, वृकधूमको भूमिशिरीषः,  
 लक्ष्मणा खनामख्याता, नलिनी पद्ममृणालं, नीलिनीपाठपक्षे बुद्धा, यवशाकं क्षेत्रवास्तुकं,

यातुकः शालकल्याणी त्रिपर्णी पीलुपर्णिका ।  
 शाकं गुरु च रुक्षञ्च प्रायो विष्टभ्य जीर्यति ॥  
 मधुरं शीतवीर्यञ्च पुगीपस्य च भेदनम् ।  
 स्विन्नं निष्पीडितरसं स्नेहाढं तत् प्रशस्यते ॥ २६ ॥  
 शणस्य कोविदारस्य कर्बुदारस्य शालमलेः ।  
 पुष्पं ग्राहि प्रशस्तञ्च रक्तपित्ते विशेषतः ॥  
 न्यग्रोधोदुम्बराश्चत्थ-प्रक्षपद्मादिपल्लवाः ।  
 कषायाः स्तम्भनाः शीता हिताः पित्तातिसारिणाम् ॥  
 वायुं वत्सादनी हन्यात् कफं गण्डीरचित्रकौ ।  
 श्रेयसी विल्वपर्णी च विल्वपत्रञ्च वातनुत् ॥  
 भण्डी शतावरीशाकं बला जीवन्तिकञ्च यत् ।  
 पठ्वर्याः पठ्वरपुष्पाश्च वातपित्तहरं स्मृतम् ॥

कुष्माण्डकं प्रसिद्धम् । अवलगुजं मोमगजीपत्रम् । यातुकः शुक्लशालपर्णीपत्रम् ।  
 शालकल्याणी शालिञ्चप्रभेदः । त्रिपर्णी हंसपदी । पीलुपर्णी नोवटकः ।  
 एषां सूप्यादीनां शाकं गुरु च रुक्षञ्च शीतवीर्यत्वात् कफकरम् । तत् सर्वं  
 स्विन्नं कृत्वा निष्पीडितरसं स्नेहाढ्यं बहुस्नेहपक्वं चेत् तदा प्रशस्यते ॥ २६ ॥

गङ्गाधरः—एषु शणादीनां पुष्पस्य विशेषगुणमाह—शणस्येत्यादि ।  
 शणादीनां पुष्पं गुरुक्षमित्यादिगुणं विशेषतो ग्राहि रक्तपित्ते प्रशस्तञ्च ।  
 न्यग्रोधेत्यादि । आदिना कश्चादेः पल्लवाः । वायुमित्यादि । वत्सादनी  
 गुडूची पल्लवरूपा प्रकरणात् । गण्डीरः शमठस्तस्य पत्रम् । चित्रकश्च  
 पत्ररूपः । श्रेयसी गजपिप्पली । विल्वपर्णी विलाज्जकं तेषां पत्रं विल्वपत्रञ्च  
 वातनुत् । भण्डीत्यादि । भण्डी भौटीति लोके । तस्याः पत्रं शतावर्याश्च पत्रं  
 शाकम् । बला वाय्यालकस्य पत्रम् । जीवन्तिकञ्च यच्छाकं पत्रम् । पठ्वणी

कुष्माण्डः सर्पच्छत्रम्, अवलगुजमित्यवलगुजभेदः, यातुकः शुक्लशालपर्णी, शालकल्याणी शालिञ्ची-  
 भेदः, त्रिपर्णी हंसपादिका, पीलुपर्णी मोरटकः ॥ २६ ॥

चक्रपाणिः—गण्डीरः शमठः, विल्वपर्णी विल्वार्जकम् । भण्डी खनामल्याता, पठ्वणी पठ्व-

लघु भिन्नशकृत् तिक्तं लाङ्गुलिकयुस्वूकयाः ।  
 तिलवेतसशाकश्च शाकं पञ्चाङ्गुलस्य च ॥  
 वातलं कटुतिक्ताम्लमधोमार्गप्रवर्तनम् ।  
 रुक्षाम्लमुष्णं कौसुम्भं कफघ्नं पित्तवर्द्धनम् ॥ २७ ॥  
 त्रपुषैर्वारुके स्वादु-गुरुविष्टम्भिशीतले ।  
 मुखप्रियश्च रुक्षश्च मूत्रलं त्रपुषन्त्रति ॥  
 एव्वारुकञ्च संपक्वं दाहतृष्णाक्लमार्त्तिनुत् ।  
 वच्चोभेदीन्यलादूनि रुक्षशीतगुरुणि च ॥

पर्वशाकं पर्वपुष्पी कुङ्कुटी पथ्यशाकं पत्रम् । लघ्वित्यादि । लाङ्गुलिकी  
 चित्रैरण्डपत्रम् । उस्वूक एरण्डपत्रं तिक्तम् । तिलस्य वेतसस्य च शाकं  
 पञ्चाङ्गुलस्य क्षुद्रैरण्डस्य पत्रं शाकं वातलमित्यादिगुणम् । रुक्षाम्लमित्यादि ।  
 पूर्वं कुसुम्भपत्रगुण उक्त इह पुनस्तस्य फलं रुक्षाम्लमित्यादिगुणम् ॥ २७ ॥

गङ्गाधरः—त्रपुषेत्यादि । त्रपुषपक्वं मायाम्बुफलम् । एवमेव्वारुकमपक्वं  
 फलम् । द्वे स्वादुनी गुरुणी विष्टम्भिनी शीतञ्च च । तयोर्मध्ये त्रपुषन्तु संपक्वं  
 अतिमुखप्रियादिगुणम् । एव्वारुकश्च संपक्वं दाहादिनुत् । एव्वारुकं  
 ककटीफलम् । सुश्रुते च—त्रपुषैर्वारु-कर्कारु-शीणवृन्तप्रभृतीनि । गुरुविष्टम्भि-  
 शीतानि स्वादूनि कफकृन्ति च । क्षुद्रमूत्रपुरीषाणि सक्षारमधुराणि च ॥  
 बालं सुनीलं त्रपुषं तेषां पित्तहरं स्मृतम् । तत् पाण्डु कफकृज्जीर्णमम्लं वात-  
 कफापहम् ॥ एव्वारुकं सकर्कारु सम्पक्वं कफवातकृत् । सक्षारं मधुरं रुच्य  
 दीपनं नातिपित्तलम् ॥ सक्षारं मधुरञ्चैव शीणवृन्तं कफापहम् । भेदनं दीपनं  
 हृद्यमानाहाष्टीलनुलघु ॥ इति ।

वच्चोभेदीनीत्यादि । अलाव्वाः फलानि वच्चोभेदीनि । अन्यत्र च । चिर्भ-  
 देत्यादि । चिर्भटो गोडम्बाफलं द्विविधं क्षुद्रफलं वृहत्फलञ्च । एव्वारुकं

शाकं, पर्वपुष्पी कुङ्कुटी, पञ्चाङ्गुलश्चित्रैरण्डः, एव्वारुकं राजकर्कटी, कुष्माण्डकं सुश्रुते बाल्याद्य-  
 न्स्थाभेदेन पठितं तदप्यविरुद्धमेव, यतः, बालमध्ययोरुत्र पित्तहरत्वं कफकरत्वञ्चोक्तं, तदपीह  
 पित्तोत्तरे कफोत्तरे सन्निपाते बोद्धव्यम् ॥ २७ ॥

चिभटव्वारुके तद्वद् वच्चोभेदहिते तु ते ।

कुष्माण्डपक्वं सक्षारं मधुराम्लं तथा लघु ॥

मृष्टमूत्रपुरीषञ्च सर्वदोषनिवर्हणम् ।

केलूटञ्च कदम्बञ्च नदीमाषकमैन्दुकम् ॥

विशदं गुरु शीतञ्च समभिष्यन्दि चोच्यते ॥ २८ ॥

उत्पलानि कषयाणि पित्तरक्तहराणि च ।

पौष्करान्तु भवेद्वीजं रक्तपित्तक्षयापहम् ॥

तथा तालप्रलम्बञ्च उरःक्षतरुजापहम् ।

खज्जूरं तालशस्यञ्च रक्तपित्तक्षयापहम् ॥

शुक्रकटीफलं कर्करुनाम् । तद्वत् । रक्षशीतगुरुणी । वच्चोभेदे अहिते तु ते ।

कुष्माण्डमित्यादि । पूर्व कुष्माण्डकमवलगुजमिति वचनेन कुष्माण्डपत्रगुण उक्त इह तु तस्य फलं सक्षारादिगुणम् । सुश्रूते तु—पुष्पकलालाबुकलिन्दक-प्रभृतीनि । पित्तघ्नान्यनिलं कुयुस्तथा मन्दककानि च । मृष्टमूत्रपुरीषाणि स्वादुपाकरसानि तु ॥ पित्तघ्नं तेषु कुष्माण्डं बालं मध्यं कषावहम् । पक्वं लघूष्णं सक्षारं दीपनं वस्तिशोधनम् । सर्वदोषहरं हृदयं पथ्यं चेतोविकारिणाम् ॥ इति ।

केलूटञ्चेत्यादि । केलूटं स्वादुविटपं तत्कन्दः स्वादुशीतल इति हारीत-वचनम् । कदम्बं कलम्बिकामिति केचित्, खल्पकदम्बमित्यन्ये । नदीमाषकः वर्द्धमानकः । ऐन्दुकं निखाइ इति लोके ॥ २८ ॥

गङ्गाधरः—उत्पलानीत्यादि । उत्पलानां कन्दानि बीजानि । पौष्कर-मित्यादि । पौष्करं पद्मबीजम् । तालप्रलम्बं तालाङ्कुरः । खज्जूरं ताल-शस्यञ्च फलम् । सुश्रूते च—तालनारिकेलखज्जूरप्रभृतीनां मस्तकमज्जानः—स्वादुपाकरसानाहू रक्तपित्तहरांस्तथा । शुक्लाननिलघ्नांश्च कफवृद्धि-करानपि ॥ अन्यत्र तु । गुवाकस्य शिरस्तद्वद्देहकं मदकारकमिति ।

चक्रपाणिः—केलूटे हारीतवचनं—“केलूटं स्वादुविटपं तत्कन्दः स्वादुशीतलः” इति । कदम्बं कदम्बिकां वदन्ति, केचित् तु खल्पकदम्बकमाहुः, नदीमाषकः उन्दीमाणषक इति ख्यातः, ऐन्दुकं

तरुटं विसशालूकं क्रौञ्चादनकसेरुकम् ।  
 शृङ्गाटकाङ्गलोज्यश्च गुरु विष्टम्भि शीतलम् ॥  
 कुमुदात्पलनालाश्च सपुष्पाः सकलाः स्मृताः ।  
 शीताः स्वादुकपायाश्च कफमारुतकोपनाः ॥ \*  
 वल्यः शीतो गुरुः त्रिगन्धस्तर्पणो वृंहणात्मकः ।  
 वातपित्तहरः स्वादुवृष्या मुञ्जातकः परः ॥  
 जीवनो वृंहणो वृष्यः कण्ठ्यः शस्तो रसायने ।  
 विदारीकन्दो वल्यश्च मूत्रलः स्वादुशीतलः ॥

तरुटविसेत्यादि । तरुटं कङ्कारकन्दः । विसं पद्मादीनां क्षुद्रमृणाळम् ।  
 शालूकं पद्मादीनां कन्दः । क्रौञ्चादनं घञ्चुलिका । कसेरुकं द्विविधं—  
 क्षुद्रं चिञ्चोदकं, बृहत् तु राजकसेरुकम् । शृङ्गाटकं पानीयकम् । अङ्गलोड्यं  
 ह्रस्वोत्पलकन्दः । सव्व गुरु विष्टम्भि शीतलम् । कुमुदेत्यादि । कुमुदोत्-  
 पलयोर्नालाः पुष्पाणि च फलानि च शीतादिगुणानि । वल्य इत्यादि ।  
 मुञ्जातक औत्तरापथिकः कन्दः । वल्य इत्यादिगुणः । जीवन इत्यादि ।  
 विदारीकन्दो जीवन इत्यादिगुणः । सुश्रुते तु—मधुरो वृंहणो वृष्यः शीतः  
 स्वय्यांतिमूत्रलः । विदारिकन्दो वल्यस्तु पित्तवातहरस्तु सः ॥ इति ।  
 विदारिकन्दो द्विविधः स्वल्पबहुक्षीरभेदात् । तत्रालपक्षीरो हस्तिपाद इति  
 लोके, बहुक्षीरस्तु दीर्घकन्दः, भूमिकुष्माण्ड इति लोके । († तथा सुश्रुते—  
 वातपित्तहरी वृष्या स्वादुतिक्ता शतावरी । महती च व हृद्या च  
 मेधाग्निलवर्द्धिनी । ग्रहण्यर्शविकारघ्नी वृष्या शीता रसायनी ॥ इति ।)

निक्षारः । तालप्रलम्बस्तालाङ्कुरः, शस्यशब्देनेह मस्तकमजा गृह्यते । तरुटः कङ्कारकन्दः,  
 क्रौञ्चादनं घञ्चुलिका, कसेरुकशब्देन चिञ्चोदका राजकसेरुकश्च गृह्यते, अङ्गलोड्यं ह्रस्वोत्पल-

\* इतः परं श्लाकोऽयं केपुचित् पुस्तकेषु दृश्यते—

कपायसीषद् विष्टम्भि रक्तपित्तहरं स्मृतम् ।

पौष्करन्तु भवेद्वीजं मधुरं रसपाकयोः ॥

† सुश्रुतौक्तस्त्वयं शतावरीविषयकः श्लोकः हस्तलिखितादर्शपुस्तके दर्शनात् अत्रैव  
 विनिवेशितोऽस्माभिः ।

अम्लीकायाः स्मृतः कन्दो ग्रहण्यशोहितो लघुः ।  
 नात्युष्णः कफवातघ्नो ग्राही शस्तो मदात्यये ॥  
 त्रिदोषं वद्धविण्मूत्रं सार्षपं शाकमुच्यते ।  
 तद्वत् पिण्डालुकं विद्यात् कन्दत्वाच्च मुखप्रियम् ॥  
 सर्पच्छत्रकवज्ज्यास्तु बह्व्योऽन्याश्छत्रजातयः ।  
 शीताः पीनसकर्तृश्च मधुरा गुठ्य एव च ॥  
 चतुर्थः शाकवर्गोऽयं पत्रकन्दफलाश्रयः ॥ २६ ॥

[ इति शाकवर्गः । ४ । ]

अम्लीकाया इत्यादि । अम्लीकाया अम्लाद्रकस्य कन्दः । त्रिदोष-  
 मित्यादि । सार्षपं शाकं सर्पपत्रम् । तद्वदित्यादि । पिण्डालुकः पिण्डा-  
 कारः कन्दः तं, तद्वत् त्रिदोषं वद्धविण्मूत्रं विद्यात् । कन्दत्वाच्च मुखप्रियं  
 विद्यात् । अत्रापरेषां कन्दानां गुणाः उन्नेयाः । तद् यथा सुश्रुते—स्थूल-  
 शूरणमाणकप्रभृतयः कन्दाः ईषत्कपायाः कटुका रुक्षा विष्टम्भिनो  
 गुरवः कफवातलाः पित्तहराश्च । माणकं स्वादु शीतञ्च गुरु चापि प्रकी-  
 र्त्तितम् । स्थूलकन्दस्तु नात्युष्णः शूरणो गुदकीलहा ॥ कुमुदोत्पलपद्मानां  
 कन्दा मारुतकोपनाः । कषायाः पित्तशमनाः विपाके मधुरा हिमाः ॥  
 वाराहकन्दः श्लेष्मघ्नः कटुको रसपाकतः । मेहकुष्ठक्रिमिहरो बल्यो वृष्यो  
 रसायनः ॥ इति ।]

सर्पच्छत्रकेत्यादि । सर्पच्छत्रकं मृतसर्पदेहभूतभूभागे जातमुद्भिज्जं छत्रा-  
 कृतिकं छत्रं, सर्पच्छत्रकं वज्जयित्वा अन्या बह्व्यश्छत्रजातयः उद्भिज्जाः  
 शीताः पीनसकर्तृश्च मधुराश्च गुठ्यश्चेति । सुश्रुते च—उद्भिदानि पलालेक्षु-  
 करीषवेणुक्षितिजानि । तत्र पलालजातं मधुरं मधुरविपाकं रुक्षं दोष-  
 प्रशमनञ्च । इक्षुजं मधुरं कषायानुरसं कटुकं शीतलञ्च । तद्वदेषोष्णं

कन्दः । मुञ्जातक औत्तरापथिककन्दः । अम्लीका स्वल्पविट्पा प्रायः कामरूपादौ भवति ।  
 सर्पच्छत्रं सर्पफणाकारं छत्रकम् ; अन्याश्छत्रजातयः करीषपलालादिजा बहुला ज्ञेयाः । पत्रकन्द-  
 फलाश्रय इति प्राधान्येन, तेन पुष्पाश्रयत्वमपि शाकवर्गस्य ज्ञेयम् ॥ २८।२९ ॥

[ इति शाकवर्गः । ४ । ]

तृष्णादाहज्वरश्वास-रक्तपित्तक्षतक्षयान् ।  
 वातपि मुदावर्त्तं स्वरभेदं मदात्ययम् ॥  
 तिक्ता यतामास्यशोषं कासश्चाशु व्यपाहति ।  
 मृद्रीका वृंहणी वृष्या मधुरा स्निग्धशीतला ॥  
 मधुरं वृंहणं वृष्यं खज्जूरं गुरु शीतलम् ।  
 जयेऽभिघाने दाहे च वातपित्ते च तद्धितम् ॥  
 तपणं वृंहणं फल्गु गुरु विष्टम्भि शीतलम् ।  
 परूषकं मधूकश्च वातपित्ते च शस्यते ॥  
 मधुरं वृंहणं वल्यमात्रातं तर्पणं गुरु ।  
 सस्नेहं श्लेष्मलं शीतं वृष्यं विष्टभ्य जीर्यति ॥

कारीषं कषायं वातकोपनञ्च । वेणुजातं कषायं वातकोपनञ्च । भूमिजं  
 गुरु नातिवातलं भूमितश्चास्यानुरसः । इति ।

वर्गं समापयति—चतुर्थं इत्यादि । पत्रकन्दफलाश्रय इति प्रायेण तत्-  
 पुष्पगुणकथनं नानुपपन्नमिति ॥ २९ ॥

[ इति शाकवर्गश्चतुर्थः । ४ । ]

गङ्गाधरः—अथ शाकफलाश्रया इति वर्गक्रमनिर्देशाच्छाकवर्गानन्तरं फल-  
 वगमाह—तत्र श्रुत्वाद्द्राक्षागुणमाह—तृप्णेत्यादि । मृद्रीका द्राक्षाफलं पक्वं  
 न त्वामं मधुरत्वाभावात् । मधुरमित्यादि । खज्जूरं खज्जूरस्य पक्वं फलं स्वल्प-  
 शस्यं बहुशस्यञ्च द्विविधम् । तर्पणमित्यादि । फल्गु कोठोडम्बुरफलं पक्वम् ।  
 तच्चापं शाकत्वान्नात्राभिहितम् । परूषकमित्यादि । परूषफलं पक्वं, पक्मेव च  
 मधूकफलं न त्वामम् । सुश्रुते च—द्राक्षाकाशमर्य्यमधूकखज्जूरमभृतीनि । रक्त-  
 पित्तहराण्याहुर्गुरुणि मधुराणि च । तेषां द्राक्षा सरा स्वर्य्या मधुरा स्निग्ध-  
 शीतला । रक्तपित्तज्वरश्वास-तृष्णादाहक्षयापहा ॥ हृद्यं मूत्रविबन्धघ्नं पित्ता-  
 मृगवातनाशनम् । केश्यं रसायनं मेध्यं काशमर्य्यं फलमुच्यते ॥ इति । मधुर-  
 मित्यादि । आम्रातमात्रातकस्य पक्वं फलं मधुरमामन्तु अम्लं शाकत्वात् तस्य

चक्रपाणिः—फलानामपि केषाञ्चिच्छाकवदुपयोगात् फलवर्गमाह । मृद्रीकाऽग्रेऽभिधीयते  
 श्रेष्ठगुणत्वात् । फल्गु औदुम्बरम् । मधूकशब्देन समानगुणत्वात् फलं कुसुमञ्च ज्ञेयम् । परूषकमिह



तालशस्यानि सिद्धानि नारिकेलफलानि च ।  
 वृंहणस्निग्धशीतानि वल्यानि मधुराणि च ॥  
 मधुराम्लकपायश्च विष्टम्भि गुरु शीतलम् ।  
 श्लेष्मपित्तकरं भव्यं ग्राहि वक्तूविशोधनम् ॥  
 अम्लं परुषकं द्राक्षा वदराण्यारुकाणि च ।  
 पित्तश्लेष्मप्रकोपीणि कर्कन्धूनि कुचानि च ॥  
 नात्युष्णं गुरु संपक्वं स्वादुप्रायं मुखप्रियम् ।  
 संवृंहणं शीघ्रजरं नातिदोषलमारुकम् ॥  
 द्विविधं शीतमुष्णञ्च मधुरञ्चाम्लमेव च ।  
 गुरु पारावतं ज्ञेयमरुच्यत्यग्निनाशनम् ॥

गुण इह नोक्तः । तालशस्यानीत्यादि । सिद्धानि पक्कतालफलानि सिद्धान्येव  
 पक्कानि नारिकेलफलानि । अत्र च, विशेषतः कोमलनारिकेलं निहन्ति पित्त-  
 ज्वरदाहमोहम् । इति । मधुराम्लेत्यादि । भव्यं पक्वं कम्पेरङ्गफलम् ।  
 अन्ये तु त्वक्संघातरूपं चालित्रफलं पक्कमाहुः । श्लेष्मपित्तकरमम्लत्वात् ।  
 अम्लमित्यादि । द्रिधा परुषकं द्राक्षा च मधुराम्लभेदात् ; तत्र मधुरयोर्गुणा  
 उक्ता अम्लयोरिह वचनमिदम् । आरुकाणि कार्तिकपुरे प्रसिद्धानि । वदराणि  
 कोलानि वृहत्फलानि । कर्कन्धूस्तु क्षुद्रफलवदरम् । तत्रारुकस्य विशेषमाह ।  
 नात्युष्णमित्यादि । आरुकम् आलुवोखरमिति लोके । तच्च द्विविधं शीत-  
 मुष्णञ्च मधुरं शीतमम्लमुष्णमिति । सुश्रुते—कर्कन्धुकोलवदरमामं पित्त-  
 कफापहम् । पक्वं पित्तानिलहरं स्निग्धं समधुरं सरम् ॥ पुरातनं तृट्शमनं  
 श्रमघ्नं दीपनं लघु । सौवीरं वदरं स्निग्धं मधुरं वातपित्तजित् ॥ इति ।  
 गुर्वित्यादि । पारावतं कामरूपे प्रसिद्धम् । तदपि द्विविधं, मधुरं  
 मधुरपरुषकं ज्ञेयम् । आन्नातम् आमडा इति ख्यातम्, आन्नफलसदृशमिति चान्द्रका, एतच्च  
 द्विविधं—मधुरमम्लञ्च, अत्र मधुरस्यैव गुणः, अम्लस्य वक्ष्यमाणत्वात् । तालशस्यानीति  
 तालफलानि, यथा—“हरीतक्यादीनां शस्यानि” इति फलमेव शस्यमुच्यते । सिद्धानि पक्कानि,  
 तेन पक्कतालस्य ग्रहणम् । भव्यं कम्पेरङ्गं फलं, केचित् त्वक्संहतिफलं वदान्त । आरुकं कार्तिक-  
 पुरे प्रसिद्धं ; कर्कन्धूः शृगालवदरी, कर्कन्धूनि कुचयोर्विच्छिद्य पाठे न नित्यं पित्तश्लेष्मकर्तृत्वं

भव्यादल्पान्तरगुणं काश्मर्यफलमुच्यते ।  
 तथेवाल्पान्तरगुणं तूदमम्लं परुषकात् ॥  
 कषायं मधुरं टङ्कं वातलं गुरु शीतलम् ।  
 कपित्थमामं कण्ठघ्नं विषघ्नं ग्राहि शीतलम् ॥  
 मधुराम्लकषायत्वात् सौगन्ध्याच्च रुचिप्रदम् ।  
 तदेव सिद्धं दोषघ्नं विषघ्नं ग्राहि गुर्वपि ॥  
 विल्वन्तु दुर्ज्वरं सिद्धं दोषलं पूतिमारुतम् ।  
 स्निग्धोष्णतीक्ष्णं तद्वालं दीपनं कफवातजित् ॥  
 रक्तपित्तकरं \* वालमाप्राणं पित्तवर्द्धनम् ।  
 पक्वमाघ्रं जयेद् वायुं मांसशुक्रवलप्रदम् ॥  
 कषायमधुरप्रायं गुरु विष्टम्भि शीतलम् ।

शीतमम्लमुष्णम् । रसनिर्देशे वीर्यप्राप्तौ तामलकस्याम्लस्य शीतवीर्य-  
 दर्शनाद् वीर्यान्तराशङ्कानिवारणार्थं पुनः शीतमुष्णमित्युक्तम् । भव्यादित्यादि ।  
 भव्यफलस्य ये गुणाः उक्ता मधुराम्लकषायविष्टम्भितगुरुशीतलश्लेष्मपित्त-  
 कररत्नग्राहित्वक्त्रशोधनत्वानि, तेभ्योऽल्पान्तरा अल्पभेदा गुणा यस्य  
 तत् । हृद्यमित्यादिना मुश्रुतोक्तगुणाः पूर्वं दर्शिताः । तथैवेत्यादि ।  
 तूदफलमुत्तरापथे प्रसिद्धं परुषकादल्पान्तरगुणम् । परुषकस्य गुणाः पूर्वं-  
 मुक्ताः पित्तश्लेष्मप्रकोपित्वाम्लत्वादयस्तेभ्योऽल्पान्तरा अल्पभेदा गुणा यस्य  
 तत् । कषायमधुरमित्यादि । टङ्कं काश्मीरदेशे प्रसिद्धम् । कपित्थमित्यादि ।  
 आममपक्वं कपित्थफलम् । तदेव सिद्धं पक्वं कपित्थफलम् । विल्वन्वित्यादि ।  
 सिद्धं पक्वं विल्वफलम् । तद्वालमामं स्निग्धोष्णादिगुणम् । रक्तपित्तेत्यादि ।  
 आम्रमाघ्रफलं वालं रक्तपित्तकरमसम्पूर्णमामं मध्यमपक्वं पित्तवर्द्धनम् ।

तयोर्दर्शयति, परुषकादीनान्तु मधुराम्लभेदेन द्विरूपाणां य एव परुषकादयोऽम्लास्त एव  
 पित्तश्लेष्मकरा इति । पारावतः कामरूपप्रसिद्धः, अत्र यो मधुरः स शीतः, यश्चाम्लः स उष्णः  
 इति ज्ञेयम् ; एवं रसनिर्देशेनैव वीर्यं लब्धेऽपि पुनः वीर्याख्यानाम् अम्लस्य आमलकस्य शीतता-

जाम्बवं कफपित्तघ्नं ग्राहि वातकरं परम् ॥  
 मधुरं बदरं स्निग्धं भेदनं वातपित्तजित् ।  
 तच्छुष्कं कफवातघ्नं पित्ते न च विरुध्यते ।  
 कषायमधुरं शीतं ग्राहि सिम्बितिकाफलम् ॥ ३० ॥  
 गाङ्गेरुकरं करीरञ्च विम्बी तोदनधन्ननम् ।  
 मधुरं सकषायञ्च शीतं पित्तकफापहम् ॥  
 संपक्वं पनसं मोचं राजादनफलानि च ।  
 स्वादूनि सकषायाणि स्निग्धशीतगुरुणि च ॥

पक्वं वायुं जयेदित्यादिगुणम् । जाम्बवमित्यादि । जाम्बवमिति सामान्यात्  
 वृहत्फलजाम्बवं राजजाम्बवं क्षुद्रफलजाम्बवं भूजाम्बवं वनजाम्बवं काक-  
 जाम्बवं सर्व्वं कफपित्तघ्नमित्यादि । मधुरमित्यादि । मधुरं बदरं सौवीर-  
 बदरं, सुवीरा यमुना नदी, तस्या यस्मिन् देशे स्थितिः, तद्देशजं बदरं सौवीर-  
 मिति सुश्रुतोक्तं दशितम् । सौवीरं बदरं स्निग्धमित्यादिगुणम् । तच्छुष्क-  
 मिति तद्बदरमिहानुवर्त्तते न तु सविशेषमनुवर्त्तते । तेन सर्व्वं बदरं शुष्कं  
 कफवातघ्नं न तु पित्ते च विरुध्यते । कषायेत्यादि । सिम्बितिकाफलं स्वनाम-  
 ख्यातम् । सुश्रुते च—कषायं स्वादु संग्राहि शीतं सिम्बितिकाफलम्, इति ॥३०

गङ्गाधरः—गाङ्गेरुकमित्यादि । गाङ्गेरुकी नागबला तस्याः फलम् । करीरो  
 मरुजद्रमस्तस्य फलम् । विम्बी ओष्ठोपमफलम् । तोदनं फलविशेषः । धन्वनं  
 धन्वनवृक्षस्य फलम् । मधुरमित्यादिगुणम् । संपक्वमित्यादि । पनसं कण्टकि-  
 फलम् । मोचं कदलीफलम् । राजादनफलं पियालफलम् । पक्वान्येतानि  
 स्वादूनीत्यादिगुणानि । सुश्रुते तु—पनसं सकषायन्तु स्निग्धं स्वादुरसं  
 गुरु । मोचं स्वादुरसं प्रोक्तं कषायं नातिशीतलम् । रक्तपित्तहरं वृष्यं  
 रुच्यं श्लेष्मकरं गुरु । स्निग्धं स्वादुकषायञ्च राजादनफलं गुरु । इति ।

दर्शनाद् बोद्धव्यम् । तूदम् औत्तरापथिकफलम् । टङ्कं काश्मीरप्रसिद्धम् । सिद्धमिति कालवशात्  
 पक्वं ; कपित्थवित्वाभ्राणामवस्थाभेदेन गुणकथनं सध्वावस्थासु तेषामुपयोज्यत्वात् । बदरं  
 मध्यप्रमाणं तद्वि मधुरमेव स्यात् । गाङ्गेरुकं नागबलाफलम्, करीरो मरुजो द्रुमः, तोदनं

कषायविशदत्वाच्च सौगन्ध्याच्च रुचिप्रदम् ।

अवदंशक्षमं हृद्यं \* वातलं लवनीफलम् ॥

नीपं शतारुकं पीलु तृणशून्यं विकङ्कतम् ।

प्राचीनामलकञ्चैव दोषघ्नं गरहारि च ॥

ऐङ्गुदं तिक्तमधुरं स्निग्धोष्णं कफवातजित् ।

तिन्दुकं करुपित्तघ्नं कषायं मधुरं लघु ॥

विद्यादामलके सर्वान् रसान् लवणवज्जितान् ।

स्वेदमेदःकफोत्क्लेद-पित्तरोगविनाशनम् ॥ †

अम्लं कषायमधुरं वातघ्नं ग्राहि दीपनम् ।

स्निग्धोष्णं दाडिमं हृद्यं करुपित्ताविरोधि च ॥

कषायेत्यादि । लवनीफलम् कषायविशदसौगन्ध्यारुचिकरम् । अवदंशक्षमं भोज्यद्रव्यान्तरप्रक्षणे रोचकत्वक्षमम् । नोयालीति ख्यातम् । नीपमित्यादि । नीपं पक्वं कदम्बफलम् । शतारुकं स्वनामख्यातम् । पीलुफलम् गुडफलम् । तृणशून्यं केतकीफलम् । विकङ्कतं वैड्य इति ख्यातम् । प्राचीनेत्यादि । प्राचीनामलकं पानीयामलकफलम् । ऐङ्गुदमित्यादि । ऐङ्गुदं पुत्रज्जीवफलम् । तिन्दुकं तिन्दु इति ख्यातम् । विद्यादित्यादि । लवणवज्जितान् पञ्च रसान् । तदामलकं स्वेदादिनाशनम् । अम्लमित्यादि । द्विधा दाडिमं मधुरफलमेकमपरमम्लफलम् । तत्राम्लावरं कषायमधुरमम्लप्रवरं कषायमधुरम् । स्निग्धोष्णमित्यादिगुणम् । सुश्रुते च—कषायानुरसं तेषां धन्वनमेदः । राजादनं क्षीरि । अवदंशक्षममिति लवलीफलं प्राश्य द्रव्यान्तरे रुचिर्भवति । नीपं कदम्बकम्, शतारुकफलं शरका इति ख्यातम्, पीलु औत्तरापथिकम्, तृणशून्यं केतकीफलम्, प्राचीनामलकं पानीयामलकम् । ऐङ्गुदं पत्रजीवकफलम् । तिन्दुकं केन्दुः । दाडिमगुणे कफपित्ताविरोधीत्यम्लदाडिमं पित्ताविरोधि, मधुरन्तु कफाविरोधि, तेन त्रिदोषहरत्वमस्योपपन्नम्, यदुक्तं सुश्रुते—द्विविधं तत् तु विशेयं मधुरञ्चाम्लमेव च । त्रिदोषघ्नन्तु मधुरमम्लं वातकफापहम् ॥” इति ।

\* रुक्षमिति क्वचित् पाठः ।

† इतः परं श्लोकोऽयं ग्रन्थान्तरेषु दृश्यते—

ह्रस्वं स्वादु कषायमम्लं करुपित्तहरं परम् । रसामृडमांसमेदोजान् दोषान् हन्ति विभीतकम् ॥

रुक्षाम्लं दाडिमं यत् तु तत् पित्तानिलकोपनम् । \*  
 वृक्षाम्लं ग्राहि रुक्षोष्णं वातश्लेष्मणि शस्यते ॥  
 अम्लीकायाः फलं पक्वं तस्माच्चाल्पान्तरं गुणैः ।  
 गुणैस्तेरेव संयुक्तं भेदनन्वम्लवेतसम् ॥  
 शूलेऽरुचौ विवन्धे च मन्डेऽग्नौ मद्यविप्लवे ।  
 हिक्राश्रासे च कासे च च्छर्द्दिवर्चांगदेषु च ॥  
 वातश्लेष्मसमुत्थेषु सर्व्वजेषूपदिश्यते ।  
 केशरं मातुलुङ्गस्य लघु शेषमतोऽन्यथा ॥ †

दाडिमं नातिपित्तलम् । दीपनीयं रुचिकरं हृद्यं वचर्चोविवन्धनम् ॥ द्विविधं  
 तत् तु विज्ञेयं मधुरश्चांम्लमेव च । त्रिदोषघ्नश्च मधुरमम्लं वातकफापहम् ॥ इति ।  
 वृक्षाम्लमित्यादि । वृक्षाम्लं तित्तिङ्गीकं, सुश्रुते च—वातापहं तित्तिङ्गीकमामं  
 पित्तबलाशकृत् । ग्राह्युष्णं दीपनं रुच्यं सम्पक्वं कफवातनुत् ॥ अम्लीकाया  
 इत्यादि । द्विविधं तित्तिङ्गीकं वृक्षाम्लमम्लीका च । तत्र यस्य वृक्षो-  
 ऽप्यम्लः स वृक्षाम्लः, यस्य फलमम्लं साम्लीका । तस्याः पक्वं फलं  
 तस्मात् किञ्चिद्गुणैरन्तरं भिन्नम् । तस्या आमफलमपि तित्तिङ्गी-  
 कामफलवत् । तदुक्तं सुश्रुते—अम्लीकायाः फलं पक्वं तद्वद् भेदि तु केवलम् ।  
 तस्मादल्पान्तरगुणं कोषाम्नफलमुच्यते । इति । गुणैरित्यादि । वृक्षाम्लस्य  
 गुणै रुक्षोष्णवातश्लेष्महरत्नैः संयुक्तं ग्राहिलवज्जं भेदनश्चांम्लवेतसं थैकर इति  
 ख्यातम् । शूलेऽरुचावित्यादि । मद्यविप्लवे मद्यविक्षेपे, शूलादिवातश्लेष्मसमुत्थ-  
 सव्वेगदेषु मातुलुङ्गस्य केशरमुपदिश्यते, लघु चोपदिश्यते । शेषं केशरातिरिक्तं  
 खगादिकमतोऽन्यथा गुणान्तरमुपदिश्यते । तद्यथा सुश्रुते—लघ्वम्लं दीपनं  
 हृद्यं मातुलुङ्गमुदाहृतम् । त्वक् तित्ता दुज्जरा तस्य वातक्रिमिकफापहा । स्वादु  
 शीतं गुरु स्निग्धं मांसं मारुतपित्तजित् । मेध्यं शूलानिलच्छर्द्दि-कफारोचक-

वृक्षाम्लं महार्द्रकम्, अम्लीका तित्तिङ्गी । शेषमिति त्वङ्मांसम्, अतोऽन्यथेति

\* “मधुरं पित्तनुत् तेषां पूर्व्वं दाडिममुत्तमम्” इत्यधिकः पाठः क्वचित् ।

† इतः परं श्लोकोऽयमादर्शान्तरे दृश्यते—

रोचनो दीपनो हृद्यः सुगान्धस्त्वगविवर्जितः ।

क्रच्चूरः कफवातघ्नः श्वासहिकार्शसां हितः ॥

सुगन्धि मधुरं साम्लं विशदं भक्तरोचनम् । \*

दुर्जरं वातशमनं नागरङ्गफलं गुरु ॥

वातामाभिषुकाक्षौड-मुकूलकनिकोचकाः ।

गुरुष्णस्निग्धमधुराः सौरुमाणा वलप्रदाः ॥

वातघ्ना वृंहणा वृष्याः कफरित्ताभिवर्द्धनाः ।

पियालमेषां सदृशं विद्यादौष्ण्यं विना गुणैः ॥

श्लेष्मलं मधुरं शीतं श्लेष्मातकफलं गुरु ।

श्लेष्मलं गुरु विष्टम्भि चाङ्कोटफलमग्निजित् ॥

नाशनम् । दीपनं लघु संप्राहि गुल्मार्शौघ्नन्तु केशरम् । शूलाजीर्णविवन्धेषु मन्दाग्रौ कफमारुते । अरुचौ च विशेषेण रसस्तस्योपदिश्यते । इति । सुगन्धीत्यादि । नागरङ्गफलं कमलालिम्बाकं साम्लं मधुरं सुगन्धि च विशदञ्च । सुश्रूते च—अम्लं समधुरं हृद्यं विशदं भक्तरोचनम् । वातघ्नं दुर्जरं प्रोक्तं नारङ्गस्य फलं गुरु ॥ इति ।

वातामेत्यादि । वातामस्य फलम्, अभिषुकस्य अभिषुकनाम्ना ख्यातस्य फलम् । आक्षौडस्य आखराट इति ख्यातस्य फलं, मुकूलकस्य फलं, निकोचकस्य पञ्चतीयाखरोटस्य फलम्, उरुमाणस्य च फलम् । फलरूपा एते वातामादयो गुरुष्णस्निग्धमधुरा इत्यादिगुणाः । सुश्रूते च—वातामाक्षौडाभिषुकनिकोचपिचुनिकोचकोरुमाणप्रभृतीनि । पित्तश्लेष्मकराण्याहुः स्निग्धोष्णानि गुरुणि च । वृंहणान्यनिलघ्नानि वल्यानि मधुराणि च ॥ इति । पियालमित्यादि । पियालस्य फलं द्विविधं, राजादनं पियालञ्च । तत्र राजादनगुणा उक्ताः । पियालस्य वचनमिदम् । एषां वातामादीनाम् औष्ण्यं विना शेषैर्गुणैः सदृशं पियालफलं विद्यात् । सुश्रूते—पियालमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहः । इति । श्लेष्मलमित्यादि । श्लेष्मातकं शैलुफलम् ।

गुरु, किंवा, श्लेष्मलचित्युक्तकेशरगुणविपरीतम् । वातामादय औत्तरापथिकाः । पियालोऽयं मगधप्रसिद्धः ।

\* मधुरं कञ्जिदम्लञ्च हृद्यं भक्तप्ररोचनमिति चकृधृतः पाठः ।

गुरुष्णां मधुरं रुक्षं \* केशघ्नं शमीफलम् ।  
 विष्टम्भयति कारञ्जं पित्तश्लेष्माविरोधि च ॥  
 आम्रातकं दन्तशठमम्लं सकरमर्दकम् ।  
 रक्तपित्तकरं विद्यादैरावतकमेव च ॥  
 वातघ्नं दीपनञ्चैव वार्त्ताकं कटु तिक्तकम् ।  
 वातलं कफपित्तघ्नं विद्यात् पकटकीफलम् ॥  
 पित्तश्लेष्मघ्नमम्लञ्च वातलञ्चाक्षिकीफलम् ।  
 मधुराण्यम्लपाकीनि पित्तश्लेष्महराणि च । †  
 अश्वत्थोदुम्बरप्लक्ष-न्यग्रोधानां फलानि च ॥ ३१ ॥

श्लेष्मलमित्यादि । अङ्कोठफलम् आखरोटविशेषः । गुरुष्णमित्यादि ।  
 शमीफलं पकं रुक्षं गुरुष्णञ्च । केशघ्नं केशानामुपघातकरम् । विष्टम्भयती-  
 त्यादि । कारञ्जं कण्टकिफलमिति कश्चित्, करमर्दकमित्यन्ये । पित्त-  
 श्लेष्मविरोधित्वं प्रभावात् । आम्रातकमित्यादि । आम्रातकं द्विविधं मधुर-  
 ञ्चाम्लञ्च । तयोर्मधुरं पूर्वमुक्तं मधुराम्लमुच्यते । दन्तशठं जम्बीरफलं  
 कागजीतिख्यातम् । करमर्दम् अम्लकरञ्जफलमैरावतकमम्लनागरङ्गफलञ्चाम्लं  
 रक्तपित्तकरं विद्यात् । सुश्रुते च—आम्रातकफलं वृष्यं सस्नेहं श्लेष्मवर्द्धनम् ।  
 तृष्णाशूलकफोत्क्लेश-च्छर्दिश्वासनिवारणम् ॥ वातश्लेष्मविवन्धघ्नं जम्बीरं  
 गुरु पित्तकृत् । अम्लं तृष्णापहं रुच्यं पित्तकृत् करमर्दकम् ॥ वातघ्नमित्यादि ।  
 वार्त्ताकं दक्षिणापथे फलवत् खाद्यते । तच्च कटु तिक्तकम् । वातलमित्यादि ।  
 पकटकीफलं पकटस्य पकं फलम् । पित्तश्लेष्मघ्नमित्यादि । अक्षिकी लता  
 तस्याः फलम् आक्षिकं पकं फलम् । मधुराणीत्यादि । अश्वत्थादीनां पकानि

दन्तशठो जम्बीरः, केचिदम्लोटं वदन्ति । इह आम्रातकमम्लं ग्राह्यम् ; पूर्व्वन्तु  
 मधुराम्रातकमुक्तम् ; करमर्दं द्विविधं आम्रजं वनजञ्च, ऐरावतमम्लातकम्, किंवा,  
 नागरङ्गम् ।

वार्त्ताकं दक्षिणापथे फलवत् खाद्यते, यद्गोष्ठवार्त्ताकसंज्ञकं, तस्येह गुणः, किंवा

\* रुक्षमित्यत्र शीतमिति वा पाठः ।

† मधुराण्यनुपाकीनि वातपित्तहराणि च इति चक्रसम्मतः पाठः ।

कषायमधुराम्लानि वातलानि गुरुणि च ।

भल्लातकान्यग्निसमं\* त्वङ्मांसं स्वादुशीतलम् ।

पञ्चमः फलवर्गोऽयमुक्तः प्रायोपयोगिकः ॥ ३२ ॥

[ इति फलवर्गः । ५ । ]

रोचनं दीपनं वृष्यमाद्रकं विश्वभेषजम् ।

वातश्लेष्मविवन्धेषु रसस्तस्योपदिश्यते ॥

रोचनो दीपनस्तीक्ष्णः सुगन्धिमुखबोधनः ।

जम्बीरः कफवातघ्नः क्रिमिहा भुक्तपाचनः ॥

फलानि मधुराणीत्यादीनि प्रभावात् अम्लपाकीनि । कषायेत्यादि । भल्लात-  
कानि फलानि कषायमधुराम्लानि पक्वान्येव । तेषां फलानां त्वङ्मांसं त्वगुतं  
शस्यमग्निसमं स्वादु च, शीतलन्तु वीर्येण, स्पर्शं तु वह्निसमं दाहकरमिति ।  
वर्गं समापयति—पञ्चम इत्यादि । प्रायोपयोगिक एव न तु कृत्स्नः ॥३१॥३२ ॥

[ इति पञ्चमः फलवर्गः । ५ । ]

गङ्गाधरः—क्रमिकत्वाद्धरितवग उच्यते—रोचनमित्यादि । आद्रकम् अशुष्कं  
विश्वभेषजमिति, तदेव रोचनादिगुणम् । तस्याद्राद्रकस्य रसो वातश्लेष्म-  
विवन्धेषूपदिश्यते । सुश्रुते तु—कफानिलहरं स्वयं विवन्धानाहशूलनुत् ।  
कटुषणं रोचनं हृद्यं वृष्यञ्चैवाद्रकं स्मृतम् ॥ शुष्कस्य गुण आहारसंयोगवर्गे  
वक्ष्यते । रोचन इत्यादि । जम्बीरः पर्णसभेदः पुंस्त्वात् । कफवातघ्नः  
क्रिमिहा भुक्तपाचनश्च । सुश्रुते च—जम्बीरः पाचनस्तीक्ष्णः क्रमिवात-

फलवदसिद्धस्यैव वार्त्ताकस्योपयोज्यस्यायं गुणः । आक्षिप्ती लता तस्याः फलमाक्षिकम् । अनु-  
पाकि अनुया इति ख्याता । अग्निसममिति स्फोटादिजनकत्वात् ॥ ३०—३२ ॥

[ इति फलवर्गः । ५ । ]

चक्रपाणिः—हरितानामप्यद्रकादीनां फलवदग्निपाकमन्तरेण भोजनस्य प्राक् पश्चाच्चोप-  
योगात् फलमनु हरितकथनं, फलेषु पश्चादभिधानं हरितस्य तुप्यनाधायकत्वात् । आद्रकमिति विशे-  
षणं शुष्कीव्यावृत्त्यर्थम्, शुष्कीगुणश्चाहारसंयोगवर्गे भविष्यति ; जम्बीरः पर्णसभेदः, जम्बीरफलं



बालं दोषहरं वृद्धं त्रिदोषं मारुतापहम् ।  
 स्निग्धस्विन्नं विशुष्कञ्च मूलकं करुवातजित् ॥  
 हिकाकासविषश्वास-पार्श्वशूलविनाशनः ।  
 पित्तकृत् कफवातघ्नः सुरसः पूतिगन्धहा ॥  
 यमानी चाज्जकश्चैव शिग्रुशालेयतृष्टकम् \* ।  
 हृद्यन्यास्त्रादनीयानि पित्तमुत्श्लेशयन्ति तु ॥

कफापहः । सुरभिदापनो रुच्यो मुखवशद्यकारकः ॥ इति । बालमित्यादि ।  
 मूलकं बालं दोषहरं, वृद्धं मूलकं त्रिदोषं, तदेव स्निग्धं स्नेहेन पक्वं स्विन्नं  
 मारुतापहम् । तदेव विशुष्कं कफवातजित् । सुश्रुते च—सर्वदोषहरा लघ्वी  
 कण्ठ्या मूलकपोतिका । महत् तद् गुरु विष्टम्भि तीक्ष्णमामं त्रिदोषकृत् ॥ तदेव  
 स्निग्धस्विन्नन्तु पित्तनुत् कफवातजित् । त्रिदोषशमनं शुष्कं विषदोषहरं लघु ॥  
 विष्टम्भि वातलं शाकं शुष्कमन्यत्र मूलकात् ॥ इति । हिकेत्यादि । सुरसः  
 पर्णासः हिकादिनाशनादिगुणः । सुश्रुते—कफानिलविषश्वास-कासदौर्गन्ध्य-  
 नाशनः । पित्तकृत् पार्श्वशूलघ्नः सुरसः समुदाहृतः । यमानीत्यादि ।  
 यमानी वनयमानी । आज्जकः श्वेतपर्णासः । शिग्रुवोजम्, शालेयं चाणक्य-  
 मूलं मगधे प्रसिद्धम् । तृष्टकं राजिका । एतानि हृद्यादीनि । सुश्रुते च—  
 कफघ्ना लघ्वो रुक्षाः स्निग्धोष्णाः पित्तवर्द्धनाः । कटुपाक-  
 रसाश्चैव सुरसाज्जकभूस्तृणाः । कटुः सक्षारो मधुरः शिग्रुश्चोऽथ  
 सुगन्धिः । बालं दोषहरमिति तरुणावस्थायामव्यक्तरसायां त्रिदोषहरम् ; तन्त्रान्तरवचनं  
 हि—“यावद्धि चाव्यक्तरसान्द्रिजानि नवप्ररूढानि च मूलकानि । भवन्ति तावल्लुदीपनानि  
 पित्तानिलश्लेष्महराणि चैव ॥” वृद्धं त्रिदोषमिति, तदेव प्रवृद्धम्, एनामेव मूलकावस्थामभिप्रेत्य  
 चोक्तं,—‘मूलकं कन्दानामपथ्यत्वे प्रकृष्टतमम्’ इति । मारुतापहं स्निग्धासद्गमिति सामान्येन  
 बालं वृद्धञ्च ; “शुष्काणि कफवातघ्नान्येतानि” इति वक्ष्यमाणग्रन्थेनैव शुष्कमूलकस्य कफवात-  
 हन्तृत्वे लघ्वे पुनर्वचनं प्रकटप्राप्त्यर्थम् ।

पूतिगन्धहेति शरीरस्य तथा व्यञ्जनाश्रमांसस्य पूतिगन्धतां हन्ति । श्वेतपर्णासः,  
 शिग्रुविटपं शोभाजनम् ; शालेयश्चाणक्यमूलं मरौ प्रसिद्धम् ; किंवा शालेयमिति  
 मिस्तेयं पाटकप्रसिद्धम्, वचनं हि—‘चाणक्यमूलमिस्तेये शालेयाभिरुच्यया जगुः’ इति ; मृष्टकं

जलपिप्पलिगराडीर-शृङ्गवेर्यथ तुम्बुरु ।  
 तीक्ष्णोष्णकटुसूक्ष्माणि कफवातहरिणि च ॥  
 पुंस्त्वघ्नः कटुरुक्षोणो भूस्तृणो रक्तशोधनः ।  
 खराश्वा कफवातघ्नी वस्तिरोगरुजापहा ॥  
 धान्यकश्च जगन्धा च सुमुखश्चेति रोचनाः ।  
 सुगन्धा नातिकटुका द पाटुत्क्लेदयन्ति च ॥  
 ग्राही गृञ्जनकस्तीक्ष्णो दातश्लेष्मार्षसां हितः ।  
 स्वेदनेऽभ्यवहारे च योजयेत् तमपित्तिनाम् ॥

पित्तलः । मधुशिग्रूः सरस्तिक्तः शोफघ्नो दीपनः कटुः । जलेत्यादि । जले  
 पिप्पल्याकारा जलपिप्पली । गण्डीरः समष्टीला, स च शुक्लो रक्तश्चेति  
 द्विविधः, तत्र शुक्लो जलजः शाकवर्गे पठितोऽकटुत्वात् । कटुत्वात् तु रक्तोऽत्र  
 हरितवर्गे पठित इति न द्विरुक्तः । शृङ्गवेरी शृङ्गवेराकृतिः । उक्तश्च—  
 शृङ्गवेरवदाकृत्या शृङ्गवेरीति भाष्यते । कुस्तुम्बुरुसमाकृत्या तुम्बुरुणि  
 वदन्ति हि । पुंस्त्वेत्यादि । भूस्तृणो गन्धतृणः । पुंस्त्वघ्नः । खराश्वेत्यादि ।  
 खराश्वा पारसीययमानी खराशिनीति लोके । धान्यकमित्यादि । धान्यकं  
 कुस्तुम्बुरुः । सश्रुते च—आर्द्रा कुस्तुम्बुरुः कुर्यात् स्वादुसौगन्ध्यहृद्यताम् ।  
 सा शुष्का मधुरा पाके स्निग्धा तृड्दाहनाशिनी । दांषघ्नी कटुका किञ्चित्तिक्ता  
 स्रोतोविशोधनी । इति । अजगन्धा क्षेत्रयमानी । सुमुखो पर्णासभेदः । सश्रुते  
 च—कफानिलविषश्वास-कासदोर्गन्ध्यनाशनः । पित्तकृत् पाश्वशूलघ्नः सुरसः  
 समुदाहृतः । तद्वत् तु सुमुखो ज्ञेयो विशेषाद् गरनाशनः ॥ इति । एवं तत्रैव  
 चोक्तं—तीक्ष्णोष्णं कटुकं पाके रुच्यं पित्ताग्निवर्द्धनम् । कटु श्लेष्मानिलहरं  
 गन्धाढ्यं जीरकद्वयम् । कारवी करवी तद्वद्विज्ञेया सोपकुञ्चिका । भक्ष्यव्यञ्जन-  
 भोज्येषु विविधेष्ववचारिता । इति । ग्राहीत्यादि । गृञ्जनको गौजोर इति  
 लोके । तं गृञ्जनकमपित्तिनां स्वेदनेऽभ्यवहारे च योजयेन्न तु पित्तिनाम् ।  
 राजिका । गण्डीरो द्विविधो रक्तः शुक्लश्च, तत्र यो रक्तः, स कटुत्वेन हरितवर्गे पठ्यते,  
 यस्तु शुक्लो जलजः, स शाकवर्गे पठित इति नैकस्य वर्गद्वये पाठः ; जलपिप्पली जले पिप्पल्या-  
 कारा स्यात् ; शृङ्गवेरी गोजिहिका, किंवा शृङ्गवेरी आर्द्राकृतिः यदुक्तं—“शृङ्गवेरवदाकृत्या  
 शृङ्गवेरीति भाषिता । कुस्तुम्बुरुसमाकृत्या तुम्बुरुणि वदन्ति च ॥” भूस्तृणो गन्धतृणः, खराश्वा

श्लेष्मलो मास्तत्रश्च पलाण्डुर्न च पित्तकृत् ।

आहारयोगे वल्यश्च गुरुवृष्योऽथ रोचनः ॥

क्रिमिकृण्टकिलासघ्नो वातघ्नो गुल्मनाशनः ।

स्निग्धश्चोष्णश्चवृष्यश्च लशुनः कटुको रसः ॥

शुष्काणि कफवातघ्नान्येतान्येषां फलानि च ।

हरितानामयञ्चैषां षष्ठो वर्गः समाप्यते ॥ ३३ ॥

[ इति हरितवर्गः । ६ । ]

श्लेष्मल इत्यादि । पलाण्डुः श्लेष्मलो मास्तत्रश्च ईषत्पित्तलक्षाल्पार्थत्वात् नवः । स च द्विविधः, पलाण्डुः क्षीरपलाण्डुश्चाहारयोगे वल्यश्च गुरुश्च वृष्यश्च रोचनश्च । मुश्रुते च—नात्युष्णवीर्योऽनिलहा कटुश्च तीक्ष्णो गुरुर्नातिकफावहश्च । वलावहः पित्तकरोऽथ किञ्चित् पलाण्डुरयिश्च विविद्धयेच्च ॥ स्निग्धोऽरुचिघ्नः स्थिरधातुकर्ता वलयोऽथ मेधाकफपुष्टिकृच्च । स्वादुर्गुरुः शोणितपित्तशस्तः स पिच्छिलः क्षीरपलाण्डुरुक्तः ॥ इति । क्रिमीत्यादि । लशुनो रसोनः क्रिम्यादिनाशनादिगुणः । मुश्रुते च—स्निग्धोष्णतीक्ष्णः कटुपिच्छिलश्च गुरुः स्थिरः स्वादुरसश्च वल्यः । वृष्यश्च मेधा-स्वरवणेचक्षुभेद्नास्थिसन्धानकरो रसोनः ॥ हृद्रोगजीर्णज्वर-कुक्षिशूल-विवन्धगुल्मारुचिकासशोफान् । दुर्नाम-कुष्ठानलसादजन्तु-समीरणश्वासकफांश्च हन्ति ॥ इति । शुष्काणीत्यादि । एतानि गृज्जनकादीनि शुष्काणि कन्दानि कफवातघ्नानि भवन्ति । एषां गृज्जनकादीनां फलानि च कफवातघ्नानि भवन्ति । इति केचित् । परे खेतानि हरित-वर्गाक्तान्यादिविष्वभेषजादीनि । शुष्काणि कफवातघ्नानि, फलानि चैषां कफ-वातघ्नानि । एवमादिगुणा द्रष्टव्याः तद्यथा सञ्श्रुते—कटून्गुष्णानि रुच्यानि वातश्लेष्महराणि च । कृतान्नेषूपयुज्यन्ते संस्कारार्थमनेकथा ॥ इति वर्गं समाप्यति—हरितानामित्यादि । एषां हरितानामयं षष्ठो वर्गः समाप्यते ॥ ३३

[ इति षष्ठो हरितवर्गः । ६ । ]

कृष्णजीरकम् । अजगन्धा यमानी, सुमुखः पर्णसभेदः, अयञ्च धान्यकादीनाम् आर्द्राणां गुणः, शुष्काणाम्न्वाहारयोगिगणे “कारध्योपकुञ्जिका” इत्यादिना गुणं निर्देक्ष्यति । गृज्जनकः स्वल्प-नालपत्रः पलाण्डुरेव । एतानीति हरितवर्गाक्तानि ; शुष्काणीत्यादिना यद्यपि शुष्काणामपि शुष्क्रीप्रभृतीनां गुण उक्तो भवति, तथापि विशेषगुणकथनार्थं पुनस्तदभिधानमाहारसंयोगिबर्गे भविष्यतीति न पौनरुक्त्यम् ॥ ३३ ॥

[ इति हरितवर्गः । ६ । ]

प्रकृत्या मद्यमम्लोष्णमम्लश्रोक्तं विपाकनः ।  
 सर्वं सामान्यतस्तस्य विशेष उपदेक्ष्यते ॥  
 कृशानां सक्तमूत्राणां ग्रहण्यशोविकारिणाम् ।  
 सुरा प्रशस्ता वातघ्नी स्तन्यरक्तवयेषु च ॥  
 हिक्राश्वासप्रतिश्याय-कासवच्चोग्रहारचो ।  
 छर्द्द्यानाहविवन्धेषु वातघ्नी मदिरा हिता ॥  
 शूलप्रवाहिकाटोप-कफवातार्शासां हितः ।  
 जगलो ग्राहिरुजोष्णः शोथघ्नी भुक्तपाचनः ॥

गङ्गाधरः—अथान्ततदुपकरणानन्तरं पानं वक्तुं क्रमिकत्वान्मद्यवगं उच्यते—  
 प्रकृत्येत्यादि । प्रकृत्येति स्वभावात् । सर्वं मद्यं सामान्यतो रसेऽम्लमुष्णन्तु  
 वीर्यं विपाकतश्चाम्लमुक्तम् । तस्य मद्यस्य विशेष उपदेक्ष्यते । यद्यपि  
 रसपाकयोरेम्लत्वे वीर्यं उष्णं लभ्यते तथापि पुनरुष्णमिति वचनेन  
 तीक्ष्णत्वादयो गुणाः ख्यापिताः । सुश्रुते चोक्तं—सर्वं पित्तकरं मद्यमम्लं  
 दीपनरोचनम् । भेदनं कफवातघ्नं हृद्यं वस्तिविशोधनम् । पाके लघु विदाहुष्णं  
 तीक्ष्णमिन्द्रियबोधनम् । विकाशि मृष्टविष्मूत्रं शृणु तस्य विशेषणम् ॥ इति ।  
 कृशानामित्यादि । सुरा पैष्टिकी अनुद्भूतमण्डा कृशादीनां प्रशस्ता,  
 स्तन्यादिक्षयेषु च प्रशस्ता । सुश्रुते च—कासार्षोऽग्रहणादोप-मूत्राघाता-  
 निलापहा । स्तन्यरक्तक्षयहिता सुरा छर्द्दहणदीपनी ॥ इति । हिकेत्यादि ।  
 मदिरा श्वेतवर्णा सुरा हिक्रादिषु हिता वातघ्नी च । सुश्रुते च—  
 कासार्षोऽग्रहणीश्वास-प्रतिश्यायविनाशिनी । श्वेता सूत्रकफस्तन्य-रक्तमांस-  
 करी सुरा ॥ इति । शूलेत्यादि । जगलो भक्तकिण्वभूता सुरा शूलादीनां  
 हिता । शोथघ्नः ग्राही च वीर्यतो रुक्षश्चोष्णश्च भक्तपाचनश्च । सुश्रुते च—  
 ग्राहुष्णो जगलः पक्ता रुक्षस्तृक्फशोफहृत् । हृद्यः प्रवाहिकाटोप-दुर्नामानिल-

चक्रपाणिः—अन्नमभिधाय पानं वक्तव्यम्, अत्रापि पानप्रधानमपि पानीयमुलङ्घ्य हर्षादि-  
 कर्तृत्वात् जनानां मुख्यपेयत्वाच्च मद्यमाह । प्रकृत्येति स्वभावात्, यद्यपि च मद्ये पीयमाने  
 नाम्लरसता प्रतीयते व्यक्ता, तथापि दन्तहर्षमुखस्वावाद्यम्लकार्यकर्तृत्वादभ्यमेव, वचनं हि—  
 “अम्लानि चाम्लप्रभावाणि चाम्लमेव कृत्वोपदेक्ष्यामः” इति, तेन अम्लप्रभावस्याम्लरसत्वमेव,  
 अत एवोक्तम्—“सर्वेषां मद्यमम्लानामुपर्युपरि वर्त्तते” इति, विपाकत इति तृतीयायां

शोषाशोप्रहणीदोष-पाण्डुरोगरुचिञ्चरान् ।  
 हन्यरिष्टः कफकृतान् रोगान् दीपनपाचनः \* ॥  
 मुखप्रियः सुखमदः सुगन्धिर्वस्तिदोषनुत् ।  
 जरणीयः परिणतो हृद्यो वण्यश्च शार्करः ॥  
 रोचनो दीपनो हृद्यः शोषशोफार्शसां हितः ।  
 स्नेहश्लेष्मविकारघ्नो बल्यः पकरसो मतः ॥  
 जरणीयो विवन्धन्नः स्वरवर्णविशोधनः ।  
 कर्षणः शीतरसिको हितः शोफोदरार्शसाम् ॥  
 सृष्टभिन्नशकृद्वातो गौडस्तपणदीपनः ।  
 पाण्डुरोगव्रणहिता दीपनी चाक्षिकी मता ॥

शोथहृत् ॥ अपरञ्च—छद्ग्रोचकहृत्कुक्षि-शूलतोदप्रमदनी । प्रसन्ना कफवाताशौ-  
 विवन्धानाहनाशिनी ॥ इति । शाषेत्यादि । ओषधिकाथादिः सन्धानेन काले  
 जातरस एवारिष्टस्तस्य सामान्यत एष गुणसंग्रहः । शोषादीन् कफकृतान्  
 रोगान् हन्ति दीपनः पाचनश्च । इति । तद्विशेषमाह । मुखप्रिय इत्यादि ।  
 शाकरोऽरिष्टः मुखप्रियादिगुणः । सूत्रे ते च—शाकरो मधुरो रुच्यो दीपनो  
 वस्तिशोधनः । वातघ्नो मधुरः पाके हृद्य इन्द्रियबोधनः ॥ तद्वत् पकरसः  
 सीधुबलवर्णकरः परः । शोफघ्नो दीपनो हृद्यो रुच्यः श्लेष्माशंसां हितः ॥ इति ।  
 अस्य पकरसस्य गुणमाह—राचन इत्यादि । पकरसो नाम सीधुः  
 इक्षुरसं पत्तवा काष्ठेन जातरसः सीधुभवति । स च राचनादिगुणः ।  
 जरणीय इत्यादि । शीतरसिक इक्षोः शीतेनापक्वेन रसेन निवृत्तोऽरिष्टः  
 जरणीयादिगुणः । कर्षणः शरीरस्य । सूत्रे ते च—कर्षणः शीतरसिकः  
 श्वयधूदरनाशनः । वणकृज्जरणः स्वय्यो विवन्धन्नाऽशंसां हितः ॥ इति ।  
 सृष्टेत्यादि । गौड इति गुडकृत एवारिष्टः । सूत्रे ते च—दीपनः  
 सृष्टविष्मूत्रो विशदोऽल्पमदो गुरुः । कषायो मधुरः सीधुगौडः पाचनदीपनः ॥

तसिः । सुरा अनुद्धतमण्डा, मदिरा तु सुरामण्डः, जगलो भक्तकिण्वकृता सुरा, अरिष्ट  
 औषधकायसम्पादितो वक्ष्यमाणो दन्त्यभयारिष्टादिः, शार्करः शर्कराप्रकृतिक आसवः, पकरसो

सुरासवस्तीव्रमदो वातान्नो वदनप्रियः ।

छेदी मध्वासवस्तीक्ष्णो मैरेयो मधुरो गुरुः ॥

धातव्यभिषुतो रुजो हृद्यो रोचनदीपनः ।

मार्दीक-<sup>\*</sup>-वन्न चतुष्णो मृद्रीकेक्षुरसासवः ॥

पाण्डुरोगेत्यादि । आक्षिपी विभीतकफलकृता सुरा । सुश्रुते च—  
आक्षिपः पाण्डुरोगघ्नो व्रण्यः संग्राहको लघुः । कषायमधुरः सीधुः पित्तघ्नो-  
ऽमृक्प्रसादनः ॥ जाम्बवो बद्धनिपत्रन्दस्तुवरो वातकोपनः ॥ इति ।  
सुरासव इत्यादि । सुरासवः सुरया द्रवकार्यं यत्रासवे क्रियते स सुरासवः,  
सुतरां तीव्रमदः । सुश्रुते च—तीक्ष्णः सुरासवो हृद्यो मूत्रलः कफवातनुत् ।  
मुखप्रियः स्थिरमदो विषयोऽनिलनाशनः ॥ इति । छेदीत्यादि । मध्वासवो  
मधुकृत आसवः । सुश्रुते च—लघुर्मध्वासवश्छेदी मेहकुष्ठविषापहः । तिक्तः  
कषायः शोफघ्नस्तीक्ष्णः स्वादुरवातकृत् ॥ तीक्ष्णः कषायां मदकृद् दुर्नाम-  
कफशूलमहत् । क्रिमिमदोऽनिलहरो मैरेयो मधुरो गुरुः । इति । मध्वासव-  
मैरेयोस्तीक्ष्णस्त्वचनादिह तीक्ष्णशब्दो मध्वासवेऽन्वितः पुनरावृत्तमैरेये-  
ऽप्यन्वेतव्य इति । मैरेयो यथा—आसवस्य सुरायाश्च द्वयोरेकत्र भाजने । सन्धानं  
तद्विजानीयान्मैरेयमुभयाश्रयम् । इति । धातव्यभिषुत इत्यादि । धातकीपुष्पकृत  
आसवो धातव्यभिषुतः । मार्दीकवदिन्यादि । मृद्रीकाकृतमदं मार्दीकं  
तद्वन्नात्युष्णो मृद्रीकारससहितेक्षुरसासवश्च भवति । मृद्रीकारसेक्षुरसयो-  
र्मिलितयोरासवो मृद्रीकेक्षुरसासव इत्येक आसव इति न पुनरुक्तम् । मार्दीक-  
मद्यगुण एतेन ख्यापितः । सुश्रुते च—मार्दीकमविदाहितान्मधुरान्वयतस्तथा ।  
रक्तपित्तेऽपि सततं बुधैर्न प्रतिषिध्यते ॥ मधुरं तद्धि रुक्षश्च कषायानुरसं लघु ।  
लघुपाकि सरं शोष-विषमज्वरनाशनम् ॥ मार्दीकाल्पान्तरं किञ्चित् स्वाज्जूरं  
वातकोपनम् । तदेव विशदं रुच्यं कफघ्नं कषणं लघु ॥ इह स्वाज्जूरमद्यगुणो-  
यः कथितेनेक्षुरसेन क्रियते ; शीतरसिकस्तु शीतेक्षुरसकृतः । गौडो गुडप्रकृतिकः । सुरासवो  
यत्र सुरयैव तोयकार्यं क्रियते । मधूकपुष्पकृतो मध्वासवः । मैरेयलक्षणं यथा—  
“आसवस्य सुरायाश्च द्वयोरेकत्र भाजने । सन्धानं तद विजानीयात् मैरेयमुभया-  
श्रयम् । इति । धातव्याभिषुतो धातकीफलासवः, माध्वीकं मधुप्रधानम्,—रोचनं दीपन-

रोचनं दीपनं हृद्यं वल्यं पित्ताविरोधि च ।  
 विबन्धनं कफघ्नञ्च मधु लघ्वल्पमारुतम् ॥  
 सुरा समण्डा रुक्षोष्णा यवानां वातपित्तला ।  
 गुर्वी जीर्यति विष्टभ्य श्लेष्मला तु मधूलिका ॥  
 दीपनं जरणीयञ्च हृत्पाण्डुक्रिमिरोगनुत् ।  
 ग्रहण्यशोहिनं भेदि सौवीरकतुषोदकम् ॥

ऽनभिहितोऽप्युन्नेयः । रोचनमित्यादि । मध्विति । मधुकृतं मदं माध्वीकं  
 रोचनादिगुणम् । सुरेत्यादि । सुरा पैष्टिकी, सा तु समण्डा रुक्षोष्णा ; पूर्व्वन्तु  
 मण्डहीना सुरा कृशानामित्यादिनोक्ता न ततः पुनरुक्ता । यवानां सुरा  
 यवकृता सुरा वातपित्तला । सुश्रुते च—पित्तलाल्पकफा रुक्षा यवैर्वातप्रकोपणी  
 इति । गुर्वीत्यादि । मधूलिका सुरा मधूलकफलकृता गुर्वी विष्टभ्य च जीर्यति  
 श्लेष्मला च । सुश्रुतेऽपि—विष्टम्भिनी सुरा गुर्वी श्लेष्मला तु मधूलिका ।  
 रुक्षा नातिकफा दृष्या पाचनी चाक्षिकी स्मृता । त्रिदोषो भेद्यव्यश्च  
 कोहलो वदनप्रियः । वक्सो हृतसारत्वाद्विष्टम्भी वातकोपनः । सीधुमेधूक-  
 पुष्पोत्थो विदाहप्रिवलप्रदः । रुक्षः कषायः कफहृद्वातपित्तप्रकोपणः ।  
 निर्विशेदसतश्चान्यान कन्दमूलफलासवान् । अरिष्टो द्रव्यसंयोग-संस्कारादधिको  
 गुणैः । बहुदोषहरश्चैव दोषाणां शमनश्च सः । दीपनः कफवातघ्नः सरः  
 पित्ताविरोधनः । शुक्लध्मानोदरप्लीह-ज्वराजीर्णाशैसां हितः । पिप्पल्यादि-  
 कृतो गुल्म-कफरोगहरः स्मृतः । चिकित्सितेषु वक्ष्यन्तेऽरिष्टा रोगहराः पृथक् ।  
 अरिष्टासवसीधूनां गुणान् कर्माणि चादिशेत् । बुद्धा यथास्वं संस्कार-  
 मवेक्ष्य कुशलो भिषक् । इति ।

दीपनमित्यादि । सौवीरं काञ्जिकं शुक्तकृतं तुषोदकं सतुषयवकृतं  
 काञ्जिकम् । सुश्रुते च—ग्रहण्यशौविकारघ्नं भेदि सौवीरकं तथा । तुषाम्बु  
 दीपनं हृद्यं हृत्पाण्डुक्रिमिरोगनुत् । इति ।

मित्यादि वक्ष्यमाणं, तद्वन्मृद्वीकेशुरसाभ्यां मिलित्वाभ्यां—कृत-आसवो-ज्येयः—मध्विति मधु-  
 प्रधान आसवः । सुरा समण्डेति यवतण्डुलकृता बोद्धव्या, विष्टभ्येति विच्छेदः ; मधूलको

दाहज्वरापहं स्पर्शात् पानाद् वातकफापहम् ।  
 विक्रध्वन्नसवन्नसि दीपनश्चाम्लकाज्जिकम् ॥  
 प्रायशोऽभिनवं मद्यं गुरु दोषसमीरणम् ।  
 स्रोतसां शोधनं जीर्णं दीपनं लघु राचनम् ॥  
 हर्षणं प्रीणनं वर्यं भयशोकश्रमापहम् ।  
 प्रागल्भ्यवीर्य्यप्रतिभा-तुष्टिपुष्टिवलप्रदम् ॥

दाहेत्यादि । अम्लकाज्जिकं धान्याम्लं धान्यकृतं भक्तकाज्जिकञ्च दाहादिहरम् । सुश्रुते च—धान्याम्लं धान्ययोनिताद् दीपनं दाहनाशनम् । स्पर्शात् पानात् तु पवन-ककृतृष्णाहरं लघु । तैक्षण्याच्च निहरेदाशु कफं गण्डूष-धारणात् ॥ सुखवैरस्यदौर्गन्ध्य-मलशोषकृमापहम् । दीपनं जरणं भेदि हित-मास्थापनेषु च । समुद्रमाश्रितानाञ्च जनानां सात्म्यमुच्यते ॥ इति । इह शुक्तादिगुणा उन्नेयाः । तद् यथा सुश्रुते—रक्तपित्तकरं शुक्तं छेदि शुक्त-विपाचनम् । वैस्वय्यं जरणं श्लेष्म-पाण्डुक्रिमिहरं लघु ॥ तीक्ष्णोष्णं मूत्रलं हृद्यं कफघ्नं कटुपाकि च । तद्वत् तदासुतं सर्व्वं रोचनञ्च विशेषतः ॥ गौडानि रसशुक्तानि मधुशुक्तानि यानि च । यथापूर्व्वं गुरुतराण्यभिष्यन्दकराणि च ॥ इति ।

अथेदानीं मद्यानां नवत्वाद्यवस्थायां गुणविशेषमाह—प्रायश इत्यादि । दोषसमीरणं दोषत्रयप्रकोपणम् । सुश्रुते च—नवं मद्यमभिष्यन्दि गुरु वातादि-कोपनम् । अनिष्टगन्धं विरसमहृद्यञ्च विदाहि च ॥ जीर्णमद्यगुणमाह—स्रोतसा-मित्यादि । जीर्णं पुराणं मद्यं स्रोतसां शोधनं स्फुटीकरणमित्यादिगुणम् । सुश्रुते च—सुगन्धि दीपनं हृद्यं रोचिष्णु क्रिमिनाशनम् । स्फुटस्रोतस्करं जीर्णं लघुवातकफापहम् ॥ इति । प्रागल्भ्येत्यादि । सात्त्विकैर्मानवैर्युक्त्या मात्रया विधिवत् सभक्तादिकं पीतं तज्जीर्णं मद्यं प्रागल्भ्यादिप्रदं स्याद् यथा चामृतं तथा स्याच्च । तदुक्तं सुश्रुते—सात्त्विके शौचदाक्षिण्य-हर्षमण्डनलालसः । गीताध्ययनसौभाग्य-सुरतोत्साहकृन्मदः । राजसे दुःखशीलत्वमात्मत्यागं ससाह-सम् । कलहं सानुबन्धन्तु करोति पुरुषे मदः ॥ अशौचनिद्रामात्सर्य्यागम्यागमन-लोलताः । असत्यभाषणञ्चापि कुर्याद्धि तामसे मदः ॥ तस्यानेकप्रकारस्य



सार्विकैर्विधिवद् युक्ता पीतं स्यादमृतं यथा ।

वर्गोऽयं सप्तमो मद्यमधिकृत्य प्रकीर्तितः ॥ ३४ ॥

[ इति मद्यवर्गः । ७ । ]

जलमेकविधं सर्वं पतत्यैन्द्रं नभस्तलात् ।

तत् पतत् पतितञ्चैव देशकालावपेक्षते ॥

मद्यस्य रसवीर्येतः । सौक्ष्म्यादौष्ण्याच्च तक्ष्ण्याच्च विकाशित्वाच्च वह्निना । समेत्य हृदयं प्राप्य धमनीरुद्धं मागतम् । विक्षोभ्येन्द्रियचेतांसि वीर्यं मदयतेऽचिरात् । चिरेण श्लेष्मिके पुंसि पानतो जायते मदः । अचिराद् वातिके दृष्टः पैत्तिके शीघ्रमेव तु । सान्द्रं विदाहि दुर्गन्धि विरसं क्रिमिलं गुरु । अहृद्यं तरुणं तीक्ष्णमुष्णं दुर्भाजनस्थितम् । अल्पौषधं पयुषितमत्यच्छं पिच्छिलञ्च यत् । तद् वज्ज्यं सर्व्वदा मद्यं किञ्चिच्छेपन्तु यज्जवेत् । तत्र यत् स्तोकसम्भारं तरुणं पिच्छिलं गुरु । कफप्रकोपि तन्मद्यं दुर्ज्जरञ्च विशेषतः । पित्तप्रकोपि बहुलं तीक्ष्णमुष्णं विदाहि च । अहृद्यं फेनिलं पूति क्रिमिलं विरसं गुरु । तथा पयुषितञ्चापि विद्यादनिलकोपनम् । सर्व्वदोषैरुपेतन्तु सर्व्वदोष-प्रकोपणम् । चिरस्थितं जातरसं दीपनं कफवातजित् । रुच्यं प्रसन्नं सुरभि मद्यं सेव्यं मदावहम् । इति । वर्गं समापयति—वर्गोऽयमित्यादि । मद्यमधिकृत्यारिष्टादीनामपि गुणाश्रय एष सप्तमो वर्गः प्रकीर्तितः ॥ ३४ ॥

[ इति सप्तमो मद्यवर्गः । ७ । ]

गङ्गाधरः—पानविशेषत्वादम्बुवग उच्यते—जलमित्यादि । सर्व्वं जल-मेकविधं धारकारकहैमनतोषारभेदेन चतुर्विधमपि ऐन्द्रतसामान्यादेकविधं नभस्तलान्नभस उपरिष्ठात् सोममण्डलात् पतति । तदैन्द्रं जलं पतत् पतितञ्च

गोधूमभेदः, तत्कृतं मद्यं मधूलकम् ; अन्ये तु मेदकमाहुः । दीपनमित्यादि—सौवीरतुषोदक-गुणः ; अम्लकाज्जिकमिति काज्जिकमेवागलगुणम् ॥ ३४ ॥ [ इति मद्यवर्गः । ७ । ]

सम्प्रति पानप्रधानस्य जलस्य गुणमाह—जलमित्यादि । सर्व्वमिति सुश्रुतप्रतिपादित-धारकारहैमतौषारमपि, एकविधमिति “शिवाः खलवापः” इत्यादिनोक्तगुणम्, तथा ‘शीतं शुचि’ इत्यादिवक्ष्यमाणगुणम्, ऐन्द्रमिति प्राप्यदृष्टवदोनेन्द्रमिति रितम् ; एकविधत्वेऽपि तस्य भेदमाह—तत् पतदित्यादि । पतद्देशमाकाशगतभूतरूपं, कालञ्च शीतोष्णादिरूपं, तथा पतितञ्च

खात् पतत् सोमवाय्वर्कैः स्पृष्टं कालानुवर्त्तिभिः ।

शीतोष्णस्निग्धरुक्षादेर्यथासन्नं महीगुणैः ॥

शीतं शुचि शिवं स्पृष्टं विमलं लघु षड्गुणम् ।

प्रकृत्या दिव्यमुदकं भ्रष्टं पात्रमपेक्षते ॥

देशकालावपेक्षते । तत्र पतन् तु यथा—खादित्यादि । दिव्यं च लोकीयम् उदकं प्रकृत्या शीतादिषड्गुणं खात् सोममण्डलात् पतदेव तत्रैवान्तरीक्षे सोम-वाय्वर्कैः कालानुवर्त्तिभिः शीताद्यत्रुदिनरात्रानुवर्त्तिभिः, गुणविशेषं दधद्भिः स्पृष्टं सद् भ्रष्टं यथासन्नं पात्रं यत्र देशे पतितं स्यात् तद्देशं भूमिगुणैः शीतोष्ण-स्निग्धरुक्षाद्यैरपेक्षते । जलन्तु खलु शीतं शुचि स्पृष्टं शुद्धं विमलं लघु च इति षड्गुणं स्वभावात् । ततः खात् पतनकाले यथाकालानुवर्त्ति-सोम-वाय्वर्कगुणस्पृष्टं गुणवैशेष्यमापद्य भूमौ पतितं तद्भूमिगुणमापद्यते ।

भूमिविशेषरूपं देशं, कालञ्च तथैवापेक्षते ; गुणदोषसम्बन्धे इति शेषः । एनमेव देशकाल-सम्बन्धमाह—खादित्यादि । सौम्यत्वात् पृथिव्या अपि गगनागतधूलिरूपायास्तथा मेघसहचरितलूतादिविषादिरूपायाश्च ग्रहणं वक्तव्यम्, किंवा वायुग्रहणादेव वायुना नीयमानाया पृथिव्या ग्रहणम्, स्पृष्टं भवतीति शेषः । कालानुवर्त्तिभिरिति कालपराधीनैः कालप्रधानैरिति यावत्, एतेन कालकृतसोमादिसम्बन्धविशेषो जले विशेषं करोति, तेन न कालस्याकिञ्चित्करता ; पतितजलस्य देशकालसम्बन्धमाह—शीतोष्णेत्यादि । यथा-सन्नमिति यस्मिन् काले यस्यां मह्यां ये गुणाः शीतादय उद्भक्ता भवन्ति, तैः स्पृष्टं जलं भवति ; एतेन सुश्रुते प्रतिपादितगाङ्गसामुद्रभेदो गुणदोषसम्बन्धमात्रकृत एव दिव्यजलस्येति दर्शयति ; तेन यद् विषादिजुष्टं तत् सामुद्रसमानगुणत्वात् सामुद्रम्. यद् धूल्यादिना विषादिना च रहितं, तत् तद्गुणत्वाद् गाङ्गमित्युक्तं सुश्रुते ; आश्विने तु मासि दिव्यजलस्य धूलीविषादिसम्बन्धो न भवत्येव, कालमहिम्ना, भवन्नपि वा न जलं तथा दूषयति, अत उक्तं सुश्रुते—“सामुद्रं तन्न पातव्यं मासादाश्वयुजाद् विना” इति, अतः हारोतवचनात् कार्त्तिकग्रहायणयोरप्यान्तरीक्षं नलं ग्राह्यमेव भवति, यदाह—“प्रवृत्तायां शरद्यस्मात् पश्चाद् वाते प्रवात्यपि । हेमन्ते वापि पृथ्वीयात् तज्जलं सृन्मयैर्घटैः ॥” इति ; तेन “आश्वयुजाद् विना” इति वचनं आश्वयुजात् प्रभृति त्रयोपादेयतोषदर्शनार्थम्, न त्वाश्विन एवोपादेयतोषदर्शनपरम्, अन्ये त्वाहुः—“आश्विन एव परमान्तरीक्षं ग्राह्यम्” इति ; जतुरूणवचनन्तु—“वर्षासु चरान्त धनैः सहोरगा वियति च कीट-लूताश्च । तादृषजुष्टमपेयं खजलमगस्त्योदयात् पूर्वम्” ।

दिव्यजलस्य प्राकृतगुणमाह—शीतमित्यादि । शिवमिति कल्याणकरत्वेन, स्पृष्टमिति वदनप्रियत्वेन ; वक्ष्यमाणगुणविशेषहेतुमाह—अष्टमित्यादि । पात्रमपेक्षत इति नद्यादि-

श्वेते कषायं भवति पाण्डुरे खात् तु तिक्तकम् ।

कपिले क्षारसंसृष्टमूषरे लवणान्वितम् ॥

कटु पर्वतविस्त्रावे \* मधुरं कृष्णमृत्तिके ।

एतत् पाण्डुगुणमाख्यातं महीस्थस्य जलस्य तु ।

तथाव्यक्तरसं विद्यादैन्द्रं कारं हिमश्च यत् ॥ ३५ ॥

यदन्तरीक्षात् पततीन्द्रसृष्टञ्चोक्तैश्च पात्रैः परिगृह्यतेऽम्भः ।

तदैन्द्रमित्येव वदन्ति धीरा नरेन्द्रपेयं सलिलप्रधानम् ॥ ३६ ॥

तद् यथा । अत्र केचित् पठन्ति । श्वेत इत्यादि । श्वेते भूमिदेशे पतितं तज्जलं कषायं भवति, पाण्डुरे भूमिदेशे भ्रष्टं तिक्तकं भवति, कपिले भूमिदेशे भ्रष्टं क्षारसंसृष्टं भवति, ऊपरे भूमिदेशे भ्रष्टं लवणान्वितं भवति । पर्वत-विस्त्रावे भूमिदेशे पतितं कटु भवति, कृष्णमृत्तिके देशे पतितं मधुरं भवति । इत्येतत् पाण्डुगुणं महीस्थस्य जलस्य व्याख्यातम् । तत्रैन्द्रं जलं यदेवो वषेति, यत् कारं करकासम्भवं जलं, हिमश्च यद् द्विविधं हैमं हिमानीसम्भवं, तौषारं तुषारसम्भवं तत्सर्वमव्यक्तरसं विद्यात् । तत्रैन्द्रं जलमाह—यदन्तरीक्षादि-त्यादि । इन्द्रसृष्टं यज्जलमन्तरीक्षात् पतति तदम्भ ऐन्द्रमित्येवं धोरा वदन्ति । तच्चोक्तैः पात्रैः परिगृह्यते तत् सलिलप्रधानं नरेन्द्रपेयमिति । अपरे चैतत् श्वेत इत्यादिकं न पठन्ति । न हि तत् सम्यगिति । सूत्रे ते च—पानीयमान्तरीक्षमनिर्देश्यरसममृतं जीवनं तर्पणं धारणमाश्वासजननं श्रमघ्नं क्लमपिपासामदमूर्च्छातन्द्रानिद्रादाहप्रशमनमेकान्ततः पथ्यतमश्च । तदेवावनी-पतितमन्यतमं रसमुपलभते । स्थानविशेषान्दीनदसरस्तङ्गागवापीकूपचण्डी-प्रस्रवणोद्भिद्विकिरकेदारपल्वलादिषु स्थानेष्ववस्थितमिति । तत्र लोहित-कपिलपाण्डुपीतनीलशुक्लेष्वनिप्रदेशेषु मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाणि यथासंख्यमुदकानि सम्भवन्तीत्येके भाषन्ते । तत् तु न सम्यक् । तत्र पृथि-व्यादीनामन्योन्यानुप्रवेशकृतः सलिलरसो भवत्युत्कर्षापकर्षेण । तत्र स्वगुणः भूयिष्ठायां भूमावल्लं लवणश्च, अम्बुगुणभूयिष्ठायां मधुरं, तेजोगुण-

पात्रविशेषसम्बन्धमपेक्ष्य गुणविशेषवद् भवति, एतच्च, यद्यपि 'देशकालावपेक्षते' इत्यनेन पूर्वम्

\* विस्त्रावे इत्यत्र विस्तारे इति क्वचित् पाठः ।

ईषत्कषायमधुरं सुसूक्ष्मविशदं लघु ॥  
 अरुक्ष्मनभिष्यन्दि सव्वं पानीयमुत्तमम् ।  
 गुर्वभिष्यन्दि पानीयं वार्षिकं मधुरं नवम् ॥  
 तनु लव्वनभिष्यन्दि प्रायः शरदि वर्धति ।  
 तत् तु ये सुकुमाराः सुगः क्षिब्धभूयिष्ठभोजनाः ।  
 तेषां भक्ष्ये च भोज्ये च लेह्ये पेये च शरयते ॥

भूयिष्ठायां कटुकं तिक्तञ्च, वायुगुणभूयिष्ठायां कषायञ्च, आकाशगुण-  
 भूयिष्ठायामव्यक्तरसम्, अव्यक्तं आकाशमित्यतस्तत्प्रधानमव्यक्तरसत्वात् तत्पेय-  
 मान्तरीक्षालाभे । तत्रान्तरीक्षं चतुर्विधं, तद्यथा—धारं कारं तौषारं हेमनमिति ।  
 तेषां धारं प्रधानं लघुत्वात् । तत् पुनर्द्विविधं गाङ्गं सामुद्रञ्चेति । तत्र गाङ्गमाश्व-  
 युजे मासि प्रायो वषति । तयोर्द्वयोरपि परीक्षणं कुर्वीत । शाल्योदनपिण्ड-  
 मकुथितमविदग्धं रजनभाजनोपहितं वषति देवे वह्निष्कुर्वीत, स यदि सुहृत्तं  
 स्थितस्तादृश एव भवति तदा गाङ्गं पतनीत्यवगन्तव्यम्, वर्णान्यत्वे सिक्थ-  
 क्तेदे च सामुद्रमिति विद्यात्, तन्नोपादेयम् । सामुद्रमप्याश्वयुजे मासि गृहीतं  
 गाङ्गवद्भवति । गाङ्गं पुनः प्रधानं तदुपाददीताश्वयुजे मासि शुचिशुक्लवितन-  
 पटैकदेशच्युतमथवा हर्म्येतलपरिभ्रष्टमन्यैर्वाशुचिभिर्भाजने गृहीतं सौवर्णे  
 राजते मृन्मये वा पात्रे निदध्यात् तत् सव्वकालमुपयुञ्जीत तस्यालाभे भौमं,  
 तच्चाकाशगुणबहुलं ; तत् पुनः सप्तविधं, तद्यथा—कौषं नादेयं सारसं  
 ताडगं प्रास्रवणमौद्भिदं चौण्ड्यमिति । तत्र वर्षास्वान्तरीक्षमौद्भिदं वा सेवेत  
 महागुणत्वात्, शरदि सव्वं प्रसन्नत्वात्, हेमन्ते सारसं ताडगं वा, वसन्ते  
 कौषं प्रास्रवणं वा ग्रीष्मेष्वेवं, प्रावृषि चौण्ड्यमनवमनभिवृष्टं संस्कृतं वा  
 सव्वञ्चेति ॥ ३५।३६ ॥

गङ्गाधरः—अथोत्तमजलमाह—ईषदित्यादि । ईषत्कषायमधुरादिकं सव्वं  
 भौममैन्द्रञ्च पानीयमुत्तमं भवति । सुसूक्ष्मं सुतनुकम् । गुर्वित्यादि । वार्षिकं  
 वर्षाकाले सव्वं पानीयमभिष्यन्दि च गुरु च । शरदि तु प्रायस्तनु लव्वनभि-  
 ष्यन्दि पानीयं वषेति । तत् तु शरदि वृष्टं पानीयं ये सुकुमारादयस्तेषां  
 एवोक्तम्, तथापि कालापेक्षया देशविशेषस्य प्रकर्षेण गुणविशेषे हेतुताप्रदर्शनार्थं पुनरुक्तम् ।  
 केचित् तु “इवेते कषायं भवति” इत्यादिग्रन्थं पठन्ति, स तु नातिप्रसिद्धः ॥ ३५—३७ ॥

हेमन्ते सलिलं स्निग्धं वृष्यं वलहितं गुरु ।  
 किञ्चित् ततो लघुतरं शिशिरे करुवातजित् ॥  
 कषायमधुरं रुक्षं विद्याद् वासन्निकं जलम् ।  
 ग्रैष्मिकन्तवनभिष्यन्दि जलमित्येव निश्चयः ॥  
 विभ्रान्तेष्वृतुकालेषु यत् प्रयच्छन्ति तोयदाः ।  
 सलिलं तत् तु दोषाय युज्यते नात्र संशयः ॥  
 राजभी राजमात्रे वा सुकुमारैश्च मानवैः ।  
 सुगृहीताः शरद्यापः प्रयोक्तव्या विशेषतः ॥  
 ऋतावृताविहाख्याताः सर्व्व एवाम्भसां गुणाः ॥ ३७ ॥  
 नद्यः पाषाणविच्छिन्न-विक्षुब्धविमलोदकाः ।  
 हिमवत्प्रभवाः पथ्याः पुण्या देवपिसेविताः ।

भक्ष्यादौ शस्यते । हेमन्त इत्यादि । हेमन्ते सर्व्वं सलिलं सिग्धादिगुणम् ।  
 शिशिरे ततः किञ्चिद्व्युतरं सर्व्व सलिलम् । वासन्निकं जलं सर्व्वं कषाय-  
 मधुरादिगुणं विद्याद् । ग्रैष्मिकं सर्व्व जलमनभिष्यन्दीत्येव निश्चयः ।  
 विभ्रान्तेष्वित्यादि । पदस्त्रुतुषु कालेषु विभ्रान्तेषु विपरीतलक्षणेषु तोयदा  
 यत् सलिलं प्रयच्छन्ति वषन्ति, तत् तु सलिलं त्रिदोषाय नानादोषाय  
 च युज्यते तत्र न संशयः । राजभिरित्यादि । राजादिभिः शरदि गृहीतास्त्वान्त-  
 रीक्षा आपो विशेषतः सर्व्वेष्वृतुषु प्रयोक्तव्याः । ऋतावृतौ चाम्भसां सर्व्वं  
 एव गुणा इहाख्याताः । इति ॥ ३७ ॥

गङ्गाधरः—तदलाभे तैरपरैश्च यत् तोयं प्रयोक्तव्यं तदर्थमाह—नद्य  
 इत्यादि । पाषाणैर्विच्छिन्नं स्रोतोवेगेन चलज्जलं यासां नदीनां गर्भस्थैः  
 पाषाणैर्विच्छिद्यते च क्षुभ्यते चोत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छति विमलश्च ताः  
 पाषाणविच्छिन्नविक्षुब्धविमलोदका नद्यः । हिमवत्प्रभवाश्च या गङ्गा-

चक्रपाणिः—आधारविशेषे गुणविशेषमाह—नद्य इत्यादि । पाषाणैर्विच्छिन्नं विक्षुब्धम्  
 अभिहतञ्चोदकं यासां तास्तथा, एतेन, आहत्यकाप्रभवा एव हिमालये नद्यः पथ्या उक्ता भवन्ति,

नद्यः पाषाणसिकता-वाहिन्यो विमलोदकाः ॥

मलयप्रभवा याश्च जलं तास्वमृतोपमम् ।

पश्चिमाभिमुखा याश्च पथ्यास्ता निम्मलोदकाः ॥

प्रायो मृदुवहा गुर्वो याश्च पूर्वसमुद्रगाः ।

पारिपात्रभवा याश्च विन्ध्यसह्यभवाश्च यः ।

शिरोहृद्रोगकुष्ठानां ता हेतुः श्लेष्मिपदस्य च ॥

यमुनादयो नद्यः । ता देवर्षिसेविताः पुण्याः पथ्यास्तासां जलं पथ्यम् ।  
याश्च हिमवत्प्रभवा नद्यो न पाषाणविच्छिन्नविशुद्धविमलोदकास्ता हृद्रोगादीन्  
जनयन्तीत्यभिप्रायेण सुश्रुत उवाच—हिमवत्प्रभवा हृद्रोगश्वयधुशिरोरोग-  
श्लेष्मिपदगलगण्डान् जनयन्ति इति न विरोधः । पुननद्य इत्यादि । पाषाण-  
सिकतावाहिन्यो नद्यो विमलोदका निर्दोषा भवन्ति । मलयेत्यादि । मलय-  
प्रभवा याश्च नद्यः पाषाणसिकतावाहिन्यो विमलोदकास्तासु जलममृतोपमं,  
तदन्यास्तु या मलयप्रभवास्ताः क्रिमीन् जनयन्तीत्यभिप्रायेण सुश्रुत उवाच—  
मलयप्रभवाः क्रिमीन् जनयन्तीति । तत्रासामपवादश्चोवाच—नद्यः शीघ्रवहा  
लघ्व्यः प्रोक्ता याश्चामलोदकाः । इति । पश्चिमेत्यादि । या नद्यः पूर्वस्या दिशः  
पश्चिमां गच्छन्ति ताः पश्चिमाभिमुखाः पथ्याः, यतो निम्मलोदकाः । शेषा-  
स्तपथ्याः । सुश्रुते च—तत्र नद्यः पश्चिमाभिमुखाः पथ्या लघ्वदकत्वात्, पूर्वाभि-  
मुखास्तु न प्रशस्यन्ते गुरुदकत्वात् । दक्षिणाभिमुखा नातिदोषलाः  
साधारणत्वात् इति । मृदुवहा नद्यस्तु गुर्व्य इत्यनेन शीघ्रवहा लघ्व्य  
इत्यर्थादापद्यते । याश्च पूर्वसमुद्रगा नद्यस्ताश्च गुर्व्य इत्यर्थादापद्यते ।  
दक्षिणाभिमुखा उत्तराभिमुखाश्च नद्यः साधारणत्वान्नातिदोषलाः इति ।  
पारिपात्रेत्यादि । पारिपात्रपर्वतप्रभवा या नद्यः पूर्वसमुद्रगा याश्च  
विन्ध्यपर्वतप्रभवाः सह्यपर्वतप्रभवा नद्यस्ताः शिरोरोगादीनां हेतुरिति । याः

नोपत्यकाप्रभवाः ; यतः, अधित्यकाप्रभवास्वेव पाषाणविच्छिन्नत्वादि, अतः, सुश्रुते यदुक्तम्—  
“हिमवत्प्रभवा हृद्रोगादीन् जनयन्ति,” तदुपत्यकाप्रभवाभिप्रायेणेति न विरोधः ; यत् तु, अन्य-  
त्रोक्तं—“मलयप्रभवाः क्रिमीन् जनयन्ति” तदपाषाणसिकतावाहिन्यभिप्रायेण, इह “पाषाण-  
सिकतावाहिनदीष्वमृतोपमम्” इति न विरोधः ; यत् तु, पारिपात्रभवाणां शिरोरोगादिकर्तृत्वम्,  
तत् पारिपात्रदरीभवनदीजलाभिप्रायेण, सुश्रुते तु पारिपात्रतद्वागभवनदीजलाभिप्रायेणोक्तम्—

बहुधा \* कीटसर्पाखु-मलसंदूषितोदकाः ।

वर्षाजलवहा नद्यः सर्वदोषसमीरणाः ॥ ३८ ॥

वापीकूपतडागोत्स-सरःप्रस्रवणादिषु ।

आनूपधन्वशैलानां गुणदोषैर्विभावयेत् ॥

पारिपात्रभवा न पूर्वसमुद्रगास्ताः पथ्या बलारोग्यकाय्ये इत्युक्तं सुश्रुते—  
विन्ध्यभवाश्च सर्व्वान् नद्यः कुष्ठं पाण्डुरोगश्च जनयन्ति, सङ्घभवास्तु कुष्ठं  
जनयन्ति, महेन्द्रप्रभवाः श्लेष्मदोदराणि जनयन्तीति प्रायिकत्वाभिप्रायेण  
सुश्रुतेनोक्तम् । बहुधेत्यादि । बहुधा कीटादिदूषितोदका नद्यस्तथा वर्षा-  
काले जलवहा नद्यः सर्व्वदोषसमीरणाः ॥ ३८ ॥

गङ्गाधरः—वापीत्यादि । वापी दीर्घिका पुष्करिणी च । कूपः प्रसिद्धः ।  
तडागस्तटादागच्छति पर्व्वतव्यतिरिक्ततटादिस्थलप्रभवः सर्व्वो जलाशयः ।  
स पुनरुच्चदेशात् पतज्जलवेगेन जातः । सरो देवखातम् । प्रस्रवणं निर्झरः ।  
आदिपदेन उद्भिदचुण्डविकिरकेदारनदीनदादीनां यज्जलम् । तथानूपधन्व-  
देशचन्द्रकान्तादिमणिशैलानां जलाशयेषु यज्जलं तद्गुणदोषैस्तत्तद्देशस्य  
गुणदोषैर्विभावयेत् । सुश्रुते चोक्तम्—वातश्लेष्महरं वाप्यं सक्षारं कटु

“पारिपात्रभवाः पथ्याः” इति ; तदुक्तम् विश्वामित्रेण—“तडागजं दरीजञ्च तडागाद् यत्  
सरिजलम् । बलारोग्यकरं तत् स्याद् दरीजं दोषलं मतम्” ॥ प्रायोग्रहणात् “पूर्व्वसमुद्रगाः” इति,  
पूर्व्वसमुद्रगमनेऽपि गाङ्गं पथ्यं भवति, किंवा, यथोक्तलक्षणहिमालयभवत्वादेव गाङ्गं पथ्यम् ;  
पारिपात्रादयः पर्व्वताः स्वनामप्रसिद्धाः । वर्षासु जलं वहन्तीति वर्षाजलवहाः, यदुक्तमग्रयाधिकारे—  
“वर्षानादेयसमुद्रकानाम्” इति, तस्येहापथ्यत्वे उपपत्तिवर्णनमिति न पौनरुक्त्यम् । प्रस्रवणादिष्विति  
जलमिति शेषः, वाप्यादयोऽनूपदेशधन्वदेशहिमालयादिपर्व्वतादिषु भवन्त्यतश्चानूपादि-  
जलगुणैरेव तद्गुणनिर्देशः कर्त्तव्यः । पश्चिमाभिमुखनदीजलपूर्व्वोभिमुखनदीजलानूपजलखधन्व-  
जलपर्व्वतजलगुणाश्चोक्ता एव, तेन, तद्गुणातिदेशो वाप्यादिषु बोद्धव्यः, उक्तञ्च हारीतेन—आनूप-  
देशे यद् वारि गुरु तत् श्लेष्मवर्द्धनम् । विपरीतमतो मुख्यं जाङ्गलं लघु चोच्यते ॥”  
सुश्रुतेऽपि वाप्यादीनां पृथगेवोक्ता गुणाः । स चेह कूपादीनां संस्कारादिः प्रत्यक्षदृष्टो ग्रन्थ-  
विस्तरभयाच्चेति एवेति मन्तव्यम् । वापी इष्टकादिबद्धतीर्था दीर्घिका, कूपः प्रसिद्धः, तटात्  
आगो गतिर्यस्य स तडागः, स पुनरुच्चदेशादागच्छजलबन्धनाद् भवति, अन्ये तु पुष्करिणीं तडागम्  
आहुः ; उक्ता निम्नादुत्तिष्ठजलस्थानम् ; सरो दिव्यखातं पुरुषन्यापारं विना, तत् पुनः पम्पादि ;

पिच्छिलं क्रिमिलं क्लिन्नं पर्णश वातकर्मैः ।

विवर्णं विरसं सान्द्रं दुर्गन्धि न हितं जलम् ॥

पित्तलम् । सक्षारं पित्तलं कौषं श्लेष्मघ्नं दीपनं लघु । ताडागं वातलं स्वादु कषायं कटुपाकि च । तृष्णाघ्नं सारसं वल्यं कषायं मधुरं लघु । कफघ्नं दीपनं हृदयं लघु प्रस्रवणोद्भवम् । मधुरं पित्तशमनमविदाहौघिदं स्मृतम् । चौण्ड्यमग्निकरं रुक्षं मधुरं कटुकृन्नं च । वैकिरं कटु सक्षारं श्लेष्मघ्नं लघु दीपनम् । कैदारं मधुरं प्रोक्तं विपाके गुरु दोषलम् । तद्वत् पाल्वलमुद्दिष्टं विशेषाद् दोषलन्तु तत् । नादेयं वातलं रुक्षं दीपनं लघु लेखनम् । नदेऽभिष्यन्दि मधुरं सान्द्रं गुरु कषावहम् । अनेकदोषमानूपं वाय्वभिष्यन्दि गहितम् । एभिर्दोषैरसंयुक्तं निरवद्यन्तु जाङ्गलम् । पाके विदाहि तृष्णाघ्नं प्रशस्तं प्रीतिवर्द्धनम् । दीपनं स्वादु शीतञ्च तोयं साधारणं लघु । रक्षोघ्नं शीतलं हृदि ज्वरदाहविषापहम् । चन्द्रकान्तोद्भवं वारि पित्तघ्नं विमलं स्मृतम् । मूर्च्छापित्तौष्ण्यदाहेषु विषे रक्तं मदात्यये । भ्रम-  
कमपरीतेषु तमके वमथौ तथा । ऊढुगे रक्तपित्ते च शीतमम्भः प्रशस्यते । पाण्डुशूले प्रतिश्याये वातरोगे गलग्रहे । आध्माते स्तिमिते कोष्ठे सद्यः शुद्धे नवज्वरे । हिकायां स्नेहपीते च शीताम्बु परिवज्जयेत् । कफमेदो-  
ऽनिलामघ्नं दीपनं वस्तिशोधनम् । श्वासकासज्वरहरं पथ्यमुष्णोदकं सदा । यत् काथ्यमानं निर्व्वेगं निष्फेनं निर्म्मलं लघु । चतुर्भागावशेषन्तु तत् तोयं गुणवत् स्मृतम् । न च पय्युषितं देयं कदाचिद् वारि जानता । अम्लीभूतं कफोत्क्लेशि न हितं तत् पिपासवे । मद्यपानात् समुद्भूते रोगे पित्तोत्थिते तथा । सन्निपातसमुत्थे च शृतशीतं प्रशस्यते । शृतशीतं जलं शस्तं तृष्णाच्छद्भिभ्रमेषु च । अरोचके प्रतिश्याये प्रसेके श्वयथौ क्षये । मन्दाग्ना-  
वदरे कुष्ठे ज्वरे नेत्रामये तथा । व्रणे च मध्मेहे च पानीयं मन्दमाचरेत् । इति ।

पिच्छिलमित्यादि । क्रिमिलं कीटयुक्तं जलं, क्लिन्नं कर्ममादिक्लेदेन क्लेदयुक्तम् । इत्यादिदोषवत् जलं न हितं भवति । सुश्रुते च—कीटमूत्र-  
पुरीषाण्ड-शवकोथप्रदूषितम् । तृणपर्णैर्त्करयुतं कलुषं विषसंयुतम् । योज्जगाहेत प्रस्रवणो निर्झरः । अन्ये तु हृदधाराजलानीति पठन्ति, तत्र हृदो नदीस्थजलप्रदेशो गम्भीरो जलाशयः ; धारा तु पर्व्वतादेव जलधारारूपा पतन्ती ; आदिग्रहणात् केदारचुण्डादीनां ग्रहणम् ।



विस्त्रं त्रिदापं लवणमम्बु यद् वारुणालयम् ।

इत्यम्बुवगः प्रोक्तोऽयमष्टमः सुविनिश्चितः ॥ ३६ ॥

[ इत्यम्बुवर्गः । ८ । ]

वर्षाम्बु पिवेद्वापि नवं जलम् । स बाह्याभ्यन्तरान् रोगान् प्राप्नुयात् क्षिप्रमेव तु । इति । विस्त्रमित्यादि । वारुणालयं सामुद्रं यत् तोयं तद् विस्त्रं त्रिदोषं लवणञ्च न हितमिति । मुश्रुते च—सामुद्रमुदकं विस्त्रं लवणं सर्व्वदोषकृत् । इति । अत्र जलानां व्यापत्सम्पच्चानुक्ताप्युन्नेया । तद्यथा—सूश्रुते—तत्र यच्छैवालपङ्कहतृणपत्रपत्रप्रभृतिभिरवच्छन्नं शशिमूर्य्यकिरणानिलैर्नाभिजुष्टम् गन्धवणरसोपसृष्टञ्च तद्व्यापन्नमिति विद्यात् । तस्य स्पशंरूपरसगन्धवीर्य्यविपाकदोषाः षट् संभवन्ति । तत्र खरता पैच्छिल्यमौष्ण्यं दन्तग्राहिता च स्पशदोषाः । पङ्कसिकताशैवलबहुवर्णता रूपदोषाः । व्यक्तरसता रसदोषः । अनिष्टगन्धता गन्धदोषः । यदुपयुक्तं तृष्णागौरवशूलकफप्रसेकानापादयति स वीर्य्यदोषः । यदुपयुक्तं चिराद्विपच्यते विष्टृभ्नाति वा स विपाकदोषः । इति । त एते आन्तरीक्षे न सन्ति । व्यापन्नानामशिक्ष्यत्वं मूर्य्यातपतापनं तप्तायःपिण्डसिकतालोष्ट्राणां वा निर्व्वर्पापणं प्रसादनञ्च कर्त्तव्यम् । नागचम्पकोत्पलपाटलापुष्पप्रभृतिभिश्चाधिवासनमिति । तत्र सप्त कलुषस्य प्रसादनानि भवन्ति । तद् यथा—कतकगोमेदकविसग्रन्थिशवालमूलवस्त्राणि मुक्तामणिश्चेति । पञ्च निक्षेपणानि भवन्ति । तद् यथा—फलकं त्रष्टकं मुञ्जवलय उदकमश्विका शिख्यञ्चेति । सप्त शीतीकरणानि भवन्ति । प्रवातस्थापनमुदकप्रक्षेपणं यष्टिकाभ्रामणं व्यजनं वस्त्रोद्धरणं बालकाप्रक्षेपणं शिख्यावलम्बनञ्चेति । सौवर्णे राजते ताम्रे कांस्ये मणिमये तथा । पुष्पावर्तसे भौमे वा मुगन्धि सलिलं पिवेत् । व्यापन्नं वज्जेयेन्नित्यं तोयं यद् वाप्यनात्तवम् । दोषसञ्जननं हेतुतन्नाददीताहितन्तु तत् । व्यापन्नं सलिलं यस्तु पिवतीहाप्रसाधितम् । श्वयथुं प्राण्डुरोगञ्च त्वग्दोषमविपाकताम् । श्वासकासप्रतिश्याय-शूलगुल्मोदराणि च । अन्यान् वा विषमान् रोगान् प्राप्नुयात् क्षिप्रमेव च । दिवार्ककिरणैर्जुष्टं निशायामिन्दुरश्मिभिः । अरुक्षमनभिध्यन्दि तत् तुल्यं गगनाम्बुना । गगनाम्बु त्रिदोषघ्नं गृहीतं यत्

क्लृप्तं पर्णादिभिर्जुतं सदित्यर्थः, वरुणालये समुद्रे, विस्त्रमामगन्धि । सुविनिश्चित इति सर्व्वजलगुणकथनात् ॥ ३८३९ ॥

[ इत्यम्बुवर्गः । ८ । ]

स्वादु शीतं मृदु स्निग्धं वहलं श्लक्ष्णपिच्छिलम् ।

गुरु मन्दं प्रसन्नञ्च गठ्यं दशगुणं पयः ॥

मुभाजने । बल्यं रसायनं मेध्यं पात्रापेक्षि ततः परम् ॥ तत्र सर्वेषां भौमानां ग्रहणं प्रत्युपसि, तत्र ह्यमलत्वं शैत्यञ्चाधिकं भवति ; स एव चापां परो गुण इति । निगन्धमव्यक्तरसं तृष्णाघ्नं शुचि शीतलम् । अच्छं लघु च हृद्यञ्च तोयं गुणवदुच्यते ॥ इति । तथा । कालेन पक्वं निर्दोषमगस्त्येनाविषीकृतम् । हंसोदकमिति ख्यातं शारदं विमलं जलम् ॥ जन्तुकर्णं च । वर्षासु चरन्ति यनैः सहोरगा वियति कीदृशूताश्च । तद्विषजुष्टमपेयं खजलमगस्त्योदयात् पूर्वम् ॥ शुक्लागस्त्यत्रयोदश्यां भाद्रस्यान्ते शरदथ । अथ दत्ता त्रगस्त्याय गृहीयाद् गगनोदकम् ॥ इति । अत्र पानीयसाधम्म्यां जलत्वाच्च नारिकेलोद-जलगुणा उन्नेयाः । तद् यथा सूत्रे—स्निग्धं स्वादु हिमं हृद्यं दीपनं वस्ति-शोधनम् । वृष्यं पित्तपिपासाघ्नं नारिकेलोदकं गुरु ॥ इति । अन्यत्र च । नारिकेलोदकं वृष्यं स्वादु स्निग्धं हिमं गुरु । हृद्यं पित्तपिपासाघ्नं दीपनं वस्तिशोधनम् । नारिकेलजलं जीर्णं विष्टम्भि गुरु पित्तकुत् । बालकमुक-तोयञ्च तृष्णापित्तास्रजिद् गुरु । तालाम्बु पित्तजिच्छक्र-स्तन्यवृद्धिकरं गुरु ॥ इति । वर्गं समापयति—इत्यम्बुवर्गे इत्यादि ॥ ३९ ॥

इत्यष्टमोऽम्बुवर्गः । ८ । ]

गङ्गाधरः—अथ द्रवत्वसामान्याजीवनीयत्वादिसाधम्म्यां च जलानन्तरं तत्रोद्देशक्रमिकत्वाच्च क्षीरवर्गमारभते । तत्र पूर्वार्धाध्याये तूक्तम् ; अथ क्षीराणि वक्ष्यन्ते कम्मं चैषां गुणाश्च ये । अवीक्षीरमजाक्षीरं गोक्षीरं माहिषञ्च यत् । उष्ट्रीणामथ नागीनां वडवायास्तथा स्त्रियाः । प्रायशो मधुरं स्निग्धं शीतं स्तन्यं पयो मतम् । क्षीणनं वृंहणं वृष्यं मेध्यं बल्यं मनस्करम् । जीवनीयं श्रमहरं श्वासकासनिवर्हणम् । हन्ति शोणितपित्तञ्च सन्धानं विहतस्य च । सर्वप्राणिभृतां सात्म्यं शमनं शोधनं तथा । तृष्णाघ्नं दीपनीयञ्च श्रेष्ठं क्षीणक्षतेषु च । पाण्डुरोगेऽम्लपित्ते च शोषे गुल्मे तथोदरे । अतिसारे ज्वरे दाहे श्वयथौ च विशेषतः । योनिशुक्रप्रदोषेषु मूत्रेषु प्रदरेषु च । पुरीषे ग्रथिते पथ्यं वातपित्तविकारिणाम् । नस्यालेपावगाहेषु वमना-

चक्रपाणिः—जीवनीयसामान्याज्जलमनु क्षीरमुच्यते ; क्षीरजत्वाद् दध्यादय उच्यन्ते ; प्रसन्न-मिति निर्दोषम्, निर्दोषता तु प्रशस्तत्वेन गुण इत्युच्यते, किंवा, गुणानामसंख्येयत्वेन प्रसन्नत्वं

तदेवगुणमेवौजः सामान्यादभिवर्द्धयेत् ।

प्रवरं जीवनीयानां क्षीरमुक्तं रसायनम् ॥

महिषीणां गुरुतरं गव्याञ्छीततरं पयः ।

स्नेहानूयनमनिद्राणामत्यग्निभ्यो हितञ्च तत् ॥

स्थापनेषु च । विरेचने स्नेहने च पयः सर्वत्र युज्यते । यथाक्रमं क्षीरगुणा-  
नेकैकस्य पृथक् पृथक् । अन्नपानादिकेऽध्याये भूयो वक्ष्याम्यशेषतः ॥ इति ।

तदुद्दिष्टं खल्ववीक्षीरादिकं गुणतः कर्मतश्च पृथक् पृथक् वक्तुं प्राधान्यात्  
आदौ गोक्षीरमाह—स्वाद्वित्यादि । गव्यं पयः स्वादुत्वादित्येव गुणं, कर्मे  
चास्याह—तदेवमित्यादि । तद् दशगुणं गव्यं पय एवंगुणञ्च स्वादुत्वादि-  
दशगुणमोजश्च सामान्याद् गुणसाम्यादभिवर्द्धयेत् । जीवनीयानां मध्ये प्रवरं  
जीवनीयं क्षीरं पूर्वमुक्तं रसायनञ्च । इति । सुश्रुते च—गव्यमाजं तथा  
चौष्ट्रमाविकं माहिषञ्च यत् । अश्वायाञ्चैव नार्याश्च करेणूनाञ्च यत् पयः ।  
तत् खनेकौषधिरस-प्रसादं प्राणदं गुरु । मधुरं पिच्छिलं शीतं स्निग्धं शीतं सरं  
मृदु । सर्वप्राणभृतां तस्मात् सात्मां क्षीरमिहोच्यते । तत्र सर्वमेव क्षीरं प्राणि-  
नाम् अप्रतिषिद्धं जातिसात्मायात् । वातपित्तशोणितमानसविकारेष्वविरुद्धं जीर्ण-  
ज्वर-कासश्वासशोषक्षयगुल्मोन्मादोदरमूर्च्छा-भ्रममददाहपिपासा-हृद्दृष्टि-पाण्डु-  
रोग-ग्रहणीदोषार्शः-शूलोदावर्त्तान्तिसारप्रवाहिकायोनिरोगगर्भस्रावरक्तपित्तश्रम-  
रूपमहरं पाप्मापहं बल्यं वृष्यं वाजीकरणं रसायनं मेध्यं सन्धानमास्थापनं  
वयःस्थापनमायुष्यं जीवनं वृंहणं वमनविरेचनञ्च तुल्यगुणत्वाच्चौजसो वर्द्धनम्  
इति बालवृद्धक्षतक्षीणानां क्षुद्रावायव्यायामकर्षितानाञ्च पथ्यतमम् । गोक्षीरम्  
अनभिष्यन्दि स्निग्धं गुरु रसायनम् । रक्तपित्तहरं शीतं मधुरं रसपाकयोः ।  
जीवनीयं तथा वात-पित्तघ्नं परमं स्मृतम् ॥ इति । यद्यपीह सर्वैदुग्धकर्म  
ओजसो वर्द्धनमुक्तम्, अत एव गव्यस्यापि तद्वचनं न विरुद्धमिति माहिषादि-  
ष्वप्यनुक्तमपि वक्तव्यमिति । महिषीणामिति । महिषीणां पयो गव्यात्  
पयसः शीततरं गुरुतरञ्च स्नेहानूयनञ्च तथा नष्टनिद्राणां हितं निद्राकरम्  
गुर्व्वाक्षपठितमपि गुण एवेति शेषम् । एवंगुणमेवेति स्वादादिदशगुणं ; सामान्यादिति  
सामान्यत्वात् । महिषीक्षीरगुणे स्नेहोन्मिति महिषीक्षीरं गव्यक्षीरात् स्नेहोन्मं, गौरवशैत्याभ्यान्तु  
तदधिकमिति केचिद् भ्रुवते, तन्न, प्रत्यक्षमेव हि महिषीक्षीरादधिकमेव घृतं दृश्यते, तथा, जम्बू-  
कणैऽप्युक्तम्,—“गुरु शीतं स्निग्धतरं माहिषमतिबल्यं वृंहणञ्चाग्रयम्” सुश्रुतेऽप्युक्तं “गव्यात्

रुक्षोष्णां क्षीरमुष्ट्रीणामीषत् सलवणं लघु ।  
 शस्तं वातकफानाह-क्रिमिशोफोदरार्शसाम् ॥  
 वलयं स्थैर्यकरं सर्वमुष्णमेकशफं पयः ।  
 साम्लं सलवणं रुक्षं शाखावातहरं लघु ॥  
 छागं कषायमधुरं शीतं ग्राहि पयो लघु ।  
 रक्तपित्तातिसारघ्नं ज्वकासज्वरापहम् ॥

अत्यग्निभ्यश्च हितं तत् । सुश्रुते च—महाभिष्यन्दि मधुरं माहिषं वह्निनाशनम् ।  
 निद्राकरं शीततरं गव्यात् स्निग्धतरं गुरु ॥ इति । रुक्षोष्णमित्यादि । उष्ट्रीणां  
 क्षीरं रुक्षोष्णमीषत्सलवणं मधुरं लघु च । वातकफादीनां शस्तम् । सुश्रुते  
 च—रुक्षोष्णं लवणं किञ्चिदौष्ट्रं स्वादुरसं लघु । शोफगुल्मोदरार्शोघ्नं  
 क्रिमिकुष्ठविषापहम् ॥ इति । वलयमित्यादि । ऐकशफमेकशफानामज्वादीना-  
 मेकखुराणां सर्वासां पय इति सर्वमिति विशेषणेन ख्यापितम् । यद्यप्युद्देशे  
 बड़वाया इत्युक्तं तथापि च सामान्याद् गुणवचने अधिकत्वदोषो न भवतीति ।  
 उष्णमिति गव्यादिक्षीरापेक्षया । साम्लं सलवणं मधुरमेव सामान्यवचनात् ।  
 रुक्षश्च गव्यादिक्षीरापेक्षया न तु निःस्नेहम् । शाखावातहरं रक्तादिधातु-  
 गतवातहरं, लघु गव्याद्यपेक्षया । इति । सुश्रुते—उष्णञ्चैकशफं वलयं  
 शाखावातहर पयः । मधुराम्लरसं रुक्षं लवणानुरसं लघु ॥ इति । छाग-  
 मित्यादि । छागं पयः कषायमधुरादिगुणम् । सुश्रुते च—गव्यतुल्यगुणन्तार्जं  
 विशेषाञ्छोषिणां हितम् । दीपनं लघु संग्राहि ज्वासकासास्रपित्तनुत् ।  
 अजानामल्पकायत्वात् कटुतिक्तनिषेवणात् । नात्यम्बूपानात् व्यायामात्

स्निग्धतरम्' इति, तेन "स्नेहान्यूनम्" इति पाठः, तेन, स्नेहादधिकमित्यर्थः, किंवा,  
 'स्नेहान्यूनम्' इति स्नेहपूर्णमित्यर्थः । उष्ट्रीक्षीरादीनां सलवणत्वादि मधुरानुरसत्वेन बोद्धव्यम्,  
 मधुरस्तु रसः प्रधान एव, दीर्घजीवित्ये—“प्रायशो मधुरम्" इत्युक्तम्, न तु सर्वथा  
 मधुरमेव । ऐकशफमिति बड़वायाः ; केचित् तु सर्वशब्देन खरवेगसरयोरपि क्षीरस्यायं  
 गुण इत्यपि वदन्ति ; उष्णमिति क्षीरान्तरापेक्षया, तेन, सामान्यगुणे शीतत्वमुक्तमविरुद्धं  
 भवति, यतः लघूत्तमात् तिक्तरसाद् गुरुरपि कटुलंघुरेवोच्यते मधुराद्यपेक्षया, एवं शीततमात्  
 इतरक्षीरादुष्णमिति ; बड़वायाः क्षीरं शीतमेव मूत्राद्यपेक्षया भवति ; एवं रुक्षमित्येतदपि

हिक्राश्वासकरन्तूष्णं पित्तश्लेष्मलमाविकम् ।

हस्तिनीनां पयो वल्यं गुरु स्थैर्य्यकरं परम् ॥

जीवनं वृंहणं सात्म्यं स्नेहनं मानुषं पयः ।

नावनं रक्तपित्ते च तर्पणश्चान्निशूलिनाम् ॥ ४० ॥

सर्व्वव्याधिहरं पयः ॥ इति । हिक्रेत्यादि । आविकं मेषीदुग्धम् । सुश्रुते च—आविकं मधुरं स्निग्धं गुरु पित्तकफावहम् । पथ्यं केवलवातेषु कासे चानिलसम्भवे । इति । हस्तिनीनामित्यादि । हस्तिनीनां पयो वल्यादि-  
गुणम् । सुश्रुते च—हस्तिन्या मधुरं वृष्यं कषायानुरसं गुरु । स्निग्धं स्थैर्य्यकरं शीतं चक्षुष्यं बलवर्द्धनम् ॥ इति । जीवनमित्यादि । मानुषं पयो जीवनादिगुणं रक्तपित्ते नावनं नस्यम् । अक्षिशूलिनां नेत्रे तर्पणम् । सुश्रुते—नाय्यास्तु मधुरं स्तन्यं कषायानुरसं हिमम् । नस्याश्च्योतनयोः पथ्यं जीवनं लघु दीपनम् ॥ इति । इत्यष्टु क्षीराण्युत्तवा कालविशेषे गृहीतानां तेषां गुणानाह, सुश्रुते—प्रायः प्राभातिकं क्षीरं गुरु विष्टम्भि शीतलम् । रात्रौ सोमगुणत्वाच्च व्यायामाभावतस्तथा । दिवाकराभितप्तानां व्यायामानिलसेवनात् । वातानुलोमि श्रान्तिघ्नं चक्षुष्यञ्चापराह्निकम् । पयोऽभिव्यन्दि गुर्व्वामं प्रायशः परिकीर्त्तितम् । तदेवोक्तं लघुतरमनभिव्यन्दि वै शृतम् । वज्जैयित्वा स्त्रियाः स्तन्यमाममेव हि तद्धितम् । धारोष्णं गुणवत् क्षीरं विपरीतमतोज्ञयथा । तदेवातिशृतं सर्व्व गुरु वृंहणमुच्यते । अनिष्टगन्धमम्लञ्च विवर्णं विरसञ्च यत् । वज्जैः सलवणं क्षीरं यच्च विग्रथितं भवेत् । इति । अन्यत्र च । गवां प्रत्यूषसि क्षीरं गुरु विष्टम्भि दुज्जरम् । तस्मादभ्युदिते मूर्य्ये यामं यामार्द्धमेव वा । समुत्तीर्य्य पयो ग्राह्यं तत् पथ्यं दीपनं लघु । विवत्सावालवत्सानां पयो दोषलमीरितम् । शस्तं वत्सैकवर्णाया धवलीकृष्णयोरपि । उक्ष्वादा मापपर्णादा ऊर्द्धशृङ्गी च या भवेत् । तासां गवां हितं क्षीरं शृतं वाऽशृतमेव वा । क्षीरं पय्युषितं सर्व्वं गुरु विष्टम्भि दुज्जरम् । प्रायोऽभिव्यन्दि गुर्व्वामं शृतोष्णं कफवातजित् । शृतशीतञ्च पित्तघ्नं धारोष्णममृतं पयः । इति ॥ ४० ॥

व्याख्येयम् । यद्यपि च हस्तिक्षीरादीनि शास्त्रे प्रयोगेषु नोक्तानि तथापि कथितगुणं बुद्ध्वा तत्र तत्र प्रयोज्यानि ॥ ४० ॥

रोचनं दीपनं वृष्यं स्नेहनं बलवर्द्धनम् ।

पाकेऽम्लमुष्णं वातघ्नं मङ्गल्यं बृंहणं दधि ॥

पीनसे चानिसारे च शीतके विषमज्वरे ।

अरुचौ मूत्रकृच्छ्रे च कार्यं च दधि शस्यते ॥

गङ्गाधरः—उत्पृक्षीरमुक्त्वा तद्विकारमाह—रोचनमित्यादि । सर्वेषां क्षीराणां सुजातं सर्वं दधि रोचनादिगुणम् । सत्यपि रुचिमत्त्वे पुरुषेभ्योऽभ्यव-  
ह्रियमाणं रोचयतीति रोचनमरुचौ च रोगे शस्यते । उष्णवीर्यत्वात् स्नेहन-  
त्वाच्च वातघ्नं तस्मात् पीनमादौ शस्यते । मुश्रुते च—दधि तु मधुरमम्लमन्यम्ल-  
ज्वेति । तत् कषायानुरसं स्निग्धमुष्णं पीनसविषमज्वरातिसारारोचकमूत्र-  
कृच्छ्रकार्श्यापहं वृष्यं प्राणकरं मङ्गल्यञ्च । महाभिष्यन्दि मधुरं कफमेदो-  
विवर्द्धनम् । कफपित्तकृदम्लं स्यादन्यम्लं रक्तदूषणम् ॥ स्निग्धं विपाके  
मधुरं दीपनं बलवर्द्धनम् । वातापहं पवित्रञ्च दधि गव्यं रुचिप्रदम् ॥ दध्याजं  
रक्तपित्तघ्नं लघु वातक्षयापहम् । दुर्नामश्वासकासेषु हितमग्नेः प्रदीपनम् ॥  
विपाके मधुरं वृष्यं वातपित्तप्रसादनम् । बलासवर्द्धनं स्निग्धं विशेषाद्  
दधि माहिषम् ॥ विपाके कटु सक्षारं गुरु भेद्यौष्टिकं दधि । वातमर्शांसि  
कुष्ठानि क्रिपीन् हन्त्युदराणि च ॥ कोपनं कफवातानां दुर्नाम्नाश्चाविकं  
दधि । रसे पाके च मधुरमत्यभिष्यन्दि दोषलम् ॥ दीपनीयमचक्षुष्यं वाङ्म-  
दधि वातलम् । रुक्षमुष्णं कषायञ्च कफमूत्रापहञ्च तत् ॥ स्निग्धं विपाके  
मधुरं बल्यं सन्तपणं गुरु । चक्षुष्यमन्यं दोषघ्नं दधि नाय्या गुणोत्तरम् ॥  
लघु पाके बलासघ्नं वीर्यौष्णं पक्तिनाशनम् । कषायानुरसं नाय्या दधि  
वर्चोविवर्द्धनम् ॥ दधीन्युक्तानि यानीह गव्यादीनि पृथक् पृथक् । विज्ञेयमेषु  
सर्वेषु गव्यमेव गुणोत्तरम् ॥ वातघ्नं कफकृत् स्निग्धं बृंहणं न च पित्तकृत् ।  
कुष्ठर्याद् भक्ताभिलाषञ्च दधि यत् सपरिसृतम् ॥ श्रुतात् क्षीरात् तु यज्जातं  
गुणवद् दधि तत् स्मृतम् । वातपित्तहरं रुच्यं धातुबलवर्द्धनम् ॥ इति ।

चक्रपाणिः—दधिगुणमाह—रोचनमित्यादि । अत्र रोचनमित्युक्तुपि “अरुचौ” इति  
वचनमरुचिहरत्वेन, रोचनता तूपयोगकाल एव वास्तवरुचिकरत्वेनोक्ता । बृंहणमिति रोगादि-  
कृशस्य बृंहणम्, कार्श्यं चेति सहजकार्श्यं शस्यते इति बोद्धव्यम्, तेन न पीनरुक्तम् । पीनसे  
चतुर्विधेऽपि प्रभावाद्वितम्, किंवा, पीनसपाचकत्वात् सर्वत्र हितम् ; यच्च—वृष्यशीत-

स्मृतिवृद्धाग्निशुक्रौजः-कफमेदोविवर्धनम् ।

वातपित्तविषोन्माद-शोषालक्ष्मीज्वरापहम् ॥ ४३ ॥

सर्वस्नेहोत्तमं शीतं मधुरं रसपाकयोः ।

सहस्रवीर्यं विधिवद् घृतं कम्मसहस्रकृत् ॥

मदापस्मारमृच्छाय-शोषोन्मादगरज्वरान् ।

अलक्ष्मीदोषापहं प्रभावान् । द्विविधमेतत् किञ्चिदल्पान्तरगुणं दध्युत्थं क्षीरो-  
न्यञ्च । तदुक्तं सुश्रुते—नवनीतं पुनः सद्यस्कं लघु सुकुमारं मधुरं  
कषायमीषदम्लं शीतलं मेध्यं दीपनं हृद्यं संग्राहि पित्तानिलहरं वृष्यम्  
अविदाहि क्षयकासश्वासत्रणार्शोऽदितापहं गुरु कफमेदोविवर्द्धनं बलकरं वृंहणं  
शोषघ्नं विशेषतो बालानां प्रशस्यते । क्षीरोत्थं पुनर्नवनीतमुत्कृष्टस्नेहं  
माधुर्ययुक्तमतिशीतं सौकुमार्यकरं चक्षुष्यं संग्राहि रक्तपित्तनेत्ररोगहरं प्रसा-  
दनञ्च । इति ॥ ४३ ॥

**गुणाधरः**—गोरसत्वाद् घृतमाह । सर्वस्नेहोत्तममित्यादि । घृतं सामान्यत  
एतदगव्यादि सर्वं सर्वेषु स्थावरजङ्गमेषु स्नेहेषु तमं विधिवत् तत्तद्वाधिहरदोष-  
हरौषधिर्मस्कृतं सहस्रमसहस्रवीर्यं भवत् कम्मसहस्रकृद् भवति । शुद्धन्तु जीर्णं  
पुरातनं घृतं मदापस्मारादीन् रोगानपोहति । जीर्णं वक्ष्यते चोन्माद-  
चिकित्सिते—उग्रगन्धं पुराणं स्याद् दशवर्षस्थित घृतम् । लाक्षारससमं  
शीतं प्रपुराणमतः परम् ॥ इति । संवत्सरानीनमपि जीर्णमुच्यते । तथा चोक्तं  
हारीतेन—यथा यथा जरां याति गुणवत् स्यात् तथा तथा । इति । तथा  
कौम्मं सर्पिः शताब्दिकमिति । सुश्रुते च—घृतन्तु सौम्यं शीतवीर्यं मृदु  
मधुरमल्पाभिप्यन्दि स्नेहनमुदावर्त्तान्मादापस्मारशूलज्वरानाह-वातपित्तप्रशमनम्  
अग्निदीपनं स्मृतिमतिमेधाकान्तिस्वरलावण्यसौन्दर्यौ जस्तेजोबलकरमायुष्यं  
नवनीतगुणः । नवोद्धृतं सद्यस्कं, नवोद्धृतमिति वचनादभिनवस्यैव नवनीतस्य यथोक्तगुणाः  
प्रकर्षवन्तो भवन्तीति, पुराणस्य तु नैते बलवन्तो गुणा भवन्तीति ॥ ४२।४३ ॥

**चक्रपाणिः**—उत्पादक्रमागतस्य घृतस्य गुणमाह—स्मृतीत्यादि ।—सहस्रवीर्यमिति भूरि-  
शक्तिम् ; कथं सहस्रवीर्यमित्याह—विधिवदिति, विधिवद् विधियुक्तं सदित्यर्थः, विधिश्च  
नानाकर्मकारिभिर्द्रव्यैः संस्कारः संयोगश्च अत एवोक्तम्—“नान्यः स्नेहस्तथा कश्चित् संस्कार-  
मनुवर्त्तते”, तथा तन्त्रान्तरे ‘घृतं योगवाहि’ इति, तस्मात् सहस्रवीर्यतः कम्मसहस्रकृदिति  
योज्यम् ; यत तु सुश्रुतटीकाकृतः सुश्रुतोक्तघृतगुणेषु त्रिदोषापकर्षणमिति पठन्ति, तत्संस्कारेण

योनिकणशिरःशूलं घृतं जीर्णमपोहति ।

सर्पिण्यजावमहिषी-क्षीरवत् स्वादु \* निदिशेत् ॥ ४४ ॥

वृष्यं मेध्यं वयःस्थापनं गुरु चक्षुष्यं ज्येष्ठाभिवर्द्धनं पाप्माक्ष्मीप्रशमनं विषहरं रक्षोघ्नञ्च । क्षीरघृतं पुनः संग्राहि रक्तपित्तभ्रममूर्च्छाप्रशमनं नेत्ररोगहितञ्च । सर्पिः पुराणं सरं कटुविपाकं त्रिदोषापहं मूर्च्छामिदङ्गमादोदरज्वरगर्गशोफाप-  
स्मारग्योनिश्रोत्राभिभृत्घ्नं दीपनं वस्तिनस्याक्षिपूरणेषूपदिश्यते । भवन्ति चात्र । पुराणं तिमिरश्वास-पीनसञ्चरकासनुत् । मूर्च्छाकुष्ठविषोन्माद-ग्रहाप-  
स्मारनाशनम् । एकादशशतञ्चैव वत्सरानुपितं घृतम् । रक्षोघ्नं कुम्भसर्पिः स्यात् परतस्तु महाघृतम् । पेयं महाघृतं भूतैः कफघ्नं पवनाधिकैः । वल्यं पवित्रं मेध्यञ्च विशेषात् तिमिरापहम् । सर्व्वभूतहरञ्चैव घृतमेतत् प्रशस्यते ॥ इति ।

ननु दध्यादिकं सर्व्वं क्षीरविकारमृतं क्षीगन्त्वष्टविधमुक्तं पृथग्गुणं दध्यादिकन्तु किं न पृथग्गुणं भवतीत्यत आह—सर्पिणीत्यादि । सर्पिणि उति बहुवचनात् दधितक्रनवनीतघृतानीति अजावीमहिषीतिपदत्रयोपादानात् पूर्व्वोक्ताष्टया क्षीरयोनिः ख्यापिता । गव्याद्यष्टविधक्षीरवत् तत्तत्क्षीरसम्भव-  
दधितक्रनवनीतघृतेषु स्वादु स्वादादिकं निदिशेत् । तदुक्तं पृथग्घृतगुणादिकं सूत्र्युते—विपाके मधुरं शीतं वातपित्तविषापहम् । चक्षुष्यमग्न्यं वल्यञ्च गव्यं सर्पिर्गुणोत्तरम् ॥ आजं घृतं दीपनीयं चक्षुष्यं वल्यवर्द्धनम् । कामे श्वासे क्षये चापि पथ्यं पाके च तल्लघु ॥ मधुरं रक्तपित्तघ्नं गुरु पाके कफावहम् । वातपित्तप्रशमनं सुशीतं माहिषं घृतम् ॥ औष्ट्रं कटुरसं पाके शोफक्रिमि-  
विषापहम् । दीपनं कफवातघ्नं कुष्ठगुल्मोदरापहम् ॥ पाके लघ्वाविकं सर्पिर्न च पित्तप्रकोपणम् । कफेऽनिले योनिदोषे शोफे कम्पे च तद्धितम् । पाके लघूष्णवीर्य्यञ्च कषायं कफनाशनम् । दीपनं वद्धमूत्रञ्च विद्यादैकशफ घृतम् ॥ चक्षुष्यमग्न्यं स्त्रीणान्तु सर्पिः स्यादमृतोपमम् । वृद्धिं करोति

कफहरणादिति ज्ञेयम् । मदेत्यादि ।—जीर्णन्तु दशवर्षातीतम्, वचनं हि—“पुराणं दशवर्षं स्यात् प्रपुराणमतः परम्” इति ; यथा यथा च जीर्णत्वप्रकर्षः तथा तथा गुणोत्कर्षो ज्ञेयः, उक्तं हि हारीते—“यथा यथा जरां याति गुणवत् स्यात् तथा तथा” इति । अनुक्तसर्पिर्गुणानतिदिशति सर्पिणीत्यादि ।—सर्पिणि स्वानीति सम्बन्धः, तेन अजाक्षीरवदजासर्पिर्निदिशेदिति, एवं



पीयूषो मोरदञ्जैव किलाटा विविधाश्च ये ।  
 दीप्ताग्नीनामनिद्राणां सञ्च एव सुखप्रदाः ।  
 गुरुवस्तपणा वृष्या वृंहणाः पवनापहाः ॥  
 विशदा गुरवो रुक्षा ग्राहिणस्तक्रपिण्डकाः ।  
 गार्ग्यनामयं वर्गो नवमः परिकीर्तितः ॥ ४५ ॥

इति दुग्धवर्गः । ९ ।

देवाग्नौलघूपाकं त्रिपादम् ॥ कपायं बद्धविष्मूत्रं तिलमशिकरं लघु । हन्ति  
 काण्ठेनैवं सर्पिः कफकुष्ठविपक्रिपीन ॥ इति ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः—पीयूष इत्यादि । क्षीरं मद्यः प्रसूतायाः पीयूषमिति संज्ञितम् ।  
 समरात्रान् परं क्षीरमप्रसूतञ्च मोरदम् । किलाटा इति नष्टक्षीरपिण्डा इति  
 कथितं तत्र तक्रपिण्डकास्तन्तर्भावान् । तर्हि किलाटा घनावचित्तदुग्धकृताः  
 क्षीरज्ञ इति ख्याताः । विविधा इत्युक्ताः । दुग्धस्य सरः घृतस्य मण्ड इत्यादयो  
 आपिताः । दीप्ताग्नीनां सुखप्रदा यतो गुरुव इत्यादिगुणाः । सुश्रुते च—गुरुः  
 किलाटोऽनिलदा पुंस्त्वनिद्राप्रदः स्मृतः । मधुरौ वृंहणौ वृष्यौ तद्वन्  
 पीयूषमोदौ । सन्तानिका पुनर्वान्तघ्नी तपणी बल्या वृष्या स्निग्धा  
 रुच्या मधुरा मधुरविपाका रक्तपित्तप्रसादनी गुर्वी च । इति ।  
 विशदा इत्यादि । तक्रपिण्डकास्तक्रकृच्चिका विशदादिगुणाः । सुश्रुते  
 च—ग्राहिणी वानला रुक्षा दुज्जरा तक्रकृच्चिका । तक्रालघुतरौ मण्डः  
 कृच्चिका दधितक्रजा । इति । अत्रैव तक्रपिण्डिकायां दधिकृच्चिका स्वतो  
 नष्टक्षीरपिण्डयोरन्तर्भावः । तन्ने पयसि तक्रस्य संयोगात् तक्रकृच्चिका ।  
 दध्ना सह पयः पक्वं सा भवेद् दधिकृच्चिका । सुश्रुते—सर्पिमण्डस्तु मधुरो  
 योनिश्चोत्राक्षिशिरसां भूलघ्नो वस्तिनस्याक्षिपूरणेऽपदिश्यते । विकल्प एष  
 दध्यादिः श्रेष्ठो गव्योऽभिवर्णितः । विकल्पानवशिष्टास्तु क्षीरवीर्यात् समा-

शेषयोरपि वाच्यम् ; अनेन च न्यायेन हस्त्यादिसर्पिरपि बोद्धव्यम्, हस्त्यादिसर्पिर्व्यवहारा-  
 भावात् साक्षान्नोक्तम् ॥ ४४ ॥

चक्रपाणिः—पीयूषः सद्यः प्रसूतायाः क्षीरं । तदेव यावत् न परतोऽप्रसूततां याति,  
 नावन्मोरद इत्युच्यते । किलाटो नष्टक्षीरभागः । यं लोकाः क्षीरसामित्याहुः । विशद इत्यादि

वप्यः शीतः सरः स्निग्धो वृंहणो मधुरो रसः ।

श्लेष्मलो भक्षितेमेतोर्यान्त्रिकस्तु विदह्यते ।

शैत्यान् प्रमादन्मधुर्यान् पौण्ड्रकाद् वंशको वरः ॥४६॥

दिशेत् ॥ इति । वर्गं समापयति—गोरसानामित्यादि । गोरसानामिति प्राधान्यादुपलक्षणाद् गवादिगमानामयं नवमो वर्गः परिकीर्तितः ॥ ४५ ॥

[ इति नवमो गोरसवर्गः । १ । ]

**गङ्गाधरः**—क्रमिकत्वादिक्षुविकारकवगमाह । तत्र श्रेष्ठत्वाच्चित्तस्येशो रस-  
गुणमाह—वृष्य इत्यादि । भक्षितस्य दन्तचवित्तस्य पौण्ड्रकादिजानिविशेषेण  
परिशुद्धीतस्य सामान्यस्येशो रसो वृष्यादिगुणः । यान्त्रिकस्तु खलुडक्षोयेन्व-  
निष्पीडितो रसो विदह्यते । मुश्रुते च—उक्ष्वो मधुरा मधुरविपाका गुरवः  
शीताः स्निग्धा वल्या वृष्या मूत्रला रक्तपित्तप्रणमनाः क्रिमिकफकराश्चेति ।  
ते चानेकविधाः । तद् यथा—पौण्ड्रको भीरुकश्चैव वंशकः शतपौरकः । कान्तार-  
स्तापसेक्षुश्च काण्डेक्षुः मूचीपत्रकः । नेपालो दीघेपत्रश्च नीलपोरोऽथ कोशकृतः ।  
अन्येता जातयः स्थौल्यान् गुणान् वक्ष्याम्यतः परम् ॥ मुशीतो मधुरः स्निग्धो  
वृंहणः श्लेष्मलः सरः । अविदाही गुरुवृष्यः पौण्ड्रको भीरुकस्तथा ।  
आभ्यां तुल्यगुणः किञ्चित् सक्षारो वंशको मतः । वंशवच्छतपोरस्तु किञ्चिद्भूतः  
स वानहा । कान्तारतापसाविभू वंशकानुगुणौ मतौ । एवंगुणस्तु काण्डेक्षुः  
स तु वातप्रकोपणः । मूचीपत्रो नीलपोरो नेपालो दीघेपत्रकः । वातलाः  
कफपित्तघ्नाः सकपाया विदाहिनः । कोशकारो गुरुः शीतो रक्तपित्त-  
तकपिण्डगुणः, तकपिण्डस्तक्रृच्चिर्काया एव सुतद्रवो घनो भागः । गोरसानामित्यत्र ‘आदि’-  
शब्दो लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः, तेन, महिषीक्षीरादीनामपि ग्रहणम्, किंवा, प्राधान्यात् गोरस-  
निर्देशाद् गोरसतया गोरसनिष्पन्नाः सर्वे एव क्षीरदधितक्रादयो गृह्यन्ते, लोके हि सर्वेष्वेवैषु  
गोरससंज्ञा माधुर्यसामान्यात् ॥ ४५ ॥

[ इति गोरसवर्गः । १ । ]

**चक्रपाणिः**—इक्षुविकृतिप्रायो वर्ग उच्यते—भक्षितस्येति दन्तपीडितस्य ; यान्त्रिक इति  
यन्त्रपीडितः, विदाहश्चास्य प्रायश्शस्त्वगग्रन्थियुक्तस्य यन्त्रेण पीडनात्, तथा, कालान्तरमव-  
स्थानाच्च, वचनं हि—“त्वगग्रन्थिसंयोगात् यान्त्रिकस्तु विदह्यते” उक्तञ्च हारीते—“व्यापित्वान्  
सुकुमारो हि रसो यन्त्रनिपीडितः । सौक्ष्मात् सृष्टोऽनिलाकर्माभ्यां भृशं काये विदह्यते ॥” तत्र  
व्यापित्वादिति त्वगादियुक्तेषुकाण्डभवत्वाद्, यदुच्यते—विदाहित्वे यान्त्रिकस्य रक्तपित्तहन्तृत्व-  
मुक्तं विदह्यते, यथा—“मधूदकस्येशुरसस्य चैव पानाच्छमं गच्छति रक्तपित्तम् ।” तन्न, यतः,

प्रभूतक्रिमिमज्जासृङ्-मेदोमांसकरो गुडः ।  
 जुष्टो गुडश्चतुर्भागाद्धावशेषितः ।  
 रसो गुरुर्यथा पूर्वं धौतस्त्वल्पमलो गुडः ॥ ४७ ॥  
 ततो मत्स्यण्डिका खण्डः शर्करा विमला परम् ।  
 यथा यथेषां वमत्यं भवेच्छैत्यं तथा तथा ॥

क्षयापहः । अतीव मधुरो मूले मध्ये मधुर एव च । अग्रेष्वक्षिपु विज्ञेय  
 उक्षूणां लवणो रसः । अविदाही कफकरो वानपित्तनिवारणः । वक्त्रप्रह्लादनो  
 वृष्यो दन्तनिष्पीडितो रसः । गुरुर्विदाही विष्टम्भी यान्त्रिकस्तु प्रकीर्तितः ।  
 इति ॥ ४६ ॥

गङ्गाधरः—इक्षुरसविकारानाह—प्रभूतेत्यादि । गुड इति प्रसिद्धः । प्रभूत-  
 क्रिम्यादिकरः । पाकादतिसान्द्रत्वमापन्न इक्षुरसो गुडः । स च त्रिविधः  
 चतुर्थभागावशेषित इक्षुरसस्तु गुड उच्यते । त्रिभागावशेषित इक्षुरसः क्षुद्र  
 उच्यते । अर्द्धावशेषित इक्षुरसस्तुगुडः फाणितमित्युच्यते । तेषु यथापूर्वं  
 पूर्वः पूर्वो गुरुः । तत्राल्पमलः पाककालेऽथवोत्तरकाले मलापहरणेन यो गुडो-  
 ऽल्पमलः स्यात् स धौत इत्युच्यते । ततो धौताद्विमला मत्स्यण्डिका  
 नाम्नाभिधीयते । ततः पुनर्मत्स्यण्डिकातो विमलः खण्ड उच्यते । खण्डाद्विमला  
 शर्करा नामाभिधीयते । परं यथा यथा चेषां वमत्यं भवेत् तथा तथा शैत्यं  
 शीतगुणत्वमेषां भवेत् । सूश्रूते च—गुडः सक्षारमधुरो नातिशीतः स्निग्धो मूत्र-  
 रक्तशोधनो नातिपित्तजिघ्रानघ्रो मेदः क्रिमिकफकरो बल्यो वृष्यश्च । पित्तघ्नो

दन्तनिष्पीडितस्त्रैवाविदाहिनो रक्तपित्ते ग्रहणं भविष्यति, किंवा, यान्त्रिकोऽपि विदाहकारक-  
 त्वादिसंयोगस्य तथा कालान्तरावस्थानस्य च त्यागं कृत्वोपयोगः कर्त्तव्यः, “यान्त्रिकस्तु विदह्यते”  
 इतिवचनं प्रायोवादाभाश्रित्य बोद्धव्यम्; अन्ये तद्दोषभयाद् विदह्यत इति शीघ्रं पच्यत इति  
 व्याख्यानयन्ति ॥ ४६ ॥

चक्रपाणिः—प्रभूतक्रिम्यादिकारणत्वात् प्रभूतक्रिम्यादिकरो गुड उच्यते । क्षुद्रगुडस्तथा  
 चतुर्भागाद्धावशेषितः; रस इत्यत्र चकारलोपो द्रष्टव्यः, तेन, क्षुद्रगुडश्चतुर्भागाव-  
 शेषिताद्रसाद् गुरुस्तथा त्रिभागाच्चतुर्भागावशेषितो गुरुरित्यादि ज्ञेयम्; अत्र क्षुद्रगुडोऽसितगुड  
 इत्युच्यते; फाणितञ्च तन्तुलीभावाद् भवति । धौतः स्वल्पमल इति मलावशेषेण धौतेऽल्प-  
 मलो भवति, तेनाल्पक्रिम्यादि भवतीति भावः । तत इति धौतगुडात्; मत्स्यण्डिका खण्ड-

वृष्या जीणान्तहिता सस्नेहा गुडशर्करा ।

कषायमधुरा शीता सतिक्ता यासशर्करा ॥

रुक्षा च्छेदनीसाराग्नी च्छेदनी मधुशर्करा ।

तृष्णासृक्पित्तदाहेषु प्रशस्ताः सर्वशर्कराः ॥ ४८ ॥

मधुरः शुद्धो वातघ्नोऽसृक्प्रसादनः । स पुष्पाणोऽधिकगुणो गुडः पथ्यतमः स्मृतः ॥ ( पक्वो गुरुः सखः स्निग्धः स तीक्ष्णः कफवाननुत्, पाणिनं गुरु मधुरमभिष्यन्दि वृंहणमवृष्यं त्रिदोषकृच्च । ) मत्स्यण्डिकाः खण्डशर्करा विमल-जाता उत्तरोत्तरं शीताः स्निग्धा गुरुतरा मधुरतरा वृष्या रक्तपित्तप्रसादनाः तृष्णाप्रशमनाश्च । यथा यथैषां वैमल्यं मधुरत्वं तथा तथा । स्नेहगारव-शैत्यानि सरत्नश्च तथा तथा ॥ यो यो मत्स्यण्डिकाखण्डशर्कराणां स्वको गुणः । तेन तेनैव निर्देश्यस्तेषां विस्त्रावणो गुणः । सारस्थिता स्रविमला निक्षारा च यथा यथा । तथा तथा गुणवती विज्ञेया शर्करा वृष्यैः ॥ इति । अस्याः शर्कराया गुणमाह—वृष्येत्यादि । गुडशर्करा खण्डाक्षिप्तमला शर्करा यथा यथा निम्बमला तथा तथैव शैत्यादियुक्ता वृष्यादिगुणा भवति । खण्डगुण-श्चान्यत्रोक्तः, खण्डो वृष्यतमो बल्यश्चक्षुष्यो वृंहणस्तथा । शर्कराप्रसङ्गादपर-शर्करामाह—कषायेत्यादि । यासशर्करा दुरालभारसकृतशर्करा । सूत्रे च—यवासशर्करा मधुरकषाया तित्कानुरसा श्लेष्महरी सरा चेति । रुक्षेत्यादि । मधुशर्करा काले स्वत एव मधुनः शर्करा भवति, सा रक्षादिगुणा । सूत्रे च—मधुशर्करा पुनश्छेदनीसारहरी रुक्षा च्छेदनी प्रह्लादनी कषायमधुरा मधुरविपाका च । इति । सर्वासां शर्कराणामासां सामान्यतो गुणानाह—तृष्णासृगित्यादि । सर्वशर्करा गुडशर्करा यासशर्करा मधुशर्करा चेति । सूत्रे च—यावत्यः शर्कराः प्रोक्ताः सर्वा दाहप्रणाशनाः । रक्तपित्तप्रशमनाश्छेदि-मूर्च्छावृषापहाः । रुक्षं मधूकपुष्पोत्थं पाणिनं वातपित्तकृत् । कफघ्नं मधुरं पाके कषायं वस्तिदूषणम् ॥ इति ॥ ४७।४८ ॥

मध्ये पाकाद् घनीभूता मत्स्यण्डनिभा भवति ; विमलाः परमित्युत्तरोत्तरं विमलाः ; भवेच्छैत्यं तथा तथेति मत्स्यण्डिकायाश्च खण्डः शीततरः, ततश्च शर्करा शीततमेत्यर्थः ।

गुडशर्करेति यासमधुशर्करयोर्व्यवच्छेदार्थम् । यासशर्करा दुरालभाकाथकृता शर्करा । मधुशर्करा तु मधुमण्डेषु शर्करा भवति ॥ ४७।४८ ॥

माक्षिकं भ्रामरं क्षौद्रं पौत्तिकं मधुजातयः ।

माक्षिकं प्रवरं तेषां विशेषाद् भ्रामरं गुरु ॥

माक्षिकं तैलवर्णं स्याद् घृतवर्णं तु पौत्तिकम् ।

क्षौद्रं तु कपिलं वर्णं श्वेतं भ्रामरमुच्यते ॥

वातलं गुरु शीतञ्च रक्तपित्तकफापहम् ।

सन्धानं छेदनं रुक्षं कषायं मधुरं मधु ॥

गङ्गाधरः—मधुशर्कराप्रसङ्गादिह पुनर्मधुभेदादीनाह—माक्षिकमित्यादि । माक्षिकादयश्चतस्रो मधुजातयः । माक्षिकादिप्राणिसम्भवत्ताज्जाङ्गमत्ताच्चेहोप-  
दिष्टाच्छात्राध्यां दालदालानां स्थावरत्वादिह नोपदेशः कृतः । तत्र माक्षिकाः पिङ्गवर्णास्तत्कृतं मधु माक्षिकम् । भ्रमरास्तु बृहन्माक्षिका-  
स्तत्कृतं मधु भ्रामरम् । क्षुद्रा माक्षिकास्तत्कृतं मधु क्षौद्रम् । महत्यः पिङ्गलास्तु माक्षिकाः पुत्तिकास्तत्कृतं मधु पौत्तिकम् । तेषां मधूनां मध्ये माक्षिकं मधु प्रवरं, भ्रामरं तु विशेषाद् गुरु, सर्वेषां लघुत्वेऽपि तत्र भ्रामरस्य गुरुत्वम् । तेन क्षौद्रपौत्तिकयोर्मध्यगुरुत्वं ख्यापितम् । माक्षिकादीनां ज्ञानार्थं लक्षणान्याह—माक्षिकमित्यादि । तैलवर्णं तिलतैलवर्णं माक्षिकं, गव्यघृतवर्णं पौत्तिकं, कपिलवर्णं क्षौद्रं, श्वेतवर्णं भ्रामरमिति । एषां सामान्यतो गुणानाह—वातलमित्यादि । सर्वं मधु वात-  
लादिगुणं भवति । सुश्रुते चोक्तम्—मधु तु मधुरं कषायानुरसं रुक्षं शीतमग्नि-  
दीपनं वष्यं वल्यं लघु सुकुमारं लेखनं हृदयं सन्धानं शोधनं रोपणं वाजीकरणं संग्राहि चक्षुःप्रसादनं मृक्षममार्गानुसारि पित्तश्लेष्मभेदोमेहहृत्काष्ठासकासाति-  
सारञ्छद्दितृष्णाक्रमिविप्रशमनं ह्लादि त्रिदोषप्रशमनञ्च । तत् तु लघुत्वान् कफघ्नं पैच्छिल्यान्माधुर्यात् कषायभावाच्च वातपित्तघ्नम् । पौत्तिकं भ्रामरं क्षौद्रं माक्षिकं छात्रमेव च । आर्घ्यमौदालकं दालमित्यष्टौ मधुजातयः ॥ विशेषात् पौत्तिकं तेषु रुक्षोष्णं सविषयान्वयात् । वातासृक्पित्तकृच्छेदि विदाहि मदक्रन्मधु । पैच्छिल्यात् स्वादुभूयस्त्वाद् भ्रामरं गुरुमंजितम् । क्षौद्रं विशेषतो

चक्रपाणिः—मधुशर्कराप्रसङ्गेन मध्वभिधानम्—माक्षिका पिङ्गलाः, तद्वत् माक्षिकम् ; भ्रमरः प्रसिद्धः ; क्षुद्रमाक्षिकाभवं क्षौद्रम् ; पिङ्गलामक्षिका महत्यः पुत्तिकाः, तद्वत् पौत्तिकम् ; छात्रा-  
दयश्चत्वारो मधुभेदाः सुश्रुतोक्ताः सामान्यमधुगुणा एव ज्ञेयाः, किंवा, अप्रशस्तत्वादिह नोक्ताः ।

हन्यान्मधुपणमुष्णार्त्तमथवा सविषान्वयात् ।

गुरुमृक्तपायत्वाच्छैत्याच्चाल्पहितं मधु ॥

जेयं शीतलं लघु लेखनम् । तस्माल्लघुतरं रुक्षं माक्षिकं प्रवरं स्मृतम् ।  
 श्वासादिषु च रोगेषु प्रशस्तं तद् विशेषतः । स्वादुपाकं गुरु हिमं पिच्छलं  
 रक्तपित्तजित् । श्वित्रमेहक्रिमिहरं विद्याच्छात्रं गुणोत्तरम् । आघ्रां मध्वनि-  
 चक्षुष्यं कफपित्तहरं परम् । कपायं कटु पाके च बल्यं तिक्तमवातकृत् ।  
 औदालकं रुचिकरं स्वर्ग्यं कुष्ठविपाकहम् । कपायमुष्णमम्लञ्च पित्तकृत् कटुपाकि  
 च । छद्दिमेहप्रशमनं मधु रुक्षं दलोद्भवम् । इति । अन्यत्र चोक्तम्—कीत्त्रते  
 तन्मधु छात्रं वरटीच्छत्रमम्भवम् । तपोवने जरत्कारोराध्यं मधु तरुद्भवम् ।  
 औदालकन्तु बलमीक-कीटकारिविनिम्मितम् । दालमित्यभिनिदिष्टं वृक्ष-  
 कोटरकीटजम् । इति । अथ मधूपयोगानहमाह—हन्यादित्यादि । मधु शीत-  
 वीर्यमपि सविषान्वयान् सविषप्राणिसम्भूतत्वादुष्णविरोधि प्रकृत्यैवोष्णं  
 पुरुषमथवा स्वेदानपादिभिरुष्णान् पुरुषं सेवमानं हन्यात् । उष्णोष्णात्ताभ्याम्  
 अन्यत्र पुरुषे तु मधु गुरुत्वादित्यात् शैत्याच्चाल्पहितं भवति । सुश्रुते च—तत् तु  
 नानाद्रव्यरसगुणवीर्यविपाकविरुद्धानां पुष्परसानां सविषमक्षिकासम्भव-  
 त्वाच्चानुष्णोपचारम् । उष्णैर्विरुध्यते सर्वं विषान्वयनया मधु । उष्णात्तेमुष्णै  
 रुष्णे वा तन्निहन्ति यथा विषम् । तन् सौकुमार्याच्च तथैव शैत्यान्नानौषधीनां  
 रससम्भवाच्च । उष्णविरुध्येन विशेषतश्च तथान्तरीक्षेण जलेन चापि ॥ उष्णेन  
 मधु संयुक्तं वमनेष्ववचारितम् । अपाकादनवस्थानान्न विरुध्येत पूर्व्वेवत् ॥ इति ।

केचित् 'माक्षिकं तैलवर्णं स्याद्' इत्यादि श्लोकं पठन्ति । उष्णार्त्तमथवेति भाषया यथा उष्णं  
 मधु हन्यात्, न तथा उष्णार्त्तमिति सूचयति ; तत्रैव हेतुमाह—सविषान्वयादिति, सविषप्राणाणि  
 नानापुष्पाणि, किंवा, सविषा एव मक्षिकादयोऽन्वया उत्पत्तिस्थानानि यस्य तत् सविषान्वयं  
 मधु, तेन, सविषान्वयाद् विषानुगतस्योष्णविरोधित्वस्यैव मधुनोऽनुगमो भवति, न तु  
 सविषत्वस्य ; तथा सत्युष्णमपि मारकं स्यात्, किंवा, "अथवा" इति सविषान्वयादित्यनेन  
 सम्बध्यते, तेन, सविषान्वयादन्यतश्च शैत्यात् सौकुमार्याच्च उष्णेन मधु विरुध्यते इत्यर्थो  
 भवति, उक्तं हि हारीते—'नानापुष्पप्रकाराणां रससारात्मकं मधु । तच्छैत्यात् सौकुमार्याच्च  
 सर्व्वैरुष्णैर्विरुध्यते' ॥ सुश्रुतेऽप्युक्तम्—'तत् सौकुमार्याच्च तथैव शैत्याद्' इत्यादि ।  
 अल्पस्य मधुनो हितत्वे हेतुमाह—गुर्वित्यादि । गुरुत्वात् मध्वामकारकं भवति, रुक्षं कपायं  
 शैत्यन्तु महात्ययं वातकरमिति भावः ।

नातः कष्टतमं किञ्चिन्मध्वामं तद्धि मानदम् ।

उपक्रमविरोधित्वात् सद्यो हन्याद् यथा विषम् ॥

नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि परं मधु ।

इतीजुविकृतिप्रायो वर्गोऽयं दशमो मतः ॥ ४६ ॥

[ इतीजुवर्गः । १० । ]

नात इत्यादि । आममपक्व मधु यथा कष्टतममतः कष्टतमं न किञ्चिदाम-  
मस्ति । कस्मान् । तद्वीन्यादि । द्वि यस्मान् तदामं मधु उपक्रमविरोधि-  
त्वात् सद्यो यथा विषं हन्ति तथा सद्यो मानवं हन्ति । सर्व्वं ह्याममुष्णभेषज-  
नाभ्यं मधुनि तु तदुष्णं विरुद्धं नापयोक्तुं युज्यते इत्यत उपक्रमे चिकित्सा-  
ग्ने त्वाममधु पीतवत् उत्पत्तक्रिया विरुद्धा भवतीत्युपक्रमविरुद्धत्वम् । आमन्तु  
मधु तदुच्यते यन्मधुकोपेऽल्पकालमारव्यमम्लं भवति भूरिकाष्ठेन परिणतन्तु  
कषायात्तुमधुरं पक्वमुच्यते । तथाविधन्तु कोषाद् ग्रहणकाले परीक्षितव्यं  
कालान्तरे त्वम्लत्वेनामत्वाभावात् । उक्तञ्च सुश्रुते—दोषत्रयहरं पक्वमाममम्लं  
त्रिदोषघ्नम् । मध्वामान् परतस्तन्यदामं कष्टं न विद्यते । विरुद्धोपक्रमत्वात्  
तन् सर्व्वं हन्ति यथा विषम् ॥ इति । इहाममम्लमिति वचनेन तद्भ्रान्त-  
व्याख्यानं विज्ञायते येनोच्यतेऽग्निसम्पक्केण पक्वं मधु पक्वमन्यदाममिति,  
मधुनश्चोष्णविरोधित्वाच्च ।

मधुनो योगवाहित्वमाह—नानेत्यादि । मधु योगवाहि, येन सह युज्यते  
तदगुणमावहति । कस्मान् ? नानाद्रव्यात्मकत्वादिति । सुश्रुते चोक्तम्—  
तद्युक्तं विविधैर्यौर्गैर्निहन्यादामयान् बहून् । नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योग-  
वाहि परं मधु ॥ इति । वर्गं समावयति—इतीत्यादि । इति एष इजुविकृति-

मध्वामस्य महात्ययतामाह—नात इत्यादि । उपक्रमविरोधित्वं मध्वामे यथा—  
आमे तूष्णं पथ्यं, तन्मधुनो विरुद्धम्, यत् तु मधुहितं शीतम्, तदामे विरुद्धम् । मधुनो  
योगवाहित्वमाह—नानेत्यादि । यस्मान्नानारसादिवीर्य्यदिभ्यः पुष्पेभ्य उत्पन्नं तन्मधु, तेन  
अनभिव्यक्तनानाशक्तिकमेव ; ततश्च, येन द्रव्येण वामनीयेनास्थापनीयेन वा वृष्येण कार्यान्तर-  
कारकेण वा युज्यते, तस्यैव कर्म करोति समानानुकारिद्रव्यप्रबोधितशक्तित्वादिति भावः ;  
चक्रोऽत्र हेत्वन्तरत्तमुच्यते, तेन प्रभावाच्चेति बोद्धव्यम् ; तेन, सत्यपि नानौषधिसम्भवत्वे  
प्रभावात् न क्षीरमद्यादयो योगवाहिनः, तथा, अनानाम्का अपि शिलाजतुतैलादयो योगवाहिनो  
भवन्ति ; योगवाहित्वेऽपि मधु स्नेहेन न प्रयुज्यते, वाते रक्षादिगुणयुक्तत्वात् ; नानाद्रव्यात्मकत्वे-

क्षुत्पृष्णाग्लानिदोर्ध्वतय-क्षुत्तिरोगज्वरापहा ।

स्वेदाग्निजननी पेया वातवर्चोऽनुलोमनी ॥

तपणी ग्राहिणी लघ्वी हृद्या चापि विलेपिका ।

मण्डस्तु दीपयत्यग्निं वातश्चाप्यनुलोमयेत् ॥

प्राय इक्षुविकारः प्रायो यत्र वन स इक्षुविकारप्रायोऽयं दशमो वर्गो  
मन इति ॥ ४९ ॥

[ इति दशम इक्षुविकारको वर्गः । १० । ]

गङ्गाधरः—अथाहारार्थं शूकधान्यादीनि द्रव्याणि गुणतः कर्मतश्चोक्तवा  
शूकधान्यादीनि यथाकृतान्यन्नानि यद्गुणानि भवन्ति, तथाकृतानामन्नानां  
गुणकर्मणि वक्तुं कृतान्नवर्गमारभते । तत्रानुग्रहितत्वादादौ द्विविधेष्वन्नेषु  
यवाग्वोदनभेदेन भिन्नेषु यवागुणानाहः । त्रिविधा खलु यवा भवति पेया-  
विलेपी-मण्डभेदात् । यवागुचिताद् भक्ताच्चतुर्भागकृतां वदेत् । यवागु-  
स्त्रिविधा ज्ञेया द्रवसिक्थसमन्विता । सिक्थकै रहितो मण्डः पेया सिक्थ-  
समन्विता । यवागुबहुसिक्था तु विलेपी विरलद्रवा । अन्नं पञ्चगुणे साध्यं  
विलेपी च चतुर्गुणे । मण्डश्चतुर्दशगुणे यवागुः षड्गुणेऽम्भसि ।  
इति प्रसिद्धत्वात् तत्रादौ पेयागुणमाह—क्षुत्तुष्ट्यादि । पेया नाम  
यवाः क्षुदाद्यपहा स्वेदाग्निजननी वातवर्चोऽनुलोमनी च । सुश्रुते च—  
स्वेदाग्निजननी लघ्वी दीपनी वस्तिशोधनी । क्षुत्तुष्ट्रमग्लानिहरी पेया  
वातानुलोमनी ॥ इति । तपणीत्यादि । विलेपिका नाम यवागुः तपणीत्यादि-  
गुणा । सुश्रुते च—विलेपी तपणी हृद्या ग्राहिणी बलवर्द्धिनी । वृष्या स्वादु-  
रसा लघ्वी दीपनी क्षुत्तुष्ट्यापहा ॥ इति । मण्डस्त्रित्यादि । मण्डोऽग्निं

ऽपि मधु रक्षकषायभ्यां द्वाभ्यामेवाविर्भूतं स्यात्, प्रायेण रक्षकषायगुणाधिकानामेव मधु-  
मक्षिकाणाञ्च करणादिति बोद्धव्यम् ; अनेन न्यायेन, नानाद्रव्यात्मकत्वेन सर्वगुणता मधुनो  
निरस्ता भवति ; सुश्रुतेऽप्येवमेव योगवाहिः “तच्च नाना” इत्यादिना ग्रन्थेन मधुन उक्तम् ।  
इक्षुविकृतिप्राय इति इक्षुविकृतिप्रधानः, तेन, यासश्चर्करादिकथनमप्यग्राविरुद्धमिति  
भावः ॥ ४९ ॥

[ इतीक्षुवर्गः । १० । ]

चक्रपाणिः—सम्प्रति शूकधान्यादिवर्गैर्यथासम्भवं सम्पादितस्य कृतान्नस्य पेयादेर्गुणान्  
वक्तुं कृतान्नवर्ग उच्यते ; ते च पेयादीनां गुणाः केचित् संस्कारसंयोगादिजाः, केचित् प्राकृता  
अपि ज्ञेयाः ; न च वाच्यम्—पेयादीनामेव गुणेन बाधितत्वात् शूकधान्यादीनां पृथग्गुणो न



मृदूकरोति स्रोतांसि स्वेदं संजनयत्यपि ।  
 लङ्घितानां विरिक्तानां जीर्णं स्नेहे च तृप्यताम् ॥  
 दीपनत्वाद्बहुत्वाच्च मण्डः स्यात् प्राणधारणः ।  
 तृष्णातिसारशमनो धातुसाम्यकरः शिवः ॥  
 लाजमण्डोऽग्निजननो दाहमूर्च्छानिवाहणः ।  
 मन्दाग्निविषमाम्नीनां बालस्थविर्योदिताम् ॥  
 देयः स्यात् सुकुमाराणां लाजमण्डः सुसंस्कृतः ।  
 क्षुत्पिपासापहः \* पथ्यः शुद्धान्तु मलापहः ॥  
 श्रुतः पिप्पलीशुण्ठीभ्यां युक्तो लाजोऽम्लदाडिमैः । †

दीपयतीत्यादिकर्मा लङ्घितादीनां दीपनत्वादिधर्मेण प्राणधारणः । एवं  
 तृष्णातिसारशमनः धातुसाम्यकरः शिवश्च । सुश्रुते च—हृद्यः सन्तर्पणो वृष्यो-  
 वृंहणो बलवर्द्धनः । मण्डस्तृष्णातिसारघ्नो धातुसाम्यकरः स्मृतः । शाकमांस-  
 फलेयुक्ता यवाग्वस्ताश्च दुज्जेराः । उति । यवाग्वस्ताः पेयाविलेपीमण्डात्मिकाः ।  
 इति । लाजमण्ड इत्यादि । अग्निजननादिगुणो लाजमण्डो मन्दाग्न्यादीनां देयः  
 स्यात् । सुकुमाराणान्तु सुसंस्कृतो लाजमण्डो देयः स्यात् । शुद्धानान्तु  
 वमनविरेचनादिना शुद्धकोष्ठानां क्षुत्पिपासापहः पथ्यो भवति । पिप्पली-  
 शुण्ठीभ्यां श्रुतो लाजः पुनरम्लदाडिमैर्युक्तो मलापहः स्यादिति । सुश्रुते  
 च—लाजमण्डो विशुद्धानां पथ्यः पाचनदीपनः । वातानुलोमनो हृद्यः पिप्पली-  
 वाच्य इति, यतः, पेयादयो हि प्रकृतिगुणानुविधायिनः सन्तः स्वगुणमावहन्ति, तेन कृतान्नस्य  
 गुण उच्यते, स यदि रक्तशाल्यादिप्रकृतावपि भवति, तदा बलवान् भवति, अथ प्रकृतौ  
 विपरीतो गुणो भवति, तदा कृतान्नगुणस्याल्पत्वं भवतीति मन्तव्यम् । अत्र खस्यातुरहित-  
 त्वेनादौ पेयोच्यते, पेया बहुद्रवा यवागूः, विलेपी विरलद्रवा यवागूः । पेयादिक्रमेणान्ने  
 वक्तव्ये प्रथमांत्पद्यमानत्वेन मण्डगुणकथनम् ; दीपनलघुत्वाभ्यामग्निं यस्मात् करोति,  
 तस्माद्वृद्धितादीनां प्राणधारण इति ज्ञेयम्, सुसंस्कृत इति धन्याकपिप्पल्यादिसुसंस्कृतः ;  
 शुद्धानां मलापह इति सम्यक्, शुद्धानामपि कोष्ठोपलेपकदोषापहरत्वेन, यदुच्यते—  
 शुद्धानामिति ईषच्छुद्धानाम्, तेन ईषच्छुद्धानां शेषदोषसम्बन्धान्मलापह इत्युपपन्नम्, तथा

\* क्षुत्पिपासासह इति चक्रोक्तः पाठः ।

† मण्डः सन्दीपयत्यग्निं वातं चाप्यनुलोमयेत् इत्यधिकः पाठः कश्चित् इत्युच्यते ।

सुधौतः प्रसृतः स्विन्नः सन्ततश्चादतो लघुः ॥

भृष्टतण्डुलमिच्छन्ति गरश्लेष्मानयेष्वपि ।

अधौतोऽप्रसृतोऽस्विन्नः शीतश्चाप्योदनो गुरुः ॥ ५० ॥

मांसशाकवसान्तल-घृतमज्जफलोदनाः ।

बल्याः सन्तर्पणा हृद्या गुरवां वृंहयन्ति च ॥

नागरायुतः । इति । तथा सिकथैर्विग्रहितो मण्डः पेया सिकथसमन्विता ।  
विलेपी बहुसिकथा स्याद् यवाग्विरलद्रवा । इति । यवागूः सिकथैर्विरहितो  
मण्डः, सिकथसमन्विता यवागूः पेया । बहुसिकथा विरलद्रवा यवागू-  
विलेपीति त्रिष्वैव यवादनं तु मण्डादिभ्योऽतिरिक्ता यवागूः पृथक्तद्गुण-  
वचनाभावान् । इति । यवाऽमुक्त्वा ओदनमाह—सुधौत इत्यादि । सुधौततण्डुलः  
पक्वः स्विन्नः प्रसृतो निःशेषेण गालितमण्डः सन्ततः सुतप्त ओदनो नाम लघु-  
भवेति । भृष्टतण्डुलकृतमोदनं गरादिष्विच्छन्ति । अधौततण्डुलकृत ओदनो  
गुरुः । धौततण्डुलकृतोऽप्योदनोऽप्रसृतश्चेत् तदा गुरुः स्यात्, धौततण्डुल-  
कृतो निःशेषेण प्रसृतोऽपि चेदस्विन्नः स्यात् तदा गुरुः स्यादेवं धौततण्डुल-  
कृतः प्रसृतश्च सुस्विन्नश्च सन्तपि शीतश्चेद्भवति तदा गुरुः स्यादिति ॥ ५० ॥

गङ्गाधरः—अस्योदनस्याभ्यवहारे नृपकरणैः सह गुणमाह—मांसेत्यादि ।  
मांसादिसहिता ओदना बल्या इत्यादिगुणाः ।

सुश्रुतेऽपि, “लाजमण्डो विशुद्धानाम्” इत्यकरोत् । विशेषादीपच्छुद्धानामिति बोध्यम् ;  
तत्र सत्, ईषद्विशुद्धे पेया निषिद्धेव, वचनं हि—“कफपित्ते विशुद्धेऽल्पे मद्यपे वातपैत्तिके ।  
तर्पणादिक्रमः कार्यः पेयाभिष्यन्दयेद्वितान्” ।

स्विन्न इत्युत्स्विन्नधान्यतण्डुलकृतः, किंवा, सम्यक्स्विन्नत्वेन मृदूभूतः, सन्तत इति  
सहजेनोष्मणा, न तु पुनस्तापनेन, वचनं हि—“विजर्जयेत् स्थिरं शीतमन्नमुष्णीकृतं पुनः”  
इति । भृष्टतण्डुलकृतमोदनं भृष्टतण्डुलम् । अधौतोऽधौततण्डुलकृतः । अत्र सुधौतत्वादि-  
गुणविशिष्टस्योदनस्य लघुत्ववचनेन तद्विपरीतानामधौतादीनां गुरुत्वमर्थतः सिद्धमपि यत्  
पुनरुच्यते, तत् स्पष्टार्थम् ॥ ५० ॥

चक्रपाणिः—सन्तर्पणा इति तदात्वेऽपि बलकरा मांसादिसंयोगसाधिताश्च ओदना एव  
बोध्याः ; अत्र रक्षाभ्यां शाकमुकुटकाभ्यामपि संयुक्तस्योदनस्य बल्यत्वादि संयोगमहिम्ना  
तथा घृतादिसंस्काराच्च लोकव्यवहारक्रियमाणत्वाद् बोद्धव्यम् । यवपिष्टमुष्णोदकसिक्त-

तद्वन्माषतिलजीर-मुद्गसंयोगसाधिताः ।

कुल्माषा गुरवो रुक्षा वातला भिन्नवर्चसः ॥

स्विन्नभक्ष्यास्तु ये केचित् सौप्यगौधूमायवकाः ।

भिषक् तेषां यथाद्रव्यमादिशेद् गुरु लाघवम् ॥

अकृतं कृतयुषश्च तनु संस्कारितं रसम् ।

सूपमम्लमनम्लञ्च गुरु विद्यात् यथोत्तरम् ॥ ५१ ॥

तद्वदित्यादि । माषादिभिर्व्यस्नैः समस्नैर्वा सह संयोगात् साधिता ओदनास्तद्वद्भक्ष्याः सन्तपणा ह्या गुरवो बृंहयन्ति च । कुल्माषा माषविदल-सहिततण्डुलाः पक्वा ओदना गुरवो रुक्षा वातला भिन्नवर्चसश्च । सुश्रुते च—  
धौतस्तु विमलः शुद्धो मनोज्ञः मुरभिः समः । स्विन्नः सुप्रसृतस्तूष्णो विशद-  
स्त्वोदनो लघुः । अर्थातोऽप्रसृतोऽस्विन्नः शीतश्चाप्योदनो गुरुः । लघुः सुगन्धिः  
कफहा विबोयो भृष्टतण्डुलः । स्नेहमांसैः फलैः कन्दैर्वैदलाम्लैश्च संयुताः । गुरवो  
बृंहणा बल्या ये च क्षीरोपसाधिताः । विष्टम्भी पायसो बल्यो मेदःकफकरो गुरुः ।  
कफपित्तकरी बल्या कृगरानिलनाशिनी । स्विन्नेत्यादि । मूष्या मुद्गमाषादयः  
गोधूमाश्च यवाश्च स्विन्नाः पुनर्ये भक्ष्याः क्रियन्ते ते सौप्या गौधूमा यावका भक्ष्या-  
स्तेषां यथाद्रव्यं गुरु लाघवं भिषक्नुद्वादिशेत् । अथ मूपमाह—अकृतमित्यादि ।  
सस्नेहलवणं सव्वैमकृतं कटुकैर्विना । लवणस्नेहकटुकैः संस्कृतं कृतमुच्यते ।  
चतुर्विंशगुणे ताये अष्टादशगुणेश्चवा । ईषद्भृष्टन्तु विदलं पक्त्वा यूषो-  
ऽद्वैशेषितः । पादशिष्टो भवेत् मूपः साम्योऽनम्लश्च स द्विधा । तत्र  
पुनरकृतं यूषं कृतयुषं तनु च संस्कारितञ्च मांसरसं साम्यं मूपमनम्लं  
मूपञ्च यथोत्तरं गुरु विद्यात् । सुश्रुते च—सुस्विन्नो निस्तुषो भृष्ट  
ईषत्मूपो लघुहितः । इति । मांसरसश्च त्रिविधः । तनुतरस्तनुः सान्द्रश्च ।  
तदुक्तं—पलानि द्वादशप्रस्थे वनेऽथ तनुके च पद् । मांसस्य वटकं  
कुर्यात् पलमच्छतरं रसे ॥ सुश्रुते तु—मांसं स्वभावतो दृष्यं स्नेहनं बल-  
वर्द्धनम् । स्नेहगोरसधान्याम्ल-फलाम्लकटुकैः सह । सिद्धं मांसं हितं बल्यं  
रोचनं बृहणं गुरु । तदेव गोरसादानं सुरभिद्रव्यसंस्कृतम् । विद्यात् पित्त-  
मीपत्स्विन्नमूपीकृतं कुल्माषमाहुः । स्विन्नभक्ष्या इत्युत्स्वेदेन भक्ष्यकृता हण्डरिकादयः ;  
यथाद्रव्यमिति वदन्नन्यत्र प्रकृतिगुणोपमर्दनलाजादाविव न गुणान्तरोदय इति दर्शयति ;

कफोद्रे किं बलमांसाग्निवद्धनम् । परिशुष्कं स्थिरं स्निग्धं हृषणं प्रीणनं गुरु ।  
 रोचनं बलमेधाग्नि-मांसांजःशुक्रवद्धनम् । नदेवोत्प्लुप्तपिष्टत्वादुल्लूप्समिति  
 पाचकाः । परिशुष्कगुणैर्युक्तं वद्वेः पक्वमतो लघु । नदेव शूलिकाप्रोत-  
 मङ्गारे परिपाचितम् । ज्ञेयं गुरुतरं किञ्चिन् प्रदिग्धं गुरुपाकतः । उत्प्लुप्तं  
 भज्जितं पिष्टमतं कन्दुपाचितम् । परिशुष्कं प्रदिग्धञ्च शूल्यं यच्चान्यदीहगम् ।  
 मांसं यन् तैलसिद्धन्तु वीर्योष्णं पित्तकृद् गुरु । लघ्वग्निदीपनं हृद्यं रुच्यं  
 दृष्टिप्रसादनम् । अनुष्णवीर्यं पित्तघ्नं मनोबलं घृतसाधितम् । प्रीणनः  
 प्राणजननः श्वासकासक्षयापहः । वातपित्तश्रमहरो हृद्यो मांसरसः स्मृतः ।  
 मूल्योजःस्वर्गहीनानां ज्वरक्षीणक्षतोरसाम् । भग्नविश्लिष्टसन्धीनां कृशाना-  
 मलपरंतसाम् । आप्यायनः संहननः शुक्रौजोबलवद्धनः । स दाडिमयुतो वृष्यः  
 संस्कृतो दोषनाशनः । यन्मांसमुद्धृतरस्मै न तन् पुष्टिवत्तावहम् । विष्टम्भि दुर्ज्वरं  
 रुधं विरसं मांसावहम् । दीप्ताग्नीनां सदा पथ्यः खानिष्कस्तु पर गुरुः ।  
 मांसं निरस्थि मृत्स्वित्रं पुनदृषदि चूणितम् । पिप्पलीशुण्ठिमरिच-गुडसपिः-  
 समन्वितम् । ऐक्यं पाचयेत् सन्यक् वेशवार इति स्मृतः । वेशवारो गुरुः  
 स्निग्धो बल्यो वातरुजापहः । प्रीणनः सर्व्वधातूनां विशेषान्मुखशोपिणाम् ।  
 क्षत्तुष्णापहरः श्रेष्ठः सौरारः स्वादुशीतलः । कफघ्नो दीपनो हृद्यः शुद्धानां  
 त्रिणिनामपि । ज्ञेयः पथ्यतमश्चापि मुद्गयूपः कृताकृतः । स तु दाडिममृद्वीका-  
 युक्तः स्याद् रसपाइवः । चक्षुष्यो लघुपाकश्च दोषाणामविरोधकृत् । ममूर-  
 मुद्गगोधूम-कुलत्थलवणैः कृतः । कफपित्ताविरोधी स्याद् वातव्याधौ च शस्यते ।  
 मृद्वीकादाडिमैर्युक्तः स एवोक्तोऽनिल्यादिते । रोचनो दीपनो हृद्यो लघु-  
 पाकयुपदिश्यते । पटोलनिम्बयूपो तु कफमेदोविशोपिणौ । पित्तघ्नो दीपनो  
 हृद्यो क्रिमिकुष्ठज्वरापहौ । श्वासकासप्रतिश्याय-प्रसेकारोचकज्वरान् । हन्ति  
 मूलकयूषस्तु कफमेदोगलामयान् । कुलत्थयूपोऽनिलहा श्वासपीनसनाशनः ।  
 तूणीप्रतूणीकासारो-गुल्मोदावत्तनाशनः । दाडिमामलकैर्यूपो हृद्यः संशमनो  
 लघुः । प्राणाग्निजननो मूर्च्छा-मेदोघ्नः पित्तवातजित् । मुद्गामलकयूषस्तु  
 ग्राही पित्तकफे हितः । यवकोलकुलत्थानां यूपः कण्ठ्योऽनिलापहः । सर्व्व-  
 धान्यकृतस्तद्वद् दृहणः प्राणवद्धनः । खड्गाम्बलिकौ हृद्यौ तथा वातकफे

अकृतकृतयूपलक्षणम्—“अस्नेहलवणं सर्व्वमकृतं कटुकैर्विना । विज्ञेयं लवणस्नेहकटुकैः  
 संस्कृतं कृतम्” ॥ इति । तनुमिति स्वल्पमांसत्वेनावधनम्, संस्कारिकमिति बहुमांसादि-  
 संस्कृतत्वाद् घनम् ॥ ५१ ॥

हन्याद् व्याधीन् यवापूपो यावको वाट्य एव च ।

उदावर्त्तप्रतिष्ठय य-काममेहगतग्रहान् ॥

धानामंजाश्च ये भक्ष्याः प्रायस्ते लेखनात्मकाः ।

शुष्कत्वान् तपेणाप्येव विपट्भित्त्वाश्च दुःजराः ॥

विरुद्धधानाः शष्कुल्या मधुक्रोडाः सतिगडकाः ।

पूपाः पूपलिकाश्च गुरवः पिट्टिकाः परम् ॥

हन्यादित्यादि । यवापूपो यवकृतोऽपूपः । यावको यवकृतो मण्डः । वाट्यो भृष्टयवमण्डः । उदावर्त्तादीन् व्याधीन् हन्यात् । सुश्रुते च—उदावर्त्त-  
हरो वाट्यः कासपीनममेहनुत् । इति । धानेत्यादि । धाना भृष्टयवस्तत्कृता  
ये भक्ष्या लेखनात्मका उपद्रिद्वरणस्वभावाः । शुष्कत्वान् तपेणाप्युष्णा-  
जननाः । सुश्रुते च—धानोलूमास्तु लघवः कफमेदोविशोपणाः । इति ।  
विरुद्धधानेत्यादि । विरुद्धा अङ्कुरिता यवा भृष्टा विरुद्धधानाः । शष्कुल्यः  
प्रसिद्धाः पिष्टपिण्डगर्भे तिलकल्कादिकं दत्त्वा वेष्टयित्वा पक्काः । सपिण्डका  
मधुक्रोडा गोधूमपिण्डमध्ये मधु पूरयित्वा घृते पक्काः सपिण्डका मधुक्रोडाः ।  
पूपा मापादिपिष्टकृता वटकाः । पूपलिका तु—विमृद्य समिताचूर्णं मृदुपाकं  
गुडान्वितम् । घृतावगाहे गुडिकां पक्कां भाण्डे सशकरे । क्षिपेत् सौगन्धि-  
वासाश्च कुर्यात् पूपलिकां बुधः ॥ इति । एषा संयावश्चोच्यते । समिता-  
मम्बुदुग्धेन मर्दयित्वा सुशोभनाम् । पचेद् घृते क्षिपेत् खण्डान्विते भाण्डे  
नवे च ताम् । संयावोऽसौ युतश्चूर्णस्त्वगेलामरिचार्द्रकैः ॥ इति । आद्यशब्देन  
घृतपूरादीनां ग्रहणम् । तदुक्तं सुश्रुते—भक्ष्याः क्षीरकृता वल्या वृष्या ह्व्याः  
सुगन्धयः । अदाहिनः पुष्टिकरा दीपनाः पित्तनाशनाः । तेषां प्राणकरा ह्व्या  
घृतपूराः कफावहाः । वातपित्तहरा वृष्या गुरवो रक्तमांसलाः । मर्दितौ

तदात्वेनैव वाजीकरणवद् बलकराः, एतेन, परिणामेन बलापहत्वमप्युक्तं भवति । यवकृतो  
वाट्यो यावको वाट्यः, वाट्यो भृष्टयवौदनः । धाना भृष्टयवाः अङ्कुरितस्य यवस्य  
धाना विरुद्धधानाः । शष्कुल्यः शालिपिष्टाः सतिलास्तैलपक्काः क्रियन्ते । मधुक्रोडाः  
पाकघनीभूतमधुगर्भाः । सपिण्डका इति मधुक्रोडा एव सपिष्टकपिण्डाः, अतस्त्वाह—  
‘विमर्दय समिताचूर्णं मृदुपाकं गुडान्वितम् । घृतावगाहे गुडिकां घृतां पक्कां सकेशराम् ।  
सौगन्धिकाधिवासाश्च कुर्यात् पूपलिकां बुधः । स एव खण्डसंयावः सिताम्रातकप्रतिः ।

गुरवस्तपणा वृष्याः क्षीरेक्षुरसपूषकाः ॥  
 सगुडाः सतिलाश्चैव सक्षीरक्षौद्रशर्कराः ।  
 भक्ष्या वृष्याश्च वल्ग्याश्च परन्तु गुरवः स्मृताः ॥  
 सस्नेहाः स्नेहसिद्धाश्च भक्ष्या विविधलक्षणाः ।  
 गुरवस्तपणा वृष्या हृद्या गौधूमिका मताः ॥  
 संस्काराल्लघवः सन्ति भक्ष्या गौधूमपैष्टिकाः ।  
 धानापपेटपृषाद्यास्तान् बुद्धा निर्दिशेत् तथा ॥ ५२ ॥  
 पृथुका गुरवां भृष्टान् भक्षयेदल्पशस्तु तान् ।  
 या वा विष्टभ्य जीर्यन्ति सरसा भिन्नवर्चसः ॥

चेद् गुडान्वितम् । कणामरिचाज्ययुक्तं वेशवारः स चापरः ॥ तद्वेशवारगर्भास्तु  
 भक्ष्या उक्ताश्च मुश्रुते । गुरव इत्यादि । क्षीरेक्षुरसाभ्यां मदिता समिता वा  
 पिष्टं वान्यद्वा घृतं पक्त्वा पूषाः कृताः गुरवस्तपणा वृष्याश्च भवन्ति । सगुडा  
 इत्यादि । ममिता तण्डुलपिष्टं वान्यद्वा गुडानिलपिष्टक्षीरक्षौद्रशर्कराभिः  
 सह मेलयित्वा घृते पक्त्वा कृता भक्ष्या गुरवश्च वल्ग्याश्च वृष्याश्च स्मृताः ।  
 सस्नेहा इत्यादि । सस्नेहा घृतादिस्नेहयुक्ता एवं स्नेहसिद्धाः घृतादिषु पका  
 विविधलक्षणा भक्ष्याः, गौधूमिका गौधूममया गुरव इत्यादिगुणाः ।  
 ते च संस्काराल्लघवश्च सन्ति गौधूमिकाः पैष्टिकाश्च भक्ष्याः । धानेत्यादि ।  
 धाना भृष्टयवाः पपेटाः पूषाद्यास्ते यद्द्रव्यमयाः क्रियन्ते तान् बुद्धा  
 निर्दिशेत् ॥ ५२ ॥

गङ्गाधरः—पृथुका इत्यादि । पृथुकाश्चिपिटा गुरवस्तान् भृष्टानल्पशो  
 भक्षयेत् । याः पृथुका वा सरसा अपरिणतार्द्रधान्यकृतास्ता विष्टभ्य

वेशवार इति स्मृतम् । क्षीरप्रधानाः पूषाः क्षीरपूषाः । सगुडा इत्यादौ 'सक्षीराः' इति  
 क्षीरयोगमात्रम्, न क्षीरप्रधानतेति न पौनरुक्त्यम् । सस्नेहा इति पिष्टावस्थायामेव स्नेहयोगाद्  
 गुरुत्वेनोक्तानामपि भूर्यग्निसंयोगादिना संस्काराल्लघव इति । बुद्धा निर्दिशेदिति संस्कारगुणं  
 तथा प्रकृतिगुणञ्च बुद्धा यथोचितं गुणं निर्दिशेत् ॥ ५२ ॥

चक्रपाणिः—पृथुकाश्चिपिटाः । यावा इति यवचिपिटाः, अन्ये तु गान्धारदेशप्रसिद्धान्

रसाला वृंहणी वृष्या म्लिग्धा वलया रुचिप्रदा ।  
 स्नेहनं तर्पणं हृद्यं वातघ्नं सगुडं दधि ॥  
 द्राक्षाखज्जूरकोलानां गुरु विष्टम्भि पानकम् ।  
 परुषकाणां क्षौद्रस्य यच्चैत्रुविकृतिं प्रति ॥  
 तेषां कटुम्लसंयोगात् पानकानां पृथक् पृथक् ।  
 द्रव्यं मानश्च विज्ञाय गुणकर्माणि निर्दिशेत् ॥ ५८ ॥  
 कटुम्लस्वादुलवणा लघवा रागपाडवाः ।  
 मुखप्रियाश्च हृद्याश्च दीपना भक्तरोचनाः ॥

गङ्गाधरः—रसाद्येत्यादि । रसाला नाम शिखरिणी । तदुक्तम्—सचातु-  
 र्जातकाज्जाजि सगुडार्द्रकनागरम् । रसाला स्याच्छिखरिणी सुवृष्टं ससरं दधि ।  
 सुश्रुते च—रसाला वृंहणी वलया म्लिग्धा वृष्या च रोचना । इति । स्नेहन-  
 मित्यादि । सगुडं दधि स्नेहनादिगुणं स्यात् । सुश्रुते च—स्नेहनं गुडसंयुक्तं  
 हृद्यं दध्यनिलापहम् । इति । द्राक्षेत्यादि । द्राक्षादीनां व्यस्तसमस्तानां कृतं  
 पानकं गुरु विष्टम्भि च । द्राक्षादीनि पिष्ट्वा जले गोलयित्वा वस्त्रपूतं कृत्वा यत्  
 पानाह करोति तन् पानकम् । एवं सव्वत्र । एवं परुषकाणां पानकं यच्च  
 क्षौद्रस्य पानकं यच्च पानकमिषुविकृतिं प्रति शकरादिकृतं तेषां पानकानां  
 कटुम्लसंयोगाद्विष्पाकदाडिपाद्यम्लमरिचादिकटुद्रव्यसंयोगात् पृथक् पृथक्  
 द्रव्यं मानश्च तत्तद्द्रव्याणां विज्ञाय गुणकर्माणि तेषां पानकानां निर्दिशेत् ।  
 सुश्रुते च—गौडमम्लमनम्लं वा पानकं गुरु मूत्रलम् । तदेव खण्डमृद्धीका-  
 शकरासहितं पुनः । साम्लं सुतीक्ष्णं सुहिमं पानकं स्यान्निरत्ययम् । माद्वीकिन्तु  
 श्रमहरं मूर्च्छादाहन्त्रापहम् । परुषकाणां कोलानां हृद्यं विष्टम्भि पानकम् ।  
 द्रव्यसंयोगसंस्कारं ज्ञात्वा मात्राश्च सर्व्वेन । पानकानां यथायोगं गुरु लाघव-  
 मादिशेत् ॥ इति ॥ ५४ ॥

गङ्गाधरः—कटुम्लेत्यादि । रागपाडवा इति । कथितन्तु गुडोपेतं सहकार-  
 फलं नवम् । तिलनागरसंयुक्तं विज्ञेयो रागपाडवः ॥ इति नलः । अथवा,

चक्रपाणिः—रसालालक्षणम्,—“सचातुर्जातकाज्जाजि सगुडार्द्रकनागरम् । रसाला स्याच्छिख-  
 रिणी संवृष्टं ससरं दधि ॥” रसालाप्रसङ्गेन सगुडदधिगुणमाह—स्नेहनमित्यादि । पानकानामपि  
 कृतास्ततो भेदाद् तद्गुणमाह—द्राक्षेत्यादि । यच्चैषुविकृतिं प्रति पानकमिति सम्बन्धः ।

कषायानुरसं स्वादु सूक्ष्ममुष्णं व्यवयि च ।

पित्तलं वद्धविण्मूत्रं न च श्लेष्माभिवर्द्धनम् ॥

वातघ्नमुत्तमं त्रलयं त्वच्यं मेधाशिवर्द्धनम् ।

तैलं संयोगसंस्कारात् सर्व्वरोगापहं मतम् ॥

तैलप्रयोगादजरा निर्व्विकारा जितश्रमाः ।

आसन्नतिवलाः संख्ये दैत्याधिपतयः पुरा ॥ ५७ ॥

भवति तत् सर्व्वं रोचनं लघु च । सुश्रुते च—शिण्डाकी गुरुक्ताऽत्र तु लघुः । तेन नानिगुरुर्नानिलघुरिति विद्यात् । वगं समापयति—विद्यादिन्यादि । उमं कृतान्नानां वगमेकादशं भिषग् विद्यात् ॥ ५६ ॥

[ इत्येकादशः कृतान्नवर्गः । ११ । ]

गङ्गाधरः—अथ क्रमिकत्वादाहारयोगिकवगमाह—तत्र संस्कारे तैलस्य प्राधान्यादादावाह गुणकर्मणि । कषायेत्यादि । तैलं तिलप्रभश्चेहः । कषायानुरसं व्यवयीति व्यवयी देहमखिलं व्याप्य पाकाय कल्पते । स च काय्यगुणस्तीक्ष्णगुणसम्भूतो नानिरिक्तः । संयोगसंस्कारादिति । तैलस्याभ्यवहाय्यद्रव्येण संयोगः, संस्कारो भेषजद्रव्येण पाकादितौ गुणान्तराधानम् । ततः सर्व्वरोगापहं तैलं मतम् ।

तत्र पुरावृत्तमाह—तैलेत्यादि । बहवो दैत्याधिपतयः पुरा तैलप्रयोगात् तैलाभ्यङ्गादितः अजरादयो भूत्वा सङ्ख्येयुर्देऽतिवला आसन् । सुश्रुते च—तैलन्वाग्नेयमुष्णं तीक्ष्णं मधुरं मधुरावपाकं वृंहणं प्रीणनं व्यवयि सूक्ष्मं विशदं गुरु सरं विकाशि वृष्यं त्वक्प्रसादनं मेधामाहवमांसस्थैर्य्यवणवलकरं चक्षुष्यं वद्धमूत्रं लेखनं तिक्तकषायानुरसं पाचनमनिलवलाशक्षयकरं क्रिमिघ्नमशीतपित्तजननं योनिशिरःकणशूत्रप्रशमनं गर्भाशयशोथनञ्च । तथा च्छिन्नभिन्न-विद्धोत्पिष्टच्युतमथित-क्षतपिच्छितभग्नस्फुटित-क्षाराग्निदग्धविष्टिष्ट-शिण्डाकी खनामप्रसिद्धा तीरभुक्तौ । आसुतञ्चान्यदिति सन्धानान्तरं ; कालाभ्लमिति चिर-कालावस्थानादश्लं न त्वम्लद्रव्यसंयोगात् । कृतान्नानामिति करणनिष्पादितमण्डपेयादीनाम् ॥ ५६ ॥

[ इति कृतान्नवर्गः । ११ । ]

चक्रपाणिः—आहारमभिधाय तथोगिद्रव्यमुच्यते ; तत्र सर्पिष उक्तत्वात् तैलमेवासन्न-संस्कारप्रधानत्वादाह—कषायेत्यादि । संयोगाच्च संस्काराच्चेति संयोगसंस्कारात्, संस्कारः



पियालतैलं मधुरं गुरु श्लेष्माभिवर्द्धनम् ।

हितमिच्छन्ति नात्यौष्ण्यात् संयोगे वातपित्तयोः ॥

फलानां यानि चान्यानि तैलान्याहारसन्निधौ ।

युज्यन्ते गुणकर्मभ्यां तानि ब्रूयाद् यथा फलम् ॥ ५८ ॥

नथा लघु । कुष्ठामयक्रिमिहरं दृष्टिशुक्रवल्पापहम् ॥ इति । पियालेत्यादि । पियालबीजस्य तैलं मधुरादिगुणं नात्यौष्ण्याद्वातपित्तयोः संयोगे हितमिच्छन्ति तज्ज्ञाः इति । सुश्रुते च—किराततिक्तकानिमुक्तकविभीतकनारिकेलकोलाक्षोदजीवन्ती-पियालकवुं दार-मूर्यवल्ली-त्रपुषैर्व्वारिक-कर्कार-कुष्माण्ड-प्रभृतीनां तैलानि मधुराणि, मधुरविपाकानि वातपित्तप्रशमनानि शीतवीर्याण्यभित्यन्दीनि सृष्टविष्मूत्राणि अग्निप्रसादनानि चेति ।

अनुक्तफलतैलान्युपमंहरति—फलानामित्यादि । यानि च अन्यानि फलानि तेषां यानि तैलानि आहारादिविधौ युज्यन्ते तानि तस्य तस्य फलस्य यानि गुणकर्मणि ताभ्यां तानि तैलानि ब्रूयादिति । तथा च सुश्रुते—मधूककाश्मय्यपलाशतैलानि मधुरकषायाणि कफपित्तप्रशमनानि च । तुवरकभल्लातकतैले उष्णे मधुरकषाये तिक्तानुरसे वातकफकुष्ठमेदो-मेहक्रिमिहरे उभयतोभागदोषहरे च । सरलदेवदारुगण्डीरशिंशपागुरुसार-स्नेहास्तिक्तकटुकषाया दुष्टव्रणशोधनाः क्रिमिकफकुष्ठानिलहराश्च । तुम्बी-कोशाम्र-दन्ती-द्रवन्तीश्यामा-सप्तलानीलिका-कम्पल्लक-शङ्खिनीस्नेहास्तिक्तकटुकषाया अथोभागदोषहराः क्रिमिकफकुष्ठानिलहरा दुष्टव्रणविशोधनाश्च । यवतिक्ततैलं सर्व्वदोषप्रशमनमीषतिक्तमग्निदीपनं लेखनं मेध्यं पथ्यं रसायनञ्च । एकैषिकातैलं मधुरमतिशीतं पित्तहरमनिलप्रकोपणं श्लेष्माभिवर्द्धनञ्च । सहकारतैलमीषतिक्तमतिमुगन्धि वातकफहरं रुक्षं कषायं रसवन्नातिपित्तकरञ्च । फलोद्भवानि तैलानि यान्यनुक्तानि कानिचित् । गुणान् कर्म च विज्ञाय फलवत् तानि निर्दिशेत् ॥ यावन्तः स्थावराः स्नेहाः समासात् परिकीर्त्तिताः । सर्व्वे तैलगुणा ज्ञेयाः सर्व्वे चानिलनाशनाः ॥ सर्व्वेभ्यस्त्रिह तैलेभ्यस्त्रिलतैलं प्रशस्यते । निष्पत्तेस्तद्गुणत्वाच्च तैलत्वमितरे-ष्वपि ॥ ५७।५८ ॥

अनुक्ततैलगुणनिर्देशार्थमाह—फलानामित्यादि । फलानामित्युपलक्षणम्, तेन, सारस्नेहा अपि सुश्रुतोक्ता बोद्धव्याः ; यथाफलमिति यादृशगुणं फलम्, तादृश एव तत्स्नेहोऽपीत्यर्थः ॥ ५७।५८ ॥

नात्यथमुष्णं मरिचमवृष्यं लघु रोचनम् ।  
 छेदित्वाच्छोषणत्वाच्च दीपनं कफवातजित् ॥  
 वातश्लेष्मविवन्धनं कटूष्णं दीपनं लघु ।  
 हिङ्गु शूलप्रशमनं विद्यात् पाचनराचनम् ॥ ६० ॥  
 दीपनं रोचनं वृष्यं चक्षुष्यमविदाहि च ।  
 त्रिदोषघ्नं समधुरं सैन्धवं लवणोत्तमम् ॥  
 सौक्ष्म्यादौष्ण्याल्लघुत्वाच्च सौगन्ध्याच्च रुचिप्रदम् ।  
 सौवर्चलं विवन्धनं हृद्यमुद्गारशोधि च ॥

कफावहा । शुष्का कफानिलघ्नी सा वृष्या पित्ताविरोधिनी ॥ इति । नात्यर्थ-  
 मित्यादि । शुष्कमेव मरिचं नान्यथमुष्णमवृष्यादिगुणश्च छेदित्वाच्छोषणत्वाच्च  
 कफवातजित् । सुश्रुते—स्वादुपाक्याद्रमरिचं गुरु श्लेष्मप्रसेकि च । कटूष्णं  
 लघु तच्छुष्कमवृष्यं कफवातजित् । नात्युष्णं नातिशीतश्च वीर्यतो  
 मरिचं सितम् । गुणवन्मरिचेभ्यश्च चक्षुष्यश्च विशेषतः । जम्बीरः पाचनस्तीक्ष्णः  
 क्रिमिवातकफापहः । सुरभिर्दीपनो रुच्यो मुखवेशद्यकारकः । कफानिल-  
 विपश्वास-कासदौर्गन्ध्यनाशनः । पित्तकृत् पार्श्वशूलघ्नः सुरसः समुदाहृतः ।  
 तद्वत् तु सुमुखो ब्रह्मो विशेषाद् गरनाशनः । कफघ्ना लघवो रुक्षाः  
 स्निग्धोष्णाः पित्तवर्द्धनाः । कटुपाकरसाश्चैव सुरसाज्जकभूस्तृणाः । मधुरः  
 कफवातघ्नः पाचनः कण्ठशोधनः । विशेषतः पित्तहरः सतिक्तः कासमर्दकः ॥  
 इति । वातश्लेष्मेत्यादि । हिङ्गु हिङ्गुनिर्व्यासः । सुश्रुते च—लघूष्णं पाचनं हिङ्गु  
 दीपनं कफवातजित् । कटु स्निग्धं सरं तीक्ष्णं शूलजीर्णविवन्धनुत् ॥  
 इति ॥ ६० ॥

गङ्गाधरः—दीपनमित्यादि । सैन्धवं लवणेपूतमम् । सुश्रुते च—सैन्धव-  
 सामुद्रविडसौवर्चलरौमकौद्रिदप्रभृतीनि लवणानि यथोत्तरमुष्णानि वातहराणि  
 कफपित्तकराणि यथापूर्वं स्निग्धानि स्वादूनि सृष्टमूत्रपुरीषाणि चेति । चक्षुष्यं  
 सैन्धवं हृद्यं रुच्यं लघ्वग्निदीपनम् । स्निग्धं समधुरं वृष्यं शीतं दोषघ्न-  
 मुत्तमम् ॥ इति । सौक्ष्म्यादित्यादि । सौवर्चलं नाम लवणं सौक्ष्म्यात्

चक्रपाणिः—सौक्ष्म्यादित्यादि सौवर्चलगुणः । तैक्ष्म्यादित्यादि विडगुणः । औद्रिदमुत्-

तीक्ष्णोष्णो लघुसूक्ष्मश्च क्लेदी पक्वा विदाग्णाः ।  
 दहनो दीपनश्लेत्ता सव्वज्जारांऽग्निसन्निभः ॥  
 कारव्यः कुञ्चिकाजार्जी-यमानीधान्यतुम्बुरु ।  
 रोचनं दीपनं वान-कफदौर्गन्ध्यनाशनम् ॥  
 आहारयोगिणां भक्ति-निश्चयो न तु विद्यते ।  
 पूर्यते द्वादशश्चायं वर्ग आहारयोगिणाम् ॥ ६२ ॥

इति द्वादश आहारयोगी वर्गः । १२ ।

अशांसि च व्यपोहति । सुश्रुते च—यवक्षारस्वर्जिकाक्षारपाकिमटङ्गणक्षाराः ।  
 गुल्मार्शोग्रहणीदोष-शर्कराश्मरिनाशनाः । क्षारान्मु पाचनाः सर्वे इत्तपित्तकराः  
 स्मृताः ॥ ज्ञेया वह्निमसौ क्षारौ स्वर्जिकायावश्कर्जौ । शुक्रश्लेष्मविवन्धार्शौ-  
 गुल्म-प्लीहविनाशनौ ॥ उष्णोऽनिलघ्नः प्रक्लेदी उपक्षारो वल्पापहः । मेदोघ्नः  
 पाकिमः क्षारो सूत्रवस्तिविशोधनः ॥ विरुक्षणोऽनिलकरः श्लेष्मघ्नः पित्त-  
 दूषणः । अग्निदीप्तिकरस्तीक्ष्णटङ्गणः क्षार उच्यते ॥ इति । सव्वक्षार-  
 मुपसंहरति—तीक्ष्णोष्ण इत्यादि । सव्वक्षारो यो यो द्रव्यभस्मकृतः क्षारः  
 सर्व एव तीक्ष्णादिगुणः । दहनो दाहकरः । अग्निसन्निभ इति । कारवीत्यादि ।  
 कारवी कृष्णजीरकम्, कुञ्चिका स्वल्पकृष्णजीरकम् । अजार्जी जीरकम् ।  
 यमानी द्विविधा, धान्यं धन्याकं, तुम्बुरु धन्याकमदृशम्, रोचनादिगुणम् ।  
 आहारयोगिणां द्रव्याणां भक्तिनिश्चयो नास्ति युक्तितत्पयोजयेदिति भावः ।  
 सुश्रुते च—तीक्ष्णोष्णं कटुकं पाके रुच्यं पित्ताग्निवद्धेनम् । कटु श्लेष्मानिल-  
 हरं गन्धाढ्यं जीरकद्रव्यम् । कारवी करवी तद्वद् विज्ञेया सोपकुञ्जिका ।  
 भक्ष्यव्यञ्जनभोज्येषु विविधेष्ववचारिता । आर्द्रा कुस्तुम्बुरी कुर्यात् स्वादु-  
 सौगन्ध्राह्वयताम् । या शुष्का मधुरा पाके स्निग्धा तृड्दाहनाशनी । दोषघ्नी  
 कटुका किञ्चित्-तिक्ता स्रोतोविशोधिनी । इति । वर्गं समापयति—पूर्यते  
 इत्यादि । आहारयोगिणामयं द्वादशवर्गः पूर्यते इति ॥ ६२ ॥

इति द्वादश आहारयोगी वर्गः । १२ ।

क्षार इति स्वर्जिकाक्षारटङ्गणक्षारादिः । कारवी कृष्णजीरकं, कुञ्चिका स्थूलजीरकम्, अजार्जी  
 सूक्ष्मजीरकम् । उक्तात् तैलादेरन्यद्रव्याहारसंस्कारकत्वेनाहारयोगि भवतीत्याह—आहारेत्यादि ।  
 भक्तिर्विभाग इत्येतेति यावत्, किंवा, भक्तिरिच्छा, तेन पुरुषेच्छानामनियमादुक्तमपि किञ्चित्

मृतं कृशममेध्यञ्च \* वृद्धं बालं विषेहतम् ।  
 अगोचरभृतं व्याड्-सूदितं मांसमुत्सृजेत् ॥  
 ततोऽन्यथा हितं मांसं वृंहणं बलवर्धनम् ।  
 प्रीणनः सर्व्वधातूनां हृद्यो मांसरसः परः ॥  
 शुष्यतां व्याधियुक्तानां कृशानां क्षीणरेतसाम् ।  
 बलवर्णार्थिनाञ्चैव रसं विद्याद् यथामृतम् ॥  
 सर्व्वरोगप्रशमनं यथास्वं विहितं रसम् ।  
 विद्यात् स्वयं बलकरं वयोबुद्धीन्द्रियायुषाम् ॥

गङ्गाधरः—मृतमित्यादि । मृतं काले स्वयं मृतस्य मांसं, कृशं निराहारादितः कृशस्य मांसम् । अमेध्यं न मेधाहितम् अमेदुरम् । वृद्धस्य मांसं बालस्य मांसं विषविषलिप्तशरादिहतस्य मांसम् अगोचरे भृतम् असात्मप्रदेशादिषु पुष्टं व्याड्सूदितं सर्पादिदष्टं मांसं त्यजेत् । तत इत्यादि । ततो मृतादिभ्योऽन्यथा मांसं हितमित्यादिगुणम् । मुश्रुते च—तत्र शुष्कपूतिव्याधितविषसपेहतदिग्धविद्धजीर्णकृशबालानामसात्मप्रचारिणां मांसान्यभक्ष्याणि । यस्माद्विगतव्यापन्नापहतपरिणतालपासम्पूर्णवीर्य्यत्वाद् दोषकराणि भवन्ति । अरोचकं प्रतिश्यायं गुरु शुष्कं करोति तत् । विषव्याधितं बालं मृतं छर्द्दिं प्रकोपयेत् । कासश्वासकरं वृद्धं त्रिदोषं व्याधिदूषितम् । क्लिन्नमुत्क्लेशजननं कृशं वातप्रकोपणम् ॥ एभ्योऽन्येषामुपादेयं मांसमिति । प्रीणन इत्यादि । स्वयंमृतादिव्यतिरिक्तानां मांसरसः प्रीणन इत्यादिगुणः । शुष्यदादीनां पुंसां मांसस्य रसं यथामृतं तथा विद्यात् । सर्व्वरोगाणां यथास्वं यस्मिन् व्याधौ यद् विहितं तथा यथास्वमौषधैर्विहितं साधितं मांसस्य रसं प्रशमनं विद्यात् । वयोबुद्धीन्द्रियायुषां बलकरं वृद्धिकरञ्च विद्यात् ।

चक्रपाणिः—मृतमिति स्वयं मृतम्, मेधं मेदुरम्, कृशप्रहणेन शुष्कमपि ग्राह्यम् ; अगोचरभृतम्, यथा—आनूपं भन्वदेशे पुष्टम् ; व्याड् व्याघ्रादयः, किंवा व्याडः सर्पः ; विषहतन्तु विषदिग्धशस्त्रविद्धम् । मांसरसगुणः—प्रीणन इत्यादि । सर्व्वरोगप्रशमनमिति सर्व्वशब्दो

मद्याम्युगोर्मादीनां स्वे स्वे वगं विनिश्चयः ।

यदाहारगुणैः पानं विपरीतं तदिष्यते ।

अन्नानुपानं धातूनां दृष्टं यन्न विरोधि च ॥

आसवानां समुद्दिष्टामशीतिं चतुरत्तराम् ।

जलं पेयमपेयञ्च परीक्ष्यानुपिवेद्धितम् ॥

शाकसाधनं हि स्विन्नं निष्पीडितरसं प्रभूतस्नेहसाधितमुक्तं, हरितानान्तु तथा साधनं न कार्यमिति । अत्र कन्दानामपि वज्जनमुन्नेयम् । तद्यथा मुश्रूते—वाळं ह्यनात्तेवं जीर्णं व्याधितं क्रिमिभक्षितम् । कण्डं विवज्जेयेत् सर्व्वं यो वा सम्यङ् न रोहति ॥

कृतान्ते वज्ज्येधान्यादीन्युत्तवा भोजनादनु यन् पेयं तदाह—मदेत्यादि । मद्यादीनां द्रव्याणां स्वे स्वे वगं यस्य यद्गुणस्य विनिश्चयः कृतः, तत्र यन् पुनराहारद्रव्यगुणैर्विपरीतगुणं स्यात् तत् तस्याहारस्यानु पानमिष्यते । यच्च धातूनामविरोधि स्यात् तदप्यन्नानुपानमिष्यते । इत्यनुपानं सामान्यतोऽभिहितम् । अपरञ्च—आसवानामित्यादि । आसवानां चतुरत्तरामशीतिं समुद्दिष्टां जलञ्चोद्दिष्टं, तत्र पेयमपेयञ्च परीक्ष्य हितमनुपिवेत् । मुश्रूते च—अम्लेन केचिद्विहता मनुष्या माधुर्ययोगे प्रणयीभवन्ति । तथा म्लयोगे मधुरेण वृक्षास्तेषां यथेष्टं प्रवदन्ति पथ्यम् ॥ शीतोष्णतोयासवमद्ययूप-फला म्लयान्याम्लपयो-रसानाम् । यस्यानुपानन्तु हितं भवेद् यत् तस्मै प्रदेयन्तिह मात्रया तत् ॥ व्याधिञ्च कालञ्च विभाव्य धीरं द्रव्याणि भोज्यानि च यानि तानि । सर्व्वानुपानेषु परं वदन्ति मेध्यं यदम्भः शुचिभाजनस्थम् । लोकस्य जन्मप्रभृति प्रशस्तं तोयात्मकाः सर्व्वरसाश्च दृष्टाः । संक्षेप एषोऽभिहितोऽनुपानेष्वतः परं

विनिश्चयः कृत इति शेषः, तथा च मद्यानाम्—“प्रायश्चोऽभिनवम्” इत्यादिना गुणदोषकथनं कृतमेव, एवं जलेऽपि “पिच्छिलं क्रिमिलम्” इत्यादिना; गोरसकृतान्नाहारा-संयोगिवर्गेषु तु यथोक्तकर्तृगुणवत् विपरीते विपरीतगुणमनुमेयमिति भावः ॥ ६५ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रत्येषां यदनुपानं कर्त्तव्यं तदेवाह—यदेत्यादि । आहारगुणैरिति शीत-स्नेहमधुरादिभिः, विपरीतमिति विपरीतगुणमनुपेयम्; एवं दध्नोऽम्लस्य मधुरं क्षीरं तथा पायसस्य काञ्जिकानुपानं स्यादित्याह—धातूनां यच्च विरोधि चेति; एवञ्चाम्ले पयोऽनुपीयमानं विरुद्धत्वाद् धातुविरोधेन प्रायुक्तं भवति, एवमन्यदपि विरुद्धं बोद्धव्यम्; समुद्दिष्टमिति यज्ञः-

ऊर्जयति पर्याप्तिमभिनिर्व्वर्त्तयति भुक्तमवसादयति अन्न-  
संघानं भिनत्ति माद्वमापादयति क्लेदयति जरयति सुख-  
परिणामितामाशु व्यवयिताश्चाहारस्य जनयतीति ॥ ६७ ॥

भवन्ति चात्र ।

अनुपानं हितं युक्तं तर्पयत्याशु मानवम् ।  
सुखं पचति चाहारमायुषे च बलाय च ॥  
नोद्धाङ्गमारुताविष्टाः न हिकाश्वासकासिनः ।  
न गीतभाष्याध्ययन-प्रसक्ता नोगसि क्षताः ॥  
पिवेयुर्मुदकं भुक्त्वा तद्धि कण्ठोरसि स्थितम् ।  
स्नेहमाहारजं हत्वा भूयो दोषाय कल्पते ॥ ६८ ॥

प्रीतं करोति । ऊर्जयति जीवयति बलवत्त्वं वा करोति । ऊर्ज बलजीवनयो-  
श्चौरादिकः । भुक्त्वा जलादिकमनुपिवतोऽनुपानं तज्जलादिकं भुक्तमासादयत्  
पर्याप्तिं शरीरेण सहैकीभावमभिनिर्व्वर्त्तयति । अन्नसंघानं भिनत्ति । तद-  
न्नस्य माद्वमापादयति । तदन्नं क्लेदयति जरयति सुखपरिणामिताश्चाशु-  
व्यवयितामखिलदेहव्यापिताश्च आहारस्य जनयति । इति ॥ ६७ ॥

गङ्गाधरः—तत्र श्लोका वर्त्तन्ते, भवन्ति चात्रेत्याह—अनुपानमित्यादि ।  
उदकमनुपानं हितं युक्तमाशु मानवं तर्पयति । आहारं सुखं पाचयति । आयुषे  
बलाय च भवति । ये तूद्धाङ्गमारुताविष्टा ये हिकाश्वासकासिनः ये गीतभाष्या-  
ध्ययनप्रसक्ता ये चोरसि क्षतास्ते सर्व्वे भुक्त्वा नोदकं पिवेयुः । कस्मात् ?  
तद्धीत्यादि । हि यस्मात् तद् भुक्त्वा पीतमुदकं कण्ठोरसि तेषां कण्ठे वक्षसि च  
स्थितमाहारजं स्नेहं हत्वा भूयो भूयिष्ठं दोषाय कल्पते क्लृप्तं स्यादिति ।

चक्रपाणिः—यैरनुपानं न कर्त्तव्यम्, तानाह—नोद्धाङ्गित्यादि । कण्ठोरसि स्थितमित्यादिना  
तदुक्तं मारुतादीनामनुपानं कण्ठोरसि स्थितमेव भवति नाधो यातीति दर्शयति ; स्नेहमाहारजं  
हत्वाभिभूय, भूयो दोषाय कल्पते, वातलक्षणं दोषं करोतीत्यर्थः, आहारस्नेहेन यो वातप्रशमः  
कर्त्तव्यस्तं शैत्यप्रकर्षात् पानीयमभिभवतीत्यर्थः ; एतेन, दृश्यते—अपां स्निग्धत्वेन स्नेहन-

अनुपानैकदेशो-॥-ऽयमुक्तः प्रायोपयोगिकः ।

द्रव्यन्तु न हि निर्देष्टुं शक्यं कतु स्येन नामभिः ॥

यथानामौषधं + किञ्चिद् देशजानां वचो यथा ।

द्रव्यं तन् तन् तथा वाच्यमनुक्तमिह यद् भवेत् ॥ ६६ ॥

गङ्गाधरः—उपसंहरति—अनुपानेत्यादि । कस्मान् प्रायोपयोगिको-  
अनुपानैकदेश उक्तो न कतुस्त्वं इत्यत उच्यते—द्रव्यन्तित्यादि । हि  
यस्माद् द्रव्यं कतुस्त्वेन नामभिर्निर्देष्टुं न शक्यं कैरपि भवति । यथानाम  
किञ्चिदौषधन्तु शक्यं स्यात् । देशजानां वचो यथा । यथा कतुस्त्वं वचो  
निर्देष्टुं न कैरपि शक्यं देशजानामेकैकदेशजानां वचस्तु शक्यं निर्देष्टुमिति ।  
तस्मादिह यदनुक्तं द्रव्यं भवेत् तन् द्रव्यं तथा वाच्यमिति ॥ ६९ ॥

चक्रपाणिः—अन्नपानद्रव्यैकदेशकथनं सहेनुकमाह—अन्नेत्यादि । अन्नपानैकदेशः प्रायोप-  
योगिक इति बाहुल्येन यदपयुज्यते, एतेन यद् बाहुल्येनोपयुज्यते तस्य शृङ्गग्राहिकतया कथनम्,  
प्रायोपयुज्यमानानां शृङ्गग्राहिकतयाऽल्पकथनमल्पदोषमिति दर्शयति, तथा अल्पदोषस्यापि  
परिहारार्थम्, तदपि किमिति नोच्यत इत्याह—द्रव्याणां त्व्यादि । द्रव्याणि कार्त्तुस्येनेति  
साकल्येन, निर्देष्टुं नामभिरिति नामभिरपि न शक्यं, केनचिदिति शेषः, हि शब्दो यस्मादर्थः,  
एतेन सर्वाणि द्रव्याणि नाममात्रेणापि वक्तुं कश्चिन्न पारयन्त्यतिबहुत्वात्, तत् का कथा  
अशेषात्तान्नपानद्रव्यस्य शृङ्गग्राहिकतया गुणकथनं प्रतीति भावः ; किंवा, नामभिर्युक्तानि तानि  
कार्त्तुस्येन निर्देष्टुमिति गुणतः कथयितुं न शक्यं केनचिदिति योजना । अथ कथं हि अत्र  
अक्षीर्तितान्नपानस्य तर्हि गुणा निर्देष्टव्या इत्याह—यथेत्यादि । यथा येन प्रकारेण नानौषधं  
किञ्चिदिति पूर्वाध्याये प्रोक्तं तथा तेन प्रकारेणानुक्तं द्रव्यं वाच्यं, गुणत इति शेषः । पूर्वाध्याये  
हि “तत्र द्रव्याणि गुरुखर” इत्यादिना ग्रन्थेन पार्थिववादिभेदेन विशिष्टेन च कर्मणा प्रोक्तानि  
द्रव्याणि, ततश्चानुक्तं द्रव्यं तेनैव गुरुखरादिना गुणेन पार्थिवत्वादि प्रतिपद्य यथोपचयादिकर्म-  
कर्तृकतया व्यपदेष्टव्यमित्यर्थः ; तदेवानिर्देष्टव्यस्य द्रव्यस्य गुरुखरत्वादि कथं ज्ञेयमित्याह—  
देशजानां वचो यथेति, देशजा देशान्तरीयाः, तद्देशीयवचनात् ते ते गुरुखरादयो ज्ञेया इत्यर्थः ;  
किंवा, देशजा यथा तत्तद्द्रव्यं व्यवहरन्ति—‘इदं मधुरमम्लम्’ इत्यादि, तत् प्रतिपद्य, मधुर-  
त्वाम्लत्वादिप्रतिपन्नपृथिव्याद्यस्य कारणमिति पृथिव्यादीनां गुर्वादिगुणगणेन कर्मणा च रसोक्तेन  
तद् वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ६९ ॥

\* अन्नपानैकदेश इति चक्रपाणिसम्मतः पाठः ।

यथानामौषधमित्यत्र यथा नानौषधमिति कचित् पाठः ।

शरीरावयवाः सक्थि-शिरःस्कन्धादयस्तथा ।  
 सक्थि मांसाद् गुरुतरं स्कन्धक्रोडशिरस्पदम् ॥  
 वृषणौ चर्म मेढ्रश्च श्रोणीवृक्के यकृद् गुदम् ।  
 मांसाद् गुरुतरं विद्याद् यथास्वं मध्यमस्थि च ॥ ६० ॥  
 स्वभावाल्लघवो मुद्रास्तथा लावकपिञ्जलाः ।  
 स्वभावाद् गुरवो माषा वराहमहिषास्तथा ॥

अथ शरीरावयवानाह—शरीरेत्यादि । सक्थिशिरःस्कन्धादयः शरीरा-  
 वयवास्तेषां परीक्षा किमर्थेन्यत आह—सक्थीत्यादि । सक्थिमांसाद्  
 गुरुतरं क्रमेण स्कन्धक्रोडशिरस्पदम् ।

एवं मांसादपि गुरुतरत्वं येषां तदाह—वृषणादित्यादि । मांसाद् गुरुतरं  
 क्रमेण वृषणादिकं विद्यात् । मांसाद् गुरु वृषणौ ततो गुरु चर्मे ततो गुरु मेढ्रं  
 ततो गुरुः श्रोणी ततो वृक्कं ततो यकृन् क्लीहा च । ततो गुदमिति । अस्थि  
 च यथास्वं यस्य गुरोर्वा गुर्वोर्वास्थि मध्यगुरु मध्यलघु । गुरोः सत्त्व-  
 स्यास्थि नातिगुरु नातिलघु । लघोः सत्त्वस्यास्थि नातिलघु नातिगुरु ।

स्वभावः किमर्थं परीक्ष्यत इत्यत उच्यते—स्वभावादित्यादि । स्वो भावः  
 स्वभावः स्वरूपं निसर्गः प्रकृतिरित्येकोऽर्थः । तस्मान् स्वरूपत एव मुद्रा  
 लघवः । तथा लघवो लावादयः स्वभावादेव । स्वभावादेव च माषा  
 वराहादयो गुरव इति । स्वभावं परीक्ष्य तत्र चरादितो गुरुलाघवं विविच्य  
 प्रयुञ्जीत ।

चारिणामपि श्येनादीनामनुकं लाघवं स्वजातिप्रसहान्तरापेक्षया बोद्धव्यमाकाशस्य लघुत्वात् ;  
 यत् तु ब्रुवते—आकाशचारिणां गौरवलाघवानियमादकथनमिति, तन्न, तथा सत्याकाशस्याप्रयो-  
 जकत्वात् “चरोऽनुपजलाकाशधन्वाद्यः” इत्यत्राकाशकथनं निष्प्रयोजनं स्यात् । मांसाद् गुरुतरं  
 विद्यादिति गुरुत्वेन प्रतिपादनं, सक्थ्यादिमांसाद् वृषणादि गुरुतरं विद्यादिति ; यथास्वमित्यत्र  
 शरीरसक्थादीनामेवैतत् गौरवादि, न त्वन्यस्य शरीरापेक्षयेति ज्ञेयम् ; मध्यमित्यन्तराधिः,  
 अस्थि इति अस्थिस्थितं मांसम् । अन्ये तु मध्यमित्यस्थिमध्यगतं मज्जानं ब्रुवते, तन्नातिसुन्दरम्,  
 तस्योत्तरोत्तरधातुकथनेनैव लब्धत्वात् ॥ ७० ॥



गुरुणां लाघवं विद्यात् संस्कारात् सविपर्ययम् ।

ब्रीहर्लाजा यथा च स्युः शक्तूनां सिद्धपिण्डकाः ॥ ७१ ॥

अथ किमर्थं संस्कारः परीक्ष्यते उच्यते उच्यते—गुरुणामिन्यादि । यथा संस्काराद् गुरुणां लाघवं विद्यात् तथा सविपर्ययं लघूनां संस्काराद् गौरवं विद्यात् । उदाहरति—ब्रीहर्गिन्यादि । ब्रीहर्गुरोर्भर्जनेन संस्कारालाजा लघवः स्युः । यथा च लघूनां शक्तूनां पिण्डीकरणान् संस्कारान् सिद्ध-पिण्डका गुर्व्यः स्युरिति । सूत्रते चैवमुक्तं तद् यथा—स्त्रियश्चतुष्पादेषु पुमांसो विहङ्गेषु महाशरीरेष्वल्पशरीरा अल्पशरीरेषु महाशरीरा विशिष्टतमा एवमेकजातीयानां महाशरीरेभ्यः कृशशरीरा विशिष्टतमाः । स्थानादिकृतं मांसस्य गुरुलाघवमुपदेक्ष्यामः । तद् यथा—रक्तादिषु शुक्रान्तेषु धातुषु उत्तरोत्तरास्तु गुरुतरास्तथा सक्थिस्कन्धक्रोडशिरस्पादकरकटीपृष्ठचम्मे-कात्रेयकयकृदन्त्राणि । शिरःस्कन्धं कटीपृष्ठं सक्थिनी चात्मपक्षयोः । गुरुपूर्वं विजानीयाद् धातवस्तु यथोत्तरम् । सर्वस्य प्राणिनो देहे मध्ये गुरुहृदाहतः । पूर्वभागो गुरुः पुंसामधोभागस्तु योषिताम् । उरोग्रीवं विहङ्गानां विशेषेण गुरु स्मृतम् । पक्षोन्क्षेपात् समो दिष्टो मध्यभागस्तु पक्षिणाम् । अतीव रुक्षं मांसन्तु विहङ्गानां फलाशिनाम् ॥ वृंहणं मांसमत्यर्थं खगानां पिशिताशिनाम् । मत्स्याशिनां पित्तकरं वातघ्नं धन्वचारिणाम् । जलजानूपजा ग्राम्याः क्रव्यादैकशक्तास्तथा । प्रसहा विलवासाश्च ये च जङ्घालसंज्ञिताः । प्रतुदा विष्किराश्चैव लघवः स्युयथोत्तरम् । अल्पाभिप्यन्दिनश्चैव यथापूर्व-मतोऽन्यथा । प्रमाणाधिकास्तु स्वजातौ चालपसारा गुरवश्च । सर्वप्राणिनां सर्वशरीरेभ्यो ये प्रधानतमा भवन्ति यकृतप्रदेशवर्त्तिनस्तानाददीत । प्रधानलाभाभावे मध्यमवयस्कं सद्यस्कमक्लिष्टमुपादेयं मांसमिति । भवति चात्र ॥ चरः शरीरावयवाः स्वभावो धातवः क्रियाः । लिङ्गं प्रमाणं संस्कारो मात्रा चास्मिन् परीक्ष्यते ॥ इति ॥ ७०।७१ ॥

भूयस्त्वं हेतुं ब्रुवते ; किन्तु, स्वभावस्तत्र हेतुः अपवाद इति पश्यामो विहङ्गेषु । सविपर्यय-मिति संस्काराल्लघूनामपि गौरवं विद्यादित्यर्थः ; तदेव संस्कारजन्यं लाघवं गौरवञ्चाह—ब्रीहे-रित्यादि । गुरोरपि ब्रीहेः संस्काराल्लाजा लघव इत्यर्थः ; शक्तूनाञ्च लघूनां सिद्धपिण्डका गुरवः ; सिद्धपिण्डका अग्निपाचिताः पिण्डाः ॥ ७१ ॥

दीप्ताग्नयः खगहाराः कर्मनित्या महोदराः ।

ये नगः प्रति तांश्चिन्त्यं नावश्यं गुरुलाघवम् ॥ ७२ ॥

हिताभिर्जुहुयान्नित्यमन्तरग्निं समाहितः ।

अन्नपानसमिद्धिर्ना मात्राकालौ विचारयन् ॥

आहिताग्निः सदा पथ्यान्यन्तरग्नौ जुहोति च ।

दिवसे दिवसे ब्रह्म जपत्यपि ददाति च ॥

नरं निःश्रेयसे युक्तं सात्म्यज्ञं पानभोजने ।

भजन्ते नामयाः केचिद् भाविनोऽप्यन्तराहते ॥

ग्यान् सुकुमारान् सुखोचितान् पुरुषान् प्रति क्रियते । ये च नरा दीप्ताग्न्यादय-  
स्तान् प्रति माषादेर्गुरुलाघवं नावश्यं चिन्त्यं भवतीति ॥ ७२ ॥

गङ्गाधरः—ननु ते किं यथेष्टमाहारमश्रीयुरित्यत आह—हिताभिरित्पादि ।

समाहितः समाधिमान् पुरुषः खलु मात्राकालौ विचारयन् हिताभिरन्न-  
पानात्मिकाभिः समिद्धिर्नित्यमन्तरग्निं जाठराग्निं जुहुयात् । ताभिर्हिताभि-  
रन्नपानसमिद्धिः आहिताग्निः सन्नपि सदा प्रतिदिनं पथ्यान्यन्तरग्नौ जुहोति च  
न खल्वेकवारं हिताभिरन्नपानसमिद्धिरन्तरग्निं जुहुयान्नित्यमेव जुहुयात् एवं  
सदैवाहिताग्निः अन्तरग्नौ दिवसे दिवसे पथ्यानि जुहोति च ब्रह्म चाजपामन्त्रं  
जपति च निश्वासोच्छ्वासाभ्यां हंस इति मन्त्रं जपति च ददाति च ब्रह्मैव हंस  
इमं मन्त्रं निश्वासेन त्यजति । एवं पानभोजने निःश्रेयसे युक्तं सात्म्यज्ञं नरं

चरादिकृता गुरुलाघवचिन्ता अल्पाग्निं प्रति प्राय इति दर्शयन्नाह—गुर्धित्यादि । अत्राप्यबलवत्त्वेन  
मन्दकार्यैरपि बह्निमान्द्यमेव लक्षणीयम् । खराहारा इति कठिनाहारसामर्थ्याः, महोदरत्वेनापि  
मेदोऽवरोधात् महाग्नित्वं दर्शयति, नावश्यं चिन्त्यमित्यनेन दीप्ताग्नीनामपि प्रतिस्तोत्रप्रयोजनाय  
गुरुलाघवचिन्ता विद्यत इति दर्शयति, यतः, दीप्ताग्न्यादीनामपि गुरुद्रव्यमग्नेः प्रतिपक्षमावहत्येव,  
स्वभावतोऽग्निविरुद्धात् ॥ ७२ ॥

चक्रपाणिः—समिध इव समिधः, आहिताग्निरिति सात्म्येन व्यवस्थापिताग्निः, किंवा,  
आहिताग्निरिवाहिताग्निः, तेन, आहिताग्निर्यथा प्रातः सायं जुहोति, तथायमपि प्रातः सायञ्च  
पथ्यान्यन्तराग्नौ जुहोति । ब्रह्म जपतीति प्रणवादिमन्त्रमावर्त्तयति ; ददाति चेति यथाशक्ति  
दानमाचरति, तं नरं निःश्रेयसे कल्याणे युक्तमामया न भजन्ते, भाविनोऽपीति जन्मान्तरेऽपि,  
अग्रेह जन्मनि पथ्याशित्वाज्ञ भवन्ति गदा जन्मान्तरेऽपि ब्रह्मजपज्ञानाभ्याम् अर्जितधर्मप्रभावात्

दीप्ताग्नयः खराहाराः कर्मनित्या महोदराः ।  
 ये नराः प्रति तांश्चिन्त्यं नावश्यं गुरुलाघवम् ॥ ७२ ॥  
 हिताभिर्जुहुयान्नित्यमन्तरग्निं समाहितः ।  
 अन्नपानसमिद्धिर्ना मात्राकालौ विचारयन् ॥  
 आहिताग्निः सदा पथ्यान्यन्तरग्नौ जुहोति च ।  
 दिवसे दिवसे ब्रह्म जपत्यपि ददाति च ॥  
 नरं निःश्रेयसे युक्तं सात्म्यज्ञं पानभोजने ।  
 भजन्ते नामयाः केचिद् भाविनोऽप्यन्तराहते ॥

ग्यान् मुकुमारान् सुखोचितान् पुरुषान् प्रति क्रियते । ये च नरा दीप्ताग्न्यादय-  
 स्तान् प्रति माषादेर्गुरुलाघवं नावश्यं चिन्त्यं भवतीति ॥ ७२ ॥

गङ्गाधरः—ननु ते किं यथेष्टमाहारमश्रीयुरित्यत आह—हिताभिरित्यादि ।  
 समाहितः समाधिमान् पुरुषः खलु मात्राकालौ विचारयन् हिताभिरन्न-  
 पानात्मिकाभिः समिद्धिनित्यमन्तरग्निं जाठराग्निं जुहुयाद् । ताभिर्हिताभि-  
 रन्नपानसमिद्धिः आहिताग्निः सन्नपि सदा प्रतिदिनं पथ्यान्यन्तरग्नौ जुहोति च  
 न खल्वेकवारं हिताभिरन्नपानसमिद्धिरन्तरग्निं जुहुयान्नित्यमेव जुहुयात् एवं  
 सदैवाहिताग्निः अन्तरग्नौ दिवसे दिवसे पथ्यानि जुहोति च ब्रह्म चाजपामन्त्रं  
 जपति च निश्वासोच्छ्वासाभ्यां हंस इति मन्त्रं जपति च ददाति च ब्रह्मैव हंस  
 इमं मन्त्रं निश्वासेन त्यजति । एवं पानभोजने निःश्रेयसे युक्तं सात्म्यज्ञं नरं

चरादिकृता गुरुलाघवचिन्ता अल्पाग्निं प्रति प्राय इति दर्शयन्नाह—गुर्वित्यादि । अत्राप्यबलवत्त्वेन  
 मन्दकाद्यैरपि वह्निमान्द्यमेव लक्षणीयम् । खराहारा इति कठिनाहारसामर्थ्याः, महोदरत्वेनापि  
 मेदोऽवरोधात् महाग्नित्वं दर्शयति, नावश्यं चिन्त्यमित्यनेन दीप्ताग्नीनामपि प्रतिस्तोकप्रयोजनाय  
 गुरुलाघवचिन्ता विद्यत इति दर्शयति, यतः, दीप्ताग्न्यादीनामपि गुरुद्रव्यमग्नेः प्रतिपक्षमावहत्येव,  
 स्वभावतोऽग्निरुद्धात् ॥ ७२ ॥

चक्रपाणिः—समिध इव समिधः, आहिताग्निरिति सात्थ्येन व्यवस्थापिताग्निः, किंवा,  
 आहिताग्निरिवाहिताग्निः, तेन, आहिताग्निर्यथा प्रातः सायं जुहोति, तथायमपि प्रातः सायञ्च  
 पथ्यान्यन्तराग्नौ जुहोति । ब्रह्म जपतीति प्रणवादिमन्त्रमावर्त्तयति ; ददाति चेति यथाशक्ति  
 दानमाचरति, तं नरं निःश्रेयसे कल्याणे युक्तमामया न भजन्ते, भाविनोऽपीति जन्मान्तरेऽपि,  
 अत्रेह जन्मनि पथ्याशित्वाच्च भवन्ति गदा जन्मान्तरेऽपि ब्रह्मजपज्ञानाभ्याम् अर्जितधर्मप्रभावात्

सुगन्धिपुष्पपर्चने समे देशेऽथ भोजयेत् । विविष्टमिष्टमंस्कृतैः पयैरिष्टै  
 रसादिभिः । मनोज्ञं भुञ्चि नात्युष्णं प्रत्यग्रमशनं हितम् । पूर्वं मधुर-  
 मश्रीयान्मध्येऽम्लवर्णौ रसौ । पश्चाच्छेषान् रमान् वैद्यो भोजनेष्वव-  
 चारयेत् । आदौ फलानि भुञ्जीत दाडिमादीनि बुद्धिमान् । ततः पेयाः  
 ततो भोज्यान् भक्ष्यांश्चित्रांस्ततः परम् । यत्नं पूर्वं समश्रीयान् केचिदाहुः  
 विपर्ययम् । आदावन्ते च मध्ये च भोजनस्य नृशस्यते । निरन्ययं द्रव-  
 हरं फलेष्वामलकं तृणम् । मृणालविमशालूक-कण्डेशुभृतीनि च । पूर्व  
 योज्यानि भिषजा न नु भुक्ते कथञ्चन । मुखमुच्चैः समार्मानः समदेहोऽन्न-  
 तत्परः । काले सात्स्यं लघु स्निग्धं क्षिप्रमुष्णं द्रवात्तम् । बुभुक्षितोऽन्नमश्रीयान्  
 मात्रावद् विदितागमः । काले भुक्तं प्रीणयति सात्स्यमन्नं न वाथते । लघु  
 शीघ्रं व्रजेत् पाकं स्निग्धोष्णं बलवद्द्विदम् । क्षिप्रं भुक्तं समं पाकं यात्य-  
 दोषं द्रवात्तम् । सुखं जीर्यति मात्रावत् धानुमास्यं करोति च । अतीवायत-  
 यामास्तु क्षपायेष्टुषु स्मृताः । तेषु तत्प्रत्यनीकाढ्यं भुञ्जीत प्रानरेव नृ ।  
 येषु चापि भवेद्युश्च दिवसा भुशमायताः । तेषु तत्कालविहितमपराद्  
 प्रशस्यते । रजन्यो दिवसाच्चैव येषु चापि समाः स्मृताः । कृत्वा सममहोरात्रं  
 तेषु भुञ्जीत भोजनम् । नाप्राप्तातीतकालं वा हीनाधिकमथापि वा । अप्राप्त-  
 काले भुञ्जानः शरीरे बलघौ नरः । तांस्तान् व्याधीनवाप्नोति मरणं वा  
 स गच्छति । अतीतकाले भुञ्जानो वायुनोपहतेऽनले । कृच्छ्राद् विपच्यते  
 भुक्तं द्वितीयश्च न काङ्क्षति । हीनमात्रमसन्तोषं करोति च बलक्षयम् । आलस्य-  
 गौरवाटोप-सादांश्च कुलेऽधिकम् । तस्मात् सुसंस्कृतं युक्त्या दोषैरेतै-  
 र्विवर्जितम् । यथोक्तगुणसम्पन्नमुपसेवेत भोजनम् । विभज्य कालदोषादीन्  
 कालयोरुभयोरपि । अचोक्षं दुष्टमुच्छिष्टं पाषाणतृणलोप्सवत् । द्विष्टं  
 व्युषितमस्वादु पूति चान्नं विवर्जयेत् । चिरसिद्धं स्थिरं शीतमन्नमुष्णीकृतं  
 पुनः । अशान्तमुपदग्धञ्च तथा स्वादु न लक्ष्यते । यद्यत् स्वादुतरं तत्र  
 विदद्यादुत्तरोत्तरम् । प्रक्षालयेदद्भिरास्यं भुञ्जानस्य मुहुर्मुहुः । विशुद्धरसने  
 तरिपन् रोचतेऽन्नमपूर्ववत् । स्वादुना तस्य रसनं प्रथमेनापि तपितम् । न  
 तथा स्वादयेदन्यत् तस्मात् प्रक्षालयमन्तरा । सौमनस्यं बलं पुष्टिमुत्साहं हृषणं  
 सुखम् । स्वादु सञ्जनयत्यन्नमस्वादु च विपर्ययम् । भुक्त्वा च यत् प्राथयेते  
 भूयस्तत् स्वादु भोजनम् । अशितञ्चोदकं युक्त्या भुञ्जानश्चान्तरा पिबेत् ।  
 दन्तान्तरगतश्चान्नं शोधनेन हरेच्छनैः । कुर्यादनाहृतं तद्धि सुखस्यानिष्ट-

तत्र श्लोको ।

अन्नपानगुणाः साग्र्या वर्गा इदं विधिनाः ।

सगुणान्यनुपानानि गुरुताद्यवसंग्रहः ।

अन्नपानविधावुक्तं ननु परीक्ष्यं विशेषतः ॥ ७४ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चाकप्रतिसंस्कृते श्लोकरथान्ऽन्नपान-

चतुष्केऽन्नपानविधिर्नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

ष्ठितम् । तत्र प्रतिभा श्रुतमात्रमर्थनस्वावबोधः । एवं वृत्तां देहयात्रायां यत्न-  
कम्मे यच्च सद्वृत्तमुक्तं यच्च वैदिकं कम्म यच्चापवर्गे मोक्षे कम्मयोगादिमायन-  
मुक्तं तच्चापि सर्व्वमन्ने प्रतिष्ठितमिति ॥ ७४ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायायमाह—तत्र श्लोकावित्यादि । साग्र्याः श्रेष्ठगुणसहिता  
अन्नपानगुणाः शूकधान्यादीनां द्वादश वर्गाः । अनुपानानि तेषां गुणाश्च गुरु-  
लाघवयोः संग्रहः सकृद्यादीनां क्रमेण । चरः गरीरावयवा इत्यादिना तथा-  
गुरुलाघवयोः परीक्ष्यमस्मिन्नन्नपानविधावुक्तमिति ॥ ७५ ॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि । पूर्व्ववद् व्याख्येयम् ।

इति श्रीगङ्गाधरकविरचकविराजकृते चरकजलपकल्पनरौ सूत्रस्थानीय-  
सप्तविंशान्नपानादिकाध्यायजलपाख्या सप्तविंशी श्राव्या ॥ २७ ॥

हि वर्त्तमानमात्रे प्रवर्त्तन्ते, परीक्षकास्तु जन्मान्तरोपकारिष्येव प्रायः, कम्मं यद् वृत्ताविति वर्त्तमाने  
साध्ये यत् कृष्यादि कम्म; स्वर्गताविति स्वर्गगमने, वैदिकमिति यज्ञादि; अपवर्ग इति मोक्षे;  
पुताश्च निमित्तसप्तम्यः; यच्चोक्तमिति मोक्षशास्त्रे 'सत्यं ब्रह्मचर्य्योदि अन्ने प्रतिष्ठितम्' इति,  
अन्ननिबन्धनदेहस्थित्यभावेन सर्व्वारम्भाभावात्, यस्मादन्नं सर्व्वत्र कारणं, ततस्तत्राव-  
धातव्यमिति ॥ ७४ ॥

चक्रपाणिः—संग्रहेऽन्नपानगुणा इति इष्टवर्णम्' इत्यादिनोक्ताः, साग्र्या इति "उदकं  
हृदयति" इत्यादिना, उदकादयो हि हृदनादिषु अग्र्याः श्रेष्ठा इत्यर्थः ॥ ७५ ॥

इति चरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्व्वेददीपिकायां सूत्रस्थान-

व्याख्यायाम् अन्नपानविधिर्नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

सन्धुक्षितवलेन यथास्वेनोष्मणा सम्यग्विपच्यमानं काल-  
वदनवस्थितसर्वधातुपाकम् अनुपहतसर्वधातूपममारुतस्रोतः  
केवलं शरीरमुपचयवत्त्वणसुखायुषा योजयति धातून् ज्ञयति ।

तदन्तरग्निना सन्धुक्षितवलेन स्वेन स्वेनोष्मणा स्वस्वस्थितेनाग्निना  
सम्यग्विपच्यमानः खलु कालवदविग्नगमनशीलो यथा कालस्तथाविरत-  
तेवानवस्थितः सर्वधातूनामनन्तरावस्थापारभ्य पूर्वाविस्थानाशात्मकः यथास्वे-  
नैवोष्मणा पाको यस्मिंस्तन् केवलं कृत्स्नं शरीरमनुपहतानि सर्वधातूप-  
मारुतस्रोतांसि यस्मिंस्तत् । तथाविधं सदेव उपचयवत्त्वणसुखायुषा सह योज-  
यति । अविरतसर्वधातुपाकमपि शरीरं नोपहतसर्वधातूपमारुतस्रोतो  
भवति । यतः सर्वान् शरीरधातून् ज्ञयति । प्रतिदिनं यथाकालमभ्यवहन्  
क्रमेणाविरतं रसादीन् धातून् जनयित्वा सर्वधातूपमारुतस्रोतांसि पोषयद्बलं  
जनयति ।

कर्तृत्वाभावात्, अन्तरग्निना जठरेण वह्निना सन्धुक्षितं बलं यस्य तेनान्तरग्निः सन्धुक्षित-  
वलेनोष्मणा, यथास्वेनोष्मणेति पृथिव्यादिरूपाशितादेर्यस्य य उष्मा पार्थिवान्यादिकरूपस्तेन,  
वचनं हि — भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः । पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान्  
पार्थिवादीन् पचन्ति हि ॥” इति । सम्यग्विपच्यमानमित्यशितादि, किंवा, यथास्वेनोष्मणेति  
यस्य रुधिरादेये उष्मा धात्वग्निरूपस्तेन सम्यग्विपच्यमानमशितादि रसतामापन्नम्, यथा  
कालो नित्यगत्वेनानवस्थितः, तथानवस्थितोऽविश्रान्तः सर्वधातूनां पाको यस्मिन् शरीरे तत् तथा,  
तेन, स्वाग्निपाकक्षीयमाणधातोः शरीरस्याशितादिना उपचयादियोजनमुपपन्नमिति दर्शयति ।  
यदि हि पाकक्षीयमाणं शरीरं न स्यात् तदा स्वतः सिद्धे उपचयादौ किमशितादि कुर्यादिति  
भावः ; किंवा, कालवदित्यशितादिविशेषणम्, तेन, यथोक्तकालकृतमशितादीत्यर्थः, अकाल-  
भोजनस्योपचयाकारकत्वात्, तथा, अनवस्थितः सर्वधातुषु पाको यस्य तस्याशितादेस्तत् तथा,  
एतेन, क्वचिदप्यशितादे रसरूपस्य पाकविगमनात् नोपचयादिर्भवतीति दर्शयति ; एतच्च  
व्याख्यानं नातिसुन्दरम्, अस्यार्थस्य ‘अनुपहत’ इत्यादिशरीरविशेषणेनैव लब्धत्वात् पुनः  
शरीरविशेषणमनुपपन्नम् । अनुपहतेत्यादि । अनुपहतानि सर्वधातूनाम् उष्ममारुतस्रोतांसि  
यस्य तत् तथा, यदा हि एकोऽपि धातुपाककोऽग्निरूपहतो मारुतो वा धातुपोषकरसवाही व्यान-  
रूपः क्वचिदुपहतो भवति, तथा स्रोतो वा धातुपोषकरसवहमुपहनं स्यात्, तदाशितादिकं  
धातूनामवर्द्धकत्वान्नोपचयादिकारकमिति भावः ; केवलमिति कृत्स्नं शरीरम्, किंवा, केवल-  
मित्यधर्म्मरहितम्, अधर्म्मयुक्ते हि शरीरे विफलमाशितादि भवतीति ।

नासास्यलोमकृपप्रजननमलाः केशश्मश्रुलोमनखादयश्चावयवाः  
पुप्यन्ति । पुप्यन्ति त्याहाररसाद् रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्ज-  
शुक्रौजांसि पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि धातुप्रणादसंज्ञकानि, शरीर-

किङ्कादेते पुप्यन्ति । यथा जाडराक्षितान्मस्य पाकास्मिन् समुदीरितफेन-  
भागमाहत्य श्लेष्मा पुप्यन्ति तथा रक्तस्य मलमाहत्य श्लेष्मा पुप्यन्ति । यथा च  
पच्यमानादन्नान् स्वच्छभाग उदीर्यते यस्ममाहत्य रितं पुप्यन्ति तथा रक्त-  
स्यापि पच्यमानस्य किङ्कात् पित्तं पुप्यन्ति । मांसस्य पच्यमानस्य किङ्कात्  
किङ्काहत्य यथायथं कर्णाभिनासास्यरोमकृपोपस्थमन्त्राः पुप्यन्ति । मेदसः  
पच्यमानस्य किङ्कात् किङ्काहत्य पुनः स्वेदः पुप्यन्ति । अस्थनां पच्यमानानां  
किङ्कात् किङ्काहत्य केशश्मश्रुलोमनखदन्तादयः पुप्यन्ति । मज्जन्तु पच्य-  
मानस्य किङ्कात् किङ्काहत्य देहस्य स्नेहः पुप्यन्ति । तत्र पच्यमानायाः  
किङ्कात् किङ्काहन्याभिषिद् पुप्यतीति । मलाख्यः पाककलम् । वक्ष्यते च  
चिकित्सिते ग्रहणीचिकित्सिते । अन्नस्य भुक्तमात्रस्य पट्टमस्य प्रपाकतः ।  
मधुराख्यात् कफो भावात् फेनभाव उदीर्यते । परन्तु पच्यमानस्य विदग्ध-  
स्याम्बभावतः । आशयाच्चयवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते । पकाशयन्तु  
प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना । परिपिण्डितकस्य वायुः स्यात् कटुभावतः ।  
सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः । यथास्वप्निभिः पाकं यान्ति किङ्क-  
प्रसादनः । किङ्कमन्नस्य विष्मृत्रं रसस्य नु कफोऽसृजः । पित्तं मांसस्य  
खमला मलः स्वेदस्तु मेदसः । स्यात् किङ्कं केशलोमास्थनो मज्जः स्नेहोऽक्षि-  
विट्त्वचः इति ।

प्रसादाख्यात् तु पोषणमाह—पुप्यन्ति तित्यादि । आहाररसात् नु रस-  
रुधिरादीनि पुप्यन्ति । एवमुक्तं ग्रहण्यध्याये । रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेद-  
स्ततोऽस्थि च । अस्थनो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद् गभः प्रसादजः । इति । ओजस्तु  
सर्वधातुसारम् । एवम् आहाररसादेव प्रसादसंज्ञानि पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि

कफोऽसृजः । पित्तं मांसस्य खमलो मलः स्वेदस्तु मेदसः । स्यात् किङ्कं केशलोमास्थनो मज्जः  
स्नेहोऽक्षिविट्त्वचः” ; आदिग्रहणात् स्नेहादि ग्राह्यम् । यद्यपि वातोऽनशनादप्युपलभ्यते तथापि  
रुक्षकिङ्कादिभोजनमलांशादप्युपपद्यत एवेति किङ्काद् वातोत्पत्तिर्युक्तैव, न चायं नियमः, यत्—  
मलादेवोत्पद्यत एवेति व्यायामादवगाहादेरपि वातादिसंज्ञावात् ; प्रजननं लिङ्गम् ।

रसपोष्यमाह—पुप्यन्ति हीत्यादि । पञ्चेन्द्रियद्रव्याणीति पृथिव्यादीनि प्राणादीन्द्रिय-

सन्धिवन्धनपिच्छादयश्चावयवाः । ते सर्वे एव धातवो मलाख्याः प्रसादाख्याश्च रसमलाभ्यां पुष्यन्तः स्वं मानम् स्नेजोमयी वागिति । एवं रसादेव च शरीरस्य सन्धिवन्धनपिच्छादय-श्चावयवाः पुष्यन्ति । ते सर्वे एव मलाख्याः प्रसादाख्याश्च धातवः रस-मार्गचारिन्वात्, एवं मेद प्रवृत्तिपोषणेऽपि ज्ञेयम् । तेन रसादूर्कं ततो मांसम् इत्यादेरयम् अर्थः,—यत्—रसपुष्टिकालादुत्तरकालं रक्तं जायते, तथा रक्तकालादुत्तरकालं मांसं प्रजायत इत्यादि । यच्च ‘रक्तं विवद्वमार्गत्वात् मांसादीन् न प्रपद्यते’ इति राजयक्ष्मणि वक्ष्यति तत् हृदय-चारिशोणितमिप्रायेण, न तु पोषकशोणितमिप्रायेण । किञ्च, परिणामपक्षे, वृष्यप्रयोगस्य रक्तादि-रूपापत्तिक्रमेणातिचिरं शुक्रं भवतीति ; श्रीरादयश्च मद्य एव वृष्या दृश्यन्ते ; खलेकपोतपक्षे तु वृष्योत्पन्नो रसः प्रभावात् शीघ्रमेव शुक्रेण सम्बद्धः सन् तदुष्टिं करोतीति युक्तम् । तथा रस-दुष्टौ सत्यां परिणामपक्षे तन्मन्मनां शोणितादीनां सर्वेषामेव दुष्टिः स्यात् दुष्टकारणजातत्वात् ; खलेकपोतपक्षे तु यद्धानुपोषको रसभागो दुष्टः, स एव दुष्टयति न सर्वैः, तदितरंरसामदुष्टकारण-त्वात् ; तथापि मेदोदुष्टौ सत्यां मूर्तिकारणत्वेनास्नापि भूयसा भवितव्यम्, दृश्यते च मूर्ति-मेदसा इतरधानुपरिक्षयः, वचनञ्च—मेदस्विनो मेद एवोपवीर्यते, न तथेतरं धातवः इति, एवमादिपरिणामवादे दूषणम् : एषु पक्षेषु सर्व्वोत्पत्तिपरिणामवादो विरुद्ध एव । येन, सर्व्वोत्प-परिणामे त्रिचतुरोपवासात् शरीरस्य मरणं स्यात्, मांसोपवासं च केवलं शुक्रमयं स्यात् ; केदारीकुल्यान्यायस्तु तुल्यबल एव खलेकपोतन्यायेन, यतः, यदुक्तं वृष्यप्रभावं प्रति, तत् केदारी-कुल्यापक्षेऽपि प्रभावादेव शीघ्रं रक्तादिधातून्धिगम्य शुक्रं जनयिष्यति वृष्यं, यथा खलेकपोत-पक्षेऽपि ‘प्रभावाद्’ इति ; यत् तु रसदुष्टौ शोणितदूषणं, तन्न भवति, धातुभूतशोणितांशपोषकस्य रसभागस्यादुष्टत्वादिति समानं पूर्व्वेण ; अत्रापि हि पक्षे न सर्व्वो रसो धातुरूपशोणिततामापद्यते, किं तर्हि, कश्चिदेव शोणितसमानभागः, शेषस्तु शोणितस्थानगतत्वेन किञ्चिच्छोणितसमान-वर्णादित्वाच्च शोणितमुच्यते, अनेन न्यायेन,—मेदोदुष्टौ सत्याम् अस्थिवृद्धिरपि निरस्ता, यतः, मेदसा सह अस्थि पोष्यते, अपि तर्हि मेदःस्थानगतनैव रसेन मेदोऽनुकारिणा ; एवमनयोः पक्षयो-र्महाजनादृतत्वेन तुल्यन्यायत्वेन च नैकमपि निश्चितं ब्रूमः, बुद्धिविभवान्न पक्षबलाबलम्, तत्र न कश्चित् कार्य्यविरोध इत्युपरम्यते ।

नन्वाहाररसाद् रसादयः पुष्यन्तीति वदता धातुरसादाहाररसोत्पादः पृथक् स्वीक्रियते, ततश्च, तस्य किं स्थानं, किंवा प्रमाणमिति नोच्यते ? न तस्याहारोत्कर्षापकर्षावेवंविधातुत्कर्षापकर्षस्य निश्चितप्रमाणत्वाभावात्, तत्स्थानं तु धमन्य एव पोषकाहाररसस्य तस्य च पृथक् रसादिधातुभ्यः प्रदेष्टान्तरग्रहणं न क्रियते, रसादिकारणरूपतया रसादिग्रहणेनैव ग्रहणात् । अत्र यद्यप्योजः सप्तधातुसाररूपम्, तेन धातुग्रहणेनैव लभ्यते, तथापि प्राणधारणकर्तृत्वेन पृथक् पठति ; ये तु शुक्रजन्यमोज इच्छान्तः, तेषामष्टमो धातुरोजः स्यादिति पक्षे चातिदेशं कृत्वा वक्ष्यति—‘रसादीनां शुक्रान्तानां यत् परं तेजस्तत् खल्वोजः’ इति ।



रमन्तिनुप्रविष्टयोऽत्र गा दश दश चाधोगाश्चतस्रस्त्रियगणाः कृतस्मन् शरीरमद्वहः  
 तपयति तदुपयति धारयति व्यापयति जीवयति चादृष्टेनुकेन कम्पयति । तस्य  
 शरीरमनुधावतोऽष्टुगताद् गतिमदलक्षयिनव्या भवद्विवैक्यैः । तस्मिन्  
 मव्वशरीरावसनदोषधानुमलाजयासुमारिणि रमे जिजायाः किमयं सोम्यः  
 रजसो वेति । अत्र त्वयन् -- म स्वन्तु द्रवास्तुमारी स्नेहनजीवनतपणधारणादिभिः  
 विदोषैः सोम्य उभयवगम्यते । म स्वन्तुवाप्यो रजो यद्वहद्वादानां प्राप्य  
 गगमुपैति । भवनश्चात्र । रज्ज्वतास्नेजया तापः शरीरमध्येन देहिनाम् ।  
 अव्यापन्ताः प्रसन्नेन रक्तमिन्यभिधीयते । रसादेव त्विया रक्तं रजःसंज्ञं  
 पवत्ते । तद्वर्षाद् द्वादशादृद्धं याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥ आत्तवर्णोऽणितन्तु  
 अग्नेयमग्नीगोपीयत्वाद् गमस्य पाश्चात्तौतिकश्चापरे जीवस्तमाहुराचार्याः ।  
 विस्मता द्रवता गतः स्यन्तं लघुता तथा । भूम्यादीनां गुणा ह्येते दृश्यन्ते  
 चात्र शोणिते । रसाद्रक्तं ततो र्जसं र्जसाम्भेदः प्रजायते । मेदसोऽस्थि  
 ततो मज्जा मज्जः शुक्रस्य सम्भवः ॥ तत्रैवं धातुनामव्यापनस्य प्रीणयिता ।  
 रसजं पुरुषं विद्याद् रमं रक्षन् प्रयत्नतः । अन्तान् रासाच्च मतिमान्ताचाराच्यप्य-  
 तन्निद्रतः । तत्र रम रता धातुः, अहरहश्छतीत्यतो रमः । म स्वन्तु त्रीणि त्रीणि  
 कलासहस्राणि पञ्चदश च कला वैकैर्कस्मिन् धातावदतिष्ठन्ते एवं मासेन रसः  
 शुक्रीभवति, त्रीणाश्चात्तवर्मिति । भवति चात्र । अष्टादश गदस्माणि  
 संख्या चास्मिन् समुच्चये । कलानां तवतिः प्रोक्ताः स्वल्पत्रपस्तन्त्रयोः ॥  
 सशब्दाच्चिञ्जलसन्तानवदणुना विशेषेणानुधावन्येवं शरीरं केवलम् । वार्जा-  
 करण्यस्तोषधयः स्वबलगुणोत्कर्षाद् विरेचनवदुपयुक्ताः शुक्रं शीघ्रं विरे-  
 चयन्तीति । अत्र कला त्रिंशत्काष्ठारूपा नतान्तरे दशमुहूर्त्तरूपा । तेन  
 पञ्चाहोरात्रात् परं रक्तं भवतीत्येवमेकैकधातुपरिवर्त्तनेन त्रिंशद्दिनात् परं  
 शुक्ररूपेण प्रव्यज्यते रसः पुंसः स्त्रिया आत्तवरूपेणेति । हारीतमने सप्त-  
 दिनादवर्वागितवचनेन कस्यचित् कदाचित् पञ्चाहेन पट्टहेन वा रसपरिवर्त्तनं  
 भवति न त्वन् ऊद्धमिति ख्यापितम् । षट्त्रिंशद्दिनात् परमिति नावर्वाक्  
 शुक्रं भवतीति ॥ २ ॥

इति योजना । एवमित्यादौ स्वप्रमाणावसिगतौ इति अनतिरिक्तावन्यूना च, आश्रयस्येति  
 शरीरस्य, यथा पक्वं सर्व्वाश्रयं पश्चाद्गमनीभिः प्रपद्यते सर्व्वशरीरमित्यर्थः ; समधातोरेति सम-  
 रसादेः समस्वेदमुत्रादेश्च ॥ २ ॥

समुपनश्यन्ते । तेषां मलप्रसादाख्यानां धातूनां स्रोतांस्ययन-  
मुखानि तानि यथाविभागेन यथास्वं धातून् पूरयन्ति । एवमिदं  
शरीरम् अशितनीदृपीतखादितप्रभवम् अशितखादितपीतलीङ्-  
प्रभवाश्च शरीरेऽस्मिन् व्याधयो भवन्ति । हिताहितोपयोग-  
विशेषास्तत्र शुभाशुभकरा भवन्तीति ॥ ३ ॥

एवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमश्विंश्च उवाच । दृश्यन्ते हि

केन पथा ते पोषकाः स्युर्गि ? अत उच्यते—तेषामित्यादि । तेषां मला-  
ख्यानां प्रसादाख्यानाञ्च धातूनामयनस्य गमनस्य मुखानि स्रोतांसि  
तानि स्रोतांसि यथास्वं यस्य धातोयन् स्रोतस्तद्धि खलु यथाविभागेन  
पूर्वपूर्वधातूनां परपरधातून् पूरयन्ति । एवमित्यादि । अनेन प्रकारेणाशित-  
पीतलीङ्खादिताहारप्रभवमिदं शरीरं यथा तथैवाशितादिप्रभवाश्च व्याधयो-  
ऽस्मिञ्छरीरे भवन्ति । कथमित्यन आह—हिताहितेत्यादि । तत्र हिताहारोप-  
योगविशेषाः शुभकरा आरोग्यकरा भवन्ति । अहिताहारोपयोगविशेषा अशुभ-  
करा व्याधिकरा भवन्ति । इति ॥ ३ ॥

अथात्र संशयानस्याश्विवेशस्य प्रश्नमुपन्यस्तुमाह—एवंवादिनमित्यादि ।  
तत्प्रश्नं दर्शयति—दृश्यन्ते हीत्यादि । हि यस्माद्वा भगवन् गुरो हित-  
यथायोग्यतयोपचर्यमाणा इति ज्ञेयम्, एतेन वृद्धमलाणां त्रिविधोऽप्युपक्रमो निदानवर्जनशोधन-  
शमनरूप उक्तो भवति, अत्र निदानवर्जनं वृद्धमले मलवृद्धिहेत्वाहारपरित्यागादल्पमलाहारोप-  
योगाद् वा बोद्धव्यम्, संशोधनञ्च उत्सर्गिणः इत्यनेनोक्तम्, शमनञ्च शीतोष्णं इत्यादिग्रन्थे-  
नोक्तम् ।

अयनानि च तानि मुखानि चेत्ययनमुखानि, अत्रायान्त्यनेनायनानि, स्रोतांस्रोतोमुखञ्चाय-  
नञ्च ; किंवा अयनस्यागमनस्य मुखानि मार्गाणि, तेन अयनमुखानि गतिमार्गाणीत्यर्थः ; तानि  
च स्रोतांसि मलप्रसादपूरितानि । धातून् यथास्वमिति यद् यस्य पोष्यं तच्च तत् पूरयति ;  
यथाविभागेनेति—यस्य धातोयो विभागः प्रमाणं तेनैव प्रमाणेन पूरयति, तादृक्प्रमाणान्येव  
पुष्यन्ति, नाधिकानीत्यर्थः ; एतच्च प्रकृतिस्थानां कर्म ; विकृतानान्तु न्यूनातिरिक्तधातुकरण-  
मस्येवेति बोद्धव्यम् ; उक्तञ्चान्यत्र—‘स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुना’ इति ।

उपसंहरति—एवमित्यादि । कथमशितादेर्विद्वयोः शरीरतदुपधातुकरोगयोहत्वाद् इत्याह—  
हिताहितेत्यादि । हितरूपोऽशितादिविशेषः शुभरूपविशेषकारकः, अहितरूपस्त्वशितादिविशेषो-  
ऽशुभरूपविशेषकरो भवतीति । तेन नैकरूपात् कारणात् विरुद्धकार्योदय इति भावः ॥ ३ ॥

व्याधिनोपपादयन्ति । तस्माद्विनाहारोपयोगिनोऽपि दृश्यन्ते  
 च व्याधिमन्तः । अहिताहारोपयोगिनां पुनः कारणतः  
 न सद्यो दोषवान् भवन्त्येवम् । न हि सर्वत्राप्यपथ्यानि  
 तुल्यदोषाणि । न च सर्वे दोषस्तुल्यवलाः सर्वाणि शरीराणि  
 न व्याधिक्षिप्तये समर्थानि भवन्ति । तदेव ह्यपथ्यञ्च देशकाल-  
 संयोगवशाद्येप्रमाणातिवोगाद् भूयस्तामपथ्यं मपथ्येन । स एव  
 व्याधिरूपेणाश्रमेनोपपादयन्ति । तस्माद्विनाहारोपयोगिनोऽपि पुरुषा  
 व्याधिमन्तो दृश्यन्ते । अथाहितसमाख्यानमाहारमुपयुज्जाना ये चागदा  
 दृश्यन्ते तत्र ब्रूमः । अहिताहारोपयोगिनां पुमान् न सोऽपचारो न सद्यो  
 दोषवान् भवति कारणतः प्रतिबन्धककारणान्तरतः न सद्योऽशुभकरो  
 भवति यावदोषवान् न भवति नोऽपचारस्तावत् ते जगता दृश्यन्ते यदा  
 दोषवान् स्यात् तदा व्याधिमन्तो भवन्ति । कस्मान्न सद्यो दोषवान्  
 भवति सोऽपचारः ? अन्यत आह—न हीन्यादि । हि यस्मात् सर्वाप्यपथ्यानि  
 न तुल्यदोषाणि भवन्ति । कानिचित् सद्योदोषवन्ति कानिचित्  
 कालान्तरदोषवन्ति भवन्ति तन्स्वभावात् । ये च तेषामपथ्यानां दोषास्ते-  
 ऽपि सर्वे दोषा न तुल्यवलाः केचिदल्पवलाः केचिन्मध्यवलाः केचित्  
 प्रबलवलाः । एवं चेत् तत्रापि पुमां शरीराणि सर्वाणि न व्याधिक्षिप्तये  
 समर्थानि भवन्ति । कानिचिच्छरीराणि व्याधिसहानि व्याधिमन्त्रपि  
 चाव्याधीनीव भान्ति व्याधिक्षिप्तये समथत्वात् । कानिचिच्छरीराणि यत्-  
 किञ्चिद् व्याधिमन्त्रपि प्रबलव्याधिमन्तीव भान्ति व्याधिक्षिप्तये सामर्थ्या-  
 भावात् । तथाचाह—तदेवेत्यादि । यदपचारादगदाः पुरुषा दृश्यन्ते हि यस्मात्  
 तत् अपथ्यमल्पवलं न सद्योदोषवद्भवति देशकालाद्यतियोगाद् भूयस्तरं बलव-  
 रोगकारणानि ; अहिताहारोपयोगिनमित्यादि । कारणत इति निमित्तान्तरात् प्रतिबन्धकात्,  
 तच्च कारणम्,—“तदेव ह्यपथ्य -मित्यादिवक्ष्यमाणग्रन्थविपरीतं बोद्धव्यम् । सद्य इति तत्कालम्,  
 अनेनापथ्यस्य रोगजननं प्रति कालान्तरविकारकर्तृत्वं प्रायो भवतीति दर्शयति, अन्यथा सद्य  
 इत्यनर्थकं स्यात् कालान्तरेऽपि दोषाकर्तृत्वात् ; दोषवानिति व्याधिजनकः, अपचार इति  
 अहिताहारोपयोगः ; उक्तकारणमाह—न हीत्यादि । तुल्यदोषाणीति तुल्यदोषकराणि ; व्याधि-  
 क्षमित्वं व्याधिवलविरोधित्वं व्याधुत्पादप्रतिबन्धकत्वमिति यावत् ; तदेवापथ्यतुल्यदोषादि  
 विवृणोति—तदेवेत्यादि । अत्र यद्यपि प्रस्तुतत्वादपथ्यप्रतिबन्धकानि कारणानि वक्तव्यानि,

सहानि । एभ्यश्चैवापथ्याहारदोषशरीरविशेषेभ्यो व्याधयो  
मृदवो दारुणाः क्षिप्रसमुत्थाश्चिरकारिणो भवन्ति । अतः  
एव वातपित्तश्लेष्माणाः स्थानविशेषे प्रकुपिताः व्याधिविशेषान्  
अभिनिर्वर्त्यन्त्यस्मिन्नेव । तत्र रसादिषु स्थानेषु प्रकुपितानां  
दोषाणां यस्मिन् यस्मिन् स्थाने ये ये व्याधयः सम्भवन्ति  
तांस्तान् व्याधीन् यथावत् अनुव्याख्यास्यामः ॥ ५ ॥

नहि कुतो व्याधयो मृदुदारुणादयो भवन्ति ? इत्यत उच्यते—एभ्यश्चैवेत्यादि ।  
अपथ्याहारश्च देशकालसंयोगवीर्यप्रमाणानियोगकुतोऽपथ्याहारजो दोष-  
विशेषश्चातिस्थलादिशरीरविशेषश्चैवेभ्य एव हेतुभ्यो मृदवो व्याधयो  
भवन्ति । तद्विशेषेभ्यो दारुणाश्च व्याधयो भवन्ति । तद्विशेषे क्षिप्रसमुत्थाश्च  
चिरकारिणश्च व्याधयो भवन्तीति ।

के पुनरेषां विशेषेभ्यो मृदुदारुणादीन् व्याधीन् जनयन्ति ? इत्यत  
उच्यते—अत एवेत्यादि । अत एवापथ्याहारादोषशरीरविशेषेभ्य एव वातादयः  
कुपिताः स्थानविशेषे व्याधिविशेषानभिनिर्वर्त्यन्ति । स्थानविशेषेण यद्राधि-  
विशेषान् दर्शयितुं प्रतिजानीते । तत्रेत्यादि । रसादिषु स्थानेषु कुपिता यस्मिन्  
यस्मिन्परस्मिन् स्थाने ॥ ५ ॥

किंवा, अनिविष्टानि विपनाणि । उपचितानीति संवर्द्धितानि, आमाल्लपुष्टं हि शरीरमनुभूत-  
दोषभाजितमेव भवतीति भावः ; विपरीतानीत्यनतिस्थूलत्वादियुक्तानि, व्याधिसहानीति  
व्याध्युत्पादकप्रतिबन्धकानि ; एतच्च शरीरमधिकृत्य वैपरीत्यं व्याधिसहत्वे उदाहरणार्थम्  
उपन्यस्तम्, तेन यथोक्ता पथ्यबलवैपरीत्यं दोषबलवैपरीत्यञ्च न सद्यो व्याधिकारकं  
भवतीत्येदप्युक्तं बोद्धव्यम्, एतदेवापथ्याहारदोषशरीराणामेवाबलवत्त्वबलवत्त्वेन लक्षणविशेषं  
यथायोग्यतया मृदादिव्याधिकारणत्वेन उपसंहरन्नाह—एभ्यश्चैवेत्यादि । विशेषा यथोक्ता  
उक्तविपरीताश्च, तत्र, उक्तविपरीतानां विशेषान् मृदुवस्तथा चिरकारिणश्च भवन्ति, यथोक्तापथ्यादि-  
विशेषाद् दारुणाः क्षिप्रकारिणश्च भवन्तीति मन्तव्यम् । अनेन प्रसङ्गेन वातादीनां रसादि-  
स्थानविशेषेषु कुपितानां ये व्याधयो भवन्ति, तान् दर्शयितुमाह—अत एवेत्यादि ।  
तत्र रसेत्यादीं कुपितानां दोषाणामित्यनियमेन रसे कुपितो वायुः पित्तं वा  
श्लेष्मा वा, वातादयोऽश्रद्धादीनि कुर्वन्त, सत्यपि दोषभेदे आश्रयस्याभेदात् आश्रयप्रभावेणैवा-  
ऽश्रद्धादयो भवान्त, परं दोषभेदे अश्रद्धादावेव वातादिलिङ्गं विशिष्टं भवति ; किंवा यथायोग्य-

—मेदःसंश्रयास्तु प्रवक्ष्यते ।

निन्दितानि प्रमेहाणां पूर्व्वरूपाणि यानि च ॥

अध्यस्थिदन्तदन्तास्थि-भेदशूलं विवर्णता ।

केशलोमनखश्मश्रु-दोषाश्चास्थिप्रकोपजाः ॥

मूर्च्छाभ्रमोऽसत्तमसो दर्शनं पव्वणाञ्च रुक् ।

अरुषां स्थूलमूलानां पव्वजानाञ्च दर्शनम् ॥

मज्जप्रदोषात् ————— ॥

—शुक्रस्य दोषान् क्लेश्यमहर्षणम् ।

रोगिणं क्लीबमल्पायुर्विरूपं वा प्रजायते ॥

न चास्य जायते गर्भः पतति प्रस्रवत्यपि ।

शुक्रं हि दुष्टं सापत्यं सदारं वाधने नरम् ॥ ६ ॥

रोगान् विद्यात् । ३ । मेदःसंश्रयास्तु रोगान् यानि निन्दितानि  
अतिस्थूललिङ्गानि यानि च प्रमेहाणां पूर्व्वरूपाणि तान् विद्यात् । ४ ।  
अस्थिप्रकोपजा अध्यस्थ्यादयः ; अध्यस्थि अधिकास्थि : अधिदन्तश्च ।  
दन्तभेदो दन्तशूलम् अस्थिभेदोऽस्थिशूलं केशादीनां दोषश्चेति । ५ । मज्ज-  
प्रदोषात् तु मूर्च्छा च भ्रमश्चासत्तमोदर्शनश्च पव्वणां रुक् च पव्वजानां स्थूल-  
मूलानामरुषां व्रणानां दर्शनश्च भवति । ६ । शुक्रस्य दोषान् क्लेश्यश्च महर्षणश्च  
व्यवायाथं शेरुसोऽनुद्गमः स्यात् । यदि वा व्यवायशक्तिवृत्तते तदा स शुक्र-  
दोषाद्रोगिणं क्लीबमल्पायुर्विरूपं वापत्यं प्रजायते । न चास्य शुक्राद् गर्भो  
जायते, जातो वा गर्भः पतति प्रस्रवत्यपि । कुत एवं स्यादत उच्यते । शुक्रं  
हीत्यादि । हि यस्मात् दुष्टं शुक्रं सापत्यं सदारं पुमांसं वाधने ॥ ६ ॥

कीलशब्देनाऽत्रार्श उच्यते । निन्दितानि प्रमेहपूर्व्वरूपाणीति केशजटिलत्वादीनि तेषामेव  
निन्दितत्वात्, न त्वास्त्रवैरस्यमधुरत्वादीनि, किंवा निन्दितानांति अतिस्थूलगतान्यायुर्हसादीनि  
अर्धोनिन्दितीयोनानि, तेषाञ्च निन्दितत्वं निन्दितानिस्थूलत्वेन, एवं पूर्व्वस्मिन् व्याख्याने  
“यानि च” इति चकारो नियमे, उत्तरव्याख्याने चः समुच्चये । अध्यस्थिदन्तशब्देन  
अध्यस्थिदन्तयोर्ग्रहणम्, शूलमध्यस्थिशूलमेव बोद्धव्यम् । मूर्च्छेत्यादि मज्जदोषाज् ज्ञेयम् ।  
अरुषीति व्रणानि । क्लेश्यमिति ध्वजानुच्छायाः ; महर्षणञ्च सत्यपि ध्वजोत्थाने मैथनाशक्तिः,

रसजानां विकाराणां सर्वं लङ्घनमौषधम् ।  
 विधिशोणितिकेऽध्याये रक्तजानां भिषगजितम् ॥  
 मांसजानान्तु संशुद्धिः शस्त्राग्निकम्पे च ।  
 अष्टौनिन्दितसंख्याने मेदोजानां चिकित्सितम् ॥  
 अस्थ्याश्रयाणां व्याधीनां पञ्च कर्माणि भेषजम् ।  
 वस्तयः क्षीरसर्पीषि तिक्तकोपहितानि च ॥  
 मज्जशुक्रसमुत्थानामौषधं स्वादुतिक्तकम् ।  
 अन्नं व्यवायः व्यायामौ शुद्धिः काले च मात्रया ॥  
 शान्तिगन्ध्रियजानान्तु त्रिमर्मीये प्रवक्ष्यते ।  
 स्नाय्वादिजानां प्रश्नो वातरोगिके ॥  
 नवैगान्धारणेऽध्याये चिकित्सासंग्रहः कृतः ।  
 मलजानां विकाराणां सिद्धिश्चोक्ता क्वचित् क्वचित् ॥ ६ ॥

हितान्येवाशितादीनि सदा मतिमान् सेवेत, तथा तेन प्रकारेण तज्जा आमया  
 न स्युरिति ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—एषां रसादिजानां व्याधीनां चिकित्सामाह—रसजानामित्यादि ।  
 सर्वं लङ्घनं दशविधमुक्तं यत् तदौषधम् । रक्तजानां व्याधीनां भिषगजितं  
 विधिशोणितिकाध्याये प्रोक्तम् । मांसजानां व्याधीनां भिषगजितं संशुद्धिः  
 वमनादिः शस्त्रादिकम्पे च । मेदोजानां व्याधीनां चिकित्सितमष्टौनिन्दि-  
 तीये स्थौल्यचिकित्सितमुक्तम् । अस्थ्याश्रयाणां व्याधीनां भेषजं पञ्च-  
 कर्माणि वस्तयः तिक्तद्रव्योपहितानि क्षीराणि च सर्पीषि चेति । मज्जशुक्र-  
 समुत्थानां व्याधीनामौषधं स्वादु च तिक्तश्चान्नं व्यवायव्यायामौ शुद्धिवेमना-  
 दिश्च मात्रया काले च । इन्द्रियजानां व्याधीनां शान्तिः त्रिमर्मीये प्रवक्ष्यते ।  
 स्नाय्वादिजानां व्याधीनां प्रश्नो वातरोगाध्याये वक्ष्यते । मलजानां विका-

हितवस्तेर्विशेषेण हितत्वोपदर्शनार्थम् । शुद्धिरिति वमनादिना सिद्धिः प्रोक्ता । क्वचिदिति  
 भत्तीसारग्रहण्यादौ ॥ ८।९ ॥

अजातानामनुत्पत्तौ जानानां विनिवृत्तये ।  
 रोगाणां यो विधिर्दृष्टः सुखार्थो न समाचरेत् ॥  
 सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः ।  
 ज्ञानाज्ञानविशेषात् तु मार्गामार्गप्रवृत्तयः ॥  
 हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः ।  
 रजोमोहावृतात्मानः प्रियमेव तु लौकिकाः ॥  
 श्रुतिर्वृद्धिः स्मृतिर्दाह्यं \* धृतिर्हितनिषेवणम् ।  
 वाग्विशुद्धिः शमो धैर्यमाश्रयन्ति परीक्षकम् ॥

गङ्गाधरः—इत्यञ्च सुखार्थी आरोग्यार्थी पुमान् न विधिं समाचरेत्,—  
 यो विधिरजातानां व्याधीनामनुत्पत्तौ दृष्टो यश्च विधिर्जातानां रोगाणां  
 विनिवृत्तये दृष्टः । कस्मादित्यत आह—सुखार्था इत्यादि । सर्वभूतानां  
 सर्वाः प्रवृत्तयः सुखार्था एव मता न तु दुःखार्थाः । ननु दृश्यन्ते बह्वः  
 प्रवृत्तयो दुःखहेतव इति, कथं सुखार्थाः सर्वाः प्रवृत्तयो मताः ? इत्यत  
 उच्यते—ज्ञानेत्यादि । मार्गामार्गप्रवृत्तयस्तु सुखामुखहेतुप्रवृत्तयस्तु ज्ञाना-  
 ज्ञानविशेषाद्भवन्तीति ; ज्ञानविशेषात् प्रकृतमार्गेण प्रवृत्तयो भवन्ति  
 ताः सुखार्थाः, अज्ञानविशेषात् अमार्गेण अविधिपथेन प्रवृत्तयो भवन्ति  
 ता दुःखार्था इति । याः प्रवृत्तयो दुःखार्था दृश्यन्ते ता अज्ञानादेव न तु  
 ज्ञानादिति परीक्षकाः पुरुषाः हितमेव प्रपरीक्ष्यानुरुध्यन्ते कामयन्ते ।  
 दैवादिकोऽनुदात्तेति मित्यनुपूर्वकः रुध कामे ।

ननु कस्याज्ञानं ज्ञानं वा कस्य भवति ? इत्यत आह—रज इत्यादि ।  
 मोहस्तमः । रजोमोहावृतात्मानो लौकिकाः पुरुषाः प्रियमेवानुरुध्यन्ते न तु  
 हिताहितं परीक्षन्ते । हितमेव कुतः परीक्षका इच्छन्तीत्यत आह—श्रुतिः  
 कोष्ठं याति ; स्तोत्रमुखविशोधनादिति अवरोधकापगमात् ; वायोर्निग्रहादिति क्षेप्तुर्वायोर्निग्रहात्  
 प्राकृतं स्थानं कोष्ठं याति ॥ १० ॥

चक्रपाणिः—इदानीं सङ्क्षेपेणाखिलव्याधिप्रतीकारं सूत्रयति—अजातानामित्यादि । यो  
 विधिर्दृष्ट इति कृत्स्ने तन्त्रे । ननु यदि सुखार्था सर्वप्राणिनां प्रवृत्तिस्तत् कथं कोऽपि अमार्गे  
 प्रवर्तते इत्याह—ज्ञानेत्यादि । अज्ञानादेव सुखसाधनमिदमिति कृत्वा परीक्षका प्रवर्तन्ते, न तु

आहारस्य विधावष्टौ विशेषा हेतुसंज्ञकाः ।

शुभाशुभसमुत्पत्तौ तान् परीक्ष्य प्रयोजयेत् ॥ १२ ॥

परिहार्यार्ण्यस्थ्यानि सदा परिहरन् नरः ।

भवत्यनृणतां प्राप्तः साधूनामिह पण्डितः ॥

यत् तु रोगसमुत्थानमशक्यमिह केनचित् ।

परिहर्तुं न तत् प्राप्य शोचिनव्यमं मनीषिभिः ॥ १३ ॥

कुतोऽश्नीयात् । देहो आहारसम्भवः । यत् आहारसम्भवो देहो वृत्ते । कथं तर्हि परीक्ष्यत इति ? अत उच्यते—आहारस्येत्यादि । अष्टौ विशेषाः प्रकृतिकरणसंयोगकालदेशगद्युपयोगसंस्थोपयोक्तारः । तानष्टावाहारविधौ परीक्ष्य पथ्यं प्रयोजयेत् । परिहार्यार्ण्यं चापथ्यानि सदा परिहरन् नरोऽरोगी भवति । यथा पण्डितः साधूनामुत्तमर्णानामनृणतां प्राप्तो यादृशो भवति ।

ननु रोगोत्पत्तिहेतुं सर्व्वेन न परिहर्तुं शक्यते, तत् कथमरोगी स्यादिति ? अत उच्यते—यत्त्वित्यादि । यत् तु रोगाणां कारणं केनापि जनेन परिहर्तुं न शक्यं, तत् प्राप्य मनीषिभिः पण्डितैर्न शोचिनव्यमिति ॥ १२।१३ ॥

संज्ञकमारोग्यम्' इत्यत्रोक्तम् ; विज्ञातेति परीक्षकः । न रागादित्यादौ अहितत्वेन जानन्नपि रागादेव कश्चिद्दुष्टः प्रवर्त्तते, अज्ञानाच्चाहिताज्ञानादेव कश्चिद्विषयवसायेन प्रवर्त्तते, एतद्व्यमपि निषिध्यते । कथमाहारः परीक्ष्य इत्याह—आहारस्येत्यादि । आहारस्य विधौ विधानेऽष्टौ विशेषाः प्रकृतिकरणसंयोगादयो रसविमाने वक्तव्या हेतुसंज्ञकाः, क हेतुसंज्ञका इत्याह—शुभेत्यादि । शुभाशुभसमुत्पत्तौ ते च प्रकृत्यादयः शुभाशुभकरा इति ज्ञेयम् ॥ १२ ॥

चक्रपाणिः—ननु पथ्यसेवायां क्रियमाणायामपि बलवत्प्राक्कनाधर्मवशादपि व्याधयो भवन्ति, तत् किमनेन पथ्यसेवनेनेत्याह—परिहार्यार्ण्येत्यादि । अनृणतामिव प्राप्तोऽनृणतां प्राप्तः, एतेन परिहार्यपरिहारणं पुरुषकारेऽनपराधः पुरुषो भवतीति दर्शयति ; यस्तु दैवागतस्तस्य न्याधिस्तत्र साधवो नैवं पथ्यसेविनं गर्हयन्ति, एतदेवाह—यत्त्वित्यादि । अत्राकथं परिहर्तुमिति बलवत्कर्मजन्यत्वादित्यर्थः, न शोचितव्यमिति पुरुषकारस्य दैवजन्यत्वे अवश्यम्भाविन्याच्चौ अकिञ्चित्करत्वादित्यर्थः ॥ १३ ॥



## एकोनविंशोऽध्यायः ।

अथातो दशप्राणायतनीयमध्यायं दशख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

दर्शवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः ।

शङ्खौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रोजनी गुदम् ॥

तानीन्द्रियाणि विज्ञानं चेतनाहेतुमामयान् ।

जानीते यः स वे विद्वान् प्राणाभितर उच्यते ॥

गङ्गाधरः—ननु भो अन्नमुक्तं, तत्र चोक्तं—प्राणाः प्राणसृतामन्नमिति, प्राणास्तु कुत्र प्रतिष्ठिता भवन्तीत्यतो यत्र प्राणाः प्रतिष्ठितास्तदुपदेष्टुं दशप्राणायतनीयमत्रागमने—अथान् इत्यादि । सर्व्वं दृष्टवद् व्याख्येयम् । अध्यायस्यादौ दर्शवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिता इति तदर्थं दशप्राणायतनमधिकृत्य कृतोऽध्याय इति दशप्राणायतनीयः ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—दर्शवेत्यादि । आयुर्व्वेदेविदः खलु, प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः, तानि प्राणानां प्रतिष्ठाधिकरणानि वायतनानि दर्शवाहुः तानि रिक्तानि । इहायतनं प्रतिष्ठास्थानं न तु स्थितिस्थानम् ; प्राणा येषु प्रतिष्ठिता इत्युक्तं । स्थितिस्थानं हि, हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिदेशगः । उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्व्वगरीरगः ॥ इत्येवमादुपक्रमः । प्रतिष्ठास्थानन्तु तदेवोच्यते,—यदुपघातेन प्राणोपघातः स्यादिति । बहुवचनात् पञ्च प्राणा इति ख्यापिताः । तानि दशायतनानि—द्वौ शङ्खौ, मर्मत्रयं—शिरो हृदयं वस्तिश्च, कण्ठप्रदेशश्च रक्तं शुक्रमोजश्च गुदञ्चेति दश ।

ननु किमर्थमेतदुपदिश्यत इत्यत आह—तानीत्यादि । तानि शङ्खादीनि

चक्रप्राणिः—सम्प्रत्यध्यायद्वयेऽवशिष्टे वक्तव्ये पूर्व्वोऽध्याये “प्राणायतनसमुत्थः” इति प्राणायतनशब्दकीर्तनात् दशप्राणायतनीय उच्यते, किंवा, अर्थं दशप्राणायतनीयः सूत्रस्थानसंग्रहः, शेषाध्यायस्तु सर्व्वतन्त्रसंग्रह इति पश्चादुच्यते । इयमर्थपरा संज्ञा, न शब्दानुकारिणी । आयतनानीवायतनानि । तदुपघाते प्राणोपघातात् तन्नाशात् प्राणनाशादित्यर्थः, न पुनः प्राणस्य जीविताख्यस्य शरीरान्द्रयसत्त्वात्मसंयोगरूपस्य शङ्खादय एव परमाशयास्तस्य कृत्स्नशरीराद्याश्रयत्वात् । मर्मत्रयमिति हृदयवस्तिशिरोसि । तानीति, शङ्खादीनि ; विज्ञानं बुद्धिः ;

भगवानुवाच—य इमे कुलीनाः पर्यवदातश्रुताः परिदृष्ट-  
कर्मणां दक्षाः शुचयो जितहस्ता जितान्मानः सर्वोपकरणा-  
वन्तः सर्वेन्द्रियोपपन्नाः प्रकृतिज्ञाः प्रतिप्रतिज्ञास्ते ज्ञेयाः  
प्राणानामभिसरा हन्तारो रोगाणाम् । तथाविधा हि  
केवले शरीरज्ञाने शरीराभिनिवृत्तिज्ञाने प्रकृति-  
विकारज्ञाने च निःसंशयाः, सुखसाध्यादीनां रोगाणां निदानादिविशेषज्ञाने  
व्यपगत-सन्देहाः । त्रिविधस्यायुर्वेदसूत्रस्य

गङ्गाधरः—न भगवानात्रेय उवाच—य इम इत्यादि । कुलीनाः सन्कुलजाः  
स्वकुलचारधर्म्मगताः । पर्यवदाता अधीनशास्त्रेऽधर्मशयाभावेन निर्ममताः श्रुता  
अर्था येषां ते । परिदृष्टकर्मणाः परि सर्वतोभावेन दृष्टानि चिकित्सितकर्मणि  
यस्ते । दक्षाः कर्मसु कुशलाः । शुचयः । जितहस्ताः यस्य यस्य क्रियां कुर्वन्ति  
तस्य तस्यैव रोगजयो भवति ते जितहस्ताः । जितान्मानः जितकामादिमानस-  
धर्म्मणाः । सर्वोपकरणवन्तः शस्त्रयन्त्रवस्तिनेत्रादुपकरणवन्तः । सर्वे-  
न्द्रियोपपन्नाः । प्रकृतिज्ञा आनुगदीनाम् । प्रतिपत्तिज्ञा या क्रिया येन  
प्रकारेण क्रियमाणा तेषामानुरादिषु प्रतिपत्तिभवति तज्ज्ञाः । ईदृशा ये  
भिपजस्ते प्राणाभिसराः प्राणानामभिसरा हन्तारो रोगाणामिति ।

कस्मादिति अत आह—तथाविधा हीत्यादि । हि यस्मात् तथाविधा भिपजः  
केवले कृत्स्ने शरीरज्ञाने शरीराभिनिवृत्तिज्ञाने च प्रकृतिज्ञाने विकारज्ञाने च  
निःसंशयाः, सुखसाध्यादीनां रोगाणां निदानादिविशेषज्ञाने व्यपगत-  
सन्देहाः । त्रिविधस्येति—य इम इत्यादिनायुर्वेदस्य सर्वतन्त्राणामेकैकतन्त्र-  
विद्यावन्तः सर्वे भिपजः प्राणाभिसरा भवन्तीति ख्यापयित्वा स्वतन्त्रविदुषां  
प्राणाभिसरत्वं वक्तुमेतदादिभिर्वाक्यैः स्वतन्त्राभिधेयान्याह । त्रिविधस्य

चक्रपाणिः—प्रतिपत्तिज्ञा इति तदात्वे कर्तव्यज्ञाः, शरीराभिनिवृत्तिज्ञानं—यथा शरीरं  
शुक्लशोणितसंयोगादिभ्य उपजायते, तथा ज्ञानम् ; प्रकृतिविकारज्ञानं सांख्यनयेन शरीरे  
वक्ष्यमाणम् । त्रिविधस्यायुर्वेदसूत्रस्येति हेतुलिङ्गोपधज्ञानमित्यस्य । इतः प्रभृति “तन्त्रोद्देश-

बहुविधविधनयुक्तानाञ्च \* स्नेह्यस्वेद्यवम्यविच्यविविधौषधोप-  
 चागराञ्च कुशलाः । शिरोरोगादेश्च दोषांशविकल्पजस्य  
 व्याधिप्रसङ्गस्य संक्षयपिडुकाविद्वेष्ट्रयाणाञ्च शोफानां बहुविध-  
 शोफानुबन्धानामष्टचत्वारिंशतश्च रोगाधिकरणाणां चत्वारिंश-  
 दन्तरस्य नानात्मकस्य व्याधिजनस्य तथा विगर्हितानिस्थूल-  
 कृशानां सहेतुलक्षणोरकसाणां स्वप्नस्य च हिताहितस्या-  
 स्वप्नातिस्वप्नस्य च सहेतुपक्रमस्य पराणाञ्च लङ्घनादीना-  
 मुपक्रमाणाम् । अन्तर्पणानपराजानाञ्च रोगाणां स्वरूप-  
 प्रश्ननानाञ्च शोणितजानाञ्च व्यर्थानां मदमूर्च्छासम्भ्याना-  
 नाञ्च सकारारूपौषधानाञ्च कुशलाः । कुशलाश्चाहारविधि-  
 विनिश्चयस्य प्रकृत्या च हिताहितानामाहारविकाषाणां साग्र-  
 संग्रहस्यासवानां चतुर्शनेद्रव्यगुणविनिश्चयस्य रसानुरस-  
 संश्रयस्य सविकल्पिकवगोषिकस्य द्वादशवर्गाश्रयस्य चान्नपान-  
 गणस्य संगुणप्रभावस्य सानुपानगुणस्य नवविधस्यार्थ-  
 संग्रहस्याहागनेश्च हिताहितोपयोगविशेषात्मकस्य च शुभा-  
 शुभविशेषस्य धात्वाश्रयाणाञ्च रोगाणां सौषधसंग्रहाणाम्,  
 दशानाञ्च प्राणायतनानां यच्च वक्ष्यामि मानाथेमर्थेदशमहा-  
 मूलीयं त्रिंशत्तममध्यायम् । तत्र च कृत्स्नस्य तन्त्रोद्देश-  
 व्यवस्थापयितारः । तथा स्नेह्याद्यौषधोपचाराणाञ्च कुशलाः । रोगचतुष्के  
 शिरोरोगादीनां व्याधिशतस्येत्यन्तानां कुशलाः । योजनाचतुष्के विगर्हिताष्टका-  
 तिस्थूलादीनां विज्ञाने कुशलाः । अन्नपानचतुष्के त्वाहारविधिविनिश्चयादि-  
 सौषधसंग्रहाणामित्यन्तानां कुशलाः । अस्मिन्नध्याये दशानां प्राणायतनानां  
 'विविधमशितपीतम्' इत्यादिना, तन्त्रोद्देशलक्षणस्येति, तत्र तन्त्रोद्देशः "अष्टौ स्थानानि"  
 इत्यादिना, तन्त्रलक्षणन्तु आयुषो वेदस्य च यन्निरुक्ती लक्षणं वक्ष्यति ; अत्र स्थानार्थज्ञाने

श्लाघमाना विशिखान् रथान्तरमनुचरन्ति कर्मलोभान् श्रुत्वा  
 च कस्यचिदातुर्यमभितः परिपतन्ति, संश्रवणे च स्यात्सतो  
 वैद्यगुणानुच्चैर्वदन्ति, ते च यस्य प्रतिकर्म कुर्वन्ति तस्य  
 च दोषान् मुहुर्मुहुर्मुदाहरन्ति, आतुरमित्राणि प्रहर्षणो-  
 जत्पोषमेवादिभिरिच्छन्त्यात्मीकर्तुम्, अल्पेच्छुनाश्च आसनः  
 ख्यापयन्ति । कर्म चानाद्य मुहुर्मुहुर्वक्तोकयन्ति दाक्ष्येणा-  
 ज्ञातमात्मनः प्रच्छादयितुकामाः, व्याधिश्च आपवर्त्तयितुमशक्नु-  
 वन्तो व्याधितमेवानुपकरणमपचारिकमनात्मवन्तमुपदिशन्ति,  
 अन्तगतञ्चैनमभिसमीक्ष्यान्यसाश्रयन्ति देशमपदेशमात्मनः  
 विशिखान्तरं रथ्यां रथ्यां गत्वा रथ्यानन्तरमनुचरन्ति । तत्र कुत्रचित् कस्यचि-  
 दातुर्यं शृणोति, श्रुत्वा च तदातुर्यमभितस्तस्य गृहस्य चतुर्षु पार्श्वेषु परिपतन्ति  
 परिभ्रमन्ति । संश्रवणे च तेषामातुरस्यान्मनां श्रवणं यथा स्यात् तथान्म-  
 गुणान् स्वस्य वैद्यगुणान् चिकित्सामु दाक्ष्यादिगुणानुच्चैर्वदन्ति । यथोत्तर-  
 मातुरस्यामात्यो वा तद्वाक्यं श्रोतुमर्हति । ते च वैद्या यदि कस्यचित् व्याधि-  
 तस्य चिकित्साकर्म प्राप्य कुर्वन्ति यदि प्रतिकर्मसिद्धिं न कर्तुं प्रभवन्ति  
 तदा तस्यातुरस्य दोषान् दोषाभावेऽप्युदाहरन्ति । नायमान्मवान् कुपथ्यसेवी  
 चाथवा कृपणोऽर्थव्यये भेषजविधानाथमिन्येवमादीन् । एवं तस्यातुरस्य  
 मित्राणि प्रहर्षणकर्मणा उपजल्पनकर्मणोपसेवनकर्मणा चैवमादिभि-  
 स्तोषामोदसमूहेनात्मीकर्तुं मिच्छन्ति । चिकित्साविधाने चाथ प्राप्तावल्पाथं-  
 काङ्क्षाश्च ख्यापयन्ति । ते च यस्य चिकित्साकर्म प्राप्नुवन्ति प्राप्य कर्म  
 खलु निजस्य तत् कर्मण्यज्ञानं प्रच्छादयितुकामा गोपयितुकामा दाक्ष्येण  
 तत्कर्मणि दक्षताव्यञ्जकेन चतुरताधर्मेण मुहुर्मुहुर्हरितस्ततोऽवलोकयन्ति ।  
 केऽपि तस्य तत्कर्मण्यज्ञानं बोद्धुं न यथा प्रभवेषुः । यदि तस्य व्याधिम्  
 अपावर्त्तयितुं न शक्नुवन्ति तदा तं व्याधितमनुपकरणमथेव्ययासमथ भेषज-  
 करणाक्षमपचारकारिणमनात्मवन्तमित्येवमन्यत्रोपदिशन्ति । यदि चाय-  
 मातुरोऽन्तं गच्छति तदेनं मृतं दृष्ट्वात्मनो निजस्यापदेशं तद्देशमपवज्जंनं  
 ह्युच्यते लोकं ; राज्ञां प्रमादादिति राज्ञा हि ते कुर्वेद्याः शासनीयाः । विशिखा रथ्या, किंवा  
 कर्ममात्रम् ; संश्रवणे चास्येत्यातुरस्य श्रवणयोग्ये प्रदेशे, अन्तगतमिति सुसुप्तम् ; अपदेश-

भवन्ति चात्र ।

भिषक्छद्मं प्रविश्यैव व्याधितांस्तकयन्ति ये ।

वीतंसमिव संश्रित्य वने शाकुनिका द्विजान् ॥

श्रुतदृष्टक्रियाकाल-मात्रास्थानवहिष्कृताः ।

वज्जनीया हि सृत्यांस्ते चरन्त्यनुचया भुवि ॥

वृत्तिहेतोर्भिषङ्मान-पूर्णान् मुखविशारदान् ।

वज्जयेदतुरो विद्वान् सर्पास्ते पीतमारुताः ॥

ये तु शास्त्रविदो दक्षाः शुचयः कर्मकोविदाः ।

जितहस्ता जितात्मानस्तेभ्यो नित्यं कृतं नमः ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—अत्र भवन्ति श्लोकाः । भिषगिन्यादि । भिषक्छद्मं प्रविश्य भिषग्वेशं धृत्वा ये भिषजः स्वस्वैवमुक्तप्रकारेण व्याधितांस्तकयन्ति, यथा शाकुनिकाः पक्षिघातिनो व्याधा वने वीतंसं पक्षिवन्धनधारणजालसप्त-नलिकादिकं संश्रित्य गृहीत्वा द्विजान् पक्षिघ्नस्तकयन्ति अन्येषां कुर्वन्ति तथा ये भिषक्छद्मं प्रविश्य व्याधितानुक्तरूपेण तर्कयन्ति ते श्रुतादिवहिष्कृता विज्ञेयवज्जनीयाः । कस्मान् ? यतः श्रुतादिवहिष्कृताः । गुरुमुखाच्चिकित्सा-शास्त्रं न हि तेः श्रुतं, न च चिकित्साक्रिया दृष्टा, न च भेषजप्रयोगकालज्ञाने मात्राज्ञा नापि स्थानज्ञा एभ्यो बहिष्कृता यस्मान् तस्मान् ते वज्जनीयाः । हि यस्मान् ते तथाविधश्रुतादिवहिष्कृता भिषजो मृत्योरनुचराः सन्तो भुवि चरन्ति । ते तर्हि किमर्थं राष्ट्राणि चरन्ति तदाह—वृत्तिहेतोरित्यादि । वृत्तिहेतोरनहेतोस्ते भिषङ्मानपूर्णा मुखविशारदाः स्वमुखेनैव स्ववैशारद्यं वदन्तो नानाविधालापं विज्ञवत् कुर्वन्तो राष्ट्राणि चरन्ति न तानुरप्राणाभिसरणहेतोः । तस्माद्-विद्वानातुरस्तान् वैद्यान् वज्जयेत् । ते हि पीतमारुताः सर्पाः सद्यःप्राणघातिनः शून्योदरा अर्धमात्रलोभिन आतुरस्य भद्राभद्रानाङ्क्षणः । इति भिषक्छद्मचर-प्रभेदमभिप्रेत्य सिद्धसाधिता वैद्या इह न पृथगुदाहृता इति बोध्यम् ।

ननु तर्हि कीदृशान् वैद्यानुपसेवेरन्निति ? अत आह—ये क्लित्यादि । ये तु वैद्याः शास्त्रविदादिलक्षणास्तेभ्यो नित्यं नमस्कृतं विज्ञैरिति ॥ ६ ॥

चक्रपाणिः—वीतंसः पक्षिवन्धनम् ; श्रुतं शास्त्रे श्रवणम् ; दृष्टं कर्मदर्शनम्, क्रिया

\* मात्राज्ञानवहिष्कृत इति कचित् पाठः ।

## त्रिंशोऽध्यायः ।

अथानेऽर्थेदंशमहामूर्तीयमध्यायं व्याख्यस्यामः.

इतिह स्नाह भगवानात्रेय ॥ १ ॥

अर्थे दंश महामूर्ताः मित्राः सक्ता \* महामूर्ताः ।

महद्वाथश्च हृदयं पर्यायैरुच्यते बुधेः ॥

पङ्कजमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियामयपञ्चकम् ।

आत्मा च सगुणश्चेतश्चित्तयश्च हृदि संस्थितम् ॥

गङ्गाधरः—अथ प्राणायतनेषु दत्तमु हृदयस्य प्राधान्यं व्यापयितुं तथा यच्च दक्ष्यामि मानाथेमथेदंशमहामूर्तीयं तत्र च कुतस्तन्त्रोद्देश्यलक्षणस्येत्युक्तं तदुद्देशकरणाथेमथेदंशमहामूर्तीयमागमने—अथान इत्यादि । एवमेवद्व्याख्येयम् । अध्यायस्यास्यादिवाक्यमर्थेदंशमहामूर्त्या इति अधिकृत्य कृतोऽध्याय इत्यर्थेदंशमहामूर्तीयस्तम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—अर्थे दंशेत्यादि । अर्थे हृदये दंश मित्राः सक्ताः कथं सक्ताः ? महामूर्त्या हृदये महति मूर्त्यानि यासां ता महामूर्त्यास्ताश्च महामूर्त्या महत्पदेन हृदयं तान्मथ्यादोजश्चोच्यते । महदंशः ज्ञानमूर्तिरिति महामूर्त्या इति । एतदुक्तं उक्तोक्तं व्याचष्टे—महत्चेत्यादि । बुधेः पर्यायैर्महदर्थो हृदयमुच्यते । हृदयमिति शब्दं व्युत्पादयति—पङ्कजमित्यादि । अङ्गं कुतस्तं शरीरं तदवयवश्च । तत्राङ्गं सव्वात्मकत्वज्ञापनायाह—पङ्कजमिति । पङ्कजान्यवयवा यस्य तत् पङ्कजमङ्गं शरीरं विज्ञानं प्रमाणाप्रमाणभूतं ज्ञानम् इन्द्रियाणि दंश अर्थपञ्चकं पञ्च शब्दादयोऽर्थाः तदर्थश्रयपञ्चमहाभूतोपाधिमान् भूतात्मा द्विविधस्तेजसः स्वप्न-

चक्रपाणिः—पारिशेष्यात्, किंवा, सूत्रस्थानमभिधाय तन्त्रसंग्रहं वक्तुम् अर्थेदंशमहामूर्तीय उच्यते ; अत्र 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' इत्यनुवर्तमाने अध्यायानुवाक्योर्लुङ्ग इति छः ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—अर्थ इति हृदये, महामूर्त्या इति महत् हृदयं मूर्त्यं यासां धमनीनां तास्तथा, समासक्ता इत्याश्रिताः ; अस्य हृदयस्य पर्यायानाह—महत्चेत्यादि । महत्संज्ञा तथाऽर्थसंज्ञा च हृदयस्य । वैद्यव्यवहारविज्ञानसर्वताम्बान्तरेषु हृदयस्य यन्महत्त्वमर्थत्वञ्च, तदहृदयस्याभ्यर्हितत्वात्, इत्यभ्यर्हितत्वमाह—पङ्कजमित्यादि । पङ्कजानि बाहुद्वयजङ्घाद्वयशिरोऽन्तराधिरूपाणि

\* समासक्ता इति कचित् पाठः ।

प्रतिपठार्थं हि भावानामेषां हृदयमिष्यते ।

गोपानसीनामागार-कर्णिकेवाथंचिन्तकैः ॥

स्थानोऽन्तःप्रज्ञः समाङ्ग एकोनविंशतिमुख एवमेव समाङ्ग एकोनविंशतिमुखो वह्निःप्रज्ञो जागरितस्थानो वैश्वानरः सुषुप्तिस्थानश्चेतोमुखः प्राज्ञो जीवात्म-महत्तत्त्वोपाधिमान् । तुरीयः परमात्मा शिव इति चतुष्पादात्मा स एव सगुण इति आत्मगुणा उच्छाद्वेपमुखदुःखप्रयत्नचेतनाधृतिबुद्धिस्मृत्यद्वन्द्वकाराः । सहा-त्राधिकार्ये साद्धद्रोण इत्यादिवन् । चेतो मनः सत्त्वसंज्ञकम् । चिन्त्यं तेन चेतसा यावच्चिन्तयितुं शक्यते तत्सत्त्वं हृदि संस्थितमिति । अथ शारीरे—हृदयं द्रष्टुं वक्ष्यते षडङ्गानि हस्तौ द्वौ द्वौ च पादौ शिरश्चान्तराधिश्चेत्येतानि गृह्णन्ति बाह्यानि तत्र हृदये स्थातुं नार्हन्तीति मत्वा विज्ञानादीनि चिन्त्यान्तानि षडङ्गानि यस्याङ्गस्य तत् मूक्षमशरीरमथवा पञ्चमहाभूतान्यात्मा चेति षडङ्गानि यस्य तदङ्गं मूक्षमशरीरमेव विज्ञानादीनि चेति सत्त्वं हृदि संस्थितमिति ।

कस्मादित्यत आह—प्रतिपठार्थं हीत्यादि । हि यस्मात् स्वल्पेषामुक्तानां भावानां प्रतिपठार्थं प्रतिनियमेन स्थित्यर्थं हृदयमिष्यतेऽर्थचिन्तकैः । ननु कथमेषां प्रतिपठा हृदये सम्भवति चिन्त्यं हि जगदेव सर्वं मनसः सुमेरुप्रवृत्ति गृहन् क्षुद्रं वा । हृदयन्तु द्रष्टुं लमित्यतो दृष्टान्तेन प्रतिपठाप्रकार-माह—गोपानसीनामित्यादि । गोपानसी तु बड़भी गृहाच्छादनावयववक्र-

यस्य तत् षडङ्गमङ्गम् ; अङ्गञ्च षडङ्गादतिरिक्तं समुदायरूपम् अवयविरूपं वा ; अङ्गमिति वक्तव्ये षडङ्गविशेषणं पण्णामङ्गानामपि हृदयाश्रितत्वप्रतिपादनार्थम् ; किंवा अङ्गशब्दस्यावयव-वाचिनो निषेधार्थम् ; विज्ञानञ्च यद्यपि “आत्मा च सगुणः” इति वचनादेव आत्मगुणत्वेन लब्धम्, तथाप्यात्मगुणेषु प्राधान्यात् पुनः पृथगुच्यते, वचनं हि—“सुखं समग्रं विज्ञानं विसर्गे च प्रतिष्ठितम्” इति । इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि , अर्थपञ्चकं शब्दादि ; सगुण इत्यनेन सुखादि-ग्रहणम् ; चेतो मनः ; चिन्त्यं मनोविषयः ; एते च षडङ्गविज्ञानादयः श्रुतिप्रतिपठिताः प्रत्येकमेवोपादेयत्वेन, तेन, अत्र कस्यचिदर्थलब्धत्वेनानुपादानं कर्त्तव्यमिति नोद्भावनीयम्, अर्थलब्धो ह्यर्थः साक्षादनभिधीयमानत्वादप्रधानं भवति ।

अथ कथमसी षडङ्गादयो हृदयाश्रयाः, “यावता हृदयं द्रष्टुं लब्धं” इति वक्ष्यति, अङ्गञ्च षडङ्गा-श्रयं महत्, इन्द्रियाण्यपि च स्वाश्रयचक्षुरादिस्थितानि, अर्थाश्च बाह्यद्रव्याश्रयिणः आत्मा चानाश्रित एव व्यापकः, तद्गुणश्च विज्ञानञ्चात्मन्येवाश्रितम्, मनोऽप्यनाश्रितमात्मगतम्, चिन्त्यञ्च ध्येयादि न हृदीत्याशङ्क्याह—प्रतिष्ठेत्यादि । प्रतिपठा कार्यकारणाविरोधेनावस्थानम् । भावानामेषा-मिति षडङ्गादीनाम्, हृदयमिष्यत इति हृदयमिष्यते कारणमिति शेषः ; अत्रैव दृष्टान्तमाह—

तस्योपघातान्मूर्च्छायान् भेदान्मरणमुच्छति ।

यद्धि तत्स्पर्शविज्ञानं धारि तत् तत्र संस्थितम् ॥

काष्ठानि तेषामागमकर्णिका, तत्तद्वक्रकाष्ठानां मूर्च्छानि यस्यानेकस्यां गृह-  
मध्यस्थकाष्ठमग्रां कर्णिकायां संनिवृद्धानि प्रतिष्ठितानि वृत्तान्ते तथा पटङ्गाङ्गा-  
दीनि हृदये प्रतिष्ठितानि प्रति लक्ष्यक्रिये वृत्तान्ते । तेन वाद्यानि चिन्त्यानि  
चिन्ताहन्वेन हृदि वृत्तान्ते न तु स्वरूपमृत्तया । यतो नाधाराधार्यभावेणैषा-  
माश्रयो भवति । कुतस्महि प्राणायतनमिति ? अत उच्यते—तस्येत्यादि । तस्य  
हृदयस्योपघातान् पुनरपि मूर्च्छायादृच्छति, तस्य भेदान् तु मरणमुच्छतीत्यत  
उक्तं प्राणायतनं हृदयमिति । कस्मान्नरणमुच्छति ? तद्वेदादित्यत उच्यते—  
यद्वीत्यादि । हि यस्मान् तत्र स्पर्शविज्ञानं तस्य हृदयस्य स्पर्शो विज्ञानं  
यस्य धारिणो जीवितस्य तत्तत् स्पर्शविज्ञानं यद्वारि यज्जीवित-  
मायुस्तदायुः शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगस्तत्र हृदये संस्थितं तस्मान् तदुपघाता-  
न्मूर्च्छायास्तद्वेदान्मरणमुच्छतीति ।

गोपानसीनामित्यादि । गोपानस्यो गृहाच्छदनाधारकाष्ठानि ; आगारकर्णिका गृहाच्छादनमध्ये  
गृहाच्छादनकाष्ठनिबन्धनी ; लोके आङ्कमियुच्यते ; अर्थचिन्तकैरिति हृदयचिन्तकैः ; तेन,  
पटङ्गाङ्गीनां हृदयाश्रितत्वं नाधाराधेयभावेन, किं तर्हि, तदन्वयव्यतिरेकानुविधायिन्वेनेति दर्शितं  
भवति ; हृदयाश्रितत्वं हृदये प्रकृतित्ये पटङ्गादिभावानां प्रकृतिरूपत्वं हृदयोपघाते तदुपघात  
इत्यर्थः ; यद्यपि च आत्मविज्ञानमनसां हृदयाश्रितत्वमाधाराधेयभावादपि कष्टमृत्तया वक्तुं  
पारयते, तथापि सर्वव्यापकत्वात्त्रोपादेयमाधाराधेयत्वम् ; नैवम्, आत्मा यश्च संसारी भोगायतन-  
त्वेनाभिप्रेतः, स च हृदयप्रदेश एव सुखदुःखादुपपद्यत इत्यनुभवसिद्धम्, तेन हृदयाश्रित इवात्मा,  
तथापि प्रायेण हृद्येव तिष्ठति, यतः उपरतक्रियं मनो हृद्येव तिष्ठति, तथा अध्ययने योगे च  
हृदिस्थमेव मनो भवति । यदप्युक्तम्—“आत्मस्थे मनसि स्थिरे” इति, तदप्यात्मस्थमनसो  
हृदयस्थत्वमेव ; एवं ज्ञानसुखदुःखानि च हृदयस्थान्येव लक्ष्यन्ते, तथा चातिचिन्तनात् तथा  
दुःखावेशत्वाद् हृदयमेव पीड्यते, नान्यदङ्गम् । अलमात्मना व्यापकेनाश्रयाश्रयिभावेन व्युत्पादि-  
तेन, यश्चात्मा संसारी हृदयाश्रितो भवति तस्यैव हृदयनाशाज्ञाश्च इति भावः ।

कथमेतद् भवतीत्याह—यद्वीत्यादि । स्पर्शो विज्ञायतेऽनेनेति स्पर्शं वा विज्ञाना-  
तीति स्पर्शविज्ञानम्, तस्यैव विशेषणं धारिती, धारि तु शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगः, यदुक्तम्—  
“शरीरेन्द्रियसत्त्वात्म-संयोगो धारि जीवितम्” इति ; एतेन यः शरीरादिसंयोगः स्पर्शेनेन विज्ञा-  
नाति सर्वं ज्ञेयम्, यश्चायं शरीरधारणाद्वारीत्युच्यते, स हृदि स्थितः ; तेन तदुपघातान्मूर्च्छां  
तथा तद्वेदान्मरणं चैतन्याननुवृत्तिलक्षणमुपपन्नम् ; स्पर्शो हि द्विविधः—ऐन्द्रियको मानसश्च,  
एतत् स्पर्शद्वयं विना च न किञ्चित् ज्ञानञ्च भवति, यदुक्तम्—“यश्चैवैन्द्रियकः स्पर्शः स्पर्शो



तत् परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः ।

हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सिते ॥

कुतो सृर्च्यानृच्छति न मृत्वेत्यन आह—तदित्यादि । तद्धृदयं परस्य श्रेष्ठस्यौजसस्तद्विन्दुरूपस्य स्थानं यदौजो वलमुच्यते तद्वलस्थानस्योप-  
दानान्न मृत्वा सृर्च्यानृच्छति चैतन्याभावरूपान् । यतस्तत्र हृदये चैतन्यसंग्रहः ।  
चैतनायाः समासः परं ब्रह्मस्थितम् । तदुपधातात् परमब्रह्मणः स्थित्युप-  
धातादचैतनत्वं भवतीति । तस्माच्चिकित्सिते शास्त्रे हृदयं महच्चार्थश्च पर्यार्येण  
मानस एव च । द्विविधः सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्त्तकः” इति । मानसञ्च स्पर्शनं शरीरे  
यथास्थानमेव दर्शयिष्यामः । स्पर्शो विज्ञायत इति निरुक्तिपक्षे तु स्पर्शशब्देन लक्षणया स्पृश्य-  
मानोऽर्थोऽभिप्रेतः, तेन सर्वज्ञेयावरोधः, यं प्राप्यैवार्थमिन्द्रियाण्यस्मद्वर्शनार्थं प्रकाशयन्ति,  
यदुक्तम्—“स्पृश्यते नानुपादानो नान्स्पृष्टो वेति वेदनाः” इति । यद्यपि शरीरेन्द्रियमत्त्वात्म-  
संयोगः शरीरप्रदेशान्तरेऽप्यस्ति तथापि नासौ शरीरधारणे तथा ज्ञानोत्पत्तौ वा प्रधानम्,  
तदुपधातेऽपि शरीरधारणज्ञानयोर्दृष्टत्वात् । इद्वन्तस्तु संयोगः प्रधानं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि-  
त्वात् स्पर्शज्ञानशरीरधारणयोः ; तेन सूक्तम्—“तत् तत्र संश्रितम्” इति । हृदयाभ्यर्हितत्वे  
धर्म्मोन्तरमाह—तत्परस्येत्यादि । परस्य श्रेष्ठस्य ; एतेन द्विविधमौजो दर्शयति परमपरञ्च, तत्र  
अञ्जलिपरिमाणमपरम्, यदुक्तम्—“ तावदेव परिमाणं श्लेष्मणश्चौजसः” इति ; अल्पप्रमाणन्तु  
परम्, यदभिप्रेत्योक्तम्—“हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीपत् सपीतकम्” इति । तन्त्रान्तरेऽप्युक्तम्  
“प्राणाश्रयस्यौजसोऽहौ बिन्दवो हृदयमाश्रिताः” इति । किञ्च, सति हि परे चापरे चौजसि परस्य  
इति विशेषणं सार्थकं भवति, न त्वेकरूपे । अर्द्धाञ्जलिपरिमितस्यौजसो धमन्य एव हृदयाश्रिताः  
स्थानम्, तथा प्रमेहेऽर्द्धाञ्जलिपरिमितमेवौजः क्षीयते, नाष्टविन्दुकम्, अस्य हि किञ्चित्क्षयेऽपि  
मरणं भवति, प्रमेहे तु ओजःक्षये जीवत्येव तावत् ; ओजःक्षयलक्षणमप्यर्द्धाञ्जल्योजःक्षय एव  
बोद्धव्यम् ; ओजःशब्दश्च यद्यपि रसेऽपि वर्त्तते, यदुक्तम्—“रसश्चौजःसंख्यातः” इति, तथा, “मली  
भवति तत् प्रायः कल्पते किञ्चिदौजसे” इति । तथापि इह सर्व्वधातुसारमौजोऽभिधीयते ; एतच्चौज  
उपधातुरूपं केचिदाहुः । धातुर्हि धारणपोषणयोगाद् भवति, ओजस्तु देहधारकं सदपि न देहपोषकम्  
तेन नाष्टमो धातुरोजः ; केचित् तु शुक्रविशेषमोजः प्राहुः, तच्च न मनः प्रीणाति ; ये तु ब्रुवते—  
सर्व्वधातूनां सारसमुदयभूतमोजः, ते रसादिसाररूपतया रसादिभ्यो भिन्नमोज इति पृथग्धातुत्वेन  
उपधातुत्वेन वा निर्द्देश्यमिति पश्यन्ति ; वचनञ्च—भ्रमरैः फलपुष्पेभ्यो यथा सञ्जीयते मधु ।  
तद्वदौजः शरीरेभ्यो गुणैः सम्भूयते नृणाम् ॥ अत्र शरीरेभ्य इति धातुभ्यः, गुणैरिति सारभागैः ।  
तत्र चैतन्यसंग्रह इति,—तत्र हृदि चैतन्यविषये प्रसृतस्य संग्रहं संवरणं करोति, तेन प्रसृतं मनो  
हृदये निगृह्य योगज्ञो भवतीत्यर्थत इत्युक्तं भवति, ततश्च योगस्य मोक्षसाधनत्वेनोपादेयस्यापि  
हृदयमेव स्थानमिति हृदयमभ्यर्हितं भवति ; यस्मादेवंगुणं हृदयम्, ततः ‘महत्’ इति च, तथा

तेन सूत्रेण महता महामूला मता दश ।

ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः ॥ २ ॥

येनोजसा वनयन्ति प्रीणिताः सवर्जन्तवः ।

यदने सवर्जभूतानां जीवितं नावतिष्ठते ॥

यत्सारमादौ गर्भस्य यत्तदुगर्भरसाद्रसः ।

संवर्द्धमानं हृदयं समाविशति यन् पुरा ॥

उक्तम् । तत्र सक्तानां मिराणां महामूलत्वं व्युत्पादयति—तेनेत्यादि । तेन महता हृदयेन सूत्रेण मूलस्थानेन दश मिरा महामूला मताः । महद्बुद्धय मूलं यामां ता महामूला हृदयमूला दश मिराः सक्ताः संवर्द्धाः सन्ति । सदनस्तकारस्याकारो न केवलं महत्कार्यं तद्वाच्येषु सवर्जेष्वेवाथेषु भवति, तद्वृक्षणेऽर्थानियमान् ।

तनु महामूला दर्शयति विवक्ष्यते । सुश्रुते ह्युक्तं—पाञ्चभौतिकस्य चतुर्विधस्य पट्टसस्य द्विविधवीर्यस्याष्टविधवीर्यस्य वानेकगुणस्योप-  
युक्तस्याहारस्य सम्यक् परिणतस्य यस्तेजोभूतः सारः परममूहनः स रस इत्युच्यते । तस्य च हृदयं स्थानं स हृदयाच्चतुर्विधगतिधमनीरसु-  
प्रविश्योद्धृता दश दश चाधोगामिनीश्चतस्रस्तिस्र्यङ्गाः कृत्स्नं शरीरमहरह-  
स्तपयतीति । तदाशङ्कां धारयितुमाह—ओजोवहा इति । महामूला दश शिरा ओजोवहा अस्मिच्छरीरे समन्ततो विधम्यन्ते ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—तन्वोजो नाम किं नावदित्यत आह—येनेत्यादि । येनोजसा सवर्जन्तवः प्रीणिताः सन्तो वनयन्ति जीवन्ति । यदोज कृते सवर्जभूतानां जीवितमायुर्नावतिष्ठते । गर्भस्यादौ यच्छुक्रं शोणितञ्च यत्सारं यदोजः सारं यस्य तद् यत्सारं तदोजः ओजःसारं शुक्रं शोणितञ्च गर्भस्यादौ तदोजो यत्तन् गर्भरसाद्रस उच्यते । यावत्कालं शुक्रस्य सारं शुक्रान् परिणामान्न पृथग्भूतं

‘अर्थे’ इति चोच्यते चिकित्सकैः । सम्प्रति धमनीनां महामूलत्वं प्रतिपादयति—तेनेत्यादि । तेनेति महता हृदयेनेति शेषः ; विधम्यन्ते विसर्पन्ते ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति धमनीनामुक्तं महाफलत्वं व्युत्पादयन्नाह—येनोजसंत्यादि । सामान्येन द्विविधमयोजो ग्राह्यम् ; वनयन्ति जीवन्ति, चौरादिको गिन् ; प्रीणिता इति तर्पिताः ; यत्सारमादौ गर्भस्थेति शुक्रशोणितसंयोगे जीवाधिष्ठितमात्रे यत्सारभूतम्, तत्रापि तिष्ठति : यद-

यस्यानाशान्न \* नाशोऽस्ति धारि यद् हृदयाश्रितम् ।

यच्छरीररसस्नेहः प्राणा यत्र प्रतिष्ठिताः ॥

तत्फला बहुधा वा ताः फलन्तीति महाफलाः ।

ध्मानाद्धमन्यः स्ववणात् स्रोतांसि सरणात् सिराः ॥ ३ ॥

हृदये वृत्तते तावत्कालं तदोजःसारं शुक्रं गभमाख्यं प्रभवति । पृथग्भूते खोजसि शुक्रपसारं भवति न च तद्गभरस उच्यते । सव्वधातुसारभूतं खोजः । तदुक्तं सुश्रुते—तत्र रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत् परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमिष्युच्यते इति । तदोजःसारेण शुक्रेण जातस्य गभस्य क्रमेण वढेमानं यदोजः पुरा हृदयं गभस्य हृदयं समाविशति । पश्चाद्देहावयवं कृत्स्नं व्याप्नोति । उक्तञ्च सुश्रुते—ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्रं शीतं स्थिरं सरम् । विविक्तं मृदु मृत्तञ्च प्राणायतनमुत्तमम् । देहस्यावयवस्तेन व्याप्तो भवति देहनामिति ।

यस्यानाशादिन्यादि । यस्यौजसस्त्वनाशात् पुंसो न नाशोऽस्ति । उक्तञ्च सुश्रुते—तदभावाच्च गीय्यन्ते शरीराणि शरीरिणामिति । हृदयाश्रितं यद्धारि जीवितं तत्स्थापनहेतुत्वात् तद् यद्धारिण्युच्यते । यदोजः शरीररसस्याध-  
धातोः स्नेहः यत्राजसि प्राणाः प्रतिष्ठिताः, तदोजः खलु येनौजसा वृत्तयन्ती-  
त्यादिभिरुक्तप्रभावमोजः फलं यासां तास्तत्फला इत्यनो महाफला दश शिरा  
अर्थे हृदये सक्ताः । अथवा ना दश हृदये सक्ताः सिरा बहुधा फलन्तीति  
महाफला उक्ताः ।

गभरसाद्भवति गभरसान् शुक्रशोणितसंयोगपरिणामेन कललरूपाद्, रस इति सारभूतं : संवर्त्त-  
मानं हृदयं समाविशति । यत् पुरेति—यदा हृदयं निष्पाद्यमानं तदेव व्यकलक्षणं सत् हृदयमधि-  
तिष्ठति यदित्यर्थः । एतेन गर्भावस्थात्रयेऽपि तदोजन्तिष्ठतीत्युच्यते, परं गर्भादां शुक्रशोणितसाररूप-  
तया, रसावस्थायान्तु रससाररूपतयाऽवयवनिष्पत्तौ स्वलक्षणयुक्तमेव भवत्योज इत्योजसः सव्वधा-  
वस्थाव्यापकत्वेन महत्त्वमुच्यते . यस्य नाशात् तु नाशोऽस्तीति धावन्तराक्षयेऽपि सत्योजःक्षये  
मरणमित्यर्थः ; धारीति जीवधारकसंयोगिन्यः प्रधानत्वात् . शरीररसस्नेह इति शरीररसशब्दः  
स्नेहशब्दश्च सारवचनः, तेन शरीररसानां धातूनामपि सार इत्यर्थः ; एतच्च प्रकारान्तरेणाभ्यर्हितानेक-  
कर्म कथनमोजसोऽभ्यर्हितवक्ष्याम्यर्थम् । तत्फला ओजःफला ओजोबहा इति यावत् ; एतेन  
यथोक्तगुणशालित्वेनौजो महत् . एतद्वचने फलन्तीवेति महाफला धमन्य उक्ताः ; विषरीतायां

तन्महत्ता महाभूतान्तर्धोजः परिरक्षता ।

परिहार्या विशेषेण मनसो दुःखहेतवः ॥

हृद्यं यत् स्याद् यदोजस्य स्रोतसां यत् प्रसादनम् ।

तत्तन् न्येव्यं प्रयत्नेन प्रशमज्ञानमेव च ॥ ४ ॥

अथ स्वत्वेकं प्राणवर्द्धनानामुत्कृष्टतममेकं बलवर्द्धनानामेकं  
वृंहणानामेकं नन्दनानामेकं हृषणानामेकमयनानामिति ।  
तत्राहिंसा प्राणिनां प्राणवर्द्धनानामुत्कृष्टतमा, वीर्यं

सिरा किं धमनीभ्यः पृथगित्यत आह—ध्मानादित्यादि । ध्मानामध्ये  
शुषिरभावाद् धमन्य उच्यन्ते । स्रवणाद्रसादिस्वावपथत्वात् स्रोतांस्युच्यन्ते ।  
सरणाद्रसादीनां गमनात् सिरा इत्युच्यन्ते । इत्येवं प्राणायतनत्वात् तन्महत्  
खलु हृद्यं ता महामूला ओजोवहा दश सिरास्तर्धोजः परिरक्षता पुंसा  
मनसो दुःखहेतवो विशेषेण परिहार्याः, यच्च हृद्यं हृदयस्य हितं स्यात्  
यदोजस्यमोजोहितं स्याद् यच्च स्रोतसां प्रसादनं प्रशमज्ञानमेव यत् तत्सर्वं  
प्रयत्नेनौजः परिरक्षता सेव्यमिति ॥ ३/४ ॥

गङ्गाधरः—प्रशमज्ञानं विवृणोति—अथन्यादि । एकं प्राणवर्द्धनानामुत्कृष्ट-  
तममिति उत्कृष्टतममुत्तरोत्तरमनुवर्तनीयम् । प्राणवर्द्धनबलवर्द्धनवृंहणनन्दन-  
हृषणायनानां षण्णामेकैकमुत्कृष्टतमं क्रमेण दर्शयति । तत्राहिंसा प्राणिनां प्राण-  
वर्द्धनानामुत्कृष्टतमा । सर्वत्रैव अहिंसाशब्देन स्वतरेषां प्राण्यप्राणिनामप-  
कारक्रिया । यथा परेषां नरादीनां धनग्रहणाद्यनिष्ठकरणम्, पृथिव्यादीनां

निरुक्तिमाह—बहुधा वा ताः फलन्तीति, ता हृदयाश्रिता दश धमन्यो बहुधाऽनेकप्रकारं  
फलन्तीति निष्पाद्यन्ते ; एतेन मूले हृदये दशरूपाः सत्यो महासंख्याः शरीरे प्रतानभेदा भवन्ती-  
त्युक्तम् । धमनीशब्दादिनिरुक्तिं करोति—ध्मानादित्यादि । ध्मानात् पूरणात् बाह्येन रसादि-  
नेत्यर्थः ; स्रवणादिति रसादेरेव पोष्यस्य स्रवणात्, सरणाद् देशान्तरगमनात् ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति हृदिस्थस्य मनसः परिपालनहेतुमाह—तन्महदित्यादि । तन्महदिति  
षडङ्गादिस्थानं हृदयं ; ता महामूला इत्योजोवहा धमन्यः ; तर्धोज इति “येनौजसा” इत्यादिनोक्त-  
गुणमोजः । प्रशमः शान्तिः । ज्ञानं तत्त्वज्ञानम् ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—सेव्यप्रस्तावेन प्राणवर्द्धनोत्कृष्टान्यहिंसादीन्यप्याह—अथ खल्वित्यादि ।  
एकमित्येकमेव, न द्वितीयमुत्कृष्टतममस्तीत्यर्थः ; अयनानामिति मार्गणाम् ; यद्यप्यन्नं प्राणवर्द्धनं

बलवर्द्धनानां, विद्या बृंहणानाम्, इन्द्रियजयो नन्दनानां,  
तत्त्वावबोधो हर्षणानाम्, ब्रह्मचर्यम् अयनानामित्येवमायुर्वेद-  
विदो मन्यन्ते ॥ ५ ॥

तत्रायुर्वेदविदस्तन्त्रस्थानाध्यायप्रश्नानां पृथक्त्वेन वाक्यशो  
वाक्याथेशोऽर्थावयवशश्च प्रवक्तारो मन्तव्याः ॥ ६ ॥

तत्राह कथं तन्त्रादीनि वाक्यशो वाक्याथेशोऽर्थावयवशश्च  
गन्धादिग्रहणादिः तत्राप्यप्राणिनां हिंसाव्यवच्छेदार्थं प्राणिनामित्युक्तम् ।  
प्राणिनामहिंसा प्राणवद्धनानामन्नपानादीनां सर्वेषां मध्ये श्रेष्ठतमा । अस्य  
पदस्य त्त्रिविपरिणामेनोत्तरोत्तरं योजना कार्या । वीर्यं शक्तिः पराक्रमः ।  
विद्या द्विविधा—परा चापरा च । यया तदक्षरमधिगम्यते यददृश्यमग्राह्यमगोत्रम्  
अवणं यदप्राणिपादमचक्षुःश्रोत्रमित्येवमादि सा परा । अथापरा—शिक्षा  
कल्पो व्याकरणं छन्दो निरुक्तं ज्योतिषमित्येवमादिसंहिताश्चत्वारो वेदा इति ।  
इन्द्रियजयो मनोनिग्रहः । नन्दयन्तीति नन्दना आनन्दजनका ये भावाः  
तेषां मध्ये मनोजयः श्रेष्ठतमो नन्दनः । तत्त्वावबोधो येषां केषाञ्चिदपि  
भावानां याथाार्थ्येनावबोधो हर्षजननानां भावानां मध्ये श्रेष्ठतमो हर्षजननः ।  
ब्रह्मचर्यमुपस्थनिग्रहः, कायवाङ्मनोभिर्मथुनान्निवृत्तिः अयनानां परलोकहित-  
पथानां मध्ये श्रेष्ठतमं परलोकहितमयनमिति मनोदुःखहेतुवज्जनमायुर्वेद-  
विदो मन्यन्ते ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—ननु कीदृशा भवन्त्यायुर्वेदविद इत्यत आह—तत्रेत्यादि ।  
आयुर्वेदस्य तन्त्रतन्त्रस्थानाध्यायप्रश्नानां पृथक्त्वेन वाक्यशो वाक्याथेशो-  
ऽर्थावयवशश्च प्रवक्तारः पुरुषा आयुर्वेदविदो मन्तव्या इति । आयुर्वेदस्य बहूनि  
तन्त्राणि सन्ति : अग्निवेश-भेल जन्कणे-पराशर-हारीत-क्षारपाणि-कणाद-  
नागाज्जुन-व्यास-चरक-सुश्रुत पुष्कलावत-गोपुर-रक्षितादिप्रणीतानि ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—तत्र जिज्ञासावचनमाह—तत्राहेत्यादि । कथं तन्त्रादीनि  
तथाप्यहिंसैवोत्कृष्टा, अहिंसया हि धर्मजननान् तथायुर्वेदं भवति ; यद्यपि मांसं  
बृंहणप्रधानं, तथापि तच्छरीरमात्रवृंहणं, विद्या तु शरीरमनोबृंहणीयाऽतिरिच्यते ॥ ५ ॥

चक्रपाणिः—आयुर्वेदश्रवणप्रसङ्गेनायुर्वेदनिरुक्तमायुषस्तथायुर्वेदस्य च निरूपकं प्रकरणं  
ब्रह्मे—तत्रेत्यादि । वाक्यश इत्यादि स्वयमेव व्याकरिष्यति, तन्त्रं शास्त्रम्, आप्येष्टषिकृतम्,

उक्तानि भवन्तीति ? अत्रोच्यते । तन्त्रमायं कार्त्तस्येन  
यथास्नायमुच्यमानं वाक्यशो भवत्युक्तम् । बुद्ध्या सम्यगनु-  
प्रविश्यायेतत्त्वं वाग्भिर्व्याप्नन्मानप्रतिज्ञाहेतूदाहरणेन युक्ताभि-  
स्त्रिविधपुरुषाणां बुद्धेरवगम्याभिः\* उच्यमानं वाक्यार्थशो  
भवत्युक्तम् । तन्त्रनियतार्थानामर्थदुर्गाणां पुनर्विभावनैरुक्त-  
मेवार्थावयवशो भवत्युक्तम् ॥ ७ ॥

वाक्यातिक्रमेणोक्तानि भवन्तीत्याह चेत् तदात्रोच्यते । तन्त्रमायं यदधीतमग्नि-  
वेशाद्यन्यतमपिप्रणीतं तदुच्येत । तन् तन्त्रमुक्त्वा तस्य यावन्ति स्थानानि तानि  
ब्रूयात् पदस्थानं सौश्रुतं तदधीतवद्विवेक्तव्यं—मृत्र-निदान-वारीर-चिकित्सा-  
कल्पोत्तरतन्त्राणीति पदस्थानानि : तत्र यावन्तोऽध्यायास्तान् ब्रूयात् । एवं  
सम्बतन्त्राणां स्थानाध्याया वक्तव्याः । अथैतस्यानुपूर्व्या यथाम्नायं कार्त्त-  
स्येन यदुच्यते पाठान् तद्वाक्यशो भवत्युक्तं तन् तन्त्रम् । अथ वाक्यार्थशो यथा  
भवत्युक्तं तत्तन्त्रं तदाह—बुद्धेरन्यादि । तस्याधीतस्य तन्त्रस्य पुनरेकैकस्य  
वाक्यस्याथतत्त्वं बुद्ध्या सम्यगनुप्रविश्य व्यासादियुक्ताभिर्वाग्भिस्त्रिविधानाम्  
अल्पबुद्धिमध्यबुद्धिनीत्रबुद्धीनां पुरुषाणां त्रिविधबुद्धेः अवगम्याभिरुच्यते  
यत् तद्वाक्यार्थशो भवत्युक्तमिति । अथार्थावयवशश्च यथा वक्तव्यं तदाह—  
तन्त्रेत्यादि । तत्र तत्र तन्त्रे नियता ये अर्था येषां वाक्यानां तेषां मध्ये यानि  
वाक्यान्यर्थतो दुर्गाणि तेषां पुनर्विभावनैरुक्तं वाक्यमर्थावयवशो भवत्युक्त-  
मिति ॥ ७ ॥

यथास्नायमुच्यमानमिति यथापाठक्रमेणोच्यमानम् ; उदाहरणं दृष्टान्तः, उपनयः सिद्धान्तोप-  
पादितस्य साधनधर्मस्य साध्ये पुनः कथनम्, यथा तथा चायं धूमवानिति ; निगमनं  
हेतुसाधितसाध्यधर्मकथनम्, यथा—तस्मादग्निमानिति ; तन्त्रनियतानामिति तन्त्रगतानाम् ;  
विभावनैरुक्तमिति व्याख्यानैः कथनम्, उक्तमिति भावे क्तः ; अस्योदाहरणम्, यथा—  
'शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्द्धिनी' इत्यत्र 'इष्टा या चेष्टा' इत्येतावन्मात्रमुच्यते, तेन  
द्वितीयचेष्टापदस्य दुर्गस्य व्याकरणपरं भवति ॥ ६।७ ॥

\* व्याससमासप्रतिज्ञाहेतूदाहारणोपनयनगमनयुक्ताभिस्त्रिविधशिव्यबुद्धिगम्याभिरिति  
पाठान्तरम् ।

तत्र चेत् प्रष्टारः स्युः चतुर्णामृक्-साम-यजु-  
रथर्ववेदानां कं वेदमुपदिशन्त्यायुर्वेदविदः, किमायुश्च कस्मादायुर्वेदः  
किमर्थमायुर्वेदः शाश्वतोऽशाश्वतो वा कति चास्याङ्गानि  
कैश्चायमध्येतव्यः कैः किमर्थमिति ॥ ८ ॥

अत्र भिषजा पृष्टेनैवमुच्यते—चतुर्णामृक्-साम-यजु-  
रथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदेऽस्योक्तिः \* । वेदो ह्यथर्वा  
दान-स्वस्त्ययनवलिमङ्गल-होमनियमप्रायश्चित्तोपवासमन्त्रादि-  
परिग्रहाच्चिकित्सां प्राह । चिकित्सा चायुषो हितायोप-

गङ्गाधरः—एवं तन्त्रस्थानाध्यायानां प्रश्नानामुत्तरे कृते सति तत्र चेत् के  
अपि प्रष्टारः स्युरेवम् । तद् यथा । चतुर्णाम् ऋग्वेदादीनां कं वेदमायुर्वेदविद  
उपदिशन्त्यायुर्वेदम् । किञ्चायुरुपदिशन्ति । कस्मात् कारणादायुर्वेद इत्यु-  
च्यते । किमर्थं किं प्रयोजनमायुर्वेदः । स आयुर्वेदः शाश्वतोऽशाश्वतो वा ।  
अस्यायुर्वेदस्य कति चाङ्गानि । कैश्च वर्णैर्यमायुर्वेदोऽध्येतव्यः । कैश्च  
किमर्थमध्येतव्यः इत्येवं चेत् प्रष्टारः स्युरित्यन्वयः ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—अथ यथात्रोत्तरं वक्तव्यं तदाह—अत्रेत्यादि । एवं पृष्टेन भिषजा  
वेदश्चोपदिश्य यं वेदमायुर्वेदं तं वेदमुपदिश्यायुर्वाच्यम् । कं वेदमुपदिश्य  
इत्यत आह—चतुर्णामित्यादि । ऋग्वेदादीनां चतुर्णां वेदानां मध्येऽथर्व-  
वेदे, तस्यैवाथर्ववेदस्यात्मन आयुर्वेदस्योक्तिः । अथर्ववेदान्तर्गते आयुर्वेदे  
इत्युपदेष्टव्यम् । कस्मादित्यत आह—वेदो हीत्यादि । हि यस्मात् अथर्व-  
नाम वेदो दान-स्वस्त्ययनवलिमङ्गल-होम-नियम-प्रायश्चित्तोपवास-मन्त्रादीनां  
व्याधिनिवृत्त्यर्थानां परिग्रहाच्चिकित्सां प्राह । तर्हि कथमायुर्वेदः सोऽथर्व-  
वेदः स्यादित्यत आह—यतः स खल्वथर्ववेदो दानस्वस्त्ययनादिभिश्चिकित्सा-  
मुवाच । सा चिकित्सा पुनरायुषो हितायोपदिश्यते, तस्मात् स एवाथर्ववेद-

चक्रपाणिः—इदानीमायुर्वेदविदः प्रश्नेनैव निर्णेतव्या इत्यतः प्रश्नानाह—तत्र चेदि-  
त्यादि । कं वेदमुपदिशन्त्यायुर्वेदमिति शेषः ॥ ८ ॥

चक्रपाणिः—अथर्ववेदे भक्तिः सेवेत्यर्थः, एतेन भिषक् सेव्यत्वेनाथर्ववेदस्यायुर्वेदत्वमुक्तं  
भवति । आयुर्वेदस्याथर्ववेदाभेदहेतुमाह—वेदो हीत्यादि । एतेनैकप्रयोजनत्वादथर्ववेदैकदेश

\* वक्तिरित्यत्र भक्तिरिति चक्रः ।

दिश्यते । वेदञ्चोपदिश्य आयुर्वाच्यम् । तत्रायुश्चेतनानुवृत्ति-  
जीवितमनुबन्धो धारि चेत्येकोऽर्थः । तत्रायुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः,  
कथमिति चेदुच्यते, तत्र च वाच्यं—स्वलक्षणतः सुखासुखतो  
हिताहिततः प्रमाणाप्रमाणतश्च । यतश्चायुष्याण्यनायुष्याणि  
च द्रव्यगुणकस्माणि वेदयत्यनोऽप्यायुर्वेदः ॥ ६ ॥

भाग आयुर्वेदः ; इति चतुर्भ्यो वेदेभ्यो नातिरिक्त आयुर्वेदो न चावेदो नापि  
वेदाङ्गम् । किन्त्वथर्वणोऽधिकमङ्गमित्यन उपाङ्गमुच्यते केनचित् । अन्येवं  
चतुर्णां वेदानां कं वेदमायुर्वेदमुपदिशन्न्यायुर्वेदविद इति प्रश्नोत्तरमुपदिश्य  
किमायुश्चेति प्रश्नविषयमायुर्वाच्यम् । तत्रेत्यादि । तत्रायुर्वेदे त्रायुक्तम् ।  
चेतनानुवृत्तिर्जीवितमनुबन्धो धारि चेति पर्याय एकाथ इति । चेतनानु-  
वर्त्तते यत्र येन वेति चेतनानुवृत्तिरायुः, जीवितं जीव प्राणधारणे इति जीवति  
अस्मिन्निति जीवितमायुरधिकरणे क्तः । अनुबन्ध इति । पूर्वपूर्वमाना-  
पायादनु पश्चादुत्तरोत्तरमानेन वध्नाति यः सोऽनुबन्ध आयुः शरीरेन्द्रियसत्त्वात्म-  
संयोगः । पचादित्वादच् पुंलिङ्गः । धारि चायुः, धारयितुं शीलमस्येति  
धारि, चौरादिको धृ धारणे, धृञ् धारणे भौवादिको वा नौवादिको धृङ् स्थिति-  
धारणयोर्वेति । इत्यायुक्तत्वा कस्मादायुर्वेद इत्यस्योत्तरमाह—तत्रेत्यादि ।  
आयुर्वेदयतीत्यस्मादायुर्वेदो नामोच्यते । सुश्रुते तु आयुर्वेत्ति वेदयति  
विन्दत्यस्मादस्मिन् वेत्यायुर्वेद इत्युक्तम् । तत्र कथमायुर्वेदयतीति चेन् पृच्छति,  
तदोच्यते । स्वलक्षणतः स्वरूपलक्षणतः सुखतोऽसुखतो हिततोऽहिततश्च  
प्रमाणतोऽप्रमाणतश्चेति । आयुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः । अथ किमथेमायुर्वेद  
इत्यस्योत्तरमायुषो हिताहिताथेमायुर्वेदे इत्येवमाह—यतश्चेत्यादि । यतो  
एवायुर्वेद इत्युक्तं भवति । प्रश्नक्रमेण वेदं प्रतिपाद्यायुरेव प्रतिपादनीयं भवतीत्याह—वेदञ्चोप-  
दिश्येत्यादि । चेतनानुवृत्तिरिति चैतन्यसन्तानः, एतच्च गर्भाद्यवधिमरणपर्यन्तं बोद्धव्यम्,  
तदूर्ध्वं चेतनानुवृत्तेः, साक्षादनुपलब्धत्वेनैवानुवृत्तिरिति भावः ; न च वाच्यम्—प्रसुप्तस्य  
चैतन्यविच्छेदो भवति ; यतस्तत्रापि 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्युत्तरकालीनप्रतिसन्धानदर्शनात् सुक्ष्म-  
ज्ञानमस्येव । यद्यपि दीर्घजीवित्ये 'शरीरादिसंयोग आयुः' इत्युक्तम्, तथापि तत्कार्यत्वादिह  
चैतन्यानुवृत्तिः कार्यकारणयोरभेदविवक्षयायुर्वच्यते ; अनुबन्धधारिशब्दौ प्रथमाध्याये व्याकृतौ ।  
'कस्मादायुर्वेदः' इत्यस्योत्तरम्,—तत्रायुरित्यादि । वेदयति बोधयति ; ये त्वत्र तन्त्रान्तरे  
विदेर्लोभादयोऽर्था व्याख्याताः, ते साक्षात् तु तदर्थजन्या इतीह नोक्ताः ; स्वलक्षणतः इत्यादि



तत्रायुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्मणि केवलेनोप-  
देक्ष्यन्ते तन्त्रेण । तत्रायुरुक्तं स्वलक्षणतो यथा यदिहैव  
पूर्वाध्याये । यच्च सुखादितस्तत्र शारीरमानसाभ्यां रोगाभ्या-  
मनभिद्रुतस्य विशेषेण यौवनवतः समर्थानुगतबलवीर्य्य-यशः  
पौरुषपराक्रमस्य ज्ञानविज्ञानेन्द्रियार्थबलसमुदाये वर्तमानस्य  
परमर्द्धिरुचिरविविधोपभोगस्य समृद्धसर्वारम्भस्य यथेष्ट-  
विचारिणः सुखमायुरुच्यते । असुखमतो विपर्य्ययेण । हितै-  
षिणः पुनर्भूतानां परस्वाहुपरतस्य सत्यवादिनः सामपरस्य  
हेतोर्वायुष्याण्यनायुष्याणि द्रव्यादीनि वेदयति, अतोऽपि कारणादायुर्व्वेद-  
इति संज्ञा । एतेनायुर्व्वेदस्य प्रयोजनमुक्तमायुषो हिताहितम् ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—कानि तानीह वेदयतीति ? अत आह—आयुष्याण्यनायुष्याणि  
द्रव्यादीनि केवलेन कृत्स्नेन तन्त्रेणोपदेक्ष्यन्ते । तत्रायुः स्वलक्षणतः कुत्र  
प्रोक्तमिति ? अत आह—तत्रेत्यादि । स्वलक्षण आयुरुक्तं पूर्वाध्याये यथा  
तथैवैव चेतनानुवृत्तिरित्यादिना । सुखसुखतो हिताहिततश्चेहोच्यते । तत्र  
शारीरमानसाभ्यां रोगाभ्यामनभिद्रुतस्य अभिद्रवाभाववतः, अनभिभूत-  
स्याभिभवाभाववतश्च । विशेषेण बाल्यवाद्धेक्याभ्यां विशेषेण यौवनवतः  
समर्थानुगतबलदिकस्य ज्ञानादिसमुदाये वर्तमानस्य परमर्द्धिरुचिरादुप-  
भोगयुक्तस्य समृद्धसर्वारम्भस्य—समृद्धिमन्तः सर्व्वकर्मणामारम्भा यस्य ।  
यथेष्टविचारिणः स्वस्वाभिलाषानुरूपविशेषचरणशीलस्य जनस्य सुख-  
मायुरुच्यते । असुखमायुरतो विपर्य्ययेणाभिधीयते ।

अथ हितायुर्यस्य तदाह—हितैषिण इत्यादि । भूतानां हितैषिणः  
स्वयमेवोदाहरिष्यति । आयुष्यानायुष्ये 'आयुः'शब्देन वक्तव्ये, तेन आयुष्यानायुष्यवेदपक्षे गौणी  
निरुक्तिः 'आयुर्व्वेदः' इति । अत एवात्र 'अपि'शब्दः—'अतोऽप्यायुर्व्वेदः' इति ; अनायुष्यमपि च  
ज्ञातमसेव्यत्वेनाव्यवहिद्यमानमायुःकारणं भवत्येव, तेनानायुष्यमप्यायुःकारणतयायुःशब्दवाच्यं,  
नात्रापराधः । इहैवेति तत्रायुः 'चेतनानुवृत्तिः' इत्यादिना । तत्र 'शारीर'-इत्यादिना  
सुखमायुरभिधत्ते ; पौरुषमुत्कृष्टं कर्म, ज्ञानविज्ञानेन्द्रियैर्बलशब्दः, इन्द्रियार्थेन च समुदायशब्दः  
सम्बध्यते ; किंवा ज्ञानादिभिः सर्व्वैरेव समुदायशब्दः सम्बध्यते । किंवा ज्ञानादिभिः सर्व्वैरेव  
'बलसमुदाये' इति बोध्यम्, बलस्य समुदायो बलसमुदायः ; परमात्यर्थर्द्धिर्यस्य स परमर्द्धिः ;

समीक्ष्यकारिणोऽप्रमत्तस्य त्रिवर्गं परस्परेणानुपहतमुपसेव्य  
पूजार्चनस्पृजकस्य ज्ञानादुरपशंसशीलस्य ॐ वृद्धोप-  
सेविनः मुनियतरागरोषेर्ध्यामिदमानवेगस्य सततं विविध-  
प्रदानतत्परस्य तपोज्ञानप्रशमनित्यस्याध्यात्मविदस्त्वत्परस्य  
लोकमिमञ्च अमुञ्च अवेक्षमाणस्य स्मृतिमतिमतो हितमायु-  
रुच्यते । अहितमतो विपर्ययेण ॥ १०११ ॥

प्रमाणमायुपस्त्वर्थेन्द्रियमनोबुद्धिचेष्टादीनां स्वेनाभि-  
भूतस्य विकृतिलक्षणैरुपलभ्यते त्वनिमित्तैः । अयमस्मात्  
पुरुषस्य परस्वान् परधनाहरणादुपरतस्य निवृत्तस्य सत्यवादिनः सामवरस्य  
शान्तिषु तत्परस्य समीक्ष्य कर्तव्ये गुणदोषान् समालोच्य कारिणः । अप्रमत्तस्य  
प्रमादभ्रान्त्यस्य । त्रिवर्गं धर्माधिकां परस्परेणानुपहतमुपसेव्य पूजाह-  
पूजकस्य । ज्ञानादुरपशंसशीलस्य ज्ञानविज्ञानाभ्यां प्रशंसाशीलस्य । वृद्धोप-  
सेविनः वृद्धानां धर्माधर्मनीतिव्यवहारादिकुशलानां सेवनेन तत्सर्व-  
भिन्नस्य । मुनियतः स्वाधीनीकृतो रागादिवेगो येन तस्य । सततं विविधानां  
गोहिरण्यभूम्यादीनां दाने तत्परस्य कुशलस्य । तपोज्ञानेन प्रशमो  
नित्यं यस्य तस्य तथा । अध्यात्मविदः आत्मानमधिकृत्य ये भावा  
आत्मादितत्त्वानि तानि विदन्तीति । तत्परस्याध्यात्मतत्त्वकर्मसु तत्परस्य ।  
लोकञ्चेमममुञ्चावेक्षमाणस्य लोकद्वये यद्विरुद्धं कम्म तत्कारिणः । स्मृतिमतो  
मतिमतश्च हितमायुरुच्यते हितफललाभात् । अहितमतो विपर्ययेणायु-  
रुच्यते ॥ १०११ ॥

गुहाधरः—इति सुखमायुरसुखमायुहितमायुरहितमायुश्चोक्त्वा प्रमाणतो-  
ऽप्रमाणतश्चायुराह—प्रमाणमित्यादि । आयुषः प्रमाणं स्वार्थादीनां स्वेनाभि-  
भूतस्य विकृतिलक्षणैरुपलभ्यतेऽनिमित्तैरकारणैः । कीदृशं प्रमाणमित्यत  
सभृद्धा निष्पादितसाध्याः सर्वारम्भा यस्य स तथा । हितैषिणो भूतानामिति शेषः ;  
तत्परस्येत्यध्यात्मपरस्य, अध्यात्ममात्मादिस्वरूपम्, अमुञ्चेति परलोकम् ॥ ९—११ ॥

चक्रपाणिः—विकृतिरूपैर्लक्षणैः तेषामेव विशेषणम्—अनिमित्तैराकस्मिकैरिष्टैरित्यर्थः ;  
अनिमित्ता हि विकृतिरर्थोन्द्रयागामरिष्टम्, तत्रार्थविकृतिर्यथा—“नानापुष्पोपमगन्धो यस्य

क्षणमुहूर्त्तादिवसात् त्रिपञ्चदशद्वादशाहात् पक्षात् मासात्  
 षण्मासात् संवत्सराद्वा स्वभावमापत्स्यते । तत्र स्वभावः प्रवृत्ते-  
 रूपरमो मरणमनित्यता निरोध इत्येकोऽर्थः । इत्यायुषः  
 प्रमाणम् । अतो विपरीतमप्रमाणमरिष्टाधिकारे देहप्रकृति-  
 लक्षणमधिकृत्य चापदिष्टमायुषः प्रमाणाप्रमाणमायुर्वेदः ॥१२

प्रयोजनञ्चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकार-

आह—अयमित्यादि । अयं पुमानस्मादियन्मानात् क्षणान्मुहूर्त्ताद्वा दिवसाद्वा  
 ष्यहात् पञ्चाहात् दशाहात् द्वादशाहाद्वा पक्षान्मासात् संवत्सराद्वा स्वभावं  
 मरणमापत्स्यते, इत्येवं प्रमाणमायुषः स्वार्थादिविकृतिलक्षणैरकारणैरुपलभ्यते  
 इति । तत्स्वभावमाह—तत्रेत्यादि । स्वभावः प्रवृत्त्युपरमः मरणमनित्यता  
 निरोध इत्येकोऽर्थः पर्यायशब्दात् । इत्यायुषः प्रमाणमतो विपर्ययेण  
 यद्वक्ष्यते मरिष्यति जह्यादित्यादिमात्रं न कालप्रमाणं तदायुषोऽप्रमाण-  
 मित्येवमायुर्वेदेऽरिष्टाधिकारे देहप्रकृतिलक्षणमधिकृत्यायुषः प्रमाणाप्रमाण-  
 मुपदिष्टमिति ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—अथ किमर्थमायुर्वेद इति प्रश्नस्योत्तरमाह—प्रयोजनञ्चेत्यादि ।  
 अस्यायुर्वेदस्य प्रयोजनं स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं धातुसाम्यरक्षणमातुरस्य  
 व्याधिप्रशमनं धातुवैषम्यप्रशमनं धातुसाम्यकरणमिति ॥ १३ ॥

वाति दिवानिशम् इत्यादि, इन्द्रियविकृतिर्यथा—“यश्च पश्यत्यदृश्यान्” इत्यादि ;  
 मनोविकृतिर्यथा—“मैः पुरा विन्दते भावैः समेतैः परमां रतिम् । तैरेवारममाणस्य ग्लास्नो-  
 मरणमादिशेत्” इति ; बुद्धिविकृतिर्यथा—“बुद्धिर्वलमहेतुकम्” इत्यादि, चेष्टाविकृतिर्यथा—विकर्ष-  
 न्निव यः पादौ मृत्युं स परिधावति” इत्यादि ; आदिग्रहणात् परिजनविकृत्यादयो ज्ञेयाः ; अत्र  
 रिष्टप्रस्तावे क्षणादिवर्षान्तकालकथनं वर्षादृष्टे रिष्टजन्यमरणभावात् ; अतो विपरीतमप्रमाणम्,  
 रिष्टहीनं न निश्चितप्रमाणमायुररिष्टाधिकार इत्यर्थः ; अन्यदपि चायुःप्रमाणज्ञानमाह—देहप्रकृती-  
 त्यादि । देहश्च प्रकृतिश्च लक्षणञ्च देहप्रकृतिलक्षणम् ; तत्र देहमधिकृत्यायुःप्रमाणं यथा—  
 “सर्वैः सारैरुपेताः” इत्यारभ्य यावत् “चिरं जीविनो भवन्ति” इति, प्रकृतितो यथा—  
 “इलैष्मिका बलवन्तो वसुमन्तश्च भवन्ति” इति, लक्षणतो यथा—“आयुष्मतां कुमाराणां  
 लक्षणान्युपदेक्ष्यामः” इत्यादि ; किं वा, देहस्य सहजलक्षणं देहप्रकृतिलक्षणम्, तच्च सर्वं  
 सारप्रकृत्यादिलक्षणं बोध्यम् ॥ १२ ॥

प्रश्मनम् । सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निदिश्यतेऽनादित्वात्

गङ्गाधरः—अथायुर्वेदः शाश्वतोऽशाश्वतो वेति प्रश्नस्योत्तरमाह—सोऽय-  
मायुर्वेद इत्यादि । स य आयुर्वेदयति स्वरक्षणनः सुखामुद्यतो हिताहिततश्च  
तस्य हिताहितश्च यत्रोपदिश्यते स तथाविधायुव उपदेशोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो  
निदिश्यते नित्य उच्यते । कस्मान् ? अनादित्वात् । आदिः कारणमुत्प-  
त्तौ कारणाभावादुत्पत्तिविनाशाभावात् । शाश्वतः शश्वद्वत्तने । अनादित्वा-  
दादिमत्त्वाभावात् । ननु श्रूयते वेदस्यादिः गायत्री तद्विशिष्टश्च परः पुरुषः ।  
तद् यथा नैतिगीयोपनिषदि—अमद्वा इदमग्र आसीन् ततो वै सद् जायत ।  
तदात्मानं स्वयमकुरुत तस्मान् तन् मुकृतमुच्यते । अस्यानुवाकस्तत्रैव । उ सो-  
ऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽनप्यत स तपस्तप्त्वा सव्वमसृज्यत  
यदिदं किञ्च । तत्सर्वं सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । सच्च त्वच्च निलयनश्च निरुक्तश्च  
अनिरुक्तश्च विज्ञानश्चाविज्ञानश्च सत्यश्चानृतश्च सत्यमभवत् । यदिदं किञ्च  
तत्सर्वं सत्यमित्याचक्षत इति । तत्र प्राक् सर्गादिका शक्तिरासीत् तद्वद्वा  
तदा क्रियागुणव्यपदेशाभावात् तन् सदेवासदुच्यते । तदसन् प्रथमं तेजो-  
ऽमृजत तदपस्ता अन्नमिति तेजोऽवन्नविशिष्टा सा शक्तिः प्रथमं लोहित-  
शुक्लकृष्णवदाभासाऽर्जितमृक्षमध्वन्यवरुद्धार्जितमृक्षमपरव्योमरूपा गायत्री बभूव  
सा सत् । ततः परव्योमरूपः पर आत्मा शिवो बभूव । स एवाकामयत ।  
स सत् त्यत् सृष्ट्वा तदनुप्राविशदिति । अत्र सत्-त्यन्-पदार्थविवरणम् । निल-  
यनं यस्य यन् स्थानं सत् । यस्य यदस्थानं तदनिलयनं तन् त्यत् । निरुक्तं  
प्रणवः अकार उकारः मकारोऽमात्रा इति निव्वचनं सत् । तदोङ्कार-  
विजृम्भिता अकारादयो मातृकावर्णाः अनिरुक्तं त्यत् निव्वचनाभावात् ।  
विज्ञानं विद्या विद्याश्रयः सदाशिवः पञ्चमो ब्रह्मपुरुषः । सत् । अपरा  
विद्या तदाश्रयाश्चत्वारः साङ्गा वेदा अविज्ञानमविद्या तत् त्यत् । तत्र विद्या त्रिधा  
भूत्वा अथर्ववेदश्च त्रिधा भूत्वा ऋग्यजुःसामसु प्राविशत् ततस्त्रयी बभूव । सा  
सद्रूपं भूतैकांशे कालो नाम महाविष्णुर्वभूवापरांशेन चिद्बभूव तस्य चितः  
सम्प्रसादांशः क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषो विष्णुर्गुणांशः प्रधानं नाम ब्रह्मा, त्रयमेतत्  
सत्यं तन् सत् । तत एतत्त्रयमेकीभवागुणाभिव्यक्तौ तद्गुणस्य प्रसादांशः सत्त्व-  
गुणो मलिनांशस्तमोगुणो मध्यमांशो रजोगुणो बभूवेति, समसत्त्वरजस्तमो-

चक्रपाणि—अनादित्वादिति हेतुत्रयमात्रात् : प्रथमस्य विवरणम्—‘न हि’ इत्यादि ।

स्वभावसिद्धलक्षणत्वात् भावस्वभावनित्यत्वाच्च । न हि नैव

विशिष्टक्षेत्रज्ञः कालानुप्रविष्ट एकं सदव्यक्तं नाम बभूव । ततोऽव्यक्तान्मह-  
दादित्रयोविंशतिस्तत्त्वानि जानानि, तदव्यक्तादिचतुर्विंशतितत्त्वमयमिदं  
जगद्भूदित्यव्यक्ताद्यं तदन्तं सर्वमनृतं सत्यं त्यदुच्यते । परमार्थतोऽनृतं  
लोके सत्यमित्यनृतसत्यमिति निलयनादेतदन्तं सर्वं सत् परमात्मानु-  
प्रवेशात् सत्यमित्याचक्षते तत्त्वविदः, इत्येवं व्याख्यातं वायवीये । तद्यथा—  
शक्तिः प्रथमसम्भूता गायत्री सा पदोत्तमा । चतुर्व्यूहस्ततो देवः प्रोच्यते पर-  
मेश्वरः । तच्छिवस्य शिवायाश्च साम्यञ्चैतत् स्वभावतः । शिवयोर्वशे विश्वं  
न विश्वस्य वशे शिवौ । यथा शिवस्तथा देवी यथा देवी तथा शिवः ।  
नानयोरन्तरं विद्याचन्द्रचन्द्रिकयोः यथा । चन्द्रो न खलु भात्येष यथा चन्द्रि-  
कया विना । न भाति विद्यमानोऽपि तथा शक्त्या विना शिवः । शक्तौ  
यथा शिवो नित्यं शक्तौ मुक्तौ च देहिनाम् । आद्या सैका परा शक्तिश्चिन्मयी  
शिवसंश्रया । यामाहुरखिलैस्तस्य तैस्तैरनुगुणैर्गुणैः । समानधम्मिणीमेव  
शिवस्य परमात्मनः । शिवेच्छया परा शक्तिः शिवतत्त्वकतां गता । ततः  
परिस्फुरत्यादौ सर्गे तैलतिलादिवत् । ततः शिवाख्या या शक्तिः शक्त्या  
शक्तिसमुत्थया । तस्यां वै क्षोभ्यमाणायामादौ नादः समुद्भूतः । नादाद्-  
विनिःसृतो विन्दुविन्दोर्देवः सदाशिवः । ओङ्कारमूर्त्तिस्तत्रासीदोमित्येव  
ध्वनिस्तु यः । सर्वमाहेश्वरी देवी शुद्धविद्या महोदया । सा वाचामीश्वरी  
शक्तिर्वागीशाख्या तु शूलिनः । या सा वणेश्वरूपेण मातृकेति विजृम्भते ।  
अथानन्तसमायोगान्मायां कलामवासृजत् । नियतिश्च कलाविद्या कालश्च  
गुणपूरुषौ । मायातः पुनरेवाभूदव्यक्तं त्रिगुणात्मकम् । त्रिगुणावृततोऽव्यक्ताद्  
विविक्ताः स्युस्त्रयो गुणाः । सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रैव्याप्तमखिलं जगत् ।  
गुणेभ्यः क्षोभ्यमाणेभ्यो गुणेशात् तु त्रिशूलिनः । अभवन्महदादीनि तत्त्वानि  
तु यथाक्रमम् ॥ इत्यादि । इत्येवं गायत्रीपरमात्मभ्यां मिलिताभ्यां विद्यादीना-  
मुत्पत्तिश्च वणाद् वेदो न नित्य आदिमत्त्वादिति । तत्रोच्यते । स्वभावसंसिद्ध-  
लक्षणत्वात् । इति । सोऽयमायुर्वेदः शाश्वत एव चतुर्थपादगायत्रीविशिष्ट-  
त्रिपातपुरुषाच्चतुष्पादब्रह्मणः प्रादुर्भूतोऽपि वेदो नाशाश्वतः स्वभावसंसिद्ध-  
लक्षणत्वात् । लक्षणं ह्यायुर्वेदस्य हिताहितमुखदुःखायुषस्तत्प्रमाणाप्रमाण-

इह व्यवहारनित्यत्वमायुर्वेदे साध्यम्, तत्त्वार्थरूपस्यायुर्वेदस्य, न शब्दरूपस्य ; किंवा

हिताहितानाश्रोपदेश आयुर्वेदं इति । तच्च स्वभावनः स्वरूपतः सम्यक् प्रसिद्धम् । शक्त्यवशेषे महानिर्व्याणं पुनः सगं तेजोऽवन्नानि मृष्टा गायत्री भूत्वा सा शक्तिवत् स्वयमेव परमान्मानं परमव्योमरूपं व्योमकेशं शिवं कृत्वा तेनैकीभूय प्रथमं विद्या तदाश्रयवत्पुरुषसदाशिवं परमविद्या शास्त्रं वेदं तथा पुनरपरविद्याश्रयं चतुर्गं वेदान् साङ्गानुवेदादीन् यदा स्रक्ष्यति तदापि स्वरत्वेनलक्षणत्वेन च स्रक्ष्यतीति स्वभावसंमिश्रलक्षणत्वादादिमत्त्वेऽप्यनादित्वात् शाश्वतः शश्वद्वत्त इति नित्यतः । न हि कदाप्यन्यादृशलक्षणत्वेन विद्याविद्या-शास्त्रमयान् वेदादीन् स्रक्ष्यति । यथा देवनर्गतव्यग्योनिजान् यथा-स्वरलक्षणत्वेनैव स्रक्ष्यति नान्यादृशलक्षणत्वेन । न हि कैरपि दृश्यते नरलक्षणो गौर्गौलक्षणो वा नरः । यथा च तत्तद्व्यथास्वकारणादपि यथास्वरलक्षणत्वेन देवनरनित्यग्योनिजानां पुनःपुनरुपपत्तावपि च नश्वरत्वेऽप्यनादित्वात् शाश्वतत्वं तथा गायत्रीविशिष्टत्रिपात्पुरुषादेव चतुष्पाद्वत्त्वणः पुनः पुनर्विद्या-विद्याशास्त्रमयवेदानां साङ्गनिद्रासपुगणानां प्रादुर्भावेण नश्वरत्वेऽपि चानादि-त्वाच्छाश्वतत्वमिति । अथ कस्मादेवं नियमो यतोऽन्यादृशलक्षणत्वेन न कदाप्येषां सगः स्यादिति ? अत उच्यते—भावस्वभावनित्यत्वादिति । भावा ये भवन्ति सन्ति च, तेषां स्वभावः स्वरूपं नित्यं स्वीयरूपस्य नित्यत्वात् । स्वीयं लक्षणं तेन संमिद्धम् । न च माध्याविशिष्टं स्वं हि रूपं न लक्षणं समुदायो हि रूपं प्रत्येकन्तु लक्षणम् । यो भावो यदानुपूर्वकिसमुदायस्तदेव तस्य रूपमेकावयवादिनूनाधिक्ये तु स न सम्पूर्णलक्षणः स्थादधिकलक्षणो वा स्यात् । तच्च स्वं रूपं स्वो धम्मः । यो यतः कारणाद् यथा यन्प्रभवो यद्गुण इत्येवमादि सव्वत्र वोच्यते तथा स्वभावो नित्यः । नियतिकृतनियमान्नियत एवेति । नियतिस्तु परमात्मनो यदृच्छाशक्तिकृता । परमात्मनो ह्यचिन्त्यानन्ताः शक्त्यस्तासु प्रधानास्तिस्रः शक्तयो ज्ञानशक्तियदृच्छाशक्तिः क्रियाशक्तिश्चेत्युक्तम् श्वेताश्वतरोपनिषदि—न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाप्यधिकश्च दृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभा-विकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ इति । तद्व्याख्यातं वायवीये—ज्ञानक्रियाचिकी-र्षाभिस्तिष्ठभिः स्वीयशक्तिभिः । शक्तिमानीश्वरः शश्वद्विष्वं व्याप्यावतिष्ठते । ज्ञानशक्तिस्तु कार्यं यन् कारणं करणं तथा । प्रयोजनञ्च तत्त्वेन बुद्धिरूपाध्यव-स्यति । इदमित्थमिदं नेत्थं भवेदित्येवमानिका । इच्छाशक्तिर्महेशस्य व्यवहारनित्यायुर्वेदार्थाभिधायकस्यायुर्वेदस्य पारस्पर्ययोगान्नित्यत्वं साध्यते, तत्रायुपस्तावदायु-

अभूत् कदाचिदायुषः सन्तानो वृद्धिसन्तानो वा शाश्वतश्चायुषो वेदिता । अनादिमच्च\* सुखदुःखं सद्रव्यहेतुलक्षणमपरापर-  
नित्या कार्यनियामिका । अथेच्छया क्रियाशक्तियथाध्यवसितञ्च यत् ।  
कल्पयन्त्यग्विलं कार्यं क्षणान् सङ्कल्परूपिणी ॥ इति ।

नन्वेवमेव सत्यतिनायुर्वेदो नित्यः, यदायुर्वेदनादायुर्वेदः, तदायुश्चोक्तं  
शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगः, स चानित्यद्रव्याणां द्वन्द्वसर्व्वैककम्मत्वात्  
इत्याशङ्कयामाह—न हीत्यादि । हि यस्मात् । आयुषः शरीरेन्द्रियसत्त्वात्म-  
संयोगस्य शरीरादिकम्मजस्य सन्तानः प्रवाहो वृद्धिसन्तानो वा नाभूत् नासीत्  
नापरन्त्वामीदेव । यो यावन्तं कालं वृत्ते तद्वृत्तं जीवनं तद् गायत्र्या अप्यस्ति  
तेजोऽवन्तसंयोगाद्धि शक्तिर्गायत्री भवतीत्येवमादि, यद् यस्माद् महानिर्वा-  
णात् परं भविष्यति तत्सर्व्वमायुष्मदेव भविष्यतीत्यायुषः सन्तानोऽभूदेवमायुषो  
वृद्धिसन्तानोऽप्यभूदेव हितसेवनादहितसेवनाद् हाससन्तानश्च कथमन्यथा  
न स्यात् हितासेवनेनायुषो हासोऽहितसेवनेन वृद्धिरिति ? तस्मादायुषः  
प्रमाणाप्रमाणमपि चाभूदेव । सर्व्वेपामायुषो वेदयिता परमात्मा च शाश्वतः ।  
सुखामुखश्चायुरिति यस्यायुषि सुखं वा दुःखं तत् सुखञ्च दुःखञ्चानादिमत् ।  
यद्यदेव महानिर्वाणात् परमपि पुनर्भविष्यति तत्तदपि सुखदुःखवद्भविष्यति  
नासुखं नादुःखं वा । सद्रव्यहेतुलक्षणं सुखं दुःखञ्चानादिमत् । यस्मिन्-  
द्रव्ये सुखमसुखञ्च तदनादि । युक्त्यान्नपाने सुखमयुक्त्यान्नपाने दुःखं कथम्  
अन्यथा न भवति युक्त्यान्नपाने दुःखमयुक्त्यान्नपाने सुखमित्येवमादि । प्रीति-  
लक्षणं सुखं विषादलक्षणं दुःखं कथमन्यथा न स्यात् विषादलक्षणं सुखं  
प्रीतिलक्षणं दुःखमिति । सद्रव्यहेतुलक्षणं सुखदुःखमनादिमत् । कस्मादेवम्  
अनादिमत् ? अपरापरयोगात् । अपरस्य अपरेण योगोऽपरस्यापरेण योग  
व्येदप्रतिप्राप्तस्य नित्यत्वम्,—‘न हि नामूत् कदाचिदायुःसन्तानः,—सर्व्ववैवायुरपरापरसन्तान-  
न्यायेन विद्यते, आयुर्मुक्तानां प्राणिनामनुच्छेदादित्यर्थः ; एवं बुद्धिसन्तानानामपि न हि नामूद्  
कदाचिद्, इति योजना ; एतेन तस्यापि सन्तानेन नित्यस्यायुषो वेदनमपि नित्यम् ; ‘शाश्वत-  
श्चायुषो वेदिता’ इत्यनेनायुर्वेदवेदितृनित्यत्वमुक्तम् ; एतेन वेद्यवेदनवेदितृणामनादित्वादायु-  
र्वेदस्य नित्यत्वम् ।

न चायुःस्वरूपेणैवायुर्वेदविषय उक्तः, किं तर्हि, रोगादिगृहीतेनेत्याह—अनादि  
चेत्यादि । सुखदुःखमिति, आरोग्यं सुखं व्याधिर्दुःखम् । सद्रव्यहेतुलक्षणमिति, सद्रव्य-



योगान् । एष चात्मसंग्रहः विभाव्यते । आयुर्वेदलक्षणमिति  
तु यत् तत् पुनर्गुरुत्ववृत्तीनां शक्तिगुरुत्वादीनाञ्च द्रव्याणां<sup>†</sup>  
सामान्यविशेषाभ्याञ्च वृद्धिहानौ यथोक्तम् । गुरुभिर्गुरुभ्यस्य-

इत्येवमुत्तरोत्तरयोगादिति सर्वं नित्यमनादित्वात् स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्  
भावस्वभावनित्यत्वात् । इत्यनादित्वप्रकारं दर्शयित्वा स्वभावसंसिद्धलक्षणत्व-  
प्रकारं दर्शयति—एष चेत्यादि । एष चात्मसंग्रहो लक्षणममुदायरूपस्य स्वस्य  
संग्रहः संक्षेपो विभाव्यते चिन्त्यते । तद् यथा—आयुर्वेदलक्षणमिति । हिता-  
हितमुखदुःखायुपस्तद्धिताहितप्रमाणाप्रमाणोपदेश आयुर्वेदे इत्यायुर्वेदलक्षण-  
मिति । एवमुपवेदादीनां यथामूललक्षणं स्वरूपेण एव सिद्धं न कदाप्यन्यादृश  
लक्षणनया स्यात् ।

इति स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वप्रकारं दर्शयित्वा भावस्वभावनित्यत्वं  
दर्शयति—गुरुत्वध्वन्यादि । गुरुत्वादयो द्रव्याणां गुणाः स्वभावाः गुरुत्वादि-  
गुणानां द्रव्याणां सामान्यविशेषाभ्यां वृद्धिहानौ । यथा गुरुणां सामान्येन  
गुरुत्वादिगुणेन वृद्धिरिति सामान्यस्य स्वभावो विशेषेण गुरुणां लघुना

चिकित्सितलिङ्गम् । हेतुशब्दन्य हि द्रव्यशब्देनैव व्याधिकारणत्वेनोक्तत्वात् प्रज्ञमहेतुत्वमाह ;  
केचित् तु—सहेतुलक्षणमिति पठन्ति, तत्रापि हेतुशब्देन जनकः शमकश्च रोगहेतुर्व्याख्यातः ;  
यदि वा सुखहेतुर्भेषजं दुःखहेतुश्च निदानमिति ज्ञेयम् ; लक्षणञ्च व्याध्यायोग्ययोरुभयोरपि, एतेन  
दुःखं तावत् कदाचिदप्यजिहासितं न भवति, जिहासितस्यानुपायो न भवति, उपायश्चायुर्वेदो  
दुःखपरिहारार्थमुपादेयः । तस्माद् दुःखप्रशमनोपायोपदेशरूपायुर्वेदस्यानादितेति भावः । एवं  
सुखस्य नित्योपादेयत्वं सिद्धम्, तदुपायस्यायुर्वेदस्य च ; कथमनादि सुखदुःखमित्याह—अपरापर-  
योगादिति सन्तानादित्यर्थः ।

स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वं द्वितीयं हेतुमाह—एष चेत्यादि । एष इति सुखदुःखाद्यर्थसंग्रहोऽभिधेय-  
संग्रहः एतेन आयुरादिरायुर्वेदप्रतिपाद्य इति दर्शयति ; अयञ्चायुरादिरत्रायुर्वेदलक्षणमिति विभाव्यते  
ज्ञायत इत्यर्थः, आयुरादिनाऽभिधेयेनायुर्वेदो लक्ष्यते, वचनं हि,—“हिताहितं सुखं दुःखम्”  
इत्याद्यायुर्वेदलक्षणम् ; एतेन आयुरादेस्तस्यायुर्वेदलक्षणस्यानादितया यथोक्तया स्वभाव-  
संसिद्धलक्षणत्वं व्याकृतं भवति ; स्वभावसंसिद्धमिति सर्वदा सन्तानन्यायेन सिद्धत्वमभिप्रेतम् ।

भावस्वभावनित्यत्वादिति तृतीयं हेतुं व्याकरोति,—गुर्वित्यादि । गुरुत्ववृत्तिगुरु-  
त्वक्षतीतोष्णानां द्रव्याणां सामान्यविशेषाभ्यां यथाक्रमं वृद्धिहानौ भवतः ; तदेव



मानेगु गुणामुपचयो भवत्यपचयो लघूनामेवमितरेषामिति ।  
एष भावस्वभावो नित्यः, स्वस्वलक्षणश्च द्रव्याणां पृथिव्या-  
दीनाम् । सन्ति तु द्रव्याणि गुणाश्च नित्यानित्याः ।

हासः लघूनां गुरुणा हास इति विशेषस्य स्वभावः । एष भावस्वभावो  
नित्यः, न हि सामान्येन समानां हासो न विशेषेणासमानां वृद्धिः । एव  
सर्वत्र । स्वलक्षणश्च पृथिव्यादिद्रव्याणां स्वरद्रवोष्णचलत्वाप्रतिघात-  
लक्षणानि क्रमेण पृथिव्यादीनां नित्यानि । न हि द्रवोष्णचलाप्रतिघातलक्षणा  
पृथिवी कदाच स्यादद्रवलक्षणाश्चापोऽनुष्णलक्षणं तेजोऽचललक्षणो वायुः प्रति-  
घातलक्षण आकाशः स्यादिति ।

नहि किं सर्वं नित्यं नास्तन्नित्यमिति अत आह—सन्तीत्यादि । द्रव्याणि  
नित्यानि चानित्यानि च सन्ति । पृथिव्यादिद्रव्यकार्याणि द्रव्याणि हि  
अनित्यानि पृथिव्यादीनि च नित्यानि । गुणाश्च नित्यानित्याः । पृथिव्यादीनां  
ये गुणाः सामान्यभूताः गन्धादयस्ते नित्याः, कार्यद्रव्याणां पार्थिवादीनां  
शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञानां कार्यभूताः पूतिविस्त्रादयो गन्धादयोऽनित्या  
विस्त्रादिगन्धा मधुरादिरसपीतादिरूपशीतादिस्पर्शादात्तादिशब्दा अभूतोत्-  
पन्नाः पृथिव्यादीनां कारणभूतगन्धादिजाः । अपूर्वाः । न हि पूर्वभूताः  
तिरोभूता वर्तन्ते पुनश्चोत्पद्यन्ते । तस्मादनित्याः ।

पूर्वोक्तं घटयति गुरुभिरित्यादिना एवमेवेतरेषामित्यन्तेन ; एवमेवेतरेषामिति लघुभिरभ्यस्यमानैः  
लघूनामुपचयो भवति, अपचयो गुरुणामित्यादि द्रष्टव्यम् ; एष इत्येवंप्रकारभावस्वभावो नित्य  
इति नैप सामान्यविशेषाभ्यां वृद्धिहासरूपो भावस्वभावः कदाचिदन्यथा भवतीत्यर्थः । न  
केवलमयं भावस्वभावो नित्यः, किं तर्हि अन्योऽपीत्याह—स्वलक्षणञ्चेत्यादि । स्वलक्षणं  
पृथिव्यादीनां स्वरद्रवत्वादि, कथं पृथिव्यादिस्वलक्षणं नित्यमित्याह—सन्ति त्वित्यादि । द्रव्याणि  
यस्मात् सर्वदा सन्ति, गुणाश्च नित्याः सर्वदा, चकारात् द्रव्याणि चानित्यानि सान्त ;  
तत्राकाशादि द्रव्यं नित्यं, पृथिव्यादिकञ्चानित्यम् ; एवंगुणा आकाशपरिमाण्यादयो नित्याः,  
अनित्याश्च कार्यगुणा रसादयः, अनित्या अपि च स्वजातीयापरापरसन्तानन्यायेन सर्वदा  
तिष्ठन्तीति युक्तम् ; अनित्यानामपि सन्ताननित्यत्वमिति भावः । अत्र भावस्वभावनित्यत्वेन  
हेतुना भावस्वभावस्य व्याधिजनकस्य तथा व्याधिशनकस्य नित्यत्वेन तत्प्रतिपादकस्यायुर्वेदस्य  
नित्यत्वमुक्तं भवतीति मन्तव्यम् ।

न ह्यायुर्वेदस्याभूतोत्पत्तिः\* उपलभ्यतेऽन्यत्रावरोधोऽपदेशाभ्याम् । एतच्च द्वयमधिकृत्योत्पत्तिमुपदिशन्त्येके । स्वाभाविकश्चास्य लक्षणमकृतकम् यदुक्तमिहादेरऽध्याये । यथाग्नेरौष्ण्यम्

ननु नहि चायुर्वेदादि शास्त्रमपि चानित्यं ब्रह्मण उपलभ्यमिति चेन्न तदोच्यते—न ह्यायुर्वेदस्येत्यादि । हि यस्मादायुर्वेदस्य स्वत्वव्येपामपि वेदादीनां शास्त्राणामुपदेशस्वरूपाणामभूतानामुत्पत्तिर्वाप्यलभ्यते । यत्र वायुर्वेद एव स्वत्वव्योऽपि वेदादिः पूर्व्वं भूतः स एव ब्रह्मणो मुखात् तत्स्वलक्षणत एवात्पन्न इति भूतोत्पन्नः । स्वभावमसिद्धलक्षणो यत्र वायुर्वेदोऽन्यो वा वेद आसीत् स एव यदि ब्रह्मणो मुखादुत्पन्नस्तदानन्तरं काले भवतीति अशाश्वत इति चेन्न तदोच्यते—अन्यत्रेत्यादि । अवरोधोपदेशाभ्यामन्यत्र नायुर्वेदस्याभूतस्योत्पत्तिर्ब्रह्मणो मुखादुपलभ्यते । उपलभ्यते तु ब्रह्मणो मुखादुपदेशः पूर्व्वभूतस्यायुर्वेदस्य तथान्यस्य वेदादिशास्त्रस्येति काले चावरोधः स्यान्न च विनाशः स्यादिति । एकस्मिन् तद्वयमुपदेशावरोधावधिकृत्योत्पत्तिम् आयुर्वेदस्योपदिशन्ति । यथा—अथात आयुर्वेदोत्पत्तिमध्यायं व्याख्यास्याम इत्युवाच । यदि ब्रह्मणो मुखादुपदेशस्तदैवानित्य इति चेन्न, कस्मात् ? यतः स्वाभाविकश्चास्य लक्षणमकृतकं, यदुक्तमिह चादेर अध्याये । आदेर दीर्घजीवितीयाध्याये खल्विह तन्त्रे—हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम् । मानश्च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते इति यल्लक्षणमुक्तं तदस्यायुर्वेदस्य अकृतकं स्वाभाविकं स्वभावमसिद्धलक्षणं न ब्रह्मणा कृतम् । यथाग्नेरौष्ण्यमपि

अथायुर्वेदस्य यत्र तत्रोत्पत्तिश्रवणेन कथं नित्यत्वमित्याह—न ह्यायुर्वेदस्येत्यादि । अभूत्वोत्पत्तिः पूर्व्वमसत्त्ववदुत्पत्तिः ; अन्यत्रावरोधोपदेशाभ्यामिति यत्र यत्रायुर्वेदस्योत्पत्तिरुक्ता, तत्र तत्रावरोधादुपदेशाद् वा, अवरोधादुत्पत्तिर्यथा ब्रह्मण आयुर्वेदोत्पत्तिः, उपदेशाच्चोत्पत्तिर्यथा—इन्द्रोपदेशाद् भरद्वाजेन मर्त्यलोके आयुर्वेद उत्पादित इत्यादि ; एतद्वयमित्यवरोध उपदेशश्च ; ननु स्वभावमसिद्धलक्षणत्वादिति यो हेतुरुक्तः, तत्र स्वाभाविकञ्च लक्षणं भविष्यति अनित्यञ्च, यथा—घटे कम्बुमीवाकारतादि, न हि तत् स्वाभाविकमपि घटस्य नित्यतां साधयतीत्याह—स्वाभाविकञ्चेत्यादि । अकृतकमिति नास्मदादिना कृतम् ; यदुक्तमिह “स्वलक्षणतः सुखदुःखतः” इत्यादिना, आद्ये चाध्याये दीर्घजीवितीये “हिताहितं सुखं दुःखम्” इत्यादिना ; अत्रैवाकृतकत्वे दृष्टान्तमाह—यथाग्नेरौष्ण्यमित्यादि ; एतेनास्य लक्षणस्य

अपां द्रवत्वं भावस्वभावनित्यत्वमपि चास्य यथोक्तं गुरुभिरभ्य-  
स्यमानैर्गुरुणामुपचयो ह्यपचयो लघूनामिति ॥ १३।१४ ॥

द्रवत्वं स्वाभाविकं न ब्रह्मणा कृतम् । यदि हि ब्रह्मणा कृतं स्यात् तदान्यथापि  
कदाचिन् कुतो न कुर्यादग्निः जीतो जलमुष्णमिति । इत्यग्नेरुष्णत्वस्वभावो  
जलस्य द्रवत्वस्वभावो यथा नित्यस्तथा सर्वेषां भावानां स्वभावनित्यत्वमपि  
चास्यायुर्वेदस्य स्वभावस्य नित्यं यथोक्तम् । गुरुभिरित्यादि । गुरुभिर्द्रव्यै-  
रभ्यस्यमानैर्गुरुणां गारीरधातूनामुपचयः स्यादपचयो लघूनामित्येवमादि-  
रुपदेशस्वभावो नित्यः । न हि कदाचिदुपदेशः करिष्यते गुरुभिरभ्यस्यमानै-  
रुपचयो लघूनामुपचयो गुरुणामित्येवमादिः । इति ।

गौतमन्यायभाष्ये च वात्स्यायनेनोक्तम् । मन्वन्तरयुगान्तरेषु  
चातीतानागतेषु सम्प्रदानाभ्यासप्रयोगाविच्छेदो वेदानां नित्यत्वमाप्तप्राप्ता-  
प्याच्च प्रामाण्यमिति । सांख्ये च कपिलेनाप्युक्तम् । तत्र पूर्वपक्षमूत्रम् ।  
न नित्यत्वं वेदानां काव्यत्वश्रुतेः । वेदा न नित्याः काव्यत्वश्रुतेः । श्रूयते  
हि मुण्डकोपनिषदि । तस्माद्वचः सामयजूषीत्यादिवेदेन विश्वरूपस्य  
आत्मानः काव्या वेदा इति । बृहदारण्यके च श्रूयते । तथास्य महतो भूतस्य  
निश्चितमेतद्यद्वेद इति । तस्माद् वेदानां पौरुषेयत्वादित्यत्वं न त्वपौरुषेय-  
त्वात् नित्यत्वमिति । तत्रोत्तरमाह—न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् ।  
मुण्डकादिषु विश्वरूपादात्मतो वेदानामभिव्यक्तिश्रुतावपि न पौरुषेयत्वं  
कस्यचित् पुरुषस्यापदेशक्रियातो जातत्वम् । कस्मात् ? तत्कर्तुः पुरुषस्य  
अभावात् । वेदकर्ता हि पुरुषः कश्चिन्न विद्यते । उक्तञ्च पराशरेण स्मृति-  
शास्त्रे । न कश्चिद् वेदकर्तास्ति वेदस्मर्त्ता प्रजापतिः । तथैव धम्मं स्मरति  
मनः कल्पान्तरान्तरे । इति । तस्मादपौरुषेयत्वाद् वेदा नित्याः । कस्माद् वेद-  
कर्तुः पुरुषस्याभावः ? योग्यायोग्ययोरयोग्यत्वात् । तत्कर्तुः पुरुषस्य  
अभावो योग्यायोग्ययोरयोग्यत्वात् । योग्यो भवति कोऽर्थः कोऽर्थो वाप्ययोग्यः  
तदुभयोः कात्स्न्येनोपदेशे योग्यत्वाभावात् । तत्राह वादी, नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वम्  
अङ्कुरादिवत् । वेदानामपौरुषेयत्वान्नित्यत्वं न, अङ्कुरादिवत् । यथाङ्कुरादि-

अकृतकत्वे व्यवहारनित्यत्वात् तत्प्रतिपादकस्यायुर्वेदस्यापि व्यवहारनित्यत्वमिति भावः ; न केवलं  
स्वाभाविकं लक्षणमकृतकम्, किं तर्हि भावस्वभावनित्यत्वमपि ; यदि केनचिदीश्वरादिना कृत-  
मित्याह भावस्वभावनित्यत्वमपि चेति, अकृतकमपि चकारेणानुर्कषति ; तदेव भाव-

कारणं बीजमपौरुषेयं तस्माच्च बीजादङ्करो जायते बीजश्चोपमुद्गन्तङ्करो-  
ऽभिव्यज्यते. तथा वेदोऽपौरुषेयोऽपि यदाभिव्यज्यते तदा तमपौरुषेयं  
वेदमुपमुद्गन्त प्रजापतिमुखादभिव्यज्यते. इति बीजभूतवेदस्योपमद्वनेनाभि-  
व्यक्तवेदरूपत्वेऽभावादाभिव्यक्तवेदान्नादोऽङ्करोनाशे बीजाभाववर्धिति. तस्मान्  
वेदोऽपौरुषेयोऽप्यनित्यः. अत्र चेदुच्यते—न बीजादङ्कुरादुर्भाववर्द्धीज-  
भूताद् वेदमात्राद् वेदप्रादुर्भावः स्थान्यहेत्पादानान्तगन्तुप्रविशतो वेदाद्वेदाभि-  
व्यक्तेस्तदुपादानान्तरनागात् पूर्वभावेण वेदावस्थानादिति. तत्र ब्रूमः—  
तेषामपि हि तदयोगे दृष्टवायादिप्रसक्तिः. हि यस्मान्. तेषामङ्कुरादीना-  
मपि तदुपादानबीजस्य नित्यस्य तदुपादानान्तरगन्तुमृज्जत्वादियोगे यथा प्रादु-  
र्भावस्तथा बीजभूताद् वेदान् उपादानान्तरगन्तुमृज्जत्वात्प्रधानेऽपि  
प्रव्यक्तरूपेण ब्रह्मणो मुखाद् प्रादुर्भावेऽपि वेदानां दृष्टस्य प्रत्यक्षेण बीजा-  
दङ्कुरोत्पादस्य सतः प्रदानप्रवणेश्च वायादिप्रसङ्गः स्यान् तस्मादपौरुषेयत्वान्न  
नित्यत्वं वेदानामिति. तथाह कपिलः. यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तन्  
पौरुषेयम्. यस्मिन् अदृष्टेऽपि नृक्षमे नित्ये भावे कारणतः स्थूलरूपेणाभिव्यक्तौ  
कृतोऽयं भाव इति बुद्धिरुपजायते यस्य तन्मते तन् पौरुषेयमुच्यते. विश्वरूपस्य  
निश्चामात् प्रजापतिमुखाद् वेदोत्पत्तेरिति. सतस्तु कारणान्तरयोगेणाभिव्यक्ति-  
रिति नोच्यते. तन्न प्रमाणम्. किं पुनः प्रमाणमित्यत आह—निजशक्त्याभि-  
व्यक्तेः सतः प्रामाण्यम्. सतो नित्यस्य नृक्षमस्य बीजभूतस्य निजशक्त्या स्व-  
प्रभावेण कारणान्तरमादाय स्थूलरूपेणाभिव्यक्तेः सतः प्रामाण्यम्. कुतः ?  
यतः नासतः ख्यानं नृशृङ्गवत्. असतोऽविद्यमानस्य खल्ववस्तुनः ख्यान-  
मभिव्यक्त्यनभिव्यक्त्युत्पत्त्यादिवचनं नास्ति. नृशृङ्गवत्. यथा नृणां  
शृङ्गमुत्पद्यते नोत्पद्यते वेति नोच्यते. उपादानाभावात्. तर्हि किं  
सतः ख्यानमित्यत आह—न सतो वाश्दर्शनात्. सत उत्पत्तेः ख्यानश्च  
न वाश्दर्शनात्. यत् प्रागेवास्तीति सत्. तस्य पुनरुत्पत्तिः कथं  
सम्भवतीति वाश्दर्शनात्. तर्हि किमनिव्वचनीयस्योत्पत्तिख्यानमित्यत  
आह—नानिश्चितवचनीयस्य तदभावात्. अनिश्चितवचनीयस्य खल्वस्ति  
वा नास्तीति निव्वचनानहस्य नोत्पत्तौ ख्यानं, तदभावात्. किमुपादानकं  
जायत इति निव्वचनाभावात्. तर्हि कस्य ख्यानं भवतीत्यत उच्यते—  
स्वभावनित्यत्वं दर्शयति—यथोक्तमित्यादि. सामान्यविशेषकृतबुद्धिद्वासाकारकोऽपि भाव-  
स्वभावो न केनचित् कृत इत्यर्थः, ततश्चायुर्वेदोऽपि नित्यः ॥ १३१४ ॥

तस्यायुर्वेदस्याङ्गान्यष्टौ तद् यथा — कायचिकित्सा  
शालाक्यं शल्यापहर्त्तृकं विषगरवैरोधिकप्रशमनं भूतविद्या  
कौमारभृत्यं रसायनानि वार्जीकरणमिति ॥ १५ ॥

सदमन्ख्यातिर्वाधावाधात् । प्रागेव यत् सत् तदेव कारणत उत्पद्यते  
रूपविशेषेणन्यसद् । तस्य ख्यातियथा बीजं सत् तस्माज्जातोऽङ्कुरो नङ्गप्रति  
काले ततोऽसन्निति ख्यायते । कस्मात् ? वाधावाधात् वाधस्यावाधात् ।  
वाधाभावाच्च । सन् उत्पत्तिख्यातेर्वाधादसन् उत्पत्तिख्यातेरवाधात् । सदेव  
कारणत उत्पद्यते इति ख्यातेरवाधादिनि ॥ १३१४ ॥

गङ्गाधरः—इत्येवमायुर्वेदस्य शाश्वतत्वमुपदिश्य कति चास्याङ्गानीति  
प्रश्नस्योत्तरमाह—तस्य आयुर्वेदस्येत्यादि । कायचिकित्सेति कायस्यान्तरग्ने-  
श्चिकित्सा । सुश्रुते तु—कायचिकित्सा नाम सर्वाङ्गसंस्तृतानां व्याधीनां  
ज्वरानिसार-रक्तपित्तशोफोन्मादापस्मार कुष्ठ-मेहादीनामुपशमनार्थमिति ॥ ० ॥  
शालाक्यमिति शलाका नेत्रपटलवैद्यार्थं शस्त्रविशेषः, किंवा नेत्ररोगशमनार्थं  
भेषजविशेषोऽञ्जनशलाका तदुपलक्षितभेषजमधिकृत्योद्धृतजन्तुगतानां रोगाणा-  
मुपशान्तार्थम् । सुश्रुतेऽप्युक्तम् । शालाक्यं नाम—ऊद्धृतजन्तुगतानां रोगाणां  
श्रवणनयनवदनघ्राणादिसंश्रितानामुपशमनार्थमिति ॥ ० ॥ शल्यापहर्त्तृकमिति  
शल्यं गतौ शल्यं कण्टकादिकं तस्य अपहर्त्तारमधिकृत्य व्रणादिचिकित्सितम् ।  
सुश्रुतेऽप्युक्तम्—तत्र शल्यं नाम विविधतृणकाष्ठपाषाणपांशुलोहलोप्तास्थि-  
वालनखपूयास्त्रावान्तर्गमैशल्योद्हरणार्थं यत्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानव्रणविनि-  
श्चयाथञ्चेति ॥ ० ॥ विषेत्यादि । विष-गर-वैरोधिकप्रशमनमिति—विषं स्थावर-  
जङ्गममानसं, गरः संयोगजविषं, वैरोधिकं विरोधे सति यद्दुष्टं विहात्तेव-  
नखादिभिः कृत्रिमं स्त्रीशत्रुप्रभृतिकम् ; तेषां प्रशमनमगदतन्त्रं नाम  
चिकित्सितम् । सुश्रुते चोक्तम्—अगदतन्त्रं नाम सर्पकीटलूतावृश्चिक-  
मूषिकादिदृष्टविषव्यञ्जनार्थं विविधविषसंयोगविषोपहतोपशमनार्थमिति ॥ ० ॥  
भूतविद्येति । भूता देवासुरादयस्तेषां ज्ञानार्था प्रशमनार्था च विद्या

चक्रपाणिः—सम्प्रति कानि चेत्प्रादिप्रश्नोत्तरं तस्येत्यादि । कायस्यान्तरग्नेश्चिकित्सा,  
पटलवेधशलाकाप्रधानमङ्गं शालाक्यम्, गरः कालान्तरप्रकोपि विषम्, वैरोधिकं संयोगविरुद्धम्,  
भूतानां राक्षसादीनां ज्ञानार्था प्रशमार्था च विद्या भूतविद्या, कुमारभरणमधिकृत्य कौमार-  
भृत्यम् ॥ १५ ॥

स चाध्येतव्यो ब्राह्मणराजन्यवैश्यैः, तत्रानुग्रहार्थं प्रजानां \*

भूतविद्या । सुश्रुते च—भूतविद्या नाम देवामुरगन्धर्व्वयक्षरक्षःपितृपिशाच-  
नागग्रहादुग्रपमृष्टचेतसां शान्तिकर्मवन्निहरणादिग्रहोपशमनार्थमिति ॥०॥  
कौमारभृत्यमिति । कुमाराणां भृतिं धारणपोषणमधिकृत्य चिकित्सितम् ।  
सुश्रुते चोक्तम्—कौमारभृत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थं  
दुष्टस्तन्यग्रहममुन्थानाश्च व्याधीनामुपशमनार्थमिति ॥०॥ रसायनानीति ।  
रसस्य सममानेनाहरहरयनं येन तद्रसायनम् । अव्यापन्नरसस्य सर्व्वदा  
गमनेनोत्तरोत्तरधातूनामव्यापत्त्या वयःस्थापनादिकं भवतीति । सुश्रुते-  
नाप्युक्तम्—रसायनतन्त्रं नाम वयःस्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरण-  
समर्थञ्चेति ॥०॥ वाजीकरणमिति । वाजः शुक्रं तन् प्रशस्तत्वेन यस्या-  
स्तीति वाजी, अवाजिनं वाजिनं करोन्यनेनेति वाजीकरणम् । सुश्रुते च—  
वाजीकरणतन्त्रं नाम अल्पदुष्टविशुष्कक्षीणरेतसामाप्यायनप्रमादोपचयजनन-  
निमित्तं प्रदुर्षजननार्थञ्चेति । तत्र चिकित्सास्थाने चोक्तम्—सेवमानो  
यदौचित्याद् वाजीवान्यथवेगवान् नारीस्तपेयते तेन वाजीकरणमुच्यते । इति ।  
इत्यष्टावह्नान्यायुर्व्वेदस्य ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—अथ कैरध्येतव्य इति प्रश्नोत्तरमाह—स चेत्यादि । स  
चायुर्व्वेदो ब्राह्मणराजन्यवैश्यैरध्येतव्यः । ब्राह्मणाद् ब्राह्मण्यां जातो ब्राह्मण-  
स्तथा ब्राह्मणाद् विधिना (स्वोदायां क्षत्रियकन्यायाश्च ब्राह्मण्यां पत्न्यां जातो  
मूर्द्धाभिषिक्तो नाम सुवर्णको भिषक् च ब्राह्मणः । तथा ब्राह्मणाद् विधिना  
स्वोदायां वैश्यकन्यायाश्च ब्राह्मण्यां जातोऽम्बष्ठः भिषक् ब्राह्मणः क्षत्रियाज्जातो  
माहिष्यश्चेति वैश्यावैश्यश्च । एतेन शूद्राणां शूद्रयोनीनाश्च ब्राह्मणक्षत्रिय-  
वैश्येभ्यो जातानां शूद्रायामायुर्व्वेदाध्ययनाधिकारः प्रतिषिद्धः । यन् तु सुश्रुते  
प्रोक्तम्—शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नमनुपनीतं मन्त्रवज्जमेध्यापयेदित्येके इति,  
तच्छल्यतन्त्रप्रधानतन्त्राभिप्रायेणैके वदन्ति न सर्व्वेतन्त्राभिप्रायेणेति ।

अथ कैः किमथमध्येतव्य इति प्रश्नस्योत्तरमाह—तत्रेत्यादि । अनुग्रहार्थं

चक्रपाणिः—आरक्षार्थं राजन्यैरिति क्षत्रियस्य परिपालनधर्ममकृत्वात्; अनुध्यायतीति मनसा

ब्राह्मणैः, आत्मरक्षार्थं\* राजन्यैः, वृत्त्यर्थं वश्यैः, सामान्यतो वा धर्मार्थकामपरिग्रहार्थं सर्वैः ; तत्र च यदध्यात्मविदां धम्मपथ-

प्रजानां ब्राह्मणैरिति । वक्ष्यमाणेन सामान्यतो वेत्यादिना ज्ञापितत्वाद् ब्रह्मचर्याश्रमं यथाविधि ये ब्राह्मणा आयुर्वेदं नाधीयते । अथ तैर्गृहाश्रमं यथाविधि प्रजानामनुग्रहार्थमेव । धर्मार्थं आयुर्वेदोऽध्येतव्यो न तूपजीवनार्थम् । ब्रह्मचर्याश्रमो ह्यध्ययनकालस्तत्र यदधीते तद्धर्म्यं सर्व्वं यत् कर्त्तुं महेन्ति । गृहाश्रमस्तु क्रियाकालो न ह्यध्ययनकालस्तत्र यदधीते यथाविधि तदपि धर्मार्थं धम्म्यं न जीविकार्थं धम्म्यम् । तत्र यदि जीविकां करोति याजनाध्यापन-  
प्रतिग्रहैस्तदा पातकभाग् भवतीत्यभिप्रायेण मनुसंहितायामुक्तम् । चिकित्सकान्-  
देवलकानित्यादितः श्राद्धे भोजने पङ्क्तिदूपका ब्राह्मणाश्चिकित्सकस्य मृगयोर्त्यादिना चाभोज्यान्ना ब्राह्मणाः । आत्मरक्षार्थं राजन्यरिति । ब्रह्मचर्याश्रमे ये च राजन्या यथाविधि नायुर्वेदमधीयतेऽथ तैरात्मरक्षार्थं गृहाश्रमे यथाविधि आयुर्वेदोऽध्येतव्यो न जीविकार्थं धर्मार्थकामार्थं वा । गृहाश्रमे त्वकाले अध्ययनात् तेष्वनधिकारान् । वृत्त्यर्थं वैश्यैरिति । ब्रह्म-  
चर्याश्रमे ये च वैश्या यथाविधि चायुर्वेदं नाधीयतेऽथ तैर्गृहाश्रमे वाणिज्य-  
वद्वृत्त्यर्थं यथावदायुर्वेदोऽध्येतव्यः । सामान्यतो वा धर्मार्थकामपरिग्रहार्थं सर्व्वैरिति । सर्व्वैः ब्राह्मणराजन्यवैश्यैः सामान्यतः खलु ब्रह्मचर्याश्रमे यथा-  
वदायुर्वेदाध्ययनस्य धर्म्यत्वाद्धर्मार्थकामपरिग्रहार्थमायुर्वेदोऽध्येतव्य इति । पूर्व्वकाले हि दक्षेन्द्रभरद्वाजादिभिर्गृहाश्रम एवायुर्वेदोऽधीतस्तेषां ब्रह्मचर्या-  
श्रमकाले त्वायुर्वेदस्य प्रकाशो नाभूत् । यदा तु ब्रह्मणायुर्वेदः प्रकाश्य प्रजापतये दत्तस्ततोऽनन्तरं जातावन्विना ब्रह्मचर्याश्रमे प्रजापतित आयुर्वेद-  
मधिजगते । तौ वैद्यशब्दं लेभाते । चिकित्साजीविनौ चाभूतां न प्रजा-  
पतीन्द्रादयः । एवमेव मर्त्यलोके भरद्वाजमरीच्यादयो ब्रह्मचर्याश्रमे आयुर्वेदस्य प्रकाशाभावादध्ययनं न चक्रुर्वैद्यशब्दश्च न लेभिरे न चिकित्सा-  
जीविनो बभूवुः । ततोऽनन्तरकाले जातास्त्वम्बष्ठा ब्राह्मणा ब्रह्मचर्याश्रमे यथावदायुर्वेदमधिजगिरे, वैद्यशब्दश्च लेभिरे । चिकित्सितश्च तेषां प्रजीवनं धम्म्यमित्यतो न पङ्क्तिदूपका न चाभोज्यान्नाः । इत्यभिप्रायेणोक्तं चिन्तयति, वेदयति इत्यन्यस्य प्रतिपादयति, अनुविधीयत इति तदनुगुणान् देहेनानुतिष्ठति ;

स्थानां धर्मप्रकाशिनां\* वा मातृपितृभ्रातृवन्धुगुरुजनस्य वा विकारप्रशमने यः प्रयत्नवान् भवति । यच्चायुर्वेदोक्त-  
मध्यायमनुध्यायति वेदयत्यनुविधीयते वा सोऽस्य परो धर्मः ।  
या पुनरीश्वराणां वसुमतां वा सकाशात् सुखोपहारनिमित्ता  
भवत्यर्थानामवातिरात्मरक्षणश्च†, या च स्वपरिगृहीतानां  
प्राणिनामातुर्यादात्मरक्षा‡ सोऽस्यार्थः । यत् पुनरस्य च  
विद्वद्ग्रहणं यशः शरण्यत्वं च, या च सम्मानशुश्रूषा यच्चेष्टानां  
च मनुना—अम्बष्ठानां चिकित्सितमिति § । अथ कथमायुर्वेदाध्ययनेन  
धर्मार्थकामपरिग्रहो भवतीति अत उच्यते—तत्रत्यादि । अध्यात्मविदां  
पुरुषाणां तथा धर्मपथस्थानां धर्मिकाणां तथा धर्मप्रकाशिनां वा पुरुषाणां  
मात्रादिगुरुजनस्य वा विकारप्रशमने यत् प्रयत्नवान् भवति भिषक् सोऽस्य भिषज्  
आयुर्वेदाध्ययनस्य फलं परो धर्मः आयुर्वेदोक्तक्रियाकरणान्निष्पद्यते । यच्चायु-  
र्वेदस्याध्यायमनुध्यायति वेदयति परान् ज्ञापयति अनुविधीयते तत्तदध्याय-  
स्यानुरूपेण विधानं रचनार्करणं वा सोऽप्यस्यायुर्वेदाध्ययनस्य परो धर्मः ।

अथ अर्थपरिग्रहमाह—या पुनरित्यादि । ईश्वराणां राज्ञां वसुमतां  
धनाढ्यानां कृतचिकित्सानां सकाशात् या त्वर्थानामव्याप्तिः सुखोपभोगार्थं  
भवति, सोऽस्यायुर्वेदाध्ययनस्यार्थः फलम् । एवमात्मरक्षणश्च चिकित्सया  
यत् सोऽप्यर्थः । तथा स्वपरिगृहीतानां स्वेन प्रतिपालितानां प्राणिना-  
मातुर्याद्रोगादात्मनो या च रक्षा सोऽप्यस्यार्थः फलमिति । अथ कामं दर्श-  
आरक्षणमात्मादिरक्षणम्, स्वपरिगृहीतानामिति श्रुत्यादीनाम्, विद्वद्ग्रहणमेव यशः,  
विद्वदुपादेयताजन्यं यश इत्यर्थः, इष्टानामिति वनितादीनाम् ॥ १६ ॥

\* धर्मप्रकाशानामिति पाठान्तरम् ।

† आरक्षणमिति वा पाठः ।

‡ आत्मरक्षेत्यत्र आरक्षेति कचित् पाठः ।

§ श्रीमद्गङ्गाधरस्य स्वीयहस्तलिखितादर्शपुस्तके “स्वोदायाम्” इत्यादि—“अम्बष्ठानां  
चिकित्सितम्” इत्यन्तं स्थानं केनापि हरितालेन प्रच्छाद्य अस्पष्टाक्षरेण तत्रैका अभिनवटीका  
विरचिता, मुद्रितपुस्तके च तथैव दृश्यते । अतोऽस्माभिरपि अनन्यगतिः सैव टीका  
मुद्राङ्किता । परन्तु अष्टमाध्यायोक्तगङ्गाधरवचनेन एतत्स्थानस्थवचनस्य परस्परविरोधात्  
एषा टीका नैव सङ्गच्छते ।



विषयाणामारोग्यमाधत्ते, सोऽस्य काम इति यथाप्रश्न-  
मुक्तमशेषेण ॥ १६ ॥

अथ स भिषगादित एव प्रष्टव्यो भिषजाष्टविधं भवति,  
तन्त्रं, तन्त्रार्थान्, स्थानं, स्थानार्थान्, अध्यायम्, अध्यायार्थान्  
प्रश्नं प्रश्नार्थाश्चेति । पृष्टेन चैतद्वक्तव्यमशेषेण, वाक्यशो  
वाक्यार्थशोऽर्थावयवशश्चेति । तत्रायुर्वेदः शाखा विद्यासूत्रं  
ज्ञानं शास्त्रलक्षणं तन्त्रमित्यनर्थान्तरम् । तन्त्रार्थः पुनः  
स्वलक्षणैरुपदिष्टः, स चार्थः प्रकरणैर्विभाव्यमानो भूय एव  
शरीरवृत्तिहेतुव्याधिकर्मकालकार्यकर्तृकरणविधिविनिश्चयाद्  
यति—यत्पुनरित्यादि । यदस्य विद्वद्ग्रहणं विद्यद्भ्यो यद् गृह्यतेऽध्ययनेन  
तदायुर्वेदग्रहणं यच्च यज्ञः यच्च शरण्यमातुराः शरणागता भवन्ति सोऽस्य  
कामः । या च सम्मानशुश्रूषा यच्चेष्टानामभीप्सितानां विषयाणामारोग्य-  
माधत्ते सोऽप्यस्य काम इति यथाप्रश्नमशेषेणोक्तं भवति ॥ १६ ॥

अपरान् प्रश्नान् दर्शयति—अथेत्यादि । स एवंविधमुत्तरं कृतवान्  
भिषक् पुनरपि भिषजा अपरेणादित एवाष्टविधं प्रष्टव्यो भवति । तन्त्रमिति ।  
तन्त्रञ्च तन्त्रार्थाञ्च स्थानञ्च स्थानार्थाञ्चाध्यायमध्यायार्थाञ्च, प्रश्नञ्च प्रश्नार्था-  
श्चेति । पृच्छतेः कर्माणीमानि स भिषक् चेति द्विकर्मकत्वात् । एवं पृष्टेन तेन  
भिषजा वाक्यशो वाक्यार्थशोऽर्थावयवशश्चाशेषेण प्रतिवक्तव्यः । इति । तत्र  
यथा—तत्रायुर्वेद इत्यादि । तत्रायुर्वेदः शाखाविद्यासूत्रमित्यादिस्तन्त्रस्य  
पर्यायः । इति तन्त्रप्रश्नस्योत्तरम् ।

अथ तन्त्रार्थप्रश्नोत्तरमाह—तन्त्रार्थः पुनरित्यादि । स्वलक्षणैस्तन्त्रस्य लक्षणै-  
रायुर्वेद इत्यादिभिः पर्यायार्थैरुक्तः । आयुर्वेदशब्दार्थ उक्तः । शाखा  
पुनरथर्ववेदस्योपाङ्गभूता वृक्षस्येव, विद्यासूत्रं परापरविद्याद्वयस्य सूत्रं सूचनम्,  
ज्ञानं ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं, शास्त्रलक्षणं शास्त्राणि लक्ष्यन्तेऽनेनेति शास्त्रलक्षणम् ।  
तन्त्रं तन्त्रग्रन्थे नियम्यते विधौ वा प्रतिषेधे वा कर्म येन तत् तन्त्रमिति । एष  
संक्षेपतोऽर्थः । स चार्थो भूय एव बहुतरं प्रकरणैर्विभाव्यमानः शरीरादि-

चक्रपाणिः—भिषकपरीक्षार्थं पृच्छाविधिमाह—अथेत्यादि । स्वलक्षणैरिति “ततश्चायुः

दशप्रकरणः, तानि च प्रकरणानि केवलेनोपदेक्ष्यन्ते  
तन्त्रेण ॥ १७ ॥

तन्त्रस्यास्याष्टौ स्थानानि, तद्यथा—श्लोकनिदानविमान-  
शरीरेन्द्रियचिकित्सितकल्पसिद्धिस्थानानि । तत्र त्रिंशद्-  
ध्यायं श्लोकस्थानम्, अष्टाष्टाध्यायकानि निदानविमानशरीर-  
विनिश्चयाद् दशप्रकरणो वक्तव्यः । तानि प्रकरणानि कृत्स्नेऽस्मिंस्तन्त्रे उप-  
देक्ष्यन्ते । यत्र यत्सङ्गतिमद्भवति तत्र तदुपदेक्ष्यते । तत्र शरीरं चेतनाधिष्ठान-  
भूतं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायान्मकमवयवभेदेनानेकप्रकारं तच्च प्रायेण शरीर-  
स्थाने दशप्रणायतनीयेऽस्मिन्नध्याये स्रोतोविमाने च वक्ष्यते । तद्विभाव्यम् ।  
वृत्तिराहारविहारौ, अशितपीतादिभेदेन भिन्नौ । हेतुव्याधीनामसात्म्ये-  
न्द्रियार्थसंयोगप्रज्ञापराधपरिणामभेदेनोक्तः । स्वास्थ्यस्य तु कालबुद्धीन्द्रियार्थ-  
समयोगश्च । व्याधिर्यातुवैषम्यं, तज्जं दुःखञ्च । कर्म क्रिया धातुसाम्य-  
रक्षणं स्वस्थस्य धातुवैषम्यस्य प्रशमनमातुरस्येति । कालस्तु शरीरवयो-  
ऽवस्थाव्याधिपकामचय-प्रकोपप्रशम-हेतुवृद्धिहासहेतुत्पत्ति-हेतुहेमन्तादिप्रातरादि-  
रूपस्तथा क्रियाहेकालञ्चेति । कार्यं धातुसाम्यं व्याधेः पुनर्भवे-  
वारणञ्च । कर्त्ता भिषग् गुणवान् । करणं द्रव्योपस्थातुव्याधितपुरुषस्वस्थ-  
पुरुषा इति । विधिविधायकमुपकल्पनं भेषजार्थं क्रियार्थमाहारार्थं  
विहारार्थञ्चेति यावन् । तेषां विनिश्चयान् निणयेनोपदेशात् दशप्रकरण-  
स्तन्त्रार्थः ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—तन्त्रेत्यादि । तत्रास्य तन्त्रस्याष्टौ स्थानानि । तन्त्रान्तरस्य  
यथायथं वाच्यम् । तानि विवृणोति तद्यथेति—श्लोकेत्यादि । श्लोकादीना-  
मष्टानामष्टौ स्थानानि । स्थानं श्लोकादीनामधिकरणमिति । स्थानार्थं  
प्रश्नस्योत्तरमाह । तत्र क्रमेण श्लोकादिस्थानार्थानाह—तत्रेत्यादि ।  
त्रिंशद्ध्यायं श्लोकस्थानमिति श्लोकस्थानार्थः, श्लोकस्थाने त्रिंशद्

वेद्यतीत्यायुर्वेदः' इत्यादिना हितहितायूरूपैरित्यर्थः ; प्रकरणैरित्यायुर्वेदप्रदेशैः, दश  
प्रकरणानि दश भेदाः, ते च शरीरादयो दश । तत्र शरीरं पञ्चमहामूतविकारसमुदायान्मकमवयववादि-  
भेदाद्बहुप्रकारम् ; वृत्तिश्चाराहरोऽशितपीतादिभिन्ना ; हेतुस्तु व्याधिहेतुरसात्म्येन्द्रियार्थसंयोग-  
प्रज्ञापराधपरिणामलक्षणः ; व्याधिश्च धातुवैषम्यरूपः ; कर्म चिकित्सा, कार्यमारोग्यम् ; काल

स्थानानि, द्वादशकमिन्द्रियाणां, त्रिंशकं चिकित्सितानां,  
द्वादशके कल्पसिद्धिस्थाने भवतः ॥ १८ ॥

भवन्ति चात्र ।

द्वे त्रिंशके द्वादशकं त्रयश्च त्रीण्यष्टकान्येषु समाप्तिरुक्ता ।  
श्लोकौषधारिष्टविकल्पसिद्धि-निदानमानाश्रयसंज्ञकेषु ॥ १९ ॥  
स्वे स्वे स्थाने यथास्वश्च स्थानार्थ उपदेक्ष्यते ।

सर्विंशमध्यायशतं शृणु नाम क्रमागतम् ॥ २० ॥

अध्याया अभिधेयाः । निदान-विमान-शारीरस्थानानि अष्टाष्टाध्यायानि ;  
अष्टाध्यायं निदानस्थानञ्च विमानस्थानञ्च शारीरस्थानञ्चेति । शेषं  
स्पष्टम् ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—एतदधिकश्लोकमाह—भवन्ति चात्रेति । द्वे त्रिंशके । द्वे श्लोक-  
स्थानचिकित्सास्थानेषु त्रिंशके त्रिंशत् त्रिंशदध्याये भवतः । त्रयश्च स्थानम्  
इन्द्रियस्थानं कल्पस्थानं सिद्धिस्थानञ्चेति त्रयं द्वादशकं द्वादशद्वादशाध्यायम् ।  
त्रीणि स्थानानि खलु निदानस्थान-विमानस्थान-शारीरस्थानानि अष्टकानि  
अष्टाष्टाध्यायानि भवन्तीति, एषु श्लोकस्थानौषधस्थानारिष्टस्थानविकल्पस्थान-  
सिद्धिस्थाननिदानस्थानविमानस्थानाश्रयस्थानसंज्ञकेषु अष्टसु तन्त्रस्यास्य  
समाप्तिरुक्ता तन्त्रकर्त्रा ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—स्थानार्थविस्तरमाह—स्वे स्वे इत्यादि । स्वे स्वे स्थाने तेषां तेषाम्  
अध्यायाः स्थानार्थेस्तत्तन्नामभिर्विस्तरेणात ऊर्द्धमुपदेक्ष्यते । तत्र नाम क्रमागतं  
सर्विंशमध्यायशतं मे शृणु । अध्यायानां शतमिति संख्या गुणमात्रवचनं  
शतमिति, तस्य विशेषणं सर्विंशमिति, विंशत्या संख्यया सह वच्तेते यत् तत्-  
त्रन्वादिः, क्रियाकालश्च । कर्त्ता भिषक् । करणं भेषजम् । विधिर्विधानमुपकल्पना, सा च  
कालव्याधिद्रव्यापेक्षया बोद्धव्या, यथा—‘हेमन्तेऽभ्यस्यतस्तोयमुष्णमायुर्न हीयते’ इत्यादि ;  
देशस्त्वत्राऽहितो हेतुग्रहणेन, हितस्तु देशः करणग्रहणेन गृहीतो मन्तव्यः ; शरीरवृत्त्यादिभेदाश्च  
बहवः कृत्स्नतन्त्रे बुद्धिमता बोद्धव्याः ; केवलेनेति समग्रेण ; इन्द्रियाणां चिकित्सितानाञ्चो-  
भयत्रापि स्थानमिति शेषः ॥ १७/१८ ॥

चक्रपाणिः—त्रिंशके सूत्रे चिकित्सिते च । आश्रयसंज्ञकं शारीरस्थानम्, आश्रयो हि शरीर-  
मुच्यते । सर्विंशमिति विंशतिशब्दात् स्वार्थे ‘ङः’, यतः स्वार्थिकश्च डप्रत्ययो भवति,

दीर्घजीवोऽप्यपामार्ग-तण्डुलारग्वधादिकौ ।  
 षड्विरेकाश्रयश्चेति चतुष्को भेषजाश्रयः ॥  
 मात्रातस्याशितीयौ च नवगान्धारणं तथा ।  
 इन्द्रियोपक्रमश्चेति चत्वारः स्वास्थ्यवृत्तकाः ॥  
 खुड्वाकश्च चतुष्पादो महान्स्तिर्लपणस्तथा ।  
 सह वातकलाख्येन विद्यान्नेर्देशिकान् ब्रुधः ॥

ध्यायशतमिति ; विंशतिसंख्याविशिष्टमध्यायानां शतं नामसंख्ये चात्र संख्येया,  
 सविंशेति बहुव्रीहर्वाच्या ; तत्र गम्यायां संख्यायां विंशत्या सह अव्ययस्य  
 सहशब्दस्य बहुव्रीहिः समासः—“संख्ययाऽव्ययासन्नद्वाराधिकसंख्याः संख्येये”  
 इति पाणिनीयमूत्रेण । बहुव्रीहिणा वाच्ये संख्येये संख्याविशिष्टे सति संख्यया  
 संख्यागुणमात्रार्थकपदेन सहाव्ययसंज्ञकादयः समस्यन्ते, स समासो बहुव्रीहिः  
 इत्युच्यते । कथं गुणो गुणे वृत्ते इति चेत् ? न, गुणलक्षणे कार्यगुणाश्रयो न  
 गुण इत्युक्त्या कारणगुणाश्रयत्वावाधात् कार्यगुणानां कारणगुणानाञ्च । यथा  
 पट् रसा मधुरादयः कार्यगुणाः ; त्रीणि रूपाणि लोहितशुक्लकृष्णाख्यानानि ।  
 दुग्धमाधुर्यादिक्षुमाधुर्यमधिकं परिमाणेन । रूपात् पृथग्रसः । तथा द्वे विंशती  
 घटानां, दशदशं शतं घटानां, पञ्चपञ्चं घटानां, त्रिपञ्चाः पञ्चदश घटाः । अत  
 एव आ दशभ्यः संख्याः संख्येये ततः परं संख्याने संख्येये चेति प्रमादिनां  
 वचनम् असाधु । विंशत्यादिसंख्यासु संख्यावत्त्ववचनात् संख्यायां संख्या-  
 स्वीकारात् । आदशसंख्याशब्दानां संख्यानार्थानङ्गीकारस्यापानुशासनाभावात्  
 लक्षाणां पञ्च लोभ इति प्रयोगदर्शनाच्च त्रिपञ्चारे पीठे इति कपूर्वादितोत्रे  
 महाकालकृतप्रयोगाच्च । एतदभिप्रायेण कणादेनोक्तं वैशेषिकशासने गुणोऽपि  
 विभाव्यते गुणेनापि इति ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—तत्प्रपञ्चेन स्थानार्थानध्यायान् क्रमेणाह—दीर्घजीव इत्यादि ।

तेन ललितेश्वरे च “चतुर्विंशतिश्रयश्चेति चतुर्विंशतिश्रयः” इति प्रयोगः सिद्धो भवति, वचनं हि—“चतुर्विंशतिश्रयः  
 ज्ञानं भुवनानां शतत्रयम्” इति ; एवं प्रस्तुतेऽपि “सविंशम्” इति व्याख्येयम् ॥ १९ । २० ॥

चक्रपाणिः—‘दीर्घजीव’ इत्यादयः श्लोकानुरोधादेकदेशलक्षणा बोद्धव्याः, प्राणदेहाद्यौ

स्नेहनस्वेदनाध्यायावुभौ यश्चोपकल्पनः ।  
 चिकित्साप्राभृतश्चैव सर्व एव प्रकल्पनाः ॥  
 कियन्तःशिरसीयश्च त्रिशोफाष्टोदरादिकौ ।  
 रोगाध्यायो महांश्चैव रोगाध्यायचतुष्टयम् ॥  
 अष्टौनिन्दितसंख्यातस्तथा लङ्घनतर्पणौ ।  
 विविशोणितिकश्चैव व्याख्यातास्तत्र योजनाः ॥  
 यजःपुरुषसंख्यातो भद्रकाप्यान्नपानिकौ ।  
 विविधाशितपीतीयश्चत्वारोऽन्नविनिश्चयाः ॥  
 दशप्राणायतनिकास्तथार्थेदशमूलिकः ।  
 द्वावेतौ प्राणदेहार्थौ प्रोक्तौ वेद्यगुणाश्रयौ ॥  
 औषधस्वस्थनिर्देश-कल्पनारोगयोजनाः ।  
 चतुष्काः षट् क्रमेणोक्ताः सप्तमश्चान्नपानिकः ॥  
 द्वौ चान्त्यौ संग्रहाध्यायाविति त्रिंशकमर्थवत् ।  
 श्लोकस्थानं समुद्दिष्टं तन्त्रस्यास्य शिरः शुभम् ॥  
 चतुष्काणां महार्थानां स्थानेऽस्मिन् संग्रहः कृतः ।  
 श्लोकार्थः संग्रहाथश्च श्लोकस्थानमतः स्मृतम् ॥ २१ ॥

दीर्घजीव इत्यादिना द्वौ चान्तौ संग्रहाध्यायावित्यन्तेन त्रिंशदध्यायं श्लोकस्थानं  
 समुद्दिष्टम् । अस्य तन्त्रस्य शिरो मस्तकम् । अस्मिन् स्थाने चतुष्काणां  
 सप्तानां महार्थानां संग्रहः कृत इति श्लोकः, श्लोक सङ्घाते इत्यनुदात्तेत्  
 भ्वादिः । तेन श्लोकार्थः संग्रहार्थः सङ्घार्थ इत्यतः श्लोकस्थानं संग्रहातस्थानं  
 संग्रहस्थानमित्येकोऽर्थः ॥ २१ ॥

इत्यादौ देहशब्देनौजोऽभिधीयते । शिरः शुभमित्यत्र शिर इव शिरः । श्लोकार्थ इत्यादौ  
 श्लोकार्थः संग्रहार्थ इति, चकारात् सूत्रस्थानोक्तसूत्रणादिकम्, यथा—“सूत्रणात् सूचनाच्चैव  
 भारगादर्थसन्ततेः । सूत्रस्थानं समुद्दिष्टम् इत्येतदपि गृहीतं भवति ।

ज्वराणां रक्तपित्तस्य गुल्मानां मेहकुष्ठयोः ।  
 शोषोन्मादनिदाने च स्यादपस्मारिणाञ्च यत् ।  
 इत्यध्यायाष्टकमिदं निदानस्थानमुच्यते ॥ २२ ॥  
 रसेषु त्रिविधे कुक्षौ ध्वंसे जनपदस्य च ।  
 त्रिविधे रोगविज्ञाने स्रोतःस्वपि च वर्तने ॥  
 रोगानीके व्याधिरूपे रोगाणाञ्च भिषगजिते ।  
 अष्टौ विमानान्युक्तानि मानार्थानि महर्षिणा ॥ २३ ॥  
 कतिधापुरुषीयञ्च गोत्रेणातुल्यमेव च ।  
 खुड्ङ्का महती चैव गर्भावक्रान्तिरुच्यते ॥  
 पुरुषस्य शरीरस्य विक्षयौ द्वौ विनिश्चितौ ।  
 शरीरसंख्या सूत्रञ्च जातेरष्टम उच्यते ।  
 इत्युद्दिष्टानि मुनिना शारीराण्यत्रिसूनुना ॥ २४ ॥  
 वर्णस्वरीयः पुष्पाख्यस्तृतीयः परिमर्षणः ।  
 तथा चैवेन्द्रियानीकः पूर्व्वरूपक एव च ॥

गङ्गाधरः—अथ निदानस्थानार्थमाह—ज्वराणामित्यादि । ज्वराणामित्यादिना स्यादपस्मारिणाञ्च यदित्यन्तेनाध्यायाष्टकं निदानस्थानमुच्यते । इति ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—अथ विमानस्थानार्थमाह—रसेष्वित्यादि । रसेषु विमानं त्रिविधे कुक्षौ विमानं जनपदस्य ध्वंसे विमानं त्रिविधे रोगविज्ञाने विमानं स्रोतःसु वर्तने विमानं रोगानीके विमाने व्याधिरूपं विमानं रोगाणां भिषगजिते विमानम् इत्यष्टौ विमानान्युक्तानि विमानस्थाने महर्षिणात्रयेणेति ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—अथ शरीरस्थानार्थमाह—कतिधेत्यादि । कतिधापुरुषीयमित्यादिना सूत्रञ्च जातेरित्यन्तेन शारीराण्यत्रिसूनुना मुनिनोद्दिष्टानि ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—इन्द्रियस्थानार्थमाह—वर्णस्वरीय इत्यादि । वर्णस्वरीय इत्या-

कतमानिशरीरीयः पन्नरूपोऽप्यवाक्शिराः ।  
 यस्य श्यावनिमित्तश्च सद्योमरण एव वा ॥  
 अनुज्योतिरिति\* ख्यातस्तथा गोमयचूर्णवान् ।  
 द्वादशाध्यायकं स्थानमिन्द्रियाणामिदं स्मृतम् ॥ २५ ॥  
 अभयामलकीयश्च प्राणकामीयमेव च ।  
 करप्रचितिकं वेद-समुत्थानं रसायनम् ॥  
 संयोगशरमूलीयमासिक्तनीरकं तथा ।  
 माषपर्णमभृतीयश्च पुमान् जातबलादिकम् ॥  
 चतुष्कद्वयमप्येतदध्यायद्वयमुच्यते ।  
 रसायनमिति ज्ञेयं वाजीकरणमेव च ॥  
 ज्वराणां रक्तपित्तस्य गुल्मानां मेहकुष्ठयोः ।  
 शोषेन्मादेऽध्यपस्मारे क्षते शोफोदरार्शसाम् ॥  
 ग्रहणीपाण्डुरोगाणां श्वासकासातिसारिणाम् ।  
 छर्द्दिवीसर्पतृष्णानां विषमद्यविकारयोः† ॥

दिना गोमयचूर्णवानित्यन्तेन द्वादशाध्यायकमिन्द्रियाणां स्थानमिद-  
 मुच्यते ॥ २५ ॥ .

गङ्गाधरः—अथ चिकित्सास्थानार्थमाह—अभयामलकीयञ्चेत्यादिभि-  
 श्वतुर्भिः पादैः रसायनमध्यायः । संयोगशरमूलीयमित्यादिभिश्चतुर्भिः  
 पादैर्वाजीकरणमध्यायः, इति चतुष्कद्वयं चतुश्चतुःपादैरध्यायद्वयमुच्यते ।  
 रसायनं वाजीकरणञ्चेति । एतदध्यायद्वयादनन्तरं ज्वराणामित्यादिना

मानार्थानीति ज्ञानार्थानि । इन्द्रियाणामिति इन्द्रियादिविशिष्टानाम् । चतुष्कद्वयमिति  
 रसायनपादचतुष्क एकः, वाजीकरणपादचतुष्क एकः, चतुष्पादश्चाध्यायो भवतीति युक्त-  
 मेवाध्यायत्वम् ।

\* अनुज्योतिरिति पाठान्तरम् ।

† हिक्कायां श्वासकासे च ग्रहणीपाण्डुरोगयोः ।

छर्द्दिवीसर्पतृष्णानां विषमद्यविकारिणाम् ॥ इति पाठान्तरम् ।

द्वित्रणीयं त्रिमर्मीयमूरुस्तम्भिकमेव च ।  
 वातरोगे वातरक्ते योनिव्यापदि चैव यत् ॥  
 त्रिंशच्चिकित्सितान्युक्तान्यतः कल्पान् परं शृणु ।  
 फलजीमूतकेदवाकुक्कलो धामागवस्य च ॥  
 पञ्चमो वत्सकस्योक्तः षष्ठश्च कृतवेधने ।  
 श्यामात्रिवृतयोः कल्पस्तथैव चतुरङ्गुले ॥  
 नित्त्वकस्य सुधायाश्च सप्तलाशङ्घिनीषु च ।  
 दन्तीद्रवन्त्योः कल्पश्च द्वादशोऽयं समाप्यते ॥  
 कल्पना पञ्चकर्मण्या वस्तिमूत्री तथैव च ।  
 स्नेहव्यापदिकी सिद्धिर्नैत्रव्यापदिकी तथा ॥  
 सिद्धिः शोधनयोश्चैव वस्तिस्तिष्ठिस्तथैव च ।  
 प्रासृती मर्मसंख्याता सिद्धिर्वस्त्याश्रया च या ॥  
 फलमात्रा तथा सिद्धिः सिद्धिश्चोत्तरसंज्ञिता ।  
 सिद्धयो द्वादशैवैतास्तन्त्रश्चासु समाप्यते ॥ २६।२७ ॥  
 स्वे स्वे स्थाने तथाध्याये चाध्यायार्थः प्रवक्ष्यते ।  
 तं ब्रूयात् सव्वतः सव्वं यथार्थाङ्गानुसंग्रहात् ॥ २८ ॥

योनिव्यापदि चैव यदित्यन्तेनाष्टाविंशत्यध्यायमिति त्रिंशदध्यायाश्चिकित्सितान्युक्तानि ।

अतः परं कल्पस्थानार्थान् कल्पान् शृणु—फलेत्यादि । फलेत्यादिना दन्तीद्रवन्त्योः कल्पश्चेत्यन्तेनायं द्वादशाध्यायं कल्पस्थानं समाप्यते । अथ सिद्धिस्थानार्थमाह—कल्पनेत्यादिना सिद्धिश्चोत्तरसंज्ञितेत्यन्तेन । एते द्वादशाध्यायाः सिद्धयः सिद्धिस्थानमिति । इत्येवं स्थानार्थानध्यायानुक्त्वा अध्यायार्थमाह—स्वे स्वे इत्यादि । स्वे स्वे स्थाने तथा स्वे स्वे अध्यायेऽध्यायार्थः

तन्त्रश्चासु समाप्यत इति ; आसु समाप्तासु तन्त्रं समाप्यत इत्यर्थः । 'चाध्यायार्थः' इति चकारो भिन्नक्रमे, तेन अध्यायार्थद्वयाध्यायान्ते तथा स्थानार्थश्च स्थानान्ते कृतसंग्रहः, यद्यपि



पृच्छा तन्त्राद् यथाम्नायं विधिना प्रश्न उच्यते ।

प्रश्नार्थो युक्तिमांस्तस्य तन्त्रेणैवार्थनिर्णयः ॥ २६ ॥

निबन्धं तन्त्रणात् तन्त्रं स्थानमथप्रतिष्ठया ।

अधिकृत्यार्थमध्यायो नाम संज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

प्रवक्ष्यते । तत्र श्लोका इति कृत्वा प्रत्येकाध्यायार्थः प्रत्येकाध्याये प्रवक्ष्यते । तत्सर्वं यथार्थादनुसंग्रहाद्वि यस्मात् सर्वतो ब्रूयात् इति ॥ २६—२८ ॥

गङ्गाधरः—अथ प्रश्नमाह—पृच्छा तन्त्रादित्यादि । यस्य यत् तन्त्रमपि वेश-  
भेलजतृकर्ण-पराशर हारीतक्षारपाणि-चरकसौश्रुत-पुष्कलावतौरभ्रगोपुररक्षित-  
नागाज्जुनकणादाद्यन्यतमं तस्माद् यत्किञ्च यथाम्नायं यथोक्तं विधिना यत्  
पृच्छति परस्तस्य स उत्तरवचनप्रयोजकः स्वसंशयादिनिवारणोद्देश्यकज्ञानेच्छा-  
प्रकाशकवचनव्यापारः प्रश्न उच्यते । प्रश्नार्थमाह—प्रश्नार्थ इत्यादि । तस्य  
प्रश्नस्य तन्त्रेणैव तेन युक्तिमानात्मनस्तत्प्रश्नस्य निर्णयः प्रश्नार्थ उच्यते ।  
यथा—भो भिषगसि । ब्रूहि किमायुर्वेद इति प्रश्नः । तस्यार्थः । आयुर्वेदयति  
इत्यायुर्वेदस्तत् किमिति प्रश्नार्थः ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—अथ कस्मात् तन्त्रमुच्यते, इत्यत आह—निबन्धमित्यादि ।  
तन्त्रणान्नियमान्निबध्यते यत् तन्निबन्धं तन्त्रम् । तस्य स्थानं, कस्मात् अर्थस्य  
प्रतिष्ठया स्थित्या स्थानमुच्यते, कस्मात् तदध्याया इत्यत आह—अधीयते यो  
ग्रन्थस्य परिच्छेदः सोऽध्यायः । तेषामध्यायानां नाम संज्ञा दीघञ्जीवितीयादिः  
संज्ञा अर्थमधिकृत्य कृतोऽध्याय इति प्रतिष्ठिता तेन कृते ग्रन्थे इति सूत्रेण  
निष्पादिता ।

शरीरे स्थानार्थो न व्यक्तः, तथापि शरीरव्युत्पत्तया बोद्धव्यः ; तन्त्रान्तराद् वा  
—यथा शरीरं चिन्त्यते सर्वं दैवमानुषसम्पदा । सर्वभावैर्युतस्तस्माच्छरीरं स्थान-  
मुच्यते ॥ २९—३० ॥

चक्रपाणिः—विधिना प्रश्न इत्यत्र विधिनेति पूर्वोपराविरोधात् दोषशून्येन वाक्येन ।  
तन्त्रगादिति शरीरधारणात् ; अर्थप्रतिष्ठयेति प्रधानभूतार्थावस्थानात्, एताश्च योगरूढाः संज्ञाः,  
तेन अतिप्रसङ्गो न वाच्यः । अधिकृत्येति अधिकारिणं कृत्वा ; अर्थं दीर्घञ्जीवितादिकम् ;  
अध्यायनामसंज्ञा अध्यायरूपनामसंज्ञा, नामसंज्ञा च योगरूढादिसंज्ञोच्यते, किंवा अध्यायो  
नामेति पाठः, तदा नामशब्दः प्रकाशने, तेन अधिकार इत्यर्थः । अर्थशब्दोऽत्रार्थान्तरे, तेन

इति सर्वं यथाप्रथमष्टकं सम्प्रकाशितम् ।

कार्त्स्न्येन चोक्तं तन्त्रेण संग्रहः सुविनिश्चितः ॥ ३० ॥

सन्ति पाल्लविकोपेताः संक्षोभं जनयन्ति ये ।

वर्त्तिकानामिवोत्पाताः सहसैव विभाविताः ॥

तस्मात् तु पूर्व्वकं जल्पे सर्व्वत्राष्टकमादिशेत् ।

परापरपरीक्षार्थं तत्र शास्त्रविदां वरः ॥

उपसंहरति—इतीत्यादि । अष्टकम् । तन्त्रं तन्त्रार्थः स्थानं स्थानार्थः अध्यायोऽध्यायार्थः प्रश्नः प्रश्नाथ इत्यष्टकम् । कार्त्स्न्येन तन्त्रेण चोक्तं तस्य सुविनिश्चयः संग्रहः संक्षेपश्चोक्त इति । इत्येवं कृत्स्नं तन्त्रं यो भिषक् ब्रवीति स प्राणाभिसरो भिषगुक्तः ॥ ३० ॥

गङ्गाधरः—ननु किमर्थमेवमष्टकं तन्त्रादिकं प्रष्टव्यमिति ? अत आह—सन्तीत्यादि । त्रिविधा भिषज इति यत् पूर्व्वमुक्तं प्राणाभिसराः सिद्धसाधिता भिषक्छद्मचराश्च, तत्र केचिद्भिषजः पाल्लविकोपेतास्तन्त्रस्यैकदेशविदः सन्तो निखिलशास्त्रपण्डितमानिनो दम्भिनः प्रौढोक्तिकारिण इत्येवमादिवृक्षपल्लववदतिविस्तरश्लाघादुपेताः सन्ति ये लोकानां संक्षोभं वागाङ्म्वरादिवाचालतादम्भाभिमानादिभिर्मनोविक्षोभणमितस्ततो भ्रान्तिं जनयन्ति । यथा वर्त्तिकानां चटकविशेषाणां सहसा पततामुत्पाता विभाविता विशेषेण भाविता मनोविक्षोभणं जनयन्ति । चटकोत्पातैर्लौका व्यस्तचिन्ता भवन्ति तद्वत् पाल्लविकोपेताः सिद्धसाधिता भिषक्छद्मचरा उत्पातं कुर्व्वन्तीति । तस्माद्धेतोः परापरपरीक्षार्थं श्रेष्ठाश्रेष्ठभिषक्परीक्षार्थं शास्त्रविदां वरः पण्डितश्रेष्ठोऽत्र सर्व्वत्रैव जल्पे पक्षाश्रितयोर्द्वयोः शास्त्रार्थकथने पूर्व्वमेवाष्टकं तन्त्रं तन्त्रार्थमित्यादुक्तमष्टप्रश्नमादिशेत् ।

युक्ताध्यायसंज्ञा, सा च अधिकरणसाधना वा करणसाधना वा कर्मसाधना वा बोद्धव्या, अधीयतेऽस्मिन्नधीयतेऽनेन वा अधीयते वा अध्यायः ॥ २९ । ३० ॥

चक्रपाणिः—प्रश्नाष्टकस्योक्तस्य निराकरणीयसंज्ञं वैद्यमाह—सन्तीत्यादि । पाल्लविकाः प्रादेशिकाः, वर्त्तिका अकस्मादुत्पन्नतः क्षोभं मनसो जनयन्तीति ; लोकसिद्धमष्टकमिदं यथोक्तं प्रश्नाष्टकम् ; परावरौ श्रेष्ठाश्रेष्ठौ, तत्र शास्त्रविदां बलमिति शास्त्रविद एव प्रश्नाष्टकं जानन्ति, न पाल्लविकाः ।

शब्दमात्रेण तन्त्रस्य केवलस्यैकदेशिकाः ।  
 भ्रमन्त्यल्पवलास्तन्त्रं ह्यनल्पे नैव \* वर्त्तकाः ॥  
 पशुः पशूनां दौर्बल्यात् कश्चिच्चापि वृकायते ।  
 स सत्यं वृकमासाद्य प्रकृतिं भजते पशुः ॥  
 तद्बद्धोऽज्ञमध्यस्थः कश्चिन्मौखर्यसाधनः ।  
 स्थापयत्याप्तमात्मानमातन्वासाद्य भिद्यते ॥  
 वभ्रुर्गृह् + इवोर्णाभिरबुद्धिरबहुश्रुतः ।  
 किं वै वक्ष्यति संजल्पे कुण्डभेदी जडो यथा ॥

ततः किं परीक्षणं स्यादिति ? अत आह—शब्देत्यादि । ऐकदेशिका-  
 स्तन्त्रैकदेशमात्रं विद्वांसो ये पाण्डुविकोपेता भिषजस्ते यतस्तन्त्रेऽल्पवला-  
 स्तस्मात् केवलस्य सम्पूर्णस्य तन्त्रस्य शब्दमात्रात् शब्दमात्रं संश्रुत्य भ्रमन्ति ।  
 कस्मात् ? ह्यनल्पे नैव वर्त्तकाः । हि यस्मादनल्पे सम्पूर्णे कृत्स्ने तन्त्रे न  
 वत्तेन्ते न कृत्स्ने तन्त्रेऽधीतिनो भवन्ति ।

पाण्डुविकोपेता ऐकदेशिका यथा लोकानां मनःसंक्षोभं जनयन्ति, तदपर-  
 दृष्टान्तेन दर्शयति—पशुरित्यादि । कश्चिच्च पशुरपरेषां पशूनां दौर्बल्यात्  
 तेषां मध्ये स्वप्रावल्याद् वृकायते वृक इवाचरति । वृकः क्षुद्रव्याघ्रः । स पशूनां  
 दुर्बलानां मध्ये प्रवलो वृकायमाणः पशुः सत्यं वृकमासाद्य प्राप्य प्रकृतिं तत्-  
 पशुभावमेव भजते वृकायमाणतां जहाति । तद्वत् कश्चिद्बद्धो भिषक्सिद्धसाधितो  
 भिषक्छद्मचरो वाप्यज्ञजनमध्यस्थः सन् स्वस्य मौखर्यं मुखरतां दम्भप्रौढोक्ति-  
 पण्डितश्रेष्ठमानितादिविविधवाचालतां साधयन् सन्नात्मानमाप्तं प्रमाणपुरुषं  
 स्थापयति, निज एव प्रमाणपुरुषो यद् वदति तदेव प्रामाणिकं नान्यः कोऽपि  
 तदधिकस्तत्समो वा पण्डितो भिषग् वास्तीति तद्बद्धेषु मध्ये ब्रूते । स सत्य-  
 माप्तमासाद्य भिद्यते प्रकृतभिषक्पण्डितनिकटे तन्मौखर्यसाधनं स्वस्याप्तता-  
 ख्यानं सर्वं तस्य दूरीभवति । तत्रापरदृष्टान्तमाह—वभ्रुरित्यादि । वभ्रुः  
 वृद्धनकुलो यथा चोर्णाभिर्वहुवचनाद् बहुभिर्मण्डलोमभिर्गृहः संवृतो मेष इव

प्रकृतिः स्वभावः । वभ्रुरुर्णवान् कश्चित् पशुः, स यथा मेषं न ज्ञात्वा आत्मीयामिव

\* ज्याशब्देनैवेति पाठान्तरम् ।

† मूढ इति वा पाठः ।

सद्वृत्तेन विगृहीयाद् भिषगलक्ष्णैरपि ।

हन्यात् प्रभाष्टकेनादावितरान् ये प्रमादिनः \* ॥

दम्भिनो मुखः ह्यज्ञाः प्रभूतबहुभाषिणः ।

प्रायः प्रायेण सुमुखाः सन्तो युक्तालपभाषिणः ॥

भातो न किमपि नदति, तथा चाबुद्धिः भिषक्छन्नचरः भिषग्वशेन गूढः संवृतः सन् संजल्पे वादिप्रतिवादिवादे किं वक्ष्यति ? किमपि न वक्ष्यति । एवमबहुश्रुतोऽल्पश्रुतस्तन्त्रैकदेशिकः सिद्धसाधितो भिषक् संजल्पे किमेव वक्ष्यति न किञ्चिद्वक्ष्यति ।

दृष्टान्तान्तरं दर्शयति—कुण्डभेदी जड़ो यथेति । यथा जड़ो निबुद्धिः कुण्डभेदी भ्रष्टयोनिः खलु नीचजातिः स्वस्य जातिं गोपयित्वा विशुद्धजातिः सन् संजल्पे तस्य जातिकुलगोत्रादिपरिचये किं वै वक्ष्यति ? किमपि न वक्ष्यति ; तथा भिषक्छन्नचरः सिद्धसाधितश्च भिषक् संजल्पे वादिप्रतिवादे किं वै वक्ष्यति ? किमपि न वक्ष्यतीति । इत्यसद्वृत्ताभ्यां भिषक्छन्नचर-सिद्धसाधिताभ्यां भिषग्भ्यां विगृह्य वादमुक्त्वा सद्वृत्तेन सह जल्पमाह—सद्वृत्तैरित्यादि । सद्वृत्तेर्भिषग्भिरपरैर्वा अल्पश्रुतैर्वेदश्रुतैरपि भिषग् जल्पकाले न विगृहीयाद् विगृह्य जल्पं न कुर्यात् ।

तर्हि कैविगृह्य जल्पं कुर्यादिति ? अत आह—हन्यादित्यादि । आदौ प्रश्नाष्टकेन तन्त्रं तन्त्रार्थमित्यादिना प्रश्नेन तेभ्यः सद्वृत्तेभ्य इतरान् हन्यात् । सद्वृत्तेभ्य इतरे के इत्यत आह—ये प्रमादिनः दम्भिनश्च मुखराश्चाज्ञाश्च प्रभूत-बहुभाषिणः, प्रभूतानि पुनर्वहु भाषितुं शीलं येषामिति । तान् प्रश्नाष्टकेन आदौ हन्यादिति ।

नन्विमे किं न सद्वृत्ता इत्यत आह—प्राय इत्यादि । वीप्सायां द्विर्भावात् । प्रायः प्रायेण सन्तो जनाः सन्वन्त्र सुमुखा न विमुखा एव युक्तश्च अल्पश्च भाषितुं शीलं येषां ते युक्तालपभाषिणो भवन्ति । तद्वत् तादृशा

जर्णां दृष्ट्वा उपसृत्याङ्गभङ्गमाप्नोति ; तद्वदज्ञ आसं प्राप्य भिद्यत इत्यर्थः, किंवा बभ्रुवृद्धनकुल जर्णाराशिमध्येगो यथा किञ्चिन्न प्रतिपद्यते, तथाबुद्धिराप संजल्पे वादिप्रतिवादि-कथायाम् । कुण्डभेदी भ्रष्टयोनिः ; तेन पृच्छादिनात्मीयनिन्दितजातिर्यथावदातजातिः सन्

तत्त्वज्ञानप्रकाशार्थमहङ्कारमनाश्रिताः ।

स्वल्पाधाराज्ञमुखरान् मर्षयेन्न विवादिनः ॥ ३१ ॥

परो भूतेष्वनुक्रोशस्तत्त्वज्ञानपरा दया ।

येषां तेषामसद्वाद्-निग्रहे निरता मतिः ॥

असत्पक्षाः क्षणित्वाद्धि दम्भपारुष्यसाधनाः ।

भवन्त्यनाताः स्वे तन्त्रे प्रायः परिविकल्पनाः \* ॥

तान् कालदेशसदृशान्† वज्जयेच्छास्त्रदूषकान् ।

सेवेत समभिज्ञान-ज्ञानपूर्व्वान् भिषक्तमान् ‡ ॥ ३२ ॥

एव ये ज्ञानप्रकाशार्थमहङ्कारमनाश्रितास्ते सद्वृत्तवदिति, तैः सह न विगृहीयात् । स्वल्पाधारा अल्पश्रुता अज्ञा मुखराश्च ये विवादिनस्तान् न मर्षयेन्न क्षमेत ॥ ३१ ॥

गङ्गाधरः—पर इत्यादि । येषां भूतेषु प्राणिषु परः श्रेष्ठोऽनुक्रोशः करुणा सा दया च तत्त्वज्ञानपरा तत्त्वज्ञाने तात्पर्य्यवती न तु तत्त्वज्ञानाद्वैज्यभावे दया । तेषां सद्वृत्तानामसद्वादस्य निग्रहे निवृत्तौ मतिबुद्धिः निरता निश्चयेन रता इति । कस्मादित्यत आह—असदित्यादि । हि यस्मादसत्पक्षा जनाः क्षणित्वात् एकं पक्षमाश्रित्य वदन्तः परेण प्रत्युक्ताः पुनरपरं पक्षमाश्रयन्तीत्येवं क्षणित्वाद् दम्भं साधयन्ति पारुष्यं वदन्तः साधयन्ति, प्रायः स्वे तन्त्रे स्वाधीते तन्त्रे परि विकल्पनाः परि सव्वतोभावेन विशेषेण श्लाघन्ते तेऽनाप्ताश्च भवन्ति तान् कालदेशसदृशान् यथाकालं यथादेशं शास्त्रदूषकान् वज्जयेत् । ये भिषक्तमाः समविज्ञानज्ञानपूर्व्वान् सेवेतेति ॥ ३२ ॥

कश्चिद् ब्रूते, तथाबुद्धिरपि संजल्पे ; विगृहीयात् विगृह्य संभाषां कुर्यात् ; इतरानसद्वृत्तान् । स्वल्पाधाराः स्वल्पश्रुताः, न मर्षयेदिति नोपेक्षेत ॥ ३१ ॥

चक्रपाणिः—अज्ञवैद्यसंवादप्रतिषेधमाह—परो भूतेष्वित्यादि । निरता इति तत्परा । अज्ञ-वैद्यफलमाह—असत्पक्षेत्यादि । असत्पक्षादिसाधनं येषां ते तथा, असत्पक्षोऽनागमपक्षसिद्धः

\* परिविकल्पकाः इति पाठान्तरम् ।

† कालपाशसदृशान् इति वा पाठः ।

‡ प्रज्ञमज्ञानविज्ञान-पूर्णाः सैम्या भिषक्तमाः ॥ इत्यधिकः पाठः क्वचित् ।

समग्रदुःखमायत्तमविज्ञाने द्वयाश्रयम् ।  
 सुखं समग्रं विज्ञाने विमले च प्रतिष्ठितम् ॥  
 इदमेवमुदाराथमज्ञानाथप्रणाशकम् ।  
 शास्त्रं दृष्टिप्रनष्टानां यथैवादित्यमण्डलम् ॥ ३३ ॥

तत्र श्लोकाः ।

अर्थदशमहामूलाः संज्ञा चैषां यथा कृता ।  
 अयनान्ताः षड्ग्रामाश्च रूपं वेदविदाञ्च यत् ॥

गङ्गाधरः—अथैवमविज्ञानामविज्ञानफलमाह—समग्र त्यादि । जनानामविज्ञाने खलु आयत्तमधीनं द्वयाश्रयं मनःशरीराश्रयं समग्रदुःखम् आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकं तथा जनानां विज्ञाने विमले च द्वयाश्रयं मनःशरीराश्रयं समग्रं सुखं प्रतिष्ठितमिति । एतच्चरकशास्त्रस्य प्रभावमाह—इदमित्यादि । एवमनेन प्रकारेणोदारमर्थं लोकद्वयहितार्थमिदं चरकप्रोक्तं शास्त्रमज्ञानार्थप्रकाशकम् अज्ञानानां सम्बन्धेऽर्थप्रकाशकम् यथादित्यमण्डलं दृष्टिप्रनष्टानां लौकिकतमसा दृष्ट्या चक्षुषा प्रनष्टा ये रात्रौ तेषामर्थस्य दृश्यस्य प्रकाशकं तथा ; न तु प्रनष्टदृशां न ह्यन्धतैमिरिकादीनां सम्बन्धेऽर्थप्रकाशकमादित्यमण्डलमिति ॥ ३३ ॥

गङ्गाधरः—अथाध्यायार्थसंग्रहार्थमाह—तत्र श्लोका इति । अर्थदशेत्यादि । अर्थे दश महामूलाः सिराः सक्ता महाफला इति । एषां, हृदयस्यार्थसंज्ञा,

पक्षः, अक्षणिक्त्वं—पृच्छार्थमनुयुक्तस्य 'सम्प्रति वक्तुं क्षणो नास्ति' इति भाषणम्, अर्तिः—पृच्छार्थमनुयुक्तस्य शिरोव्यथादिकम् उच्चार्यं श्लाघमानं भाषणम्, दग्धः पुस्तकवैद्यभाण्डादिभिः स्वार्थोत्कर्षप्रतिपादनम्, पारुष्यं कृच्छ्रतोऽपि न वाच्यत्वादि परवभाषणम् । अनास्ताः स्वे तन्त्र इति स्वतन्त्रानभिज्ञत्वात्, परविकल्पाः परदूषणाः । द्वयाश्रयमिति मनःशरीराश्रयम् ; समग्रमिति शारीरं मानसञ्च, सुखमारोग्यादिरूपम्, विज्ञाने विमल इति विशुद्धज्ञाने, किंवा विज्ञाने विमल इति मोक्षे, मोक्षे हि सुखं समग्रं इत्यासंभित्त्वात्, किंवा भट्टदर्शनादानाकृत्योद्भवम्, इदमिति शास्त्रम्, एवमुदाराथमिति लोकद्वयहितार्थाभिधायकम्, दृष्टिप्रनष्टानामिति प्रनष्टदृशां ॥ ३२ । ३३ ॥

चक्रपाणिः—संग्रहे संज्ञा चैषां यथा कृतेति "तेन मूलेन महता महामूलाः" इत्यादिना ;

सप्तकश्चाष्टकश्चैव परिप्रश्नः सनिर्णयः ।

यथा वाच्यं यदर्थश्च षड्विधाश्चैकदेशिकाः ॥

अर्थेदशमहामूले सर्वमेतत् प्रकाशितम् ।

संग्रहश्चायमध्यायस्तन्त्रस्यास्यैव केवलः ॥

यथा सुमनसां सूत्रं संग्रहार्थं विधीयते ।

संग्रहार्थं तथार्थानामृषिणा संग्रहः कृतः ॥ ३४ ॥

महामूलसंज्ञा सिराणां, धमनी सिरास्रोतःसंज्ञा । एकं प्राणवर्द्धनानामित्यादिना एकमयनानां तेषां विवरणञ्च, ब्रह्मचर्यमयनानामित्यन्ताः षडग्रन्थाः श्रेष्ठाः षट् । वेदविदामायुर्वेदविदां त्रिधा रूपं प्राणाभिसर-सिद्धसाधित-भिषक्छद्मचररूपं तेषां विशेषरूपञ्च । सप्तक इति । किमायुश्चेत्यादिना सप्तकः सनिर्णयः परिप्रश्नः । तथा तन्त्रं तन्त्रार्थानित्यादिना चाष्टकः सनिर्णयः परिप्रश्नः । यथा वाच्यं येन प्रकारेण यस्य प्रश्नस्योत्तरं वाच्यं तत् । यदर्थश्च तदुत्तरं वाच्यं तत् । ऐकदेशिकाः षड्विधा भिषजः, पाल्वाविकोपेताः प्रमादिनो दम्भिनो मुखरा अज्ञाः प्रभूतबहुभाषिणश्चेति षट् । एतन् सर्वमस्मिन् अर्थे-दशमहामूलीये मुनिनात्रेयेण प्रकाशितम् । अयमध्यायश्चास्य चरकप्रोक्तस्य तन्त्रस्य केवलः कृत्स्नः संग्रहः । तत्र दृष्टान्तः—यथेत्यादि । सुमनसां पुष्पाणां संग्रहार्थं यथा मूत्रं ग्रन्थनेन संग्रहो भवति, तथार्थानां संग्रहाथमेष संग्रहाध्याय ऋषिणा कृत इति ॥ ३४ ॥

अयनान्ताः षडग्रन्थाश्चेति “एकं प्राणवर्द्धनानाम् इत्यादिनोक्ताः । एते चाहिंसादयोऽग्रप्राधिकारे यज्जःपुरुषीये उक्तास्मानुलङ्घ्येऽहोक्ता अध्यात्मविषयत्वेन, पूर्वोक्तास्त्वग्रप्रयोगाधिकारिणाम्, सप्तकः “किमायुश्च कस्मादायुर्वेदम्” इत्यादि. अष्टकः प्रश्नः ‘तन्त्रं तन्त्रार्थम्’ इत्यादि ॥ ३४ ॥

इति चरकचतुराननश्रीमन्महर्षिणा दत्तकृतायामायुर्वेददीपिकायां चरकनात्पर्य-

टीकायामर्थेदशमहामूलीयी नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

सत्रस्थानं समाप्तम् ॥ १ ॥

अग्निवेशकृते तन्त्रं चरकप्रतिसंस्कृते ।

इयतावधिना सर्वं सूत्रस्थानं समाप्यते ॥ ३५ ॥

इयमग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते श्लोकस्थाने

अर्थेदशमहामूलीयो नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

गङ्गाधरः—अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि । सर्वं पूर्ववद् व्याख्या-  
तव्यम् । स्थानं समापयति—अग्निवेशेत्यादि । अग्निवेशेन कृतं यत् तन्त्रं तदेव  
चरकेण प्रतिसंस्कृतं संस्कृत्यन्तरेण कृतं, तत्र तन्त्रे इयता खल्ववधिना  
एतत्पर्यन्तं सर्वं सूत्रस्थानं समाप्यते ॥ ३५ ॥

गङ्गाधरः—अत्र श्लोकस्थाने द्वात्रिंशदक्षरात्मकश्लोकसंख्या तु अथानो  
दीर्घञ्जीवितीयमित्यारभ्यैतदन्तमिदं श्लोकस्थानमेकपिण्डेनैकीकरणेन  
श्लोकानां पञ्चविंशत्युत्तर-षट्शताधिक-सहस्रत्रयमिति (३६२५) श्लोकाः ।

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजकृते चरकजल्पकल्पतरौ श्लोकस्थाने

प्रथमस्कन्धे त्रिंशत्तमार्थेदशमहामूलीयाध्यायजलपाख्या

त्रिंशत्तमी शाखा ॥ ३० ॥

श्लोकस्थानजलपाख्यः प्रथमस्कन्धश्च

समाप्तः ॥ १ ॥

॥ श्रीः ॥





## छन्दोनियमः ।

वेदो वेदान्तः आपग्रन्थाश्च सर्वे चान्दसच्छन्दोनिबद्धाः । अष्टाध्यायि-  
पाणिनीयसूत्र-साङ्ख्यसूत्र-गौतमसूत्रादयो विष्णुसंहितागौतमसंहिता-वसिष्ठ-  
संहिताप्रभृतयश्च ग्रन्थाश्छान्दसच्छन्दसैव संग्रथिताः । छान्दसच्छन्दोव्यति-  
रेकेण संहिता भवितुं नार्हेति । छान्दसच्छन्दोऽविज्ञानात् पद्यांशोऽपि  
गद्यरूपेणैव व्यवह्रियते जनैः । नात्र च्छन्दसि गुरुलघुयतीनां नियमः, केवलम्  
अक्षरसंख्ययैव तत् पठ्यते । चरकसंहितायामस्यां गद्यांशः छान्दसच्छन्दसा-  
लिखितः । अत्र यानि च्छन्दांसि वृत्तन्ते तेषां पादसंख्या अक्षरसंख्याश्च  
कौतुकिनामवगमार्थं लिख्यन्ते ।

| छन्दोनाम            | अक्षरसंख्या |       |       |       | छन्दोनाम           | अक्षरसंख्या |       |       |       |
|---------------------|-------------|-------|-------|-------|--------------------|-------------|-------|-------|-------|
| गायत्री नवधा ।      |             |       |       |       | अनुष्टुप् पञ्चधा । |             |       |       |       |
|                     | १पादे       | २पादे | ३पादे | ४पादे |                    | १पादे       | २पादे | ३पादे | ४पादे |
| गायत्री             | ६           | ६     | ६     | ६     | अनुष्टुप्          | ८           | ८     | ८     | ८     |
| पादनिचृत्           | ७           | ७     | ७     | ०     | त्रिपादानुष्टुप्   | ८           | ८     | ८     | ०     |
| अतिपादनिचृत्        | ६           | ८     | ७     | ०     | पुरानुष्टुप्       | ८           | १२    | १२    | ०     |
| नागी                | ९           | ९     | ६     | ०     | मध्येऽनुष्टुप्     | १२          | ८     | १२    | ०     |
| वाराही              | ६           | ९     | ९     | ०     | अन्तेऽनुष्टुप्     | १२          | १२    | ८     | ०     |
| वर्द्धमाना          | ६           | ७     | ८     | ०     | ३                  |             |       |       |       |
| प्रतिष्ठा           | ८           | ७     | ६     | ०     |                    |             |       |       |       |
| त्रिपाद् विराट्     | ११          | ११    | ११    | ०     | बृहती सप्तधा ।     |             |       |       |       |
| विराड् गायत्री      | १२          | ८     | ०     | ०     | पुरस्ताद्बृहती     | १२          | ८     | ८     | ८     |
| १                   |             |       |       |       | पथ्याद्बृहती       | ८           | ८     | १२    | ८     |
| उष्णिक् चतुर्विधा । |             |       |       |       | न्यङ्कुसारिणी      | ८           | १२    | ८     | ८     |
| उष्णिक्             | ७           | ७     | ७     | ७     | उपरिष्टाद्बृहती    | ८           | ८     | ८     | १२    |
| परोष्णिक्           | ८           | ८     | १२    | ०     | कचिद्बृहती         | ९           | ९     | ९     | ९     |
| ककुदुष्णिक्         | ८           | १२    | ८     | ०     | कचिद्बृहती         | १०          | १०    | ८     | ८     |
| पुरोष्णिक्          | १२          | ८     | ८     | ०     | महाबृहती           | १२          | १२    | १२    | ०     |
| २                   |             |       |       |       | ४                  |             |       |       |       |

| छन्दानाम्                        | अक्षरसंख्या |    |    |    |    |    | छन्दोनाम                 | अक्षरसंख्या |
|----------------------------------|-------------|----|----|----|----|----|--------------------------|-------------|
| पङ्क्तिः पञ्चदशधा ।              |             |    |    |    |    |    | पादहीनछन्दः एकविंशतिधा । |             |
|                                  | १५          | १४ | १३ | १२ | ११ | १० |                          |             |
| पङ्क्तिछन्दः                     | १२          | १२ | ८  | ८  | ०  | ०  | उत्कृतिः                 | १०४         |
| स्वतः पङ्क्तिः                   | १२          | ८  | १२ | ८  | ०  | ०  | अतिकृतिः                 | १००         |
| आस्तारपङ्क्तिः                   | ८           | ८  | १२ | १२ | ०  | ०  | सङ्कृतिः                 | ९६          |
| प्रस्तारपङ्क्तिः                 | ८           | १२ | ८  | १२ | ०  | ०  | चिकृतिः                  | ९२          |
| विराट् पङ्क्तिः                  | ८           | १२ | १२ | ८  | ०  | ०  | आकृतिः                   | ८८          |
| अक्षरपङ्क्तिः                    | ५           | ५  | ५  | ५  | ०  | ०  | प्रकृतिः                 | ८४          |
| पङ् विधा                         | ५           | ५  | ४  | ४  | ०  | ०  | कृतिः                    | ८०          |
| ”                                | ४           | ४  | ५  | ५  | ०  | ०  | अतिधृतिः                 | ७६          |
| ”                                | ५           | ४  | ४  | ५  | ०  | ०  | धृतिः                    | ७२          |
| ”                                | ५           | ४  | ५  | ४  | ०  | ०  | अत्यष्टिः                | ६८          |
| ”                                | ४           | ५  | ४  | ५  |    |    | अष्टिः                   | ६४          |
| पङ्पङ्क्तिः                      | ५           | ५  | ५  | ५  | ५  | ०  | अतिशक्करी                | ६०          |
| पङ्क्तिः                         | ४           | ६  | ५  | ५  | ५  | ०  | शक्करी                   | ५६          |
| पथ्यापङ्क्तिः                    | ८           | ८  | ८  | ८  | ८  | ०  | अतिजगती                  | ५२          |
| जगतीपङ्क्तिः                     | ८           | ८  | ८  | ८  | ८  | ८  | जगती                     | ४८          |
| त्रिष्टुब्ज्योतिष्मती त्रिविधा । |             |    |    |    |    |    | त्रिष्टुप्               | ४४          |
| पुरस्ताज्योतिः                   | ११          | ८  | ८  | ८  | ८  |    | पङ्क्तिः                 | ४०          |
| मध्यज्योतिः                      | ८           | ८  | ११ | ८  | ८  |    | बृहती                    | ३६          |
| उपरिष्टाज्योतिः                  | ८           | ८  | ८  | ८  | ११ |    | अनुष्टुप्                | ३२          |
| जगती ज्योतिष्मती त्रिविधा ।      |             |    |    |    |    |    | उष्णिक्                  | २८          |
| पुरस्ताज्योतिः                   | १२          | ८  | ८  | ८  | ८  |    | गायत्री                  | २४          |
| मध्यज्योतिः                      | ८           | ८  | १२ | ८  | ८  |    | २१                       |             |
| उपरिष्टाज्योतिः                  | ८           | ८  | ८  | ८  | १२ |    |                          |             |

गायत्रीप्रभृतिछन्दसां पादनिर्दिष्टायामक्षरसंख्यायाम् एकस्याक्षरस्य न्यूनता चेत् तर्हि तत् निचृत्संज्ञया, एकाक्षरस्याधिक्यं चेत् तत् भूरिक्ताज्ञा, अक्षरद्वयन्यूनतायां विराट्नाम्ना अक्षरद्वयाधिक्येन च सराट्संज्ञया अभिधीयते । इति गङ्गाधरः ।

